अथर्ववेद संहिता

भाषा-भाष्य

भाग १

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेद संहिता

भाषा-भाष्य

(प्रथम खण्ड)

भाष्यकार—

श्री पण्डित जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक—

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

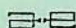
तृतीयावृत्ति १००० | वि० सं० २०१२ | मूल्य ६) रुपये



मुद्रक—
शिरीशचन्द्र शिवहरे, एम० ए०
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

* ओ३म् *

भूमिका



अथर्ववेद अर्वाचीन है ?

जगत् प्रसिद्ध चारों वेदों में चतुर्थ वेद अथर्ववेद है। बहुत से विद्वानों को इस अथर्ववेद के वेद होने में संदेह है। उनकी सम्मति में यह वेद तीन के बाद बना है। वे युक्ति देते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में बहुत से स्थानों पर केवल तीन वेदों का वर्णन आया है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में "त्रयो वेदा अजायन्त।" तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।' 'यम् ऋषयस्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि।' इत्यादि। परन्तु उनका इस प्रकार से उद्धरणमात्र को युक्ति रूप से देना असंगत है क्योंकि उन्हीं ग्रन्थों में चारों वेदों का उल्लेख भी है। जैसे मुण्डक उपनिषत् में— 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्प' इत्यादि बृहदारण्यक (शतपथ) में—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।' इति।

तीन और चार संख्या की विषमता का समाधान यही है कि 'वेद-त्रयी' शब्द के प्रयोग के दो अभिप्राय हैं, एक तो यज्ञ का कर्मकाण्ड प्रथम तीन वेदों से लिया गया और चतुर्थ-वेद के ज्ञाता ब्रह्मा का यज्ञ में कोई कर्म विधान नहीं है। वह केवल साक्षी मात्र मौन होकर रहता है। अतः यज्ञ कर्म के सम्बन्ध में तीन वेदों का ही उल्लेख किया जाता है। तीन वेदों के कहने का दूसरा अभिप्राय है कि जैमनीय मीमांसा के अनुसार वेद की रचना तीन प्रकार की है, प्रथम 'ऋक्' जिनमें चरणों की व्यवस्था है। द्वितीय 'साम' अर्थात गीति या गायन प्रकार और तीसरी

'यजुः' अर्थात् गद्यबन्ध । परन्तु, क्योंकि ऋग्वेद का ज्ञाता होता यजुर्वेद का ज्ञाता अध्वर्यु और साम का ज्ञाता उद्गाता और अथर्ववेद का ज्ञाता ब्रह्मा, चारों ही ऋत्विक् रूप में यज्ञ करते हैं इसलिये ब्रह्मा सम्बन्धी ब्रह्मवेद या अथर्ववेद को हम वेदों की गणना में से बाहर नहीं निकाल सकते और न कोई ऐसा समय दिखला सकते हैं कि जिसमें बने ग्रन्थों में तीन वेदों का वर्णन हो और चौथे का कहीं उल्लेख न हो । जिन तैत्तिरीय आदि याजुष शाखा के ग्रन्थों में तीन वेदों का उल्लेख है उनमें ही 'अथर्वाङ्गिरोविद्' ब्रह्मा को वरण करने और उसके वेद को भी स्वीकार किया गया है । जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ के दो भाग बतलाये हैं एक वाणी और दूसरा मन । वाणी अर्थात् त्रयी विद्या से आधा यज्ञ और मन से शेष आधा यज्ञ ब्रह्मा द्वारा सम्पादित होता है । इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के मन्त्रों में भी जैमिनीय प्रोक्त वेद के तीनों रूप ऋक्, साम, यजुः, पादव्यवस्था, गान और गद्य उपलब्ध होते हैं । अतः उसकी वेदता में कोई संदेह नहीं है । जिनको फिर भी सन्देह हो उनकी निवृत्ति के लिये इतना लिखना पर्याप्त होगा कि चारों वेदों की परमात्मा या 'यज्ञ' प्रजापति से उत्पत्ति हुई है, इसका निदर्शक वेद का निम्नलिखित मन्त्र प्रमाण है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत ॥

ऋ० १० । ७ । ८ ॥ यजु० ३१ । ७ ॥ अथर्व० १७ । ६ । १३ ॥

इसी का अनुवाद करने हारा 'स्कम्भ'—ब्रह्म-विषयक मन्त्र यह है—

यस्माद्‌चोऽपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषम् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भ तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० ७ । २० ॥

उपरोक्त दोनों मन्त्रों में चारों वेदों का नाम लिखा प्राप्त होता है । जब वेद के ही भीतर चारों वेदों का नाम उल्लेख है तब उनके व्याख्यानरूप ब्राह्मण ग्रन्थ जो अत्यन्त अर्वाचीन ग्रन्थ हैं उनमें लिखे 'त्रयी' शब्द से

भ्रम में पड़ना ठीक नहीं है। वेद ने अथर्व-वेद का ग्रहण 'छन्दस्' और 'अथर्वाङ्गिरस' दोनों नामों से किया है। जिन पाश्चात्यों के मत में 'त्रयी' शब्द से केवल ऋक्, यजु, साम संहिताएं ली जाती हैं और अथर्व अर्वाचीन मान लिया गया है वे बहुत ही भ्रम में हैं। क्योंकि प्राचीन किसी भी ग्रन्थ में वे वैसा नहीं दिखा सकते और उनको ध्यान में रखना चाहिये कि 'त्रयी' नाम केवल तीन प्रकार की रचना भेद से है। कोई कहते हैं कि पाणिनि ने 'अथर्व' का नाम नहीं लिखा इसलिये 'अथर्ववेद' अर्वाचीन है। यह भी उनका भ्रम है। जिस प्रकार शाकलादि शाखाओं का नाम ऋग्वेद प्रसिद्ध है उसी प्रकार शौनकादि संहिताओं का नाम अथर्ववेद प्रसिद्ध है। पाणिनिने 'शकल द्वा' (पा० ४ । ३ । १२८) और 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (पा० ४ । ३ । १०५) दोनों ही सूत्रों में ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों की शाखाओं का उल्लेख किया है। बल्कि अथर्ववेद पर प्रसिद्ध कौशिक सूत्र का भी पाणिनि को ज्ञान था जैसा काश्यपकौशिकाभ्यां णिनिः' (पा० ४ । ३ । १०३ ॥) इस सूत्र से विदित होता है। उसको अथर्व-वेद का भी ज्ञान था इसका पता 'आथर्वणिकस्ये-कलोपश्च' (पा० ४ । ३ । १३३ ॥) इस सूत्र से पता लगता है। वहां 'आथर्वणिकानां धर्म आम्नयो आथर्वणः' ऐसा 'आथर्वण' शब्द सिद्ध किया है। इससे भी पूर्व निरुक्तकार यास्क तक ने अथर्व-वेद के मन्त्रों के प्रतीक दिये हैं जैसे—'शतं जीव शरदो वर्धमानः' (निरु० १३ । ४ । ७ ॥) 'एकं पादं नोत्खिदति' (निरु० १२ । ३ । १०) अथर्व० ११ । ६ । १ ॥ इसी प्रकार अथर्व और अंगिरा ऋषि प्रोक्त अथर्व के अनेक मन्त्र चारों वेदों में स्थल २ पर आये हैं जो पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ में साथ दी प्रतीकों से जान लेंगे।

वर्त्तमान की चारों वेद संहिताएं यज्ञ कांड के चार मुख्य स्कन्धरूप चार ऋत्विजों के निमित्त संहिताएं हैं, जैसे ऐतरेय ब्रा० (५ । ३३) में लिखा है 'ऋचा एव हौत्रं क्रियते, यजुषा आध्वर्यवं, साम्ना औद्गात्रं, अथ केन

ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात।' अर्थात् होता का कार्य ऋग्वेद से, अध्वर्यु का कार्य यजुर्वेद से, उद्गाता का कार्य सामवेद से और ब्रह्मा का कार्य तीनों से किया जाता है। गोपथ ब्राह्मण में और भी स्पष्ट किया है कि 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम' अर्थात् ब्रह्मा का कार्य अथर्वाङ्गिरस वेद से किया जाता है। इस प्रकार चतुष्पाद् यज्ञ का निष्पादन करने के लिये संहितायें चार प्रकार की प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त कर्म-काण्डप्रोक्त यज्ञ भी परम पुरुष का कर्ममय स्वरूप है। जब कर्मकाण्ड के एक चरण को करने के लिये ब्रह्मा और उसकी संहिता ब्रह्मवेद आवश्यक है तब यह यज्ञ जिस महान् परम पुरुष का प्रतिनिधि है उसका वर्णन करने के लिये 'ब्रह्मवेद' की आवश्यकता है। जब परमेश्वर स्वयं-प्रकाश है तो उसका वर्णन करने के लिये भी अपौरुषेय संहिताओं की ही आवश्यकता है। ऋषिगण तो उन संहिताओं के द्रष्टा, प्रयोक्ता और व्याख्याता मात्र हैं और जिन महानुभावों को यह संदेह हो कि परमात्मा का प्रतिनिधि यज्ञ भी अथर्ववेद के बाद की कल्पना होगी उनको ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्र का मनन करना चाहिये।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

अथर्व ९। १०। १४॥

इस मन्त्र में विशाल यज्ञ का वर्णन यज्ञ को प्रतिनिधि रूप दर्शाते हुए किया है और ब्रह्मा को समस्त वाणी (वेदवाणी) का 'व्योम' = रक्षा स्थान बतलाया है, इसी प्रकार प्रजापति के महान् महिमा रूप ओदन के वर्णन में—

ऋचा कुम्भी अधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता॥ १४॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा॥ १५॥

अथर्व० ११। ३। १४, १५॥

चारों वेदों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। यहां 'ब्रह्म' शब्द से

ब्रह्मवेद का ग्रहण है, ऋग् से ऋग्वेद का, आर्त्विज्य [ऋतु+यज्+य] से यजुर्वेद और साम से सामवेद का ग्रहण है। इसी प्रकार अथर्ववेद का वर्णन आप अथर्व० ११। ६। १३, १४॥ में भी पायेंगे।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के ऋषियों पर दृष्टि डालिये तो वेन भार्गव [ऋ० ९। ८५] भृगु वारुणि [९। ६५] विरूप आंगिरस [ऋ० ८। २६] च्यवन भार्गव [१०। १९] कवि भार्गव [ऋ० ९। ४७–४९] अष्टादंष्ट्र वैरूप [ऋ० १०। १११] नभःप्रभेदन वैरूप [१०। ११२] मूर्धन्वान् आङ्गिरस [१०। ८८] बृहद्दिव आथर्वण [१०। १२०] वरुण आंगिरस [५। १५] प्रभूवसू आंगिरस [ऋ० ५। ३५–३६] हिरण्यस्तूप आंगिरस [ऋ० १। १। ३१–३५] सव्य आंगिरस [१। १। ५१–५७] सोमाहुति भार्गव [१। २। ५–६] आंगिरस आसङ्ग की पत्नी शश्वती [ऋ० ८। १। ३४] इत्यादि अन्यान्य अथर्वा और अङ्गिरा गोत्रों के विद्वान् ऋग्वेद के ऋषि हुए हैं। यदि योरोपीयन विद्वानों का मत मान लें कि ये ऋषि ऋचाओं के कर्त्ता हैं, 'द्रष्टा' नहीं तब तो अथर्वा और अङ्गिरा और उनके वंशजों के बनाये अथर्ववेद की सत्ता ऋग्वेद के निर्माणकाल में ही सिद्ध हो जाती है। फलतः योरोपीयन लोगों का अथर्ववेद को ऋग्वेद के बाद का मानना उनके अपने मन्तव्य के अनुसार भी ठीक नहीं बैठता। हमारे मन्तव्य के अनुसार तो वे चारों वेद परमेश्वर के ज्ञान हैं और नित्य हैं, उनके मन्त्रों का साक्षात्कार ऋषियों ने किया है और उनके नाम मन्त्रों के साथ आदरार्थ जुड़े हैं।

बहुतसों का यह विचार है कि अथर्ववेद को बाद में अन्य वेदों से संगृहीत इसलिये मान लेते हैं कि उसमें अन्य वेदों के मन्त्र भी आये हैं, यदि संग्रह नहीं तो वे मन्त्र ज्यों के त्यों कैसे हैं। इसका उत्तर यह है कि ऐसे मन्त्र भिन्न २ प्रकरणों में कहीं तो उस प्रकरण के विशेषार्थ के द्योतक होते हैं और कहीं प्रकरण की दृष्टि से भिन्नार्थ के प्रतिपादक हो जाते हैं। अतः यह पुनरुक्ति नहीं और नहीं इस प्रकार एक वेद के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे दूसरे वेद से लिये गये हैं।

अथर्ववेदसंहिता

हमारे पास जो अथर्ववेद संहिताएं उपलब्ध हैं वे निम्नलिखित हैं।

(१) लीथो की छपी अथर्ववेद मूल संहिता ।

(२) अजमेर वैदिकयन्त्रालय में मुद्रित अथर्ववेद संहिता।

(३) निर्णय सागर बम्बई में प्रकाशित अथर्ववेद संहिता जिसका सम्पादन श्री पं० शंकर पाण्डुरंग एम० ए० ने सायण भाष्य सहित किया है ।

(४) श्री क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी द्वारा मुद्रित निज भाषा भाष्य सहित।

(५) इन संहिताओं के अतिरिक्त अमेरिका की हार्वर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित पण्डित ह्विटनी कृत अथर्ववेद का आंग्ल भाषानुवाद और उस पर पं० लैन्मन कृत विशेष टिप्पणी भी उपलब्ध है ।

(६) पं० ग्रिफ़िथकृत आङ्गलभाषानुवाद और उनकी उस पर स्वरचित टिप्पणियां भी उपलब्ध हैं।

योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद संहिता के परिणाम पर बड़ी बड़ी उलझी हुई शंकाएं उठाई हैं।

ह्विटनी के अनुवाद की भूमिका के लेखक पं० लैन्मन ने लिखा है कि प्रथम १८ काण्ड तो अथर्ववेद संहिता के मूल हैं और १९वां, २०वां काण्ड पीछे से लिया गया है। आपकी युक्ति है कि—

(१) २० वां काण्ड केवल ऋग्वेद से संग्रह किया गया है और अथर्ववेद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रयोजन अनुमान से कल्पना किया जा सकता है।

(२) १९ वां काण्ड यह तो साफ परिशिष्ट है। युक्ति यही कि इसका पाठ बहुत बिगड़ा हुआ है और पदपाठ भी इसका नवीन प्रतीत होता है।

(३) १ से १८ काण्डों तक तो प्रपाठकों का क्रम मिलता है आगे प्रपाठक क्रम नहीं है।

(४) पुरानी अनुक्रमणिका १८ काण्ड तक ही मिलती है।

(५) कौशिक सूत्रों में १९ वें और २० वें काण्ड के विनियोग नहीं लिखे।

(६) पञ्चपटलिका और उसके भाष्यकार ने भी अथर्ववेद का वर्णन १ से १८ तक ही किया है।

(७) पैप्पलाद शाखा में १९ वें काण्ड के मन्त्र तो बहुत से उपलब्ध होते हैं परन्तु २० वें काण्ड का कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त पण्डित ग्रीफ़िथ महाशय ने तो ऋग्वेदादि तीनों वेदों का परिशिष्ट अथर्ववेद को माना है। साथ १९, २० दोनों काण्डों को परिशिष्ट या अर्वाचीन कहने में आपने एक और युक्ति दी है। अर्थात्—

(८) अथर्व प्रातिशाख्य में उनका वर्णन नहीं है।

योरोपीयन विद्वानों ने अथर्ववेद के परिमाण पर जो इतना विवाद उठाया है ऐसा विवाद भारतीय विद्वानों ने कभी भी नहीं किया। इन सबके दादागुरु आचार्य सायण ने भी अथर्ववेद शौनकीय शाखा के भाष्य करने के पूर्व इस प्रकार से १९, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं माना। संक्षेप से हम उपरोक्त युक्तियों पर विचार करते हैं।

(१) २० वां काण्ड ऋग्वेद से संग्रह किया गया है और इसका शेष अथर्ववेद से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या अच्छी युक्ति है। क्या १८ वें काण्ड के सूक्तों में ऋग्वेद से संग्रह किया नहीं प्रतीत हुआ? और इसी प्रकार पूर्व के काण्डों में भी कितने ही सूक्त संगृहीत किये जा सकते हैं। तो फिर १८ वें को अथर्ववेद का मानना और २० वें को पीछे का बनाया मानना हास्यजनक प्रतीत होता है। रही सम्बन्ध की बात, पं० ह्विटनी ने हमें पूर्व १८ काण्डों तक में भी किसी एक सूक्त का दूसरे सूक्त से सम्बन्ध नहीं दर्शाया। फिर २० वें पर यह दोष देना एक बाल-बुद्धि का परिचय कराता है।

(२) १९ वें काण्ड के पाठ का बिगड़ा होना दूसरी युक्ति है। इसका उत्तर यह है कि यह तो अपनी २ मति के परिणाम हैं। पाश्चात्यों

को जो पाठ बिगड़ा हुआ दिखाई देता है हमें तो वह वैसा नहीं दिखाई देता, वैदिक दृष्टि से वह विशुद्ध रूप ही है। लेखकों के प्रमाद से या व्याख्याता के पद-विपरिणाम से पुस्तकों में पाठ भेद हो भी जाया करते हैं, परन्तु वे मन्त्र संहिताओं में भी हैं इसमें कोई परिपुष्ट प्रमाण नहीं।

(३) प्रपाठकक्रम का न मिलना भी कोई १९, २० काण्डों के परिशिष्ट होने में कारण नहीं, क्योंकि प्रपाठकक्रम सार्वत्रिक और सर्व-संमत नहीं। अथर्व में तो काण्ड, अनुवाक, सूक्त और ऋचा इतने ही प्रायिक विभाग हैं। किसी पाठशील आचार्य ने प्रपाठक क्रम भी इसी प्रकार पीछे से बना दिया जैसे सामवेद में अध्यायक्रम पीछे से लगाया गया है। यदि हस्तलिपियों की विस्तृत कथा लिखें तो विदित हो जायगा कि बहुत कम हस्तलिपियां पूर्ण संहिता की प्राप्त हुई हैं। बहुतों में स्वर आदि ग्रन्थ के एक खंड में अंकित हैं दूसरे खण्ड में नहीं। फलतः, अभी तक योरोपीयनों के हाथ में प्रपाठकक्रम से विभक्त १९, २० काण्ड नहीं मिले यह ठीक है परन्तु इससे अथर्व-वेद में ये दो काण्ड नहीं हैं यह सिद्ध नहीं होता।

(४) पुरानी अनुक्रमणी १८ काण्ड की मिलती है यह भी कोई युक्ति नहीं, क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी २० काण्ड की भी मिलती है। वस्तुतः, यह भी खण्डित ग्रन्थ से ही पं० लैन्मन् को भ्रम हुआ है।

(५) कौशिक सूत्र में विनियोग नहीं लिखे, अतः १९, २० काण्ड भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकते। कारण, जिनके विनियोग नहीं उनको वह लिखता भी क्यों ? उनका पाठमात्र ही प्रयोजन है।

(६) पञ्चपटलिका और उसके टीकाकार का केवल १८ काण्डों का उल्लेख भी अथर्ववेद के १९, २० काण्डों को परिशिष्ट नहीं बना सकता। क्योंकि बृहत्सर्वानुक्रमणी में २० काण्डों का विवरण दिया है। दूसरा १७, १८ काण्डों में पञ्चपटलिकाकार ने आगा पीछा कर दिया है। इससे

प्रतीत होता है कि यह पञ्चपटलिका शौनकीय संहिता की नहीं, प्रत्युत किसी और १८ काण्डों वाली अथर्वशाखा की है।

(७) पैप्पलाद शाखा में २० वां काण्ड उपलब्ध नहीं होता अतः वह भी परिशिष्ट सिद्ध नहीं होता। क्योंकि पैप्पलाद में १९ वें काण्ड के बहुत से मन्त्र उपलब्ध होते हैं, तिस पर १९ वें काण्ड को परिशिष्ट मानने का भ्रम तो पैप्पलाद ने काट दिया और जब लैन्मन महोदय ने स्वयं देख लिया है कि पैप्पलाद शाखा में १८ वां काण्ड नहीं है तो १८ वां काण्ड भी परिशिष्ट क्यों नहीं माना। पं० लैन्मन ने इस बात को लिख कर भी हलकी भाषा में टालना चाहा है।

(८) पं० ग्रीफ़िथ की प्रातिशाख्य वाली युक्ति भी संगत नहीं। क्योंकि वह तो व्याकरण का ग्रन्थ है। उसमें कोई उदाहरण १९, २० काण्डों में से नहीं आये इसलिये वह परिशिष्ट हैं, यह कितनी असंगत युक्ति है। यदि व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण देते हुए किसी ग्रन्थ भाग में से कोई उदाहरण न आवे तो क्या उसका वह भाग परिशिष्ट हो जायगा? समझ में नहीं आता। क्या प्रातिशाख्य में अथर्ववेद के सभी मन्त्र उदाहरण के रूप में धर दिये हैं? क्या सभी सूक्तों में से मन्त्र प्रतीक आये हैं? नहीं। तो वे मन्त्र और सूक्त परिशिष्ट क्यों नहीं माने जाते?

बस, इस प्रकार से १९, २० काण्डों के सम्बन्ध में योरोपीयन विद्वानों के सभी तर्क संक्षेप से आलोचित कर दिये हैं।

आदि मन्त्र

व्याकरण महाभाष्यकार मुनि पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में * अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र 'शं नो देवीरभिष्टये०' माना है। परन्तु वर्त्तमान उपलब्ध अथर्वसंहिताओं में प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' है। इसका समाधान यह

* "वैदिकाः खल्वपि 'शन्नोदेवीरभिष्टये'। 'इषे त्वोर्जेत्वा।' 'अग्निमीळे पुरोहितम्।' 'अग्न आयाहि वीतये'" इति पातञ्जलमहाभाष्ये।

है कि आदि मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः०' यही है। परन्तु अथर्ववेदियों में मङ्गल के रूप से प्रथम 'शं नो देवी०' मन्त्र का पाठ मात्र कर लिया जाता था। जैसा कि ह्विटनी और पं० शंकरपांडुरंग M. A. सगृहीत हस्तलिपियों में से कई में पाया जाता है। हमने इसी रीति से आदि में 'शं नो देवी०' मन्त्र पढ़ दिया है। दूसरे, पैप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र भी 'शं नो देवी०' मन्त्र है और शाखाओं के ग्रन्थ सर्वथा ही प्राप्त नहीं हुए।

अथर्ववेद के शाखाभेद

चरणव्यूह परिशिष्ट में अथर्ववेद का शाखा-भेद इस प्रकार लिखा है—

तत्र ब्रह्मवेदस्य नवभेदा भवन्ति। तद्यथा पैप्पलादाः। स्तौदाः। मोदाः। शौनकीयाः। जाजलाः। जलदाः। ब्रह्मवदाः। देवदर्शाः चारणवैद्याश्चेति ॥१॥ तेषामध्यायानां ऋचो द्वादशसहस्राणि अशीति त्रिशतानि च। पर्यायिक द्विसहस्राण्यन्यांश्चैवार्चिकान् बहून्। इति ॥ २ ॥ एतद्ग्राम्यारण्यकानि षट् सहस्राणि भवन्ति" ॥ ३ ॥

ब्रह्मवेद के ९ भेद होते हैं—पैप्पलाद, स्तौद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। उन सबके अध्यायों (=पाठों) की १२३८० ऋचाएं, २००० पर्याय सूक्त और अन्य भी बहुत से आर्चिक (ऋग्गण) हैं। ये ग्राम्य और आरण्यक मिलकर छः सहस्र होते हैं। विष्णुपुराण में—

अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम्। अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः ॥१॥ शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि तं द्विधा। कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान् ॥ २ ॥ देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेधो।[1] ब्रह्मबलिस्तथा। शौल्कायनिः पिप्पलादस्तथाऽन्यो द्विजसत्तमः ॥ ३ ॥ पथ्यस्यापि त्रयः शिष्याः कृता यैर्द्विज संहिताः। जाबालिः।[2] कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विजः* शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकां तु बभ्रवे। द्वितीयां संहितां प्रादात्।

---

*शब्द कल्पद्रुमोद्धृतविष्णुपुराणोद्धरणे। १. 'मेधो ब्रह्म-', २. 'जाजलिः'।

सैन्धवाय[3] च संज्ञिने । सैन्धवान् । [4]मुञ्जिकेशश्च द्वेधा भिन्नास्त्रिधा पुनः ॥ ५ ॥

अथर्ववेद की शाखाओं के विषय में यह लिखा है कि—वेदव्यास के शिष्य सुमन्तु ने कबन्ध को पढ़ाया। उसने पुनः दो संहिताएं करके एक 'देवदर्श' को और दूसरी 'पथ्य' को दी। देवदर्श के चार शिष्य थे, मेध, ब्रह्मबाल, शौल्कायनि और पिप्पलाद। पथ्य के तीन शिष्य थे, जाबालि, कुमुदादि और शौनक। शौनक ने दो संहिताएं बना कर बभ्रु और सैंधव को दीं, सैंधव ने मुंजिकेश को दी। इस प्रकार यह दो संहिताएं भी तीन भेद में फट गयीं।

वाचस्पत्य बृहदभिधान में इन नौ शाखाओं का एक और भी रूप लिखा है। "अथर्ववेदस्य नव शाखाः। पैप्पलादा, शौनकी, दामादो, श्रौता ब्रूह्मदा प्रशशौनकी [?], देवदर्शी, शरणविद्या चेति। तेषामध्ययनं द्वादशैव सहस्राणि भवन्ति। कल्पे कल्पे पंचशतानि भवन्ति।"

उक्त कोष में ही अन्यत्र लिखा है—

अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। पैप्पलाः, दान्ताः, प्रदान्ताः स्नाताः, स्रौताः, ब्रूह्मदावलाः, शौनकी, देवदर्शती, चरणविद्याश्च [दाता, प्रदाता, श्रौता, ब्रूह्मदीवशी, वेदशी [?] [इति भाष्येन मतान्तरम्] तेषामध्ययनं पंचकल्पानि भवन्ति। नक्षत्रकल्पो, विधानकल्पः, संहिताकल्प, आंगिरसकल्पः, शान्तिकल्पश्चेति।'

उक्त कोश में ही हेमाद्रिक अवतरण दिया है—

अथो अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। पिप्पलादाः वर्मदाश्च भूतायनाः कातयस्तथा। उज्वला ब्रूह्मवेदाश्च शौनकी कनस्वी तथा। वेद ऋषिः चौरविद्या तेषामध्ययनं शृणु॥'

इन सब शाखा नामों की तुलना अगली सारणी में कीजिये।

---

३. 'सैधवायन संज्ञिने', ४. 'सैधवा मुञ्जकेशाश्च भिन्नवेदा द्विधा पुनः'। इति पाठभेदाः॥

४ वाचस्पत्यबृहदाभिधानोद्धृत विष्णुपुराणोद्धरणे—१ मौद्गो ब्रूह्म-, ४ 'सैन्धव-मुंजकेशाभ्यां भिन्ना वेदा द्विधा इति पाठभेदः।

	अथर्व० परि०	वि० पु०	वाच० 1	वाच० 2	हेमाद्रि
१	पैप्पलादाः,	पिप्पलादः	पैप्पलादा	पैप्पलाः	पिप्पलादाः
२	स्तौदा ?				
३	मोदाः	मेधः, मोदः, मौद्गः ?	दामोदा		
४	शौनकीयाः,	शौनकः	शौनकी	शौनकी	शौनकी
५	जाजलाः	जाबालिः			जज्वल।
६	जलदाः				
७	ब्रह्मवदाः	ब्रह्मबलिः	ब्रह्मदा	ब्रह्मदावला ? ब्रह्मदीवशी ?	
८	देवदर्शाः	देवदर्शः	देवदर्शी	देवदर्शती, वेदशी ?	वेदऋषि ?
९	चारणवैद्याः		चारणविद्या	चरणविद्या	चौरविद्या ?
		कुमुदादिः बभ्रुः सैंधवः, सैंधवायनः	औसा ?	औसा ? दाता, दांता, प्रदाता, प्रदांता	वरमंदाः ? भूतायनाः कातयः ?
				स्रौता ? स्राता ?	कनस्वी ?

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब लेखक तुक लगा कर लिखने वाले हैं। इनमें से एक ने भी नव शाखाओं को नहीं देखा। इनमें पैप्पलाद और शौनकीय शाखाएं सर्वत्र समान हैं। शेषों के शुद्ध नाम भी नहीं मिलते। बिष्णुपुराण की 'कुमुदादि' जलद शाखा प्रतीत होती है।

वाचस्पत्य प्रोक्त 'औस' 'स्तौद' शाखा है। हमारी सम्मति में 'औस' और स्तौद या तौद तीनों नाम अशुद्ध प्रतीत होते हैं। यह 'स्तौत' 'स्रौत' नाम से भी कहा गया है। कदाचित् यह शुद्ध शब्द 'श्रौत' या 'स्रौत' है। उपरिलिखित वत्संदाः, भूतायनाः, कातयः, कनस्वी, इन ४ का पता ही नहीं चलता, ये क्या हैं।

इन सबका अध्ययन प्रमाण १२००० श्लोक परिमाण बतलाया है। चरण-व्यूह परिशिष्ट में इनका परिमाण १२३८० बतलाया है। वाचस्पत्य के उद्धरण में "कल्पे कल्पे पञ्चशतानि भवन्ति" लिख दिया है। इसने पांचों कल्पों में १५०० और ९ वीं शाखाओं में १२००० ऋचा का बोध होता है। परन्तु ये सब अभी जुबानी बातें हैं। इस प्रकार नपे नपाये ग्रन्थों का अब अभाव है।

वर्त्तमान अथर्ववेद में ५९७७ मन्त्र विद्यमान हैं। इस संहिता को भी पूर्वोक्त पांच कल्पों में संहिता कल्प के नाम से लिखा है। अभी ये सभी बातें अगले खोज करने वालों के लिये हम यहां ही छोड़ते हैं।

पांच उपवेद

अथर्ववेद के पांच उपवेदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण [१ । १०] में किया है। सर्प वेद, पिशाच वेद, असुर वेद, इतिहास वेद और पुराण वेद ये पांच अथर्ववेद के उपवेद कहे हैं, उन उपवेदों के नियम में शतपथ ब्राह्मण (१३ । ४ । ३ । ६-१३) में लिखा है—(१) वरुण आदित्य राजा की प्रजाएं गन्धर्व हैं। वे ये ही नवयुवा पुरुष हैं, उनके लिये अथर्वन् वेद है। (२) वैष्णव सोम राजा की प्रजा अप्सरायें हैं। वे सुन्दर स्त्रियां हैं। उनके लिये आंगिरस वेद है। (३) अर्बुद काद्रवेय राजा की प्रजाएं सर्प हैं, वे ये सर्प और सर्पविद्या के जानने वाले हैं उनके लिये 'सर्पविद्या वेद' है। (४) कुबेर वैश्रवण राजा की प्रजाएं 'रक्षः' हैं वे ये सेलग, लोग हैं। उनके लिये 'देवजनविद्या वेद' है। (५) असित धान्व राजा की प्रजा असुर हैं, वे ये कुसीदी (सूदखोर) हैं। उनका वेद माया वेद है।

(६) मत्स्य मांसद राजा की प्रजा उदकचर हैं। वे ये मत्स्य और मत्स्यघाती जीव हैं उनका इतिहास वेद है। (७) वैपश्यत राजा की प्रजा 'वयस्' हैं। ये वे वायुविद्या के ज्ञाता हैं, उनके वेद पुराणवेद हैं।

इस शतपथ के उद्धरण में इन वेदों (उपवेदों) को इन २ प्रजाओं का उपदेश करने का विधान भी किया है। अतः उस समय इन वेदों (उपवेदों) की पृथक् सत्ता प्रतीत होती है। नवयुवकों, स्त्रियों, सर्प चिकित्सकों, पर्वत-निवासियों, व्यापारियों, समुद्रवासियों और वायुविहरण करने हारों के लिये उनके उपयोग के भिन्न २ वेद (उपवेद) थे और वे गोपथ के मत से अथर्ववेद के उपवेद माने जाते थे।

इसके अतिरिक्त, महर्षि दयानन्द ने 'आयुर्वेद' को अथर्ववेद का उपवेद माना है। चरण व्यूह के मत से अथर्व-वेद के उपवेद 'शस्त्र शास्त्र' माने हैं। हेमादि ने तन्त्रों को अथर्ववेद का उपवेद माना है।

हमारी अपनी सम्मति है कि शस्त्र शास्त्र, तन्त्र आदि का समावेश गोपथ प्रोक्त पांचों वेदों (उपवेदों) में आ जाता है। इसलिये उनको पृथक् नहीं कहा गया। उक्त सभी विद्याओं के मूल सूक्त अथर्ववेद हैं इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। कौन सी विद्या किस स्थान पर कही गई है इसके लिये पाठक लोग अथर्ववेद की विषय सूची से ही देख सकेंगे और सुगमता से उस विषय को पा सकेंगे। इसी प्रसंग में हम महर्षि दयानन्द के इस सिद्धान्त को दोहराना चाहते हैं कि शाखा ग्रन्थ भी व्याख्या ग्रन्थ हैं। कदाचित् नव शाखाभेद विषयभेद से ही हों। जहां तक हमारा अनुमान है 'चारण-वैद्य' शाखा में शायद चरक-विद्या, या आयुर्वेद का विज्ञान हो। देवदर्श शाखा में भौतिक विज्ञान हो, 'ब्रह्मवद' शाखा में ब्रह्मज्ञान, 'जलद' शाखा में जल विज्ञान, 'जाजल' या 'जज्वलि' में अग्नि विज्ञान हो। 'शौनक' शाखा में विशेष रूप से व्यापक ब्रह्म की शक्ति को प्रदर्शन किया हो, 'मोद' या 'मेध' शाखा में आयु और बुद्धि वर्धन के उपाय दर्शाए हों, पैप्पलाद में ब्रह्म और जीव के कर्त्तव्यों का विशेष

विधान हो। जब तक इन शाखाओं के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थ आदि उपलब्ध नहीं होते या प्रचलित कल्प ग्रन्थों से अतिरिक्त कोई रहस्य-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होते तब तक हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। तन्त्रों में विद्युज्जिह्व तन्त्र, रसार्णव तन्त्र आदि बड़े विज्ञानपूर्ण ग्रन्थ हैं। सर्पवेद या विष-विज्ञान (Toxicology = तक्षक विद्या) भी कम रहस्य का विज्ञान नहीं है। असुर-वेद या माया-वेद अर्थवेद मालूम होता है। समुद्र यात्रियों और वायु बिहारियों के लिये इतिहास और पुराणवेद का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जैसी २ घटनाएं घटें उनसे इनको अपने कार्य के लिये विज्ञान का संग्रह करना चाहिये। शस्त्रास्त्र विद्या धनुर्वेद है।

अथर्ववेद के भाष्य और अनुवाद

हमारे सामने पं० ह्विटनी और पं० ग्रीफ़िथ के अंग्रेजी अनुवादों के अतिरिक्त शंकरपाण्डुरंग सम्पादित सायण भाष्य और श्रीक्षेमकरण त्रिवेदी रचित भाषाभाष्य उपस्थित हैं। ये सभी भाष्यकार हमारे लिये आदर के पात्र हैं। हमने अपने तुच्छ श्रम से अथर्ववेद के रहस्यों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। योरोप के अनुवादकों पर तो सायण के विचारों और कौशिक सूत्रों का गहरा रंग है। जिन काण्डों पर सायण का भाष्य प्राप्त नहीं है उन स्थलों पर प्रायः कौशिक सूत्र के विनियोग देखकर तदनुसार शब्दों और वाक्यों का अर्थ कर दिया है। इस प्रकार वेदमन्त्रों में से उत्कृष्ट अर्थ निकलता है या हीन अर्थ निकलता है, बुद्धिपूर्वक सत्यार्थ निकलता है या अबुद्धिपूर्वक ऊटपटांग अर्थ निकलता है इसकी सर्वथा परवाह नहीं की गई और जहां वाक्य समझ में नहीं आया वहां प्रश्नार्थक चिह्न [?] और उस पर 'अस्पष्ट' इत्यादि टिप्पणियां लगा दी हैं। तो भी शब्दार्थ रचना पूर्ण करने के लिये अर्थ अवश्य कर दिया है। उनके इस तरह के अनुवादों से वेदों का गौरव कम हो गया है और अनुवादों को पढ़ने वालों के चित्त में वेद के उलटे सीधे अर्थ बैठ जाने पर फिर सत्यार्थ की प्रतीति होनी ही असम्भव हो जाती है।

उनसे बढ़ कर सायण-भाष्य है। सायणाचार्य भाष्यकारों में से एक प्रौढ़ भाष्यकार हैं। वे वैदिक साहित्य के अगाध सागर हैं। परन्तु अथर्ववेद का भाष्य करते समय कौशिक सूत्र के विनियोगों ने सायण के हृदय पर भारी श्रृंखलाएं बांध दी हैं। इसलिये सायण किसी स्थान पर स्वतन्त्र वेद-भाष्य न कर सके, प्रत्युत उत्तम २ सूक्तों का भी ऐसा अनर्थकारी अर्थ कर दिया है कि जिससे वेद की शिष्टता में भी संदेह होने लग जाता है। और इसी कारण सायण को बहुत से स्थलों पर अन्धविश्वास और अज्ञानपूर्ण अर्थ करने पड़ गये हैं। जैसे अभीवर्त्त मणि आदि जड़ पदार्थों पर शत्रुनाश, राष्ट्रवृद्धि करने आदि अर्थ के विशेषणों का लगा देना [अथर्व० १। २९ सू०]; स्त्रियों के दुर्भगाकरण आदि [अथर्व० १। १४] दुष्टाचारियों के अश्लील कार्यों का मन्त्रों में से अर्थ निकाल देना, ऊटपटांग कार्य से बड़े २ रोगों को दूर भगाने की चेष्टा करने परक अर्थ [अथर्व० १। २२] करना आदि २, कौशिक सूत्रोक्त विनियोगों के वशीभूत होकर सायणाचार्य के लिये अनर्थों का अच्छा नमूना है। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर सायणकृत अर्थों की त्रुटियां दर्शाई हैं। इसी प्रकार विनियोगों के चक्र में योरोपीयन अनुवादक भी पड़े हुए हैं।

वर्तमान समय में श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी ने जो अथर्ववेद का भाष्य रचा है वह स्वतन्त्र और अन्यों की अपेक्षा अधिक गम्भीर और युक्ति पूर्ण है। परन्तु लेखनशैली कई स्थानों पर प्रति-शब्दानुवाद करते हुए इतनी अस्पष्ट हो जाती है कि नीचे लिखे भावार्थ और शब्दों में भारी अन्तर आ जाता है और बहुत से अस्पष्ट स्थलों पर व्याकरण के बल पर अर्थ कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वेद के ऊपर पं० क्षेमकरणजी का किया श्रम अवश्य प्रशंसनीय है।

अथर्ववेद में जादू टोना

कौशिक सूत्रों के विनियोगों ने ही योरोपीयन विद्वानों और सबसे प्रथम सायण, तदनुसारी अन्य विद्वानों और सर्वसाधारण जनता तक के

बीच में यह जबर्दस्त भ्रम फैला दिया है कि अथर्ववेद में 'जादू टोना' बहुत अधिक है। परन्तु इस स्थल पर हमें आश्चर्य से कहना पड़ता है कि हमें समस्त अथर्ववेद में किसी स्थान पर भी 'जादू-टोना' प्राप्त नहीं हुआ। भ्रमनिवारण के लिये हम कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

(१) प्रथम कांड के प्रथम सूक्त का विनियोग 'मेधा-जनन' कर्मों में किया गया है। कौशिक ने मेधाजनन कर्म बहुत से गिनाये हैं जैसे गूलर, ढाक, वट आदि की समिधाओं का आधान करना, धान, जौ, तिलों की आहुति देना, खीर भात आदि पुष्टिप्रद पदार्थ खाना, उपाध्याय को भिक्षा देना, सोते हुए उपाध्याय के कान में सूक्त का जप करना, घी मिले धान्यों का होम करना, तिल धान की आहुति कर शेषों का खाना, तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना इत्यादि। उन कार्यों को करते हुए 'ये त्रिषप्ताः' इत्यादि सूक्त को जपना चाहिये। इसी प्रकार उपनयन के दिन विद्यार्थी इसका जप करें। ग्रामसम्पत्ति की इच्छा से इस सूक्त से समिदाधान करें। समस्त सम्पत्ति चाहने वाले इस सूक्त से अपने बायें हाथ से रक्त निकाल उससे दधि, घी, मधु, जल मिलाकर खावें। युद्ध से शत्रु के हाथियों को भगा देने के लिये इसी सूक्त से उचित उपाय करे। पुष्टिकर्म, तेजःप्राप्ति, पुत्रप्राप्ति आदि सभी कार्य इस सूक्त से करने लिखे गये हैं।

परन्तु पाठक देख सकते हैं कि इस सूक्त के चारों मन्त्रों में कहीं भी उक्त कार्यों का उल्लेख नहीं है। सारे सूक्त में १म बल प्रार्थना, २य ज्ञान प्रार्थना और ३य विद्यावृद्धि की प्रार्थना की गई है। परन्तु कल्पकार ने बुद्धिवर्धक बल और वीर्य से सम्बद्ध सभी कार्यों से इस सूक्त का सम्बन्ध कर दिया है। कल्पकार क्योंकि केवल क्रियामात्र का निर्देश करता है और क्रिया का फल से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दर्शाता क्योंकि क्रिया और फल का सम्बन्ध दर्शाना उसका कार्य नहीं, वह रहस्य होने से आचार्य का कर्त्तव्य है, अतः सर्व साधारण के सामने यह एक जादू के

समान प्रतीत होता है और लोग उस कर्म को अन्धविश्वास से अदृष्ट द्वारा फलजनक मान लेते हैं और कोई मन्त्र का बल या कोई मन्त्रोक्त देवता का प्रसाद मान लेते हैं। ये विनियोग इस प्रकार से बड़ा अनर्थ फैलाने वाले हुए हैं। कल्पकार कौशिक ने जितने कर्म 'मेधाजन' या बुद्धि-उत्पादक बतलाये हैं उनमें कितनी सत्यता है यह हमारा यहां विषय न होने से इस प्रसङ्ग में हम कुछ नहीं कहते, तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि कौशिक सूत्रोक्त विधान अपने मूल में एक सत्य रखते हैं। वह सत्य सर्वत्र एक सा नहीं है, प्रत्युत भिन्न २ प्रकार का है। कल्पों का रहस्यों के सहित ज्ञान करने से उन तत्वों का पता लग सकता है। जैसे इसी स्थान पर देखिये—वेद में वाचस्पति और वसोष्पति आचार्य और परमेश्वर से शरीर में बलों की और श्रुत = वेदोपदेश को धारण करने की प्रार्थना की है। प्रथम सूक्त के चार मन्त्रों में विचार या दृढ़ संकल्प किया है। पर उसको प्राप्त कैसे करें यह प्रश्न उठता है। कल्पकार उसका उपाय दर्शाते हैं। जैसे—(१) विद्यार्थी गूलर, वट, ढाक की समिधाएं अग्नि में रखे। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में काष्ठ रखने से शीघ्र जल कर प्रकाशित होता है उसी वह भी गुरु रूप अग्नि के संग से ज्ञानवान् हो जाय। (२) धान, जौ, तिलों की आहुति दे, अर्थात् जिस प्रकार ये पदार्थ अग्नि में पड़ कर अधिक गन्ध देते हैं और शुद्ध करते हैं उसी प्रकार आचार्य के संग से तुम भी अधिक गुण प्राप्त करो, (३) खीर आदि पुष्टिकारक पदार्थ बुद्धि और बल को बढ़ाते ही हैं। (४) तोता मैना आदि की जिह्वा का बन्धन और उनको खिलाना। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन जन्तुओं का अन्य बनैले जीवों के संग न रख कर बार २ एक ही पाठ पढ़ावे और शेष समय उनका मुंह बांधे रखने से वे अच्छा पढ़ जाते हैं इसी प्रकार विद्यार्थी अपनी जिह्वा को वश करें और व्यर्थवाद न करके वेदाध्ययन का अभ्यास करें तो उनकी बुद्धि और वाणी बढ़ेगी। (५) सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये भी बुद्धि चाहिये,

युद्धादि विजय और शत्रुओं के हाथी आदि के लिये बुद्धि और बल के अद्भुत प्रयोगों की आवश्यकता है। उस अवसर पर यदि ईश्वर से बल की प्रार्थना करें तो क्या असम्भव बात है। इस प्रकार कल्प ग्रन्थ सार्थक होता है। परन्तु, कल्पोक्त विनियोग वेद के अर्थों के नियमाक हैं ऐसा नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वेदमन्त्र का अपना स्वतन्त्र अर्थ रह कर भी कल्पोक्त क्रिया साधनों को अपने साथ गौण रूप से जोड़े रख सकता है।

(२) 'भगम् अस्या वर्चः' [का० १। सू० १४] इस सूक्त को कौशिक सूक्त ने स्त्री या पुरुष के दौर्भाग्य करने के लिये उनकी भोगी हुई दातुन, गेंद, माला, केश आदि को गाड़ते हुए पढ़ने का विनियोग लिखा है। यहां कौशिक का भूत आचार्य सायण पर बड़ी प्रबलता से चढ़ गया है। खेंच तान कर सूक्त के चारों मन्त्रों का अर्थ उधर ही लगाया है। पं० ग्रिफिथ और ह्विटनी भी उधर ही बह गये हैं। इस अवसर पर हमें हर्ष से कहना पड़ता है कि पं० वेबर, लडविग और ज़िम्मर आदि महोदयों ने स्वतन्त्र होकर इस सूक्त को विवाहपरक लगाया है। इस सूक्त की वास्तविक शोभा भी विवाहपरक अर्थों में ही है। जो प्रस्तुत पुस्तक में देखने से विदित होगी। वेद जैसे पवित्र धर्मग्रन्थ से स्त्री के दौर्भाग्य करने की घृणित शिक्षा प्राप्त ही नहीं हो सकती। स्थानाभाव से हम यहां वेद के प्रत्येक शब्द पर किये अनर्थों को खोल कर नहीं बतला सकते। इसके लिये एक विशाल ग्रन्थ चाहिये।

(३) 'ये अमावस्यां रात्रिम' [अथर्व० १। १६] सूक्त को कौशिक ने शत्रु को मारने के लिये सीसे के चूर्ण से मिला अन्न खिला देने के लिये विनियुक्त किया है। इस सूक्त में भी पिशाची के सन्तानों और 'अत्रि', 'यातु' आदि नामों से सायण ने रक्षः, पिशाच आदि लिये हैं। पं० ग्रीफ़िथ ने भी 'पिशाच' शब्द से भूत, प्रेत (imps and goblins) के लिये हैं। 'सीस' शब्द से पं० ह्विटनी महोदय ने सीसे का तावीज लिया है। पं० ग्रीफिथ ने 'सीस' शब्दसे सीसे का टुकड़ा ले लिया है और मन्त्र के

अर्थ कर दिये हैं। यह बतलाने का यत्न नहीं किया कि अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवों का सीसे से क्या सम्बन्ध है, वह सीसा जत्थे २ बनाकर आक्रमण करने वाले यातुधानों को कैसे बेंधेगा। कौशिक ने तीन उपाय शत्रु के नाश के बतलाये हैं। एक तो शत्रुओं को बांध कर सीसे का चूर्ण उनको खिला २ कर मारे, दूसरे उनको लोहे की बेड़ियां पहना दे, तीसरे बांस की छड़ी (बेंत) से ठोके। परन्तु इन तीनों कार्यों का मन्त्र-गत वाक्यों से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः देखा जाय तो सीसे की गोलियां बना कर, बारूद देकर अग्नि के बल से दुष्ट शत्रुओं का मुका-बला करने का वेद ने उपदेश किया है।

(४) 'अनु सूर्यमुदयताम्०' [अथर्व० १ । २२] इस सूक्त में हृद्रोग और कामला की चिकित्सा का उपदेश किया है। परन्तु कौशिक सूत्रों में इस सूक्त को पढ़ कर उक्त रोगों के नाश के लिये लाल बैल के रोम से मिले जलपान करने, लाल गोचर्म का ताबीज बांधने और हल्दी से रंगे पीले भात रोगी को खिला कर, उसके जूठे भातों से रोगी को लेप लगाकर चारपाई पर बैठा कर, नीचे तोते, खुटबढ़ई और हरी चिड़ियाओं की बाईं टांग में रस्सी बांधना आदि लिया है। उसी को लक्ष्य में रख कर सूक्त के मन्त्रों का अर्थ कर दिया है और किसी भी पण्डितवर ने उस क्रिया का और तोतों आदि का हरिमा पाण्डुरोग दूर करने के कार्य से सम्बन्ध दर्शाने की चेष्टा नहीं की। इसका कारण यह है कि उन पर कौशिक सूक्तों का प्रभाव रहा है। वे सभी वेद में विद्यमान आयुर्वेद के तत्व को नहीं जान सके। कल्पकार ने तो कामला रोग की शान्ति के कुछ उपायों का जो उसके समय में किये जाते होंगे संग्रह कर दिया और सूक्त का बिनियोग भर दर्शा दिया है पर सूक्त के रहस्य को तो दर्शाया नहीं। परन्तु इन भाष्यकारों ने बादरायण सम्बन्ध से उसमें तोतों और खुटबढ़इयों पर रोग चिपटाने का अर्थ निकाल लिया। जो आयुर्वेद का गूढ़ ज्ञान सो प्रस्तुत पुस्तक में दर्शाने का यत्न किया गया है कि सूर्य

की किरणों से और 'शुक' आदि वृक्षौषधियों से किस प्रकार ये रोग नष्ट होते हैं। इसी प्रकार २३, २४ सूक्तों में भी कुछ चिकित्सा का रहस्य दर्शाया गया है। २५ में ज्वर की चिकित्सा और निदान कहा गया है।

प्रस्तुत भाष्य की विशेषताएं दर्शाने के लिये हमने दृष्टान्त के रूप में ४–५ सूक्त उठाकर रखें हैं। वस्तुतः हमारा प्रायिक मतभेद तो सभी सूक्तों के अर्थों से न्यूनाधिक रूप में है। खास कर जब कि योरोप के विद्वान् देवता वाचक शब्दों से केवल देवता भर मानते हैं और मन्त्रों को बुद्धिपूर्वक वाक्य न मान कर आजकल के नजरबन्दी, जादूगरी या शोबदाबाजी के खेल करने वालों और ओझा झाड़ा फूंकी करने वालों के अण्ट सण्ट जन्तर मन्तर के समान मान बैठे हैं।

विनियोग

तब प्रश्न यह उठता है कि वे विनियोग किस प्रयोजन से हैं। कौशिक सूत्र, वैतान सूत्र, शान्तिकल्प आदि नाना कल्प ग्रन्थों में सूक्तों के पाठ जप आदि का विनियोग किस प्रयोजन का है? उसका उत्तर यही है कि विद्वानों ने वेदविद्या की रक्षा के लिये वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विशाल कार्यों तक में विनियोगों द्वारा पद्धतियां रची हैं। परन्तु उन विनियोगों के होने से क्या वेदमन्त्र के तत्वार्थ में भेद थोड़े ही आ सकता है? इसी कारण एक २ सूक्त के बीस २ विनियोग भी हैं जैसा हमने प्रथम सूक्त पर विवाद करते हुए भूमिका में दर्शाया है। कौशिक सूत्र या सायण भाष्य में भी यह बात देखी जा सकती है। परन्तु तो भी वेद-मन्त्र का एक ही सत्यार्थ है। कल्पकार कौशिक आदि ने तो अपने काल के लोक प्रचलित विनियोगों को संग्रह कर लिया है। प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो जाने पर फिर तो नवीन गढ़न्त भी परम्परा से चल पड़ी। बाद में विनियोगों की तो इतनी अन्धपरम्परा चल पड़ी है कि एक २ शब्द का साम्य देखकर भी मन्त्र विनियुक्त होने लगे। जैसे श्रावणी कर्म में दधि सत्तू खाने के समय 'दधिक्राव्णोरकारिषम्०' इस मन्त्र का पाठ गृह सूत्रों

में और कर्म काण्ड समुच्चयों में चल पड़ा। यदि पौराणिक विनियोगों को लें तो और भी हास्य होता है। पं० ह्विटनी आदि ने स्वयं स्थान २ पर लिख दिया है कि यहां विनियोग असंगत, अबुद्धिपूर्वक हैं।

इसके अतिरिक्त योरोप के विद्वानों के चित्त में यह कभी बैठता ही नहीं कि सामान्य रूप से या विशेष रूप से अथर्ववेद के मन्त्र किसी प्राचीन आर्षकाल में विशाल लोकसमाज के ज्ञानप्रद गुरु, पथ-दर्शक कानून, आचार और रहस्य विद्या के मूलसूत्र भी हो सकते हैं। इसी कारण उनको वेद के काल की सभ्यता को परम उच्च सभ्यता स्वीकार करने में भी संकोच होता है। हमारा विचार है कि एक काल में वेद परम मान्य ग्रन्थ, सर्वोपरि कानून और प्रभुग्रन्थ थे और अपने काल के बाद में भी जनता के हृदयों में और ऋषि मुनियों और बड़े २ दिमागों के आचार्यों पर 'श्रुति' या वेद का प्रभुत्व रहा है और उसी का यह फल हुआ कि यद्यपि कालक्रम से लोगों के आचार विचार और साधना में भी परिवर्तन हो गये तो भी वेद महामान्य ही बने रहे। अब हम पाठकों के ज्ञापनार्थ संक्षेप से इस खण्ड के अन्तर्गत काण्डों में से ही वेदप्रतिपादित कुछ विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं।

कुछ विषयों का दिग्-दर्शन

१ गृहस्थ प्रकरण

वर्तमान के पाश्चात्य प्रभावों में पले दिमागों का यह एक विचार है कि प्राचीन आर्ष काल में विवाह-बन्धन नहीं था। स्त्रियां उच्छृंखल रूप से जिस किसी के साथ हो लेती थीं और कोई समाजहित के लिये विवाह का कानून नहीं था। विवाह का बन्धन बाद में चला है। इसकी पुष्टि में वे प्रायः महाभारत में लिखी उद्दालक की माता की कथा कह दिया करते हैं। परन्तु हमें प्रतीत होता है कि वे कथाएं विवाहबन्धन के अभाव की सूचक नहीं प्रत्युत किसी उच्छृंखल माथे की मनगढ़न्त हैं। क्योंकि वेद में हमें दृढ़ विवाह बन्धन, स्वयंवर, उत्तम सन्तान उत्पत्ति और

परस्पर की प्रतिज्ञाएं आदि के वे सब कानून उपलब्ध होते हैं जो एक उत्तम जनसमाज की व्यवस्था के लिये आवश्यक हैं। जैसे—पिता कन्या को उत्तम, संयमी युवा पुरुष के हाथ दान करे जिससे कि वह कुल-पालिका बने। 'एषा ते कुलपा राजन् ताम् उ ते परि दद्मसि' [१।१४।३]। यह कन्या तेरी स्त्री बन कर रहे—'एषा ते कन्या राजन् वधूर्निधूयतां यम्' [१ । १४ । ३] वह विवाह बन्धन का गठजोड़ा, कन्या के माता पिता या भाई के घर में बंधे। ''सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः । [१।१४। २] कन्या पति को स्वयं वरण करे और पति भी कन्या को वरे, दोनों का परस्पर अभिलाषा से विवाह हो 'आ इयमगन् पतिकामा, जनिकामोऽहमागमम्' [२ । ३० । ५] अर्थात् यह स्त्री पति = अपने रक्षक पतिदेव को प्राप्त करना चाहती है और मैं पुरुष सन्तानोत्पत्ति करने वाली स्त्री को पाना चाहता हुआ यहां यज्ञमण्डप में आता हूँ। पत्नी पति को इतना चाहे कि पति को छोड़ कर दूसरे पुरुष के पास न जावे और पति भी उससे ऐसा प्रेम करे कि वह दूसरे को मन में न रखे। 'एवा मथ्नामि ते मनः । यथा मां कामिनी असः । यथा मत् न अपगा असः' [२ । ३० । १]। पति पत्नी एक दूसरे का वहन करें, अर्थात् विवाह करें, दोनों की धन सम्पत्ति एक हो, धर्म, कर्म, ऐश्वर्य सब एक हों, वे एक हों, वे एक होकर रहें और प्रेम से एक दूसरे को चाहते हुए रहें। सं चेन्नयाथः अश्विनौ, कामिनौ सं च वक्षयः । सं वां भगासः अग्मत । सम् चित्तानि । सम उ व्रता ॥ [२ । ३० । २] विवाह को नियत करने के लिये प्रथम एक विद्वान् ब्राह्मण कन्या के घर आवे वह सब वरों से उत्तम वर के गुण बतलावे ताकि कन्या उसे अपना पति चुन सके। 'आ नः अग्ने सुमतिं सम्भलः गमद् इमां कुमारीं सह नो भगेन ।' [२ । ३६ । १] स्त्री पति को प्राप्त करे, उत्पादन में समर्थ पति (सोम) उसको सफल मनोरथ करे, वह रानी बन कर उत्तम पुत्र जने, स्त्री पति को प्राप्त करके शोभा प्राप्त करे। 'इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट । सोमो हि राजा सुभगां कृणोतु । सुवाना

पुत्रान् महिषी भवाति । गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥' [२ । ३६ । २] विवाह यदि केवल पति पत्नी के परस्पर प्रेम से रहने भर का आपस का समझौता हो तो वह कोई प्रबल-दमन न होने से टूट भी सकता है। परन्तु नहीं। वेद की दृष्टि में विवाह करना सामाजिक सुव्यवस्था का कार्य है जिस पर राज-नियम भी होना आवश्यक है। वेद में राजा का यह कर्त्तव्य बतलाया है कि वह पति पत्नी के बन्धन को दृढ़ करे। 'स जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व ।' [७ । ७३ । १०] । हे राजन् ! दम्पति के सम्बन्ध को तू खूब दृढ़ बना।

वेद इस गृहस्थ का उत्तम परिणाम पुत्रोत्पत्ति बतलाता है। स्त्री को बराबर चिरंजीवी पुत्रों की माता बनाने का उपदेश है—'भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् [३ । २३ । ३]। स्त्री पुत्रों को प्राप्त करे, पुत्र उसको सुखकारी हों और वह पुत्रों को सुखकारी हो। 'विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यः तुभ्यं शम् असत्। शम् उ तस्मै त्वं भव [३ । २ । ३ । ५] यदि स्त्री बंध्या हो तो उसके बांझपन को दूर करे।

'येन वेहद् वभूविथ नाशयामसि तत् त्वत्' [३ । ३५ । १]।

यदि गर्भ गिर जाय तो औषधियों से उसकी रक्षा करे—

ताः त्वा पुत्रविद्याय देवीः प्रावन्तु ओषधीः । [३ । ३५ । २]।

गृहस्थ बसा कर स्त्री घर का पालन करे वह घर के सब पुरुषों और पशुओं का पालन करे और उन्हें पुष्ट करे। 'शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा'। [३ । २८ । ३] पशून् यमिनि पोषय [३ । २८ । ४] क्या गृहस्थ के इन नमूनों को देखकर कोई कह सकता है कि ये आदर्श जंगलियों के हैं ? हां, वर्त्तमान सभ्यता के अभिमानी लोग अपने पर जरा आंख डालें तो उनको योरोप में होने वाले घोर व्यभिचार और गर्भ-निरोध के लिये घातक औषधियों के प्रयोग और विलासिता के लिये शर्म अनुभव करनी चाहिये। हमें गर्व है कि इन पापों की शिक्षा वेदों में नहीं हैं।

२. कृषि, व्यापार, विज्ञान आदि

सभ्यता का दूसरा दृश्य वेदोपदिष्ट कृषि, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग और वेतन आदि के नियमों में दिखाई देता है। संक्षेप में (१) वणिग् व्यापार में बड़े धनाढ्य लोग प्रवृत्त हों। इन्द्रम् अहं वणिजं चोदयामि। मार्ग में चोर लुटेरों को दमन करके व्यापार को अभय कर दिया जाय। नुदन् अरातिं परिपन्थिनं मृगं ' [३ । १५ । १]। अपना माल बेच कर दूसरे देशों से धन लावें। 'यथा क्रीत्वा धन आहराणि' [३ । १५ । २]। व्यापारियों के लिये राजा रास्तों में पाण्डवों का उत्तम प्रबन्ध करे। 'इमां अग्ने शरणिं मीमृषः नः यं अध्वानं अगाम दूरं।' हम क्रय-विक्रय के ऐसे दर नियत करें जिससे हमें लाभ हो। 'शुनं नो अस्तु प्रपणः विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणातु।' [३ । १५ । ४] सौदा परस्पर की सलाह से पटा लें—'इदं हव्यं संविदानो जुषेथाम्।' व्यापार और उससे पाया नफा सबको सुखकर हो, उससे किसी को कष्ट न हो। 'शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च।' जिस धन से हम व्यापार करें वह धन बराबर बढ़े, पूंजी कमती न हो अर्थात् लिमिटेड् कम्पनी हों। येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तेन् मे भूयो भवतु मा कनीयः॥ और राजा घूसखोर अधिकारियों को व्यापारों में बाधक न होने दे। अग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध।' प्रत्युत राजा उनको स्वयं नौकरी दे।

जब समस्त सभ्यताभिमानी योरोप जंगली होकर केवल मछली और जंगली जानवरों के शिकार पर जीवन बिताता था उससे भी कितने युग पूर्व वेद में कृषि के वैज्ञानिक उपदेश हैं—'सीरा युंजन्ति कवयो। युगा वितन्वते पृथक्।' [३ । १७ । १] विद्वान् लोग हलों को चलावें और जोड़े के बैलों को जोतें। युनक्त सीरा वि युगा तनोत। कृते योनौ वपत इह बीजम्' [३ । १७ । २] हल जोतो और जोड़े खोल दो और फिर हल से जुती भूमि में बीज बो दो। 'विराजः श्नुष्टिः सभरा असत्' तब खूब गाढ़ी अन्न की फसल हो और 'नेदीयः इत् सृण्यः पक्वमायवन्' पके धान को दरातियों

हंसुओं से काट लो। कृषि से ही सब पदार्थ प्राप्त हैं। 'उदिद् वपतु गामविम०' [३ । १७ । ३]

मांसभक्षी संसार को सिवाय मांस से अपना पेट भरने के कुछ नहीं आता। परन्तु वेद धान्य और पुष्टिकारक औषधियों के संग्रह का उपदेश करता है। "पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। अथो पयस्वतीनामा भरेहं सहस्रशः॥" औषधियां पुष्टि करती हैं, मेरा वचन पुष्टिकारक है, मैं हजारों पुष्टिकारक औषधियों का संग्रह करूं। अन्न उत्पन्न करने के लिये राजा हजारों श्रमी लगावे और फसलें कटावे तो संसार भर के खाने का अन्न पा सकता है। "शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥" [३ । २४ । ५] लोकोपकार के लिये जंगल के जन्तुओं का पालन करने का भी उपदेश किया है। "सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः सं उ पूरुषः।" [१ । २६ । ५]

हम गो, दुग्ध, धान्य एकत्र करें, वीरों को उत्पन्न करें, स्त्रियों को घर पर ला कर बसें। आ हरामसि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्। आहुता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥ [१ । २६ । ५]

इन सब उन्नतियों के होते हुए उनको व्यवस्थित करने के लिये प्राचीन आर्ष काल में विज्ञान की उन्नति भी पर्याप्त रूप में थी। उदाहरण के तौर पर वेद ने जलों का 'उदक' नाम इसलिये बतलाया है कि देव-विद्वान् पुरुष बहते हुए जलों को भी ऊपर उठा लेता है और अपनी इच्छानुसार ऊपर की भूमियों पर पहुँचा देता है। "एको वा देवो अपि अतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।"

जलों के भीतर भी दो गुण हैं अग्नि और सोम। क्या यह तेजाब के बनाने वाली हाइड्रोजन और ओपजन दो तत्वों की सूचना तो नहीं है। "अग्नीषोमौ बिभ्रत्यापः इत्ताः" [३ । १३ । ५]। जलों को जहां वैज्ञानिक विद्वान् प्रयोग में लाता है वहां वे बलपूर्वक काम करते हैं। "इह इत्थमेत शक्वरीः यत्र इदं वेशयामि वः।" [३ । १३ । ७]

विद्युत के विषय में वेद ने लिखा है कि विद्वान् लोग बिजली को शत्रुओं के ऊपर शस्त्र के रूप में फेंक कर प्रयोग करते हैं।
'यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषु कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।' [१।१३।४।]॥

बन्दूकों के बनाने के विषय में वेद ने लिखा है कि दुष्टों के नाश के लिये सीसे की गोली बना कर अग्नि = बारूद से मारें। 'तं त्वा सीसेन विध्यामः।' [१ । १६ । ४]॥ इसी प्रकार और भी वैज्ञानिक बातों को लिखा है जिनका प्रस्तुत पुस्तक में विस्तार से रहस्य खोला गया है।

३. आयुर्वेद

आयुर्वेद तो अथर्ववेद का उपवेद है, इस सम्बन्ध में वेद में बहुत विज्ञान उपलब्ध होता है। जैसे आरोग्यता प्राप्त करने के लिये शिरोभाग खांसी और शरीर के नस २ में बैठे क्षय को दूर करने के लिये रोगी जंगल और पर्वत के वायु का सेवन करे।

'वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च' (१ । १२ । ३)

शरीर में से रोग बाल्य काल्य से ही दूर करने चाहियें, खुली वायु वाले रोशनीदार मकान होने चाहियें। (२ । १० । ४, ५) प्रकाश और शुद्ध वायु से राजयक्ष्मा तक का नाश हो जाता है। (२ । १० । ८) रोगकारी जन्तुओं का नाश करने का वेद ने बड़ी स्पष्टता से उपदेश किया है।

तया संपिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा इव। (२ । ३१ । १)

आंतों, पीठ, त्वचा आदि में फैलने वाले रोग-कीटों को भी नाश करे (२ । ३१ । ४)। रोगकारी कीट जल, भोजन, पर्वत, वन और पशुओं में भी पकते हैं। वे हमारे शरीर में घुस जाते हैं, उनको भी नाश करें। (२ । ३१ । ५) इसी प्रकार इन रोगकीटों की पसलियों को जड़ मूल से नष्ट करें उनके विष के अंगों को नष्ट कर दें (२ । ३२ । २–६)। देह के सभी अंगों में से यक्ष्मा को दूर करे। (२ । २३ । १–)।

महारोगों के नाश करने वाली औषधियों को वर्णन करते हुए पृश्निपर्णी नामक औषधि से नाना प्रकार के घृणाजनक रोग दूर करने का

उपदेश किया है (२ । २५ । १–५) ज्वर को नाश करने के लिये 'कूठ' औषधि का भी वर्णन किया गया है । इसी से शिरो रोग चक्षु का भी उपाय बतलाया है (५।४।१–१०), नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधियों का प्रयोग दर्शाया है (४।४।१–८) । विष की चिकित्सा के लिये 'ब्राह्मण' नामक अपूर्व ओषधियों का प्रयोग है और भी नाना प्रकार के विषों की चिकित्सा (४ । ७ । १–७) के लिये 'प्रक्री' नामक औषधि का वर्णन है ।

इसके अतिरिक्त ऐसे २ प्रयोग भी दर्शाए हैं जिनमें पूर्ण सर्पविद्या का विधान किया है जैसे आंख की ज्योति से सर्प के विष को रोकने और बीसियों सर्पों के विषों को रोकने वाले प्रबल प्रतिविषों के प्रयोग करने का दिग्दर्शन कराया है (५ ; १३ । १–११) । इसके अतिरिक्त प्रसव-विद्या का भी वेद ने उपदेश किया है । (१ । ११ । १–६)

४. राजनीति और राष्ट्रपालन

प्रजा के पालन और उसमें सुख शान्ति के स्थापन के लिये राजा का स्थापन, उत्तम राजा के गुणों का वर्णन, दुष्टों का दमन, दण्डविधान, राजसभा, पर-राष्ट्र-विजय आदि का बराबर उपदेश किया है । उसको हम विस्तार से क्या दिखायें, विषय-सूची से ही इन विषयों को प्रस्तुत पुस्तक में पा सकेंगे । तो भी एक दो बातों पर पाठकों का ध्यान खेंचता हूँ (१) वरुण वह राजा है जो प्रजा को दुष्टों से बचाता और जिसको प्रजाएं स्वयं अपना राजा वरण करती हैं । वह राजप्रबन्ध के लिये और दुष्टों का पता लगाने के लिये गुप्तचर विभाग रखे । उसके स्पर्श (स्पाईज़) सर्वत्र विचरें । सत्यवादी को वे न पकड़ें प्रत्युत असत्यवादियों को पकड़ लें (४ । १६ । ६, ७) । राजा अपराधी को जब दण्ड दे तो नियमपूर्वक अपराधी के मा, बाप, वंश और कुल का नाम और दण्ड की धारा लिखकर दण्डकर्त्ता अधिकारी के हाथ सौंपे (४ । १६ । ९) । इस प्रकार की व्यवस्थित शासन प्रणाली का उपदेश वेद ने किया है । हत्याकारी

पुरुषों के लिये यही विधान किया गया है कि अपने किये का वे वही दण्ड पावें जैसा वे औरों से करते हैं (२ । २४ । १–८)। अपामार्ग विधान में कण्टक शोधन प्रकरण को बड़ी खूबी से रखा है (४ । १७–१९ ।)। लोगों को गुप्त हिंसाकारी प्रयोगों से मारने वालों का दण्ड विधान करते हुए वेद ने कृत्या-प्रतिहरण सूक्त में दुष्टों का विस्तार से वर्णन किया है। गुप्त हिंसा के प्रयोगों को ही वेद ने 'कृत्या' शब्द से कहा। उनको दण्ड देने के लिये कृत्या का उन पर ही प्रयोग करने का उपदेश किया है, अर्थात् राजा उनको भी उसी दण्ड से दंडित करे। परन्तु भोले लोग उसको टोना या लोटा आदि चलाने की कोई जादू की तदबीर समझ लेते हैं। इसका विवरण कुछ अपामार्ग-विधान में और (४ । १९) में और विशेष रूप से (५ । ३१ । १–१२) में किया है।

५. सदाचार

हम आर्यगण वेद के दर्शाये आचार को आदर्श सभ्यता स्वीकार करते हैं और विकासवाद के प्रबल प्रभाव में पले योरोपीयन लोग अभी उसको प्रारम्भिक जंगली सभ्यता बतलाना चाहते हैं। परन्तु अब हम संक्षेप से बतलाते हैं कि आदर्श वैदिक सदाचार की क्या शिक्षा है। 'मनुष्य सदा अपने को सर्वप्रिय बनाने का यत्न करे और मधुर वचन कहे उसका घर में आना, जाना और बोलना आंखों से देखना तक भी मधुर प्रतीत हो (१ । ३४ । ३ । ४) गृहस्थ में पुरुष ऐसी प्रेममय चक्षु से अपनी पत्नी को देखे कि पत्नी प्रेम की मधुरता के वश होकर दूसरे के पास जाने की इच्छा तक न करे। (१ । ३४ । ३ । ५)। परस्पर एक दूसरे के प्रति एकहृदय, एकचित्त, द्वेष रहित होकर रहें, एक दूसरे के प्रति इतना प्रेम करें जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है। उसी प्रेम से एक दूसरे के पास जाया आया करें। पुत्र सदा पिता की आज्ञा पालन करे, माता का सम्मान करे। पति पत्नी एक दूसरे को शान्तिदायक वचन बोलें, भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से प्रेम करे, सब एक

चित्त होकर एक कार्य में लगें और कल्याण और सुखदायी वचन बोला करें। जिस वेदज्ञान के अनुकूल चलकर विद्वान् परस्पर नहीं लड़ते और द्वेष नहीं करते ऐसे वेदज्ञान का समस्त पुरुष श्रवण करें। बड़े, छोटे सब एक कार्य में लग कर ऐसे बंधें कि एक दूसरे का साथ न छोड़ें। समस्त प्रजा के लोग आपस में सुन्दर मनोहर बातें बोला करें। सब का पीना, खाना एक हो, समान हो, सब मिलकर परमेश्वर की उपासना करें, सायंकाल प्रातःकाल सब मिलकर अपने चित्त उत्तम कर लिया करें। (३ । ३० । १–७) इसके अतिरिक्त वेद यह भी शिक्षा देता है कि प्रत्येक आदमी अपने को हर प्रकार के पाप कार्य से मुक्त रखे (३ । ३१ । १–११) इसके लिये मनुष्य अपनी भावना को दृढ़ करे और पाप न करने का संकल्प करे, साथ ही पाप से मुक्त होने के लिये वह परम उपास्य परमेश्वर की उपासना करे (४ । २३–२७) मनुष्य अपनी आत्मशक्ति और सहिष्णुता को इतना प्रबल करे कि यदि उससे दस गुना अपवाद भी हो तो सबको वह दबा सके (५ । १५ । १–११)।

६. परमेश्वर

मैक्समूलर, मैकडोनल आदि योरोपियनों का अधिक विचार ऐसा है कि वेद में बहुत से देवताओं की उपासना का विधान है और उन पर विकासवाद का भी प्रभाव है कि एक परम ईश्वर की सत्ता के चरम सत्य को पूर्व ऋषियों ने क्रम से जाना है जो बाद में उपनिषदों में और दर्शन-ग्रन्थों में विकसित (evolved) हुआ है। परन्तु उनका यह विचार नितान्त असत्य भ्रममूलक और वेद को न समझने के कारण है। ऋषियों ने वेद ग्रन्थों में यह साक्षात् किया है कि 'प्रजापते न त्वदेतानि अन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।' (अथर्व० ७ । ८ । ३) 'हे प्रजा के पालक परमेश्वर ! तुझसे दूसरा कोई भी इन उत्पन्न पदार्थों के ऊपर मालिक नहीं है।' 'वह परमात्मा की शक्ति सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में भी सदा पूर्ण रहती है, अतः समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थ उसके ही

आश्रय में रहते हैं' (अथर्व० ७ । ८० । २) । 'परमात्मा तो जीवों के आत्माओं में बसा एक ऐसा परमपूज्य तत्व है जिसको राजा, रङ्क, बलवान् और निर्बल, सभी उसके महान् ऐश्वर्यमय रूप का अनुभव करके चाहते हैं कि हम उसकी उपासना किया करें (३ । १६ । २) । 'वह परमात्मा सत्यरूप में आराधना करने योग्य होने से 'सत्यराधः' है, ऐश्वर्यवान्, भजन करने योग्य होने से 'भग' है । उसकी हम प्रातः सूर्योदय काल में अवश्य उपासना करें' (३ । १६ । ४) । 'हम उसी के भजन से स्वयं ऐश्वर्यवान् हो सकते हैं, वह हमारे हरेक कार्य में प्रथम उपास्य है' (३ । १६ । ५) । 'वह सबको शरीर देता है, वह दो पाये चौपाये सबका प्रभु है' (४ । २ । १) 'वह अपनी महत्ता से समस्त जगत् का राजा है जिसका आश्रय लेना अमृत और परे रहना मृत्यु है' (४ । २ । २ ।) 'जो जमीन आस्मान को थामे हुए है, जिसके भय से यह पृथ्वी विचलित नहीं होती वह समस्त लोकों का रचयिता है। हम सब उसकी उपासना करें । समस्त उच्च, हिमाच्छादित पर्वत जिसकी महिमा के नमूने हैं, समुद्र में पृथ्वी का खड़ा रहना जिसका आश्चर्यजनक कार्य है । ये दिशाएं जिसकी बाहू के समान फैली हैं, उसकी हम उपासना करें' (४ । २ । ४, ५) ।

उस महान् शक्ति परमेश्वर के विषय में अथर्ववेद में बड़े आश्चर्यजनक वर्णन हैं जिनके एक २ अंश उपनिषदों का रूप धारण कर रहे हैं । केन सूक्त का एकांश केनोपनिषद् है । स्कम्भकसूक्त पढ़कर तो विस्मय होता है । वरुण, सर्वव्यापक परमेश्वर का वर्णन देखिए—'वह सबसे महान् परमात्मा सर्वव्यापक होकर इतने पास से देखता है कि उससे कोई चोरी नहीं कर सकता । वह पास बैठकर बात करने में तीसरा है, चलते, छुपते और हिंसा करते पुरुष पर भी उसकी आंख रहती है । उसकी महान् कोख में बड़े समुद्र छिपे हैं तो भी वह महान् इतना सूक्ष्म है कि वह पानी के छोटे से छोटे बूंद में भी छुपा है, यह भूमि, आकाश और

इसमें स्थित दूर और पास के सब लोक उसी के शासन में हैं। कोई आकाश लांघ कर भी चला जाय तो परमेश्वर के पास से छूट नहीं सकता। उसने तो मनुष्यों की झपकें तक गिन रखी हैं। उसके फन्दे सत्यवादी को अभय दान करते हैं, और असत्यवादी को जकड़ लेते हैं। वह सब जनों, देशों और विद्वानों के प्रति समान भाव से रहकर भी प्रत्येक व्यक्ति पर भी खास तौर पर शासन करता है' (४।१५।१-९)। इसके अतिरिक्त 'वह समस्त संसार को उठाने वाला है। वह जमीन, आसमान, अन्तरिक्ष और छओं दिशाओं को उठाकर समस्त संसार में व्यापक है। वह ऐश्वर्यवान् तीनों लोकों और तीनों कालों का स्वामी है। समस्त 'देव' दिव्य शक्तियों का वस्तुतः वही स्वयं कार्य करता है। जिससे बड़ा कोई दाता नहीं, जिससे बड़ा कोई लेने वाला नहीं, वह सबसे बढ़ कर सबका पोषक, सबका कर्त्ता, तेजोमय है। वह अपने रुचिर रूप होने से इन्द्र, विश्वधारक होने से अग्नि, पालक होने से प्रजापति, सर्वोच्च उच्च होने से परमेष्ठी है। हे लोगो! उसी सर्वहितकारी परम पुरुष की शरण में जाओ उसने सबको थामा है, उसने सबको धारण किया है। जो उस प्रभु की प्रातः, सायं और मध्य दिन में भी उपासना करते हैं, उससे बल प्राप्त करते हैं, वे कभी नाश को प्राप्त नहीं होते (४।११। १-१२)।' इसी प्रभु को वेद ने 'अनड्वान्' कहा है। जिससे भ्रम में पड़कर यवनों ने पृथ्वी को बैल के सींगों पर मान रखा है और अलंकार-प्रिय भक्तों ने शिव और बैल की कल्पना की है। शिवपुराणकार ने रहस्य ठीक खोल दिया है।

वृषो धर्म इति प्रोक्तः तमारूढस्ततो वृषा।

धारण शक्ति = धर्म 'वृष' है उसका स्वामी 'वृषी' महादेव है।

इन सब विषयों के साथ सदाचार, शिक्षा, आत्मज्ञान, ईश्वरोपासना, आयु, 'तेज' बल की प्रार्थना, तपस्या, इन्द्रियजय, पापपरित्याग, मोक्ष-मार्ग, मुक्तिसाधना आदि के और भी अनेक प्रकरणों को दर्शाया है, जिनसे

मनुष्य का जीवन उन्नत, ज्ञानमय और सुप्रसन्न हो सकता है और जिनको आधार में रखकर उपनिषद और दर्शनग्रन्थ प्रवृत्त हुए हैं। योरोपियन लोग जिनको अर्वाचीन विकास कहना चाहते हैं वे वेद के ही प्राचीन यथार्थ तत्व हैं। दर्शन तो उनकी रक्षा और व्याख्या करने वाले हैं। जिनको हम यहां विस्तारभय से नहीं दर्शाते इन सब प्रकरणों को प्रस्तुत ५ काण्डों में भी पाठक पर्याप्त मात्रा में पावेंगे फिर अगले काण्ड जो अगले खण्डों में आवेंगे उनमें भी इन और अन्यान्य भी बहुत से विषयों का समावेश है। जिनको हम अगले खण्डों की भूमिका में यथास्थान दर्शावेंगे।

ब्राह्मण ग्रन्थ और गृह्य सूत्र

हमें इस वेदभाष्य में सबसे अधिक सहायता ब्राह्मण ग्रन्थ और उन के आरण्यक भागों और उपनिषदों से प्राप्त हुई है। हमने प्रायः भाष्य में स्थान २ पर ब्राह्मणों द्वारा प्रदर्शित प्राचीन वैदिक परिभाषाओं को खोजने का यत्न किया है और कहीं २ प्राचीन गृह्यसूत्रों में भी कोई मन्त्र किसी सूक्त का आ जाने पर उसके विनियोग से मन्त्रार्थ की दिशा जानने में सहाय्य प्राप्त हुआ है। जिसको हमने स्थान २ पर दर्शाया है। हिरण्यकेशीय मानव गृह्यसूत्र में हमें कुछ स्थल प्राप्त हुए हैं।

अन्य संहिताएं

अथर्व-वेद के मन्त्रों के अन्य संहिताओं में आये पठान्तरों के देखने से अथर्ववेद के मन्त्रों के अर्थों पर बड़ा प्रकाश पड़ता है और स्पष्ट विदित होता है कि पैप्पलाद आदि शाखाएं किस प्रकार मूल मन्त्र के कठिन पदों को परिवर्त्तित करके रखती हैं। महर्षि-दयानन्द का यह कथन कि शाखा संहिताएं मूल संहिता की व्याख्याएं हैं, पाठक लोग पठान्तरों पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालकर सहज ही जान सकेंगे। पैप्पलाद संहिता के बहुत से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों से विपरीत हैं कि उनको मूल-वेद मानना ही असम्भव है। प्रत्युत उनकी संगति भी मूक-वेद की तुलना से ही लग सकती है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने भाष्य की दिशा पर्याप्त रूप से दिखा दी है। यद्यपि अथर्व-वेद के सम्बन्ध में अभी बहुत से विषयों पर बहुत सा कथन करना आवश्यक है तो भी उसका इस छोटी सी भूमिका में उल्लेख करना, असम्भव एवं अप्रासंगिक जान पड़ता है। मेरा बिचार है कि 'अथर्व—आलोचन' नामक एक पृथक् पुस्तक निर्माण करके अथर्ववेद के सम्बन्ध के सभी विवाद पूर्ण विषयों को उसमें स्पष्ट किया जाय। अन्त में पाठकों से नम्र निवेदन करता हूँ कि अथर्ववेद के बहुत से गम्भीर रहस्यों को कितने ही अंशों में अभी मैं बहुत न्यून समझ सका हूँ। प्राचीन ग्रन्थों के सर्वथा अभाव होने से हम लोग अथर्ववेद के वास्तविक तत्त्व को जानने में असमर्थ है। मैं चाहता हूँ कि इस सम्बन्ध में और भी गहरा अनुसन्धान हो। इसके अतिरिक्त भाषाभाषियों के निमित्त इस छोटे से ग्रन्थ में यदि प्रत्येक सूक्त और मन्त्र पर थोड़ी २ टिप्पणी भी लगती तो यह ग्रन्थ मोटा पोथा हो जाता। परन्तु फिर मूल्य अधिक हो जाने से ग्राहकों की सुविधा नष्ट हो जाती और प्रकाशक भी बड़े विशाल ग्रन्थ से भय करते हैं तब अन्य भाष्यकारों के विस्तृत आलोचना का कार्य इतने स्वल्प स्थान में क्योंकर होना सम्भव था।

विद्वान् वाचकों से हमारा यह निवेदन है कि मेरे इस प्रयास में जो त्रुटियां वे पावें मुझे स्वयं जता कर अपनी महानुभावता प्रकट करें। इससे आगामी संस्करणों में उनकी सुझाई त्रुटियों को दूर कर मैं उनके ऋण से उर्ऋण हो सकूंगा।

तृतीय संस्करण

द्वितीय संस्करण में वेदविद्वान् श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार ने अनेक स्थानों पर विशेष परामर्श दिये, उनको साभार स्वीकार किया। यह हर्ष का विषय है कि हम यह तीसरा संस्करण पाठकों के हाथों में दे रहे हैं।

मुद्रणोपयोगी कागज, स्याही, छपाई, व अन्य सभी पदार्थ कई गुणा मूल्य बढ़ जाने से बहुत महंगे हो गये हैं। इससे ग्रन्थ का मूल्य भी बढ़ जाने से वह पाठकों को अवश्य दुष्प्राप्य हो जाने की संभावना थी। इसलिये यह आवश्यक समझा गया कि अनावश्यक अंश टिप्पणी, पाठभेद आदि दूर कर दिया जाय ताकि मूल्य न बढ़ने पावे।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि पाठक अब अधिक मात्रा में भाष्य का अध्ययन करके लाभ उठावेंगे।

अन्त में ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें इस पवित्र लोकसेवा, वेदाध्ययन रूप तप और वेदचिन्तन रूप महायज्ञ में सफल करें।—'टीकाकार'

ग्रन्थ में प्रयुक्त संकेतों का विवरण

पादटिप्पणी में संक्षेप से दर्शाने के लिये जिन संकेतों को प्रयुक्त किया गया है उनका विवरण निम्नलिखित रूप से जानना चाहिये।

जो पाठभेद जिस सूक्त से जिस मन्त्र के जिस चरण में आया है उस को दर्शाने के लिये सूक्त का अङ्क [ ] ऐसे कोष्ठ के बीच में दिया गया है, मन्त्र का अङ्क—डैश देकर लिखा है, विशेष पद का विवरण भाष्य में लिखे शब्द १, २, ३, का अङ्क देकर नीचे १. २. ३. इस प्रकार देकर लिखा गया है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम इन पादों को दर्शाने के लिये (प्र०), (द्वि०), (तृ०), (च०), (पं०), (ष०), (स०) इत्यादि संकेत दिये गये हैं, किसी विद्वान् के सम्मत पाठ को दर्शाने के लिये 'सम्मतः' शब्द से लिखा है और नये विद्वानों के

अभिलषित संशोधन को 'कामितः' शब्द से दर्शाया है। आधार पुस्तकों के संकेत इस प्रकार जानने चाहिये।

अथर्व० = अथर्ववेदे
आश्व० गृ० सू० = आश्वलायनगृह्यसूत्रे
आश्व० श्रौ० सू० = आश्वलायनश्रौतसूत्रे
ऋ० = ऋग्वेदे
उ० = उणादिपाठे
ऐ० ब्रा० = ऐतरेयब्राह्मणे
उप० = उपनिषदि
क० = कठोपनिषदि
कौ० = कौषीतकीब्राह्मणे
कौ० अर्थ० = कौटिलीय अर्थशास्त्रे
गी० = गीतायाम्
गो० पू० = गोपथब्राह्मणे पूर्वार्धे
गो० उ० = ,, ,, उत्तरार्धे
गो० गृ० सू० = गोभिलीयगृह्यसूत्रे
गृ० सू० = गृह्यसूत्रे
छान्दो० = छान्दोग्योपनिषदि
जै० उ० ब्रा० = जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे
तै० सं० = तैत्तिरीयसंहितायाम्
तै० ब्रा० = तैत्तिरीयब्राह्मणे
दया० = दयानन्दः
निरु० = निरुक्तयास्कीये
पा० = पाणिनीयव्याकरणे
पा० गृ० सू० = पारस्करगृह्यसूत्रे ?
पेट० लाक्ष० = सैंटपीटर्सबर्ग लैक्सिकन्

पै॰प॰ सं॰ = पैप्पलादसंहितायाम्

मनु॰ = मनुस्मृतौ

मै॰ सं॰ = मैत्रायणीसंहितायाम्

ला॰ श्रौ॰ सू॰ = लाट्यायनश्रौतसूत्रे

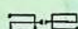
शं॰ पा॰ = शंकरपाण्डुरंग एम॰ ए॰ सायणभाष्यसम्पादकः

शां॰ श्रौ॰ सू॰ = शांखायनश्रौत्रसूत्रे

शां॰ गृ॰ सू॰ = ,, गृह्यसूत्रे

हि॰ गृ॰ सू॰ = हिरण्यकेशीयगृह्यसूत्रे

विषय सूची



प्रथमं काण्डम् (१–७१)

सूक्तसंख्या	विषय	पृष्ठाङ्क

तृतीयं काण्डम् (१५८–२७१)

---

* ओ३म् *

अथर्ववेदसंहिता

प्रथमं काण्डम्

(१) वाचस्पति से बलों की प्रार्थना।

ओ३म्। शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ अथर्व० १। ६। १॥

अथर्वा ऋषिः। वाचस्पतिर्देवता। १–३ अनुष्टुभः, ४ चतुष्पादुरोविराड्बृहती।
चतुर्ऋचं सूक्तम्।

ओ३म्। ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

भा०—(ये) जो (त्रिसप्ताः) तीन गुना सात [२१] इक्कीस पदार्थ (विश्वा) समस्त (रूपाणि) चेतन और अचेतन पदार्थों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परि यन्ति) गति कर रहे हैं। (वाचः) वाणी का (पतिः) पालक (तेषां) उनके (बला) बलों को (अद्य) आज, सदा ही, (मे तन्वः) मेरे शरीर (दधातु) धारण करावे।

प्राणो वाचस्पतिः। श० ६।३।१।१९॥ प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः। श० ४।१।१।९॥ वाचस्पतिर्होता दश होतॄणाम्। तै० ३।१२।१५।२॥ वाग् इति सर्वे देवाः। तै० १।९।२॥ वाग् होता षड्होतॄणाम्। तै० ३।१२।५।२॥ वाग् वै यज्ञः। तै० ५।२४॥ वाग् इति मनः। जै० उ० ४।२१।११॥

प्रजापतिर्वा इदमासीत् तस्य वाग् द्वितीया आसीत् । तां मिथुनं समभवत्। सा गर्भमधत्त, सा अस्मादपक्रामत् । सा इमाः प्रजा असृजत । सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् । तां० २०।१४।२॥ वाग् अस्य प्रजापतेः स्वो महिमा । श० २।२।४।४॥ इत्यादि ।

वाचस्पति का अर्थ प्राण, आत्मा, परमात्मा और आचार्य है । वाचस्पति दश होता रूप दश प्राणों का मुख्य 'होता' है । वाणी में सब देव अर्थात् इन्द्रियगण ओतप्रोत हैं । ऊपर के छः प्राणों का होता वाक् है। वाणी मन का प्रकट रूप है, वाणी प्रजापति से गर्भ धारण करती है । वह इस समस्त संसार की सृष्टि को उत्पन्न अर्थात् प्रकट करती है, वाणी वेदज्ञान प्रभु की महिमा है । (१) 'त्रिषप्ताः'—तीन और सात । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन लोक, उनके तीन अधिष्ठाता अग्नि, वायु और आदित्य । प्रकृति के तीन गुण, सत्व, रजस् और तमस् । इन तीन गुणों से होने वाले तीन कार्य, सृष्टि, स्थिति और प्रलय । सप्त = सात ग्रह, सात मरुद्गण, सात लोक, सात छन्द, सात ऋषि, सात होता, सात संस्थायें । (२) अथवा, त्रिषप्ताः' = तीन सत्ते २१ । प्रसिद्ध सूर्य से अधिष्ठित प्राची दिशा को छोड़कर ७ दिशाएं जिनमें आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान् और विभास ये सात पूर्व की शक्तियां हैं। होता आदि सात ऋत्विज्-गण अथवा विवस्वान् को छोड़ कर मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और इन्द्र ये ७ सूर्य । जैसा ऋग्वेद (९।११४।३) में "सप्तदिशो नानासूर्याः सप्तहोता ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त ।" (३) अथवा, त्रिषप्ताः—सप्त ग्रह, सप्त ऋषि और सप्त मरुद्गण । (४) अथवा, १२ मास + ५ ऋतुएं + ३ लोक और आदित्य इक्कीसवां । (५) अथवा शरीर के घटक पांच महाभूत पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश । पांच प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण । पं० श्रीपाद दामोदरजी सातवलेकर के मत में वाचस्पति 'बला' नामक ओषधि है, जो वाणीप्रदा होने से 'वाचस्पति' है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

भा०—हे (वाचस्पते) वेदरूप वाणी के पालक परमेश्वर! आचार्य! ब्रह्मन्! (देवेन) प्रकाशयुक्त (मनसा) मन:शक्ति ज्ञान के (सह) साथ (पुनः) बार २ (एहि) मुझे प्राप्त होइये, उपदेश कीजिये। हे (वसोः पते) वसु = प्राणियों के वास अर्थात् जीवन के सम्पादन पदार्थों या वसु अन्तेवासी शिष्यों के पालक विद्वन्! ईश्वर! अथवा प्राण के पालक आत्मन्! (नि रमय) हमें सर्वथा सुखी करो हर्षित, तृप्त करो। (मयि अस्तु एव) आपके दिये ये ज्ञान आदि मुझमें अवश्य रहें और (मयि) मुझमें (श्रुतम्) गुरूपदेश और वेद का ज्ञान भी अवश्य रहे।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १६६ । ३ ॥

भा०—हे वाचस्पते! (मयि) मुझमें (उभे) मेधा और सम्पत्ति, ज्ञान और कर्म दोनों को (एव) अवश्य (वि तनु) विशेष रूप से ऐसे विस्तृत कर, बढ़ा, प्रबल कर जिस प्रकार (ज्यया) धनुष् में लगी डोरी से (उभे आर्त्नी इव) धनुष् के दोनों छोर ढीले न रह कर कस जाते हैं और वे बाण को दूर फेंकने में समर्थ होते हैं हम भी प्रखर तीक्ष्ण बुद्धि और कर्मशक्ति से बलवान् होकर सब विपत्तियों और कार्यों को साध सकें। (वाचस्पतिः) वेदवाणी का पालक ईश्वर और विद्वान् (नि यच्छतु) समस्त इष्ट पदार्थ हमें दे। (मयि एव अस्तु, मयि श्रुतम्) उसके दिये ये ज्ञान आदि मुझमें स्थिर रहें और गुरूपदेश के श्रवण से प्राप्त वेदज्ञान भी मेरे में रहे।

[३] 'अत्रैव वोपि नह्याम्युभे आर्त्नी इव ज्यया। वाचस्पते नियेधेय मान्यथा मदधरं वदान' इति ऋग्वेदे १० । १६६ । १३ ॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

भा०—(वाचस्पतिः) वेद वाणियों और ज्ञान वाणियों के परिपालक परमेश्वर और आचार्य की (उपहूतः) सेवा, शुश्रूषा और प्रार्थना, उपासना की जाय । (वाचः पतिः) वाचस्पति (अस्मान्) हमें (उपह्वयताम्) उत्तम ज्ञानों का उपदेश करे, जिससे हम (श्रुतेन) ज्ञानोपदेश से (सं गमेमहि) युक्त हों और (श्रुतेन) वेदशास्त्र के ज्ञान से मैं (मा वि राधिषि) कभी वियुक्त न होऊं ।

वाचस्पति ज्ञानप्रद होने से परमेश्वर है । लोक में गुरु और शरीर में प्राण और प्राण और प्राण का सुधारक होने से आरोग्यप्रद विद्वान् वैद्य भी वाचस्पति है । वैद्य के लिये 'कविराज' शब्द 'वाचस्पति' शब्द का अनुवाद मात्र है ।

---

(२) बाण, शर और कानून का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । अमृतमयः पर्जन्यश्चन्द्रमा देवता । १, २, ४, अनुष्टुप् छन्दः, ३ त्रिपदा विराड् गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ १ ॥

भा०—यह सूक्त संग्राम सम्बन्धी है । ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र, नाड़ीव्रण आदि व्याधियों को शान्त करने के लिये इसमें मुंज, शरकाण्ड आदि के गुण भी बतलाये हैं । (१) (शरस्य) बाण, अर्थात् विनाशक स्वभाव के शरकाण्ड के (पितरं) उत्पादक (भूरिधायसं) बहुत प्रकार से पालन पोषण करने-हारे, (पर्जन्यं) मेघ के समान समस्त जनों के हितकारी और तृप्त करने हारे परिपालक को (विद्मः) हम जानते हैं । (अस्य) इसके (मातरं) निर्माण करने वाली, उत्पादक (भूरिवर्पसं) नाना प्रकार के चर,

अचर, प्राणियों को धारण करने वाली पृथिवी को भी (सु विद्मः) हम उत्तम प्रकार से जानें। (२) क्षत्रिय पक्ष में—शत्रु के विनाशक राजा के सिपाही लोग शर हैं। उसका पिता, पालक राजा प्रजाओं का हितकारी, पोषक है वह सिपाही या सेना को संग्रह करता है। उस सैनिक की माता पृथिवी, राष्ट्र स्वयं है, जिसमें नाना मनुष्यों का निवास है। (३) भैषज्य-पक्ष में—शरकाण्ड का पिता वह पर्जन्य मेघ है जो ओषधियों को जल से तृप्त करता है, ओषधियों की माता भूमि शर को उत्पन्न करती है।

(४) अथवा—नाना प्रजाओं के पोषक, मेघ के समान प्रजा के हितकारी, राजा को ही (शरस्य) हिंसक सेना वा दण्डव्यवस्था (= कोड[1]) का परिपालक जानते हैं और (भूरिवर्पसं पृथिवीं अस्य मातरं सु विद्मः) नाना प्रकार की प्रजा को धारण करने वाली पृथिवी अर्थात् राष्ट्र को या प्रजा को इस दण्डव्यवस्था की माता, निर्माता जानते हैं अर्थात् दण्ड-व्यवस्था का निर्माण करना प्रजा के हाथ में और उसका पालन करना कराना राजा के हाथ में होना उचित है।

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि ॥ २ ॥

भा०—हे (ज्याके) धनुष् की डोरी के समान शर का प्रक्षेप करने हारी सभापते! सेने! (नः) हमारे लिये (परि नम) उत्तम व्यस्था का सम्पादन कर, या सेनापति की आज्ञा का पालन कर, हे इन्द्र! (तन्वं) विस्तृत राष्ट्र के शरीर को (अश्मानं) चट्टान के समान दृढ़, अजेय (कृधि) बना, या अपने विस्तृत व्यूह को अभेद्य कर। हे इन्द्र! राजन्! सेनापते!

१. 'शर' या 'काण्ड' शब्द प्राचीन काल म व्यवस्थापुस्तक, स्मृति अथवा कोड या कानून के लिय भी प्रयोग होते थ। इसका अपभ्रंश 'कानून' 'Canon' आदि शब्द हैं और शरह, शरियत आदि शब्द अरबी में इस 'शर' शब्द का अपंभ्रश है। देखो Etymological Dictionary by Keath.

(वीडुः) सेना के वीर भटों को स्तम्भन करने हारा तू (अरातीः) कर न देने हारे (द्वेषांसि) और द्वेष रखने वाले शत्रुओं को (अप आ कृधि) परे हटा। धनुष् की डोरी के दृष्टान्त से सेना और राजसभा के कर्तव्य समझाये हैं।

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

भा०—(यद्) जब (गावः) गोचर्म की बनी, अथवा बाणों को दूर फेंकने वाली डोरियां, (वृक्षं) धनुष को (परि सस्वजानाः) आलिङ्गन करती हुईं (अनुस्फुरं) तीव्र प्रहार करने हारे, (ऋभुम्) तीक्ष्ण, चमचमाते (शरं) बाण को (अर्चन्ति) फेंकती हैं तब हे इन्द्र ! सेनापते ! (दिद्युम्) अतिप्रकाशमान (शरुं) शत्रु के घातक बाण को (अस्मत्) हमसे (यवय) परे रख, वे हमें न सतावें। अथवा (यद् गावः वृक्षं परिसस्वजानाः) जिस प्रकार ग्रीष्म काल में गौ आदि पशु वृक्ष के आश्रय में आती हैं उसी प्रकार (ऋभुं शरं अनुस्फुरं अर्चन्ति) ज्ञान और शक्ति द्वारा तेजस्वी, शत्रु हिंसक राजा का आश्रय लेकर प्रजाएं उसकी आज्ञानुकूल चल कर उसका आदर करती और कहती हैं कि—(इन्द्र दिद्युं शरुं अस्मद् यवय) हे इन्द्र, राजन् ! चमचमाते तेजस्वी, घातक, शत्रुविनाशक, वज्र के समान शस्त्र से हमसे परे रख, हम पर उसका प्रयोग न कर। अध्यात्म पक्ष में गावः—इन्द्रियां। ऋभु = शर और वृक्ष = आत्मा। 'परि-स्वज्' = आलिङ्गन करना। इस शब्दप्रयोग के कारण स्त्री पुरुष के व्यवहार में गावः = कन्याएं। वृक्ष = आश्रय पति। ऋभु = विद्वान्।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (द्यां च) द्यौलोक और (पृथिवीं च) पृथिवी लोक के (अन्तः) भीतर (तेजनम्) तेजस्वी सूर्य (तिष्ठति) विराजता है

और (रोगं च) देह को तोड़ डालने वाले ज्वर, अतीसार आदि रोग, (आस्रावं च) अङ्ग, प्रत्यङ्ग से बहने वाले बहुमूत्र, अतीसार, पीब आदि रोगों को नाश करता है, उसी प्रकार शिर और मूलेन्द्रिय अथवा पेट या जंघा के बीच कटिभाग में धारण किया हुआ (तेजनम्) तीक्ष्ण या तिक्त गुण का (मुञ्जः) 'मूंज' भी रोग और आस्राव के (अन्तः) बीच में रह कर उन पर वश करता, उनको दूर करता है। इन्द्ररूप राजा और वैद्य से शर, मुंज से राष्ट्र शरीर के रोग नाम का उपदेश है। शर और मुञ्ज के धन्वन्तरि राजनिघण्टु में ४ भेद लिखे हैं, काश, मुञ्ज, मृदुदर्भ और शर, साधारण भाषा में इसको सरकण्डा, मूंज, दाभ, सर या सींक कहा जाता है।

काश के गुण—काशः स्वादू रसे तिक्तो विपाके वीर्यतो हिमः।
तर्पणो बलकृद् वृष्यः श्रमशोषभयापहः।
काशद्वयं च पित्तास्रकृच्छ्रजिन्मधुरं हिमम् ॥

काश रस में स्वादु, पकने पर कुछ तीखा, शीतल वीर्य, बलकारी, वृष्य, श्रम और शोष का विनाशक, रक्त पित्त और मूत्रकृच्छ्र को नाश करता है।

मुञ्ज के गुण—मूंज स्वभाव में शीतल, विसर्प (पामा) कुष्ठ, वस्ति = मूत्रस्थली और आंखों के रोगों को दूर करती है, रस में मधुर, पित्त, दाह और प्यास को मिटाता है।

दर्भ के गुण—कुश के दो भेद हैं, एक श्वेत दूसरा लाल। इसका स्वभाव शीतल और भोजन में रुचिकर, मधुर, पित्त का नाशक, ज्वर, प्यास, श्वास (दमा), कामला, पाण्डुरोग और शोष (तपेदिक) का नाशक है। प्रायः दोनों के गुण समान हैं, इनमें भी श्वेत दर्भ अधिक गुणकारी है।

शर—इसके भी दो भेद हैं। एक पतला दूसरा मोटा। दोनों मधुर, तिक्त, कुछ उष्ण स्वभाव के, कफ, माथे का घूमना, मद (ज़नून) का नाशक, बलवीर्य का जनक और कुछ वातकारी है। बाण के द्वारा विजय

करना धनुर्वेद से और ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र और नाडीव्रणों की चिकित्सा का उपदेश आयुर्वेद से जानना चाहिये ।

---

(३) शर और शलाका का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ताः पर्जन्यमित्रादयो बहवो देवताः । १–५ पथ्यापंक्तिः, ६–६ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् । तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

भा०—(शतवृष्ण्यम्) अपरिमित वीर्य से युक्त, सैकड़ों सुखों के वर्षक, (पर्जन्यं) मेघवत्, प्रजा के हितकारक पुरुष को (शरस्य) शर [=सरकण्डे या शलाका] का (पिता) पिता, परिपालक जानते हैं । हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! (तेन) उस शर से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर में (शं) सुखकारी चिकित्सा या शत्रु के आक्रमणभय को शान्त (करं) करता हूँ । (ते) तेरा (निषेचनं) मूत्रस्राव (पृथिव्यां) पृथिवी पर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार शब्द करता हुआ (ते बहिः) तेरे शरीर से बाहर (अस्तु) आवे।

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् । तेना० ॥ २ ॥

भा०—(शतवृष्ण्यं) सैकड़ों सहस्रों, अपरिमित वीर्यवान्, (मित्रं) सबके स्नेही एवं प्रकाशक सूर्य के समान वैद्य को (शरस्य) शलाका का (पितरं) पिता, पालक (विद्म) जानते हैं (तेन ते तन्वे शं करं) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूँ । (पृथिव्यां ते निषेचनं) तेरा मूत्र-स्राव पृथिवी पर (बाल् इति बहिः ते अस्तु) बलपूर्वक तेरे देह से बाहर हो।

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् । तेना० ॥ ३ ॥

भा०—(शतवृष्ण्यं वरुणं शरस्य पितरं विद्म) अपरिमित बलयुक्त, सब दुःखों के निवारक, सबसे श्रेष्ठ 'वरुण' जल, या मेघ को 'शर' का

[३] 'सस्रतम्' इति पाठः ।

पिता पालक जानते हैं। (तेन०) उससे तेरे शरीर के लिये मैं कल्याण करता हूँ। मूत्रादि रोगकारी पदार्थ बाहर पृथिवी पर बलपूर्वक आ जाय।

विद्म शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्। तेना ॥ ४ ॥

भा०—(शतवृष्ण्यं चन्द्रं शरस्य पितरं विद्म) नाना बलशाली आह्लाद-जनक या चन्द्र को शर का पालक जानते हैं। (तेन०) पूर्ववत्।

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते० ॥ ५ ॥

भा०—(शतवृष्ण्यं सूर्यं शरस्य पितरं विद्म) सैकड़ों सामर्थ्यों से युक्त सूर्य को शर का पालक जानते हैं। (तेन०) उससे तेरे शरीर का कल्याण करता हूँ, रोगकारी मूत्र बलपूर्वक शरीर से बाहर आवे।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(यत्) जो मूत्र (आन्त्रेषु) गुर्दों में स्थित नाड़ियों में और (यत्) जो मूत्र (गवीन्योः) मूत्र की मूत्राशय तक पहुँचाने हारी 'गविनी' नामक दो मूत्रवाहिनी नाड़ियों में और (यत्) जो (वस्तौ अधि) वस्ति = मूत्राशय के भीतर (संश्रुतं) स्थित सुना गया है। हे रोगी! वह (ते मूत्रं) तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब (एव) इस प्रकार की चिकित्सा से (बहिः) बाहर (बाल् इति) 'बाल्' इस प्रकार के शब्द के साथ (मुच्यतां) छूट कर चला आवे।

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवा० ॥ ७ ॥

भा०—हे मूत्रव्याधि से पीड़ित जन! (ते) तेरी (मेहनं) मूत्र नाड़ी को मैं चिकित्सक रुके हुए मूत्र को बाहर करने के लिये (भिनद्मि) लोह-शलाका द्वारा उसी प्रकार खोलता हूँ जिस प्रकार (वेशन्त्याः) जल से भरे तालाब को (वर्त्रं) बन्ध को तोड़ दिया जाता है। (एवा ते०) इस प्रकार तेरा सम्पूर्ण मूत्र 'बाल्' शब्द सहित बाहर आ जावे।

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवा० ॥ ८ ॥

भा०—हे मूत्ररोग से पीड़ित पुरुष ! (उदधेः समुद्रस्य) ज्वार के साथ उमड़ते हुए सागर का जल जिस प्रकार उठ कर नदियों में बहने लगता है उसी प्रकार (ते) तेरा (बस्ति बिलं) मूत्र कोष्ठ का छिद्र भी (वि-सितं) खुलकर मूत्र के निकलने योग्य हो और (एवा०) इस प्रकार तेरा समस्त मूत्र 'बाल्' शब्द के सहित बाहर आ जाय।

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

भा०—(धन्वनः अधि) धनुष से (अवसृष्टा) छूटा हुआ (इषुका) बाण (यथा) जैसे (परा पतत्) दूर जा पड़ता है (एवा०) इसी प्रकार तेरा मूत्र बस्ति भाग से छूट कर 'बाल्' शब्द सहित बाहर आ जाय। सलाई वा वह नलिका जिससे चिकित्सक मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकालता है शर, कहाता है। पूर्व कही शर ओषधि भी मूत्रल है।

---

(४) जलों का वर्णन।

अपोनप्त्रीयं सूक्तम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषी । सोम आपश्च देवताः ।
१–३ गायत्रं छन्दः । ४, पुरस्ताद् बृहती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥ ऋ० १ । २३ । १६ ॥

भा०—(अध्वरीयताम्) अध्वर अर्थात् हिंसारहित सोमयागादि करने हारे ऋत्विजों की (जामयः) भगिनियां या स्त्रियां, जिस प्रकार (अध्वभिः) वेदि में चत्वाल और उत्कर के भागों के बीच में से जाती हैं और यज्ञ में (मधुना) सोम के मधुर रस के साथ (पयः) जल को (पृञ्चतीः) मिश्रित करती हैं उसी प्रकार (अम्बयः) इस शरीर की पोषक रक्त-धारायें देहरूप वेदि में (अध्वभिः) नाड़ी मार्गों से (मधुना) प्राण शक्ति से (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरी-

यतां) जीवन यज्ञ करने हारे प्राणों के (जामयः) बल उत्पादक होकर (यन्ति) शरीर में गति करती हैं। इसी प्रकार भूमण्डल में वृष्टिरूप जल-धाराएं और नदियां भी समझनी चाहिये।

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । १७ ॥ यजुः० ६ । २४ ॥

भा०—(अमूः) ये वृष्टि जल (याः) जो (उप सूर्ये) सूर्य के आश्रय, उसकी किरणों द्वारा भूपृष्ठ से उठ कर ऊपर चले जाते हैं और (याभिः वा) जिनके (सह) साथ (सूर्यः) सूर्य विद्यमान है (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरं) हिंसारहित प्राणियों के जीवनमय यज्ञ को (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, चला रहे हैं।

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥ ऋ० १ । २३ । १८ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (अपः) जलधाराओं को (उपह्वये) यहां बुलाता हूँ, प्राप्त करता हूँ, (यत्र) जहां, जिनमें से कि (नः) हमारी (गावः) गौएं और भूमियां (पिबन्ति) रसपान करती हैं और सींची जाती हैं अतः (सिन्धुभ्यः) निरन्तर गतिशील, बहने वाली उन जलधाराओं से (हविः) जल (कर्त्वं) काटना चाहिये अर्थात् काटकर लाना वा अन्न उत्पन्न करना चाहिये।

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम्। अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

ऋ० १ । २३ । १९ ॥ यजु० ९ । ६ ॥

भा०—(अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (अमृतम्) अमर जीवन शक्ति है, (अप्सु) जलों में (भेषजम्) रोगनाशक सामर्थ्य है (उत) और (अपां) जलों के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से ही (अश्वाः) हे अश्व आदि वेगवान् पशुगण ! तुम (वाजिनः) बलयुक्त (भवथ) हो जाते हो और हे

(गावः) गौ आदि दूध देने हारे पशुओ ! तुम भी (वाजिनीः) बलकारी दुग्ध आदि से सम्पन्न, पुष्ट हो जाती हो ?

---

(५) जलों का वर्णन।

अपोनप्त्रीयम् । सिन्धुद्वीपः कृतिश्च ऋषी । ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाऽम्बरीष ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥ यजु० ११।५०॥ ऋ० १०।९।१ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (मयोभुवः) आप सुख शान्ति के देने वाले (स्थ) हो, (ताः) वे आप (नः) हमें (ऊर्जे) बल और प्राणशक्ति के लिये (दधातन) पुष्ट करो और (महे) बहुत (रणाय) शब्द अर्थात् उच्च कण्ठस्वर और सुख के तथा (चक्षसे) उत्तम दृष्टि शक्ति के लिये होओ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥ यजु० ११ । ५१ ॥ ऋ० १० ९।२ ॥

भा०—(उशतीः) पुत्र को निरन्तर चाहने वाली प्रेममयी (मातरः) माताएं जैसे अपने पुत्रों को दुग्ध पिलाकर पोसती हैं उसी प्रकार हे (आपः) जलो ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) अत्यन्त कल्याणकारी (रसः) रस है (तस्य) उसका (नः) हमें (इह) यहां (भाजयत) भागी बनाओ।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥ यजु० ११।५२ ॥ ऋ० १०।९।३ ॥

भा०—हे (आपः) हे जलो ! (तस्मै) उस लाभ को प्राप्त करने के लिये (वः) तुम्हें हम (अरं गमाम) अच्छी प्रकार से प्राप्त होते हैं (यस्य)

१. 'हवि': = जल, निघण्टु १ । १२ ॥ २. 'कर्वम्' = कृती छेदने + त्वन् ॥

[५] पंचम षष्ठं च सूक्तं शम्भुमयोभुसूक्तमुच्यते ।

जिसके (क्षयाय) हममें सदा निवास के लिये (जिन्वथ) तुम्हारी सत्ता है और तुम (नः) हमें और हमारे सन्तानों को (जनयथ च) उत्पन्न करते और बढ़ाते हो।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥ ऋ० १० । ९ । ५ ॥

भा०—(वार्याणाम्) निवारणीय रोगों के (ईशानाः) स्वामी (चर्षणीनां) और मनुष्यों के (क्षयन्तीः) रोगों के क्षय करने वाले (अपः) आपः = जलरूप (भेषजम्) औषध को (याचामि) मैं [परमात्मा से] प्रार्थना करता हूँ। 'आपः' से आप्त पुरुषों का भी ग्रहण होता है।

अचेतन पदार्थों का भी सम्बोधन की विधि से वर्णन कवि सम्प्रदाय में होता है। इसलिये वैदिक साहित्य में परमात्मा को भी 'कवि' कहा गया है और 'आपः' परमेश्वर का भी नाम है। कौशिक सूत्र में इस सूत्र का विनियोग जलमार्जन, गौओं के रोगशमन, पुष्टि, प्रजनन, जलसिञ्चन आदि कार्यों में बतलाया है।

---

(६) जलों का वर्णन।

अपोनप्त्रीय सूक्तम्। अथर्वा कृतिः सिन्धुद्वीपश्च ऋषी। ऋग्वेदे त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपोऽवाम्बरीष ऋषिः। आपो देवताः। पथ्यापंक्तिश्छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९ । ४ ॥ यजु० ३६ । १२ ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (आपः) जल (नः) हमारे (अभिष्टये) यज्ञ और अभीष्ट सुख साधन के लिये और (पीतये) पान करने के लिये (शं) कल्याणकारी हों और (नः) हमारे (शं) प्राप्त रोगों के शमन और

---

[६] १. (द्वि०) 'शं नो भवन्तु पीतये' इति सामवेदे ॥

(योः) अप्राप्त रोगों को दूर ही से निवारण करने के लिये (अभि स्रवन्तु) सब ओर से बहें, स्रवित हों ।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २३ । २० ॥ ऋ० १० । ६ । ६ ॥

भा०—(सोमः) सौम्यगुणयुक्त, प्रेरक, परमात्मा और सब रोगों के विनाशक, सोमरूप, आयुर्वेद का परम विद्वान् (मे) मुझे (अब्रवीत्) यह उपदेश करता है कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर ही (विश्वानि) समस्त (भेषजा) औषध हैं और वह ही (अग्निम्) अग्नि का उपदेश देता है (विश्वशम्भुवम्) जो समस्त रोगों को शान्ति करने वाला है ।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥ ऋ० १ । २३ । २१ ॥

भा०—(आपः) हे जलो ! तुम (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरूथं) सब रोगों के निवारक (भेषजं) औषध को (पृणीत) प्रदान करो और (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं) सूर्य को (दृशे) देखने में हमें समर्थ बनाओ ।

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः ।
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) मरुभूमि से उत्पन्न हुए जल (शं) रोगों के शान्त करने वाले हों और (अनूप्याः) अनूप अर्थात् जलमय देश के जल (शम् उ) रोगों के शान्त करने वाले हों । (खनित्रिमाः) खोदकर कूओं से प्राप्त किये (आपः) जल (नः शं) हमारे रोगों को शान्त करने वाले हों और (याः) जो जल (कुम्भे) घड़े और मटके में (आभृताः) लाकर रखे हों वे भी (शम् उ) रोगों को शान्त करने वाले हों और (वार्षिकीः) वर्षा के जल भी (नः) हमारे लिये (शिवाः) कल्याण तथा

सुखकारी होते हुए रोग के शान्त करने वाले (सन्तु) हों। ये दोनों सूक्त 'सलिल गण' में पठित हैं। पंचम सूक्त के १ म मन्त्र में जलों को 'मयोभूः ? और 'उर्ज' = बलकर, दिव्यदृष्टिदायक बतलाया है। आयुर्वेद के अनुसार धन्वन्तरि राजनिघण्टु में:—

साधारणं जलं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ।
श्रमतृष्णापहं वातकफमेदोघ्नपुष्टिदम् ॥
पानीयं मधुरं हिमं च रुचिदं तृष्णात्रिशोषापहम् ।
मोहम्भ्रान्तिमपाकरोति कुरुते भुक्तान्नपक्तिपराम् ॥
निद्रालस्यनिरासने विषहरं श्रान्तार्त्तसंतर्पणम् ।
नृणां धीबलवीर्यबुद्धिजननं नष्टाङ्गपुष्टिप्रदम् ॥

170/H
4/3/73

साधारण जल रुचिकर, पाचन शक्ति का उद्दीपक, हलका प्यास, थकावट, वात, कफ, मेद के दोषों नाशक, पुष्टिप्रद, मधुर, शीतल तृष्णा शोष का नाशक, मोह, भ्रम को दूर करता, अन्न को पकाने, निद्रा आलस्य और विष को दूर करने हारा, विद्या, बुद्धि, बल और वीर्य का वर्धक और क्षीण अङ्ग को पुष्ट करता है। द्वितीय तृतीय मन्त्र में 'शिवतम रस' वीर्यजनक और चतुर्थ में औषध रूप जल को कहा है। ये सब गुण नाना जलों में पाये जाते हैं। जैसे:—

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीते मृत्सुभाजने ।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम् ॥

आकाश से पड़ा जल तीनों दोषों का नाशक, बलकारी पवित्र, रसायन है। षष्ठ सूक्त के १ मन्त्र में 'देवीः आपः'—

दिव्यवाय्वग्निसंयोगात् संहताः खात् पतन्ति याः ।
शिलाप्रकारबद्धास्ताः करका अमृतोपमाः ॥

दिव्य वायु और अग्नि के संयोग से शिलारूप ओला बनकर गिरने वाला जल अमृत के समान है। इसी प्रकार आकाश से पड़े हिमों से

आच्छादित पर्वतों से बहती नदियों के जल भी, शरीर के लिये पथ्य, आरोग्यजनक और पवित्र होते हैं।

हिमवत्प्रभवाः पथ्या पुण्या देवर्षिसेविताः।
नद्यः पाषाणसिक्ताश्च वाहिन्यो विमलोदकाः॥

द्वितीय मन्त्र में 'जल में समस्त ओषधि हैं' तथा अग्नि रोग शांतिकर है। इसके लिये राजनिघण्टु का पूर्ण प्रकरण देखने योग्य है। तृतीय मन्त्र में—"ज्योक् च सूर्यं दृशे" राजनिघण्टु में—रात के रखे शीतल जल के प्रातः पान के गुण हैं—

सोयं सद्यः पतगपतिनां स्पर्धते नेत्रशक्त्या।
स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्वा॥

उसकी नेत्रशक्ति सूर्य या गरुड के समान हो जाती है और बुद्धि बृहस्पति और शरीर अश्विनीकुमारों के समान हो जाता है। इसी प्रकार 'धन्वन्य', 'अनूप्य', 'खनित्रिम' और 'कुम्भे—आभृत' इनके भी भिन्न २ गुण आयुर्वेद में बतलाये गये हैं, वहां ही देखें।

इति प्रथमोऽनुवाकः।

---

(७) प्रजा के पीड़ाकारियों का दमन।

चातन ऋषिः। अग्निर्देवता। १—४, ६, ७ अनुष्टुभः ५, त्रिष्टुप्। सप्तर्चं सूक्तम्।

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥ १॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान! ज्ञानप्रद (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! (स्तुवानं) तेरा गुणगान करते हुए (यातुधानं) पीड़ादायक, (किमीदिनं) 'यह क्या, यह क्या' इस प्रकार सबके जान माल को तुच्छ समझने वाले, सबके अपमानकारी पुरुष को तू (आ वह) अपने पास ला। क्योंकि (त्वं हि) तू (वन्दितः) नमस्कार किया जाकर ही (दस्योः) प्रजा के नाशक लोगों का (हन्ता) हनन करने वाला (बभूविथ) होता है।

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

भा०—हे (परमेष्ठिन्) सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित ! हे (जातवेदः) वेदादि विद्याओं के जानने हारे ! हे (तनूवशिन्) जितेन्द्रिय ! हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! ब्राह्मण ! तू (तौलस्य) तुला से परिमित, (आज्यस्य) घृतादि पदार्थों का (प्र अशान) भोजन कर और (यातुधानान्) पीड़ा करने वाले वाले दुष्ट पुरुषों को विनष्ट कर वा (वि लापय) वे अपने बुरे कर्मों का प्रायश्चित्त करें ।

वेदों में 'अग्नि शक्ति' ब्रह्म शक्ति और इन्द्र शक्ति क्षात्र शक्ति है। ब्राह्मण का कर्तव्य राष्ट्र में उपदेश द्वारा राष्ट्र के पापी जनों को सुधारना है। वे उसके उपदेश के गुण गान करने लगें तब उपदेष्टा उन्हें अपनी शरण में ले और सद्उपदेशों द्वारा उनके दस्युपन को दूर करे। दस्युपन को दूर करना ही दस्यु का नाश करना है।

विलपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

भा०—(यातुधानाः) पीड़ा देने वाले (अत्रिणः) दूसरों के जान, माल हड़प जाने वाले (ये) जो (किमीदिनः) दूसरों के जान माल को कुछ न समझने वाले, नृशंस लोग हैं वे (विलपन्तु) तेरे उपदेश पाकर विलाप करें, अपने कर्मों का प्रायश्चित्त करें। (अथ) उसके बाद हे (अग्ने) प्रकाश देने वाले उपदेशक ! आप और (इन्द्रः च) और इन्द्र अर्थात्, ऐश्वर्यवान् शत्रुहन्ता राजा तुम दोनों (नः) हमारा (हविः) अन्न या षष्ठांश बलि या दान को (प्रति हर्यतम्) चाहो ।

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

भा०—(पूर्वः) सबसे पूर्व (अग्निः) ज्ञान से प्रकाशक उपदेशक ब्राह्मण (आ रभतां) सुधार के इस कार्य का आरम्भ करे और (इन्द्रः)

इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा (बाहुमान्) उनके बांधने, पीड़ा करने के पूरे सामर्थ्य से युक्त होकर (प्र नुदतु) उन्हें सुधर जाने के लिये प्रेरणा करता रहे। जिससे (सर्वः) सब (यातुमान्) प्रजापीड़क लोग (एत्य एत्य) आ आ कर (ब्रवीतु) कहे कि (अयम् अस्मि इति) यह मैं कसूरवार हूँ, मैं हाजिर हूँ, मैं आप की शरण हूँ, आपका सेवक हूँ।

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

भा०—हे (जातवेदः) सबको जानने वाले उपदेशक ! (ते वीर्यम्) तेरे वीर्य, बल, सामर्थ्य को हम (पश्याम) देख रहे हैं। हे (नृचक्षः) सब मनुष्यों को उपदेश देने वाले ! तू (नः) हमें (यातुधानान् प्र ब्रूहि) पीड़ा देने वाले दुष्ट गुण्डा लोगों को भली प्रकार शिक्षा दे, जब वे तेरे सदुपयोग से सुधर कर (ते उप आयन्तु) तेरी शरण आवें कि (पुरस्तात्) पहले ही (त्वया) तेरे उपदेश द्वारा हम सब (परितप्ताः) बहुत सन्ताप अर्थात् हम प्रायश्चित्ती हैं।

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

भा०—हे (अग्ने जातवेदः) विद्वन्, प्रकाशमान उपदेशक ! (अस्माकार्थाय) हमारे राष्ट्र के हित के लिये तू (आरभस्व) कार्य आरम्भ कर और (नः) हम सबका (दूतः) प्रतिनिधि होकर (यातुधानान्) पीड़ादायक प्रजा के घातक, नरपिशाचों को (विलापय) सद्उपदेश द्वारा पिघला और उन्हें अपने किये कर्मों पर रुला।

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

भा०—हे अग्ने ! उपदेशक ! (त्वम्) तू (यातुधानान्) प्रजा को पीड़ा और त्रास देने वाले लोगों को, जो उपदेश से सुधरते न हों

(उपबद्धान्) बांध २ कर (इह) इस नियत स्थान, जेलखाने में (आवह) लाकर रख। (अथ) और उसके बाद (इन्द्रः) इन्द्र, राजा (एषां) इनके (शीर्षाणि) शिरों को यदि उचित अपराध जाने तो (वज्रेण) तलवार से (अपि वृश्चतु) काट डाले, उनको प्राणदण्ड दे।

---

(८) प्रजा के पीड़कों के नाश करने का उपाय।

चातन ऋषिः। १, २ बृहस्पतिरग्निषोमौ च देवताः। ३, ४ अग्निर्देवता। १—३ अनुष्टुभः। ४, बार्हतगर्भा त्रिष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥ १॥

भा०—(नदी फेनम् इव) जिस प्रकार नदी झाग को (आ वहत्) बहा ले आती है उसी प्रकार (इदं हविः) यह राजकर या प्रजा द्वारा दिया गया दान (यातुधानान् आ वहत्) प्रजा के पीड़क लोगों को मानो बहा कर राष्ट्र में ले आवे (स्त्री वा पुमान् वा यः इदं अकः) जिस नर या नारी ने भी इस प्रजापीड़न रूपी बुरा कर्म किया हो (सः) वह (जनः) नर या नारी जन (स्तुवतां) सब अपने सन्मार्ग प्रवर्तकों की स्तुति करें।

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत।
बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम्॥ २॥

भा०—जब (अयं) यह (स्तुवानः) अपने उद्धारक का गुण गान करता हुआ (आ गमत्) सामने आवे तब (इमं प्रति हर्यत स्म) इसके साथ प्रेम करो। हे (बृहस्पते) वेदवाणी के स्वामिन्! उपदेशक! (वशे लब्ध्वा) उस स्तुति करने वाले को अपने वश में लाकर (अग्निषोमौ) हे अग्नि और सोम! (वि विध्यतम्) तुम दोनों उसके हृदय को सदुपदेश का लक्ष्य बनाओ। पापी पापों से सन्तप्त होकर शरण आवे, वह वेदज्ञ

उपदेशक उपदेशों द्वारा इसे वश में लावे। तदनन्तर विद्या में अग्नि के समान प्रकाशित तेजस्वी, विद्वान् उपदेशक 'अग्नि व सोम' ये दोनों उसे प्रेम से उपदेश दें, उसके हृदय को वशीभूत कर लें।

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) सोम अर्थात् मुख्योपदेशक ज्ञानरस का स्वयं और अन्यों को पान करने कराने वाले! तू (यातुधानस्य) प्रजापीड़क नीच, चालबाज़ डाकू आदि के (प्रजां) सन्तति को भी (जहि) प्राप्त हो और (नयस्व च) और उसे भी सन्मार्ग पर ला और (स्तुवानस्य) जब यह स्तुति करे अर्थात् तेरे वश में हो जाय (परम् अक्षि उत अवरम्) तब उसकी दायीं और बांयीं दोनों आंखों को (नि पातय) नीचा कर शिक्षा द्वारा उसकी दोनों आंखों को विनयशील बना।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्या से प्रकाशमान! हे (जातवेदः) सबके ज्ञाता! उपदेशक! (यत्र) जहां २ (गुहा) गुफा तक में (सतां) विद्यमान (एषां) इन (अत्रिणां) प्रजाभक्षक लोगों की (जनिमानि) जातियों को या सन्तानों को (वेत्थ) तू जान पावे, (तान् ब्रह्मणा वावृधानः) उन्हें ब्रह्म, वेदविद्या से उन्नत करता हुआ (एषां शततर्हम्) उनके पापों का सैकड़ों प्रकार से (जहि) विनाश कर। (२) शरीरपक्ष में—अग्नि, आत्मा, इन्द्र, प्राण और यातुधान किमीदी मानस दुःसंकल्प है, जो सदा 'अब क्या अब क्या' इस प्रकार तृष्णा के भाव दर्शाते हैं और सदा 'यातुमान्' = बेचैनी प्रकट करते हैं।

---

(१) ब्रह्मतेज और आयु की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः । १. २ वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः । ३, ४ अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु ॥१॥

भा०—राज्यलक्ष्मी और ब्रह्म तेज और बायु की कामना का उपदेश । उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी को राज्याभिषेक के समय पुरोहित राजा को कहे—(अस्मिन्) इस राजा और ब्रह्मचारी में (वसवः) आठों वसु, विद्वान् और राजगण (वसु) तेजःस्वरूप ऐश्वर्य को (धारयन्तु) धारण करावें (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ, सवरक्षक जल के समान शान्त जन, (मित्रः) सबका स्नेही, मृत्यु से बचाने हारा (अग्निः) सबका प्रकाशक, सबका अग्रणी (आदित्याः) बारह मास या आदित्यव्रती योगीजन (उत च) और (विश्वेदेवाः) सब विद्वान् पुरुष (इमं) इस ब्रह्मचारी और राजा को (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट (ज्योतिषि) ब्रह्मरूप, ज्ञानमय प्रकाश एवं उत्कृष्ट राज्य ऐश्वर्य में (धारयन्तु) धारण करें। 'इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानामधिपतिर्देवः । यद्वा इदंकारास्पदं विश्वं कारणभूतंब्रह्मात्मानं अद्राक्षीदिति इन्द्रः' इति सायणः । मित्रः—अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै० मं० २।४।१०) मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति यास्कः । (निरु० १०।२१) । अदितेर्धात्रर्यमादयः पुत्राः प्रसिद्धास्तेऽपि पृथिव्याः धातृन्यायकर्त्रादयो द्वादशैव इति राजनीतिपक्षे समीचीनः । विश्वेदेवानां निर्णयस्तु 'तदेतद्राष्ट्रमिव भवती' ति निरुक्तवचनाद् ध्येयम् ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगणो ! विद्वान लोगो ! (अस्य) इस राजा के (प्रदिशि) शासन में (सूर्यः) सर्वप्रकाशक (अग्निः) सब कार्यों का अग्रणी,

यज्ञनिष्पादक और (हिरण्यम्) सुवर्ण और चन्द्र आदि (ज्योतिः) ज्योतिष्मान् पदार्थ (अस्तु) हों। (सपत्नाः) शत्रु लोग (अस्मद् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) रहें और हे ईश्वर ! (इमं) इस राजा को (उत्तमं) उत्तम (नाकं) सुखसम्पन्न, समृद्ध ऐश्वर्यमय राजपद या पारलौकिक सुख पर (अधि रोहय) स्थापित करो।

सूर्यादिक ज्योति इसके राज्य में प्रकाश, वर्षण आदि करे और सुवर्ण आदि धन भी रहे। इसका राज्य स्वर्ग के समान सुखकर रहे। नाक = कं सुखं, अकं दुःखम्। न विद्यते अकं अस्मिन्निति नाकः स्वर्गः। सुवर्गो वै लोको नाकः। नास्मा अकं भवति (तै० सं० ५।३।७।१) ब्रह्मचारी के पक्ष में—(अस्य प्रदिशि हे देवाः ज्योतिरस्तु) इसके वश में ज्ञानमय ज्योति हो, प्राणरूप सूर्य, जाठर अग्नि और आत्मा रूप हिरण्य भी इसके शासन में हों। काम क्रोध आदि दुष्ट वृत्तिरूप शत्रु इसके वश में रहें और वह सुखमय ब्रह्मपद का लाभ करे।

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥३॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे परमात्मन् ! विद्वन् ! (येन) जिस (उत्तमेन) उत्कृष्ट (ब्रह्मणा) ब्रह्मतेज से (इन्द्राय) इन्द्ररूप आचार्य के लिये (पयांसि) नाना प्रकार के ज्ञानों को (सम् अभरः) धारण करते हो (तेन) उस ही ब्रह्मतेज से हे अग्ने ! प्रभो ! विद्वन् ! (त्वं) तू (इमम्) इसको (वर्धय) बढ़ा, उन्नत कर और (सजातानां) समान रूप से उत्पन्न अन्य मनुष्यवर्ग में से (एनम्) इसको (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद में (आधेहि) स्थापन कर। (२) राजा के पक्ष में—(येन उत्तमेन ब्रह्मणा इन्द्राय पयांसि सम् अभरः) जिस उत्तम ब्रह्म अर्थात् वेद व्यवस्था या ऐश्वर्य से इन्द्र अर्थात् महाराज के लिए राष्ट्रपोषक पदार्थों को उपस्थित किया जाता है, हे (अग्ने) विद्वन् ! (तेन त्वं वर्धय)

उससे तू इस शूर पुरुष को बढ़ा और (सजातानां श्रेष्ठ्ये आधेहि) समान पद के राजाओं में उन्नत पद पर इसको बिठला।

एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

भा०—(एषां) इन प्रजाजनों के (यज्ञं) राष्ट्रमय यज्ञ या संगति या प्रेम से लाये दान भेंट को (उत) और (वर्चः) बल को (आददे) स्वीकार करता हूँ। हे अग्ने! सबके साक्षी परमात्मन्! इनके (रायस्पोषम्) धन और अन्न आदि पोषक पदार्थों (उत) और (चितानि) स्नेह भरे चित्तों को भी (आददे) अपने वश करता हूँ, जिससे (सपत्नः) शत्रुगण मेरे मुकाबले में खड़े होने (अस्मत् अधरे) हम से नीचे (भवन्तु) हमारे अधीन रहें, हे परमात्मन्! (इमं) इस उत्तम प्रजाप्रिय राजा को (उत्तमं) उत्कृष्ट (नाकं) स्वर्ग समान, दुःख रहित, समृद्ध, राजपद पर (अधि रोहय) स्थापित कर।

---

(१०) ईश्वर और राजा।

अथर्वा ऋषिः। असुरो वरुणो देवता। १, २ त्रिष्टुप्, ३ ककुम्मती अनुष्टुप। ४ अनुष्टुप। चतुर्ऋचं सूक्तम्।

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

भा०—(अयं) यह परमात्मा (देवानां) दिव्यपदार्थों में (असुरः) प्राणशक्ति का देने वाला होकर (विराजति) विराजमान है। (हि) निश्चय से (वरुणस्य) सबसे श्रेष्ठ, परम वरणीय और पापों के निवारक, (राज्ञः) राजा, ईश्वर की (वशा) इच्छा या नियम (सत्या) सत्य है। (ततः परि) उस परमात्मा से आये हुए (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (शाशदानः) तीक्ष्ण बुद्धि और बलवान् तपस्वी होकर मैं (इमं) इस राजा को (उग्रस्य) सर्वशक्तिमान् (मन्योः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के अनुग्रह से (उत् नयामि) उन्नत, राज्यसिंहासन पद को प्राप्त कराता हूँ।

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

भा०—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, पापों के निवारक ! (राजन्) हे राजा व परमात्मन् ! (ते मन्यवे) तेरे ज्ञानसामर्थ्य, अथवा ज्ञान स्वरूप तुझे, या दुष्कर्मों का फल देने वाले तेरे कोप या दण्डव्यवस्था के लिये (नमः) हम आदर प्रकट करते हैं। हे (उग्र) उग्रस्वभाव ! सर्वोपरि बलवन् ! तू (विश्वम्) समस्त (द्रुग्धं) द्रोह करने वाले, हिंसक, अपराधी, कर्मव्यवस्था के द्रोही, उन्मार्गगामी पुरुष को (नि चिकेषि) खूब अच्छी प्रकार जानता है। मैं राजपुरोहित (अन्यान्) अन्य (सहस्रं) हजारों पुरुषों को भी (साकम्) एक साथ ही (प्र सुवामि) सन्मार्ग पर चलाता हूँ। हे प्रभो ! (तव) तेरी कृपा से (अयं) यह राजा (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (जीवाति) जीवे ।

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

भा०—हे राजन् ! (यद्) जो भी तू (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (अनृतं) असत्य, अयथार्थ, (उवक्थ) बोलता है वह (बहु) बहुत ही बड़ा (वृजिनं) पाप है, उसको त्याग देना चाहिये। (अहम्) मैं सत्यधर्म का उपदेष्टा राजपुरोहित (त्वा) तुझे यथोचित शिक्षा देकर उस (सत्यधर्मणः) सत्यस्वरूप सच्ची धर्म व्यवस्था करने हारे नियामक (वरुणात्) सर्वश्रेष्ठ (राज्ञः) राजा और परमेश्वर के आगामी दण्ड से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ।

वृजिनमनृतं दुश्चरितं, ऋजु कर्म सत्यं सुचरितम् ॥
तै० ब्रा० ३ । ३ । ७ । १० ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान् महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

३—(प्र) 'यत्वमुवक्थानृतम्' इति ह्विटनीकामितः पाठः ।

भा०—हे राजन् ! (वैश्वानरात्, महतः अर्णवात् त्वा परिमुंचामि) समस्त नरों और असत्य के महासागर से मैं उपदेश द्वारा तुझे छुड़ाता हूँ, हे (उग्र) सत्य धर्म पर दृढ़ राजन् ! (इह) इस राज्य में (सजातान् आवद) अपने समान अन्यों को सत्य का उपदेश कर । (नः ब्रह्म च अप चिकिहि) और हमारे इस वैदिक उपदेश को तू पहचान । केवल १ म मन्त्र में 'ब्रह्म' और अन्तिम मन्त्र में 'अर्णव' शब्द देख कर सायण ने जलोदर रोग पर इस सूक्त को लगाया है ।

---

(११) सुख-प्रसवविद्या ।

अथर्वा ऋषिः पूषा देवता । १ पंक्तिश्छन्दः, २ अनुष्टुप्, ३ उष्णिग्गर्भा ककुम्मती अनुष्टुप्, ४—६, पथ्यापंक्तिः । षडृचं सूक्तम् ।

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

भा०—गर्भिणी के उपचार पुत्रजनन और प्रसव कर्म विज्ञान का उपदेश । हे पूषन् ! स्त्री आदि के पोषक गृहपते ! (अस्मिन्) इस (सूतौ) बालप्रसव कार्य में (वेधाः) प्रसव कराने वाला विद्वान् (अर्यमा) श्रेष्ठ, श्रेष्ठ विचार और श्रेष्ठ कर्मों वाला (होता) इस प्रसव-यज्ञ में होता अर्थात् सन्तान को बुलाने वाला होकर (ते) तेरे लिये (वषट् कृणोतु) सन्तति के हित कार्य करे अर्थात् सन्तति को गर्भ से बाहर निकाले। जिससे (नारी) स्त्री (ऋतप्रजाता) ठीक रीति से जीवित बालक को प्रसव करने हारी होकर (सिस्रतां) बालक को जने और स्त्री के शरीर के (पर्वाणि) सन्धिस्थान (सूतवा) सुखपूर्वक प्रसव करने के लिये (विजिहतां) विशेषरूप से ढीले हो जांय ।

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥

---

[११] २ (तृ०) समैरयन्तां इति क्वाचित्कः पाठः ।

भा०—जिस प्रकार (दिवः) सूर्य के चारों ओर (चतस्रः प्रदिशः) चार दिशाएं हैं और जिस प्रकार (भूम्याः) भूमि के (चतस्रः प्रदिशः) चारों ओर चार दिशाएं हैं, उसी प्रकार (गर्भं) गर्भ को भी चारों दिशा घेरे हैं। (तम्) उसको (देवाः) पांचों भूत (सम् ऐरयन्) गति देते हैं और वे ही (सूतवे) उत्पन्न करने के लिये (वि ऊर्णुवन्तु) उसे आवरणकारी गर्भस्थान से बाहर करते हैं।

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥ ३ ॥

भा०—(सूषा) सुख से बालक को प्रसव देने वाली धाई (वि ऊर्णोतु) गर्भ को जेर से पृथक् करे (योनिं) और बालक के प्रसव के लिये अन्य सहकारीजन योनिद्वार को (विहापयामसि) विशेष रूप से विस्तृत करके गर्भ को बाहर आने दें। हे (सूषणे) बालक का प्रसव करने हारी हे माता ? (त्वं) तू अपने अंगों को (श्रथय) ढीला छोड़ दे। हे (बिष्कले) बालक को बाहिर फैंकने वाली माता ? (त्वं) तू बालक को (अव सृज) नीचे को प्रेरित कर।

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥

भा०—(जरायु) जिसमें गर्भाशयगत बालक लिपटा होता है, वह जो (न इव) नाहीं (मांसे) मांस में, (न) न (पीवसि) शरीरगत मेद या चर्बी में और (न इव) न (मज्जसु) मज्जाओं में ही (आहतम्) सटा, चिपका होता है, इसलिये वह (जरायु) जरायु भाग भी (पृश्नि) केवल भीतर के अंग को स्पर्शमात्र करने वाला या श्वेतवर्ण का (शेवलं) और जो शयन करने वाले बालक पर आवरण सा होता है। वह (जरायु) गर्भवेष्टन (शुने अत्तवे) कुत्ते आदि हीन जन्तु के खाने के निमित्त (अप पद्यताम्) नीचे आ जावे।

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥५॥

भा०—हे गर्भिणि ! (ते) तेरे (मेहनं) अंग को (वि भिनद्मि) खोलता हूँ और (योनि वि) योनिभाग गर्भाशय के भाग को भी चौड़ा करता हूँ और (गवीनिके) योनिभाग के पासों पर लगी दो नाड़ियां जहां से मातृ बीज आता है उनको भी (वि) विशेष रूप से बालक को अलग कर देता हूँ । (मातरं वि) जननी को उस पुत्र से और (पुत्रं वि) पुत्र को जननी से और (कुमारं) शिशु को (जरायुणा) गर्भावेष्टन के सम्बन्ध से (वि) जुदा २ कर देता हूँ । जिससे बालक सुखपूर्वक बाहर आ जाय और सबके अनन्तर (जरायु) वह गर्भवेष्टन (अप पद्यताम्) नीचे आ जाय ।

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥६॥

भा०—(यथा) जैसे (वातः) वायु या प्राण नासिका से आपसे आप बाहर आते हैं और (यथा मनः) जिस प्रकार मन आपसे आप विषयों के प्रति जाता है और (यथा) जिस प्रकार (पक्षिणः) पक्षिगण अपने आप उड़ने लगते हैं उसी प्रकार हे (दशमास्य) दश मास के गर्भगत बालक ! (त्वं) तू (जरायुणा) गर्भ के वेष्टनचर्म अर्थात् जेर के (साकं) साथ ही बाहर आ और (जरायु) जेर भी (अव पद्यताम्) नीचे बाहर आ जाय ।

इति, द्वितीयोऽनुवाकः ।

---

(१२) उत्तम नीरोग सन्तति ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो देवता । १३ जागतं छन्दः । ४ अनुष्टुप् चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्वं ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥१॥

भा०—जिस प्रकार (उस्त्रियः) सूर्य की किरणों द्वारा उत्पन्न (वातभ्रजाः) वात, प्रचण्ड वायु से मथित (स्तनयन्) गर्जन करता हुआ मेघ (वृष्ट्या) वृष्टि के साथ आता है उसी प्रकार (प्रथमः) प्रथम प्रथम (जरायुजः) जरायु से उत्पन्न होने वाला, बालक (उस्त्रियः) आदित्य ब्रह्मचारी के तेज से उत्पन्न (वृषा) माता पिता को सुख से पूर्ण करता हुआ, हृष्टपुष्ट (वातभ्रजाः) गर्भस्थ अपान वायु द्वारा कम्पन करता या कुछ २ सरकता हुआ, (स्तनयन्) स्तनों को उभारता हुआ (वृष्ट्या) योनिमार्ग से जलस्रवणों सहित (एति) बाहर आता है। (सः) वह (ऋजुगः) सरल सीधे मार्ग से निकलता हुआ (नः) हम प्रसवकारिणी माताओं के (तन्वः) शरीरों को (रुजन्) प्रसवकाल में पीड़ा देकर भी (मृडाति) सुख प्रदान करता है और (यः) जो बालक (एकम्) एक (ओजः) ओजः स्वरूप होकर, (त्रेधा) तीन प्रकार से अर्थात् अगले तीन आश्रमों वा शैशव आदि तीन अवस्थाओं की ओर (विचक्रमे) क्रमशः पग बढ़ाता है।

अङ्गे॑ अङ्गे शो॒चिषा॑ शिश्रिया॒णं न॑म॒स्यन्त॑स्त्वा ह॒विषा॑ विधेम।
अ॒ङ्कान्त्स॑म॒ङ्कान् ह॒विषा॑ विधेम॒ यो अग्र॑भीत् पर्वा॑स्या ग्रभी॑ता ॥२॥

भा०—(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग २ में (शोचिषा) दीप्ति से (शिश्रियाणं) आश्रय लेकर विराजमान पुत्र को (नमस्यन्तः) अन्नप्राशन करते हुए उचित उपचारपूर्वक (हविषा) हवि, उत्तम अन्न से उसको (विधेम) पुष्ट करें और (यः) जो (ग्रभीता) पकड़ लेने वाला, वातादि रोग (अस्य) इस पुरुष के (पर्वा) समस्त पर्वों अस्थिसन्धियों में (अग्रभीत्) जड़ पकड़ गया है उस रोग की निवृत्ति के लिये हम (अङ्कान्) रोग के विशेष चिह्नों और (समङ्कान्) सहयोगी लक्षणों का (हविषा) उत्तम ओषधि से (विधेम) प्रतीकार करें।

मु॒ञ्च शी॑र्ष॒क्त्या उ॒त का॒स एनं॒ परु॑ष्परुरावि॒वेशा॒ यो अ॑स्य।
यो अ॑भ्र॒जा वा॑त॒जा यश्च॒ शुष्मो॒ वन॒स्पती॑न्त्सचतां॒ पर्व॑तांश्च ॥३॥

भा०—हे वैद्य (एनम्) इस बालक को (शीर्षक्त्या) सिर के रोग से (कासः) कास रोग, खांसी से मुञ्च छुड़ा । (यः) जो कास रोग (अस्य) इस बालक के (परुष्परुः) पर्व २ में (आविवेश) व्याप्त है (यः) जो कि (अभ्रजाः वातजाः) वर्षाऋतु में तथा वायु कोप के कारण प्रायः उत्पन्न हो जाते हैं, (यः च) और जो (शुष्मः) शरीर को सुखा देने वाला है, ऐसे रोग की निवृत्ति के लिये (वनस्पतीन् पर्वतान् च) जंगलों और पर्वतों का (सचताम्) आश्रय लेवें, उत्तम स्वास्थ्य वाले जंगलों तथा पर्वतों में रहें ।

सायण–"रोगी का रोग वनस्पति और वृक्षों को लग जावे और रोगी रोग से मुक्त हो ।" यह संगति असंगत है । रोग ऐसा पदार्थ नहीं जो पक्षी के समान रोगी को छोड़ वृक्ष या पर्वत से चिपट जावे । इस मन्त्र में जंगलों, पर्वतों के वायु सेवन का उपदेश शिरोरोगी कासरोगी, वर्षाकाल में कीटाणुओं से हुए तपेदिक के रोगी, आदि रोगियों के लिये किया गया है । इन रोगियों के लिये जंगलों के वृक्षों को और पर्वतों की रोगहर वायु सिद्ध ओषधि है ।

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे मम ॥ ४ ॥

यजु० २३ । ४४ ॥

भा०—(मे) मेरे (परस्मै) उत्कृष्ट (गात्राय) शरीर के उत्तम भाग अर्थात् शिर के लिये (शं) कल्याण और सुख हो । (मे) मेरे (अवराय) नीचे के भाग अर्थात् छाती, हाथ तथा पेट आदि को भी (शम् अस्तु) सुख हो । (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अंङ्गेभ्यः) अंगों अर्थात् दो बाहु, दो टांगों को भी (शं) सुख हो । (मम) मेरे (तन्वे) समस्त शरीर को भी (शम् अस्तु) सुख हो । समाज के चारों वर्णों और शरीर के चारों भागों के कल्याण की प्रार्थना है ।

---

(१३) विद्युत् शक्ति।

भृग्वंगिराः । ऋषिः । विद्युत् देवता । १, २ अनुष्टुप् छन्दः । ३ चतुष्पाद् विराड् जगती । ४ त्रिष्टुप् परा बृहतीगर्भा पंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

प्रथमार्धः, यजु० ३६ । २१॥

भा०—हे विद्युत् ! (ते) तुझ (विद्युते) विशेष दीप्ति से चमकने वाली विद्युत् का (नमः) हम उपयोग करते हैं और (ते स्तनयित्नवे नमः) तुझ शब्द करने वाले का भी हम उपयोग करते हैं । (ते) तेरे (अश्मने) ओले रूप में पड़ने वाले जल का या सर्वत्र शीघ्रता से फैलने वाली तेरा (नमः) हम उपयोग करते हैं । (येन) जिसके कारण से तू (दूडाशे) विद्युत् को समीप के अन्य पदार्थ को न दे देने वाले दुर्वाहक पदार्थ पर अपने को (अस्यसि) फेंकता है । काठ, वृक्ष आदि दुर्वाहक पदार्थों पर बिजली गिरती है ।

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

यजु० ३६ । २१ ॥

भा०—हे (प्रवतः नपात्) प्रपातों या वेगों से उत्पन्न होने वाली विद्युत् ! (ते नमः) तेरा यह सामर्थ्य है (यतः) जिससे तू (तपः) दीप्यमान तेज को (समूहसि) अपने भीतर एकत्र कर लेती है । तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिये (मृडय) सुखकारी हो । (तोकेभ्यः) सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण (कृधि) कर ।

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥

भा०—हे (प्रवतः नपाद्) प्रपातों से उत्पन्न विद्युत् (तुभ्यं) तेरे लिये (नमः एव अस्तु) यह वश करने का उपाय है। (तपुषे) तापकारी व अग्निरूप (हेतये) आघातकारी तेरी शक्ति का (नमः) उपयोग हम (कृण्मः) करते हैं (ते) तेरे (परमं) सबसे उत्तम (धाम) तेज को हम (विद्म) जानते हैं (यत्) कि (गुहा) तेरे भीतर छिपा है (समुद्रे) अन्तरिक्ष के (अन्तः) भीतर (निहिता) तू स्थापित है और तू (नाभिः) मेघ को एकत्र बांधने वाली नाभिरूप है।

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि) दिव्यगुणसम्पन्न विद्युत्! (यां) जिस (त्वा) तुझको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण (धृष्णुम्) शत्रु का धर्षण या मानभंग करने हारे (इषुम्) बाण रूप (कृण्वाना) बनाते हुए शत्रुओं पर (असनाय) फेंकने के लिये (असृजन्त) तैयार करते हैं (सा) वह तू (विदथे) संग्राम और परोपकार के कार्यों में भी (नः) हमें (गृणाना) विद्वान् पुरुषों द्वारा उपदेश की गई (मृड) सुखकारी हो (तस्ये) उस (ते) तेरा (नमः) सदुपयोग (अस्तु) हो।

---

(१४) कन्या-दान।

भृग्वंगिरा ऋषिः। विद्युत्, वरुणो, यमो वा देवता। १. ककुम्मती अनुष्टुप्। २, ४ अनुष्टुभौ। ३ चतुष्पाद् विराड्। चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

भा०—उचित पात्र में देने का उपदेश। (वृक्षाद् अधि) जिस प्रकार वृक्ष से (स्रजम् इव) पुष्पों की माला ली जाती है उसी प्रकार मैं विवाहेच्छु ब्रह्मचारी (अस्याः) इस वधू के (भगं) ज्ञान आदि सद्गुण

(वर्चः) तथा तेज को (आदिषि) स्वीकार करता हूँ और यह (पितृषु) माता पिता आदि पूज्यों के बीच (महाबुध्नः) बड़े मूल वाले (पर्वत इव) पर्वत चट्टान के समान (आस्ताम्) स्थित रहे ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ दौर्भाग्य करने अर्थ में लगाया है यह भ्रम है । विवाह संस्कार में प्रतिज्ञारूप में पारस्कर गृह्यसूत्र (का० १। कं० ७) "आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।" और उसी प्रकार आश्वालायन गृ० (१ । ७) में—

परिणीय परिणीय अश्मानमारोहयति । इममश्मानमारोह अश्मेव त्वं स्थिरा भव ॥ अर्थात् विवाह में कन्या का शिला पर पैर रखा २ कर पति कहे हे स्त्री ! तू चट्टान की तरह स्थिर हो जा । ह्विटनी आदि ने अविवाहित कन्या को 'यमकन्या' मृतकन्या के समान माना है और सायण का अनुसरण किया है, सो उपहासयोग्य है ।

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

भा०—कन्या के पिता का ब्रह्मचारी वर के प्रति वचन । हे यम ! यम नियमों के पालक ब्रह्मचारिन् ! हे (राजन्) ज्ञान और ब्रह्मवर्चस् तेज से प्रकाशमान वर ! (एषा) यह (कन्या) कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधूरूप होकर (नि धूयतां) गृहस्थ सुख प्राप्त करे । (सा) वह कन्या (मातुः) माता (अथो भ्रातुः) भाई (अथो पितुः) पिता के गृह में (बध्यताम्) गृहस्थ बन्धन में बंधे ।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥ ३ ॥

२—रोक्वेल लैन्मन पण्डितस्तु 'निधुवन' लिंगेन परस्परं स्वयंवरयतोः प्रेमकेलिपरमेवार्थं ध्वनयति ।

भा०—कन्या के पिता आदि वर के प्रति। हे (राजन्) प्रकाशमान ! वर (एषा) यह कन्या (ते कुलपा) तेरे कुल का पालन करने हारी हो, इसलिये (ताम् उ) उसको हम (ते) तेरे लिये (परि दद्मसि) प्रदान करते हैं। वह कन्या (ज्योक्) निरन्तर (पितृषु) सास, स्वसुर आदि पूज्य पितरों के मध्य में (आसातै) स्थित रहे और (शीर्ष्णः) सिर अर्थात् सुविचार से (शम् ओप्यात्) इनमें शान्ति के बीज बोवे।

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोपि नह्यामि ते भगम् ॥ ४ ॥

भा०—(असितस्य) बन्धन रहित (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा (गयस्य च) सर्वाश्रय तथा प्राणस्वरूप प्रभु के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (ते) तेरे (भगम्) ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म आदि सद्गुणों को ऐसे (अपिनह्यामि) तुम में स्थिर रूप से बांधता हूँ। जैसे (जामयः) स्त्रियां (अन्तः कोशम् इव) छुपे खजाने की रक्षा करती हैं।

सूक्त में विद्युत्-विद्या सम्बन्धी रहस्य।

" 'नमस्ते अस्तु', 'भगमस्य' इति द्वे सूक्ते वैद्युते, द्वे अनुष्टुभे। प्रथमं वैद्युतं परं वारुणं वा उत याम्यं वा। प्रथमेन वैद्युतमस्तौत् द्वितीयेन तदर्थं यमम्।" अथर्ववेद सर्वानुक्रमण। 'नमस्ते अस्तु' (१ । १३) और 'भगमस्याः' (१ । १४) इन दोनों सूक्तों का देवता विद्युत् है अथवा प्रथम का विद्युत् दूसरे का वरुण या यम है। प्रथम से विद्युत् का वर्णन करते हैं और दूसरे से उसी विद्युत् के लिये 'यम' का वर्णन करते हैं। विद्युत् पक्ष में इस सूक्त के अर्थ इस प्रकार हैं।

(१) (अस्याः भगं) इस विद्युत् के सौभाग्यकारी, नाना कला कौशल चलाने में समर्थ (वर्चः) तेज और बल को (आदिपि) मैं संग्रह करता हूँ। (वृक्षात् अधि स्रजम् इव) जिस प्रकार माली वृक्ष से फूल चुन कर संग्रह किया करता है। (महाबुध्नः पर्वत इव) जिस प्रकार विशाल आधार वाला पर्वत स्थिर रहता है उसी प्रकार वह विद्युत् चंचल होकर भी उसे बांधने

और नियम में रखने और उत्पन्न करने वाले (पितृषु) विद्वान् या विद्युत् के उत्पादक यन्त्रों के बीच (ज्योक्) चिरकाल तक (आस्ताम्) स्थिर रहे और कार्य करे।

(२) हे (यम) विद्युत् का नियमन करने, उसको वश करने वाले! राजन्! (एषा) यह (कन्या) अति तीव्रगति वाली विद्युत् (बधूः निधूयताम्) तेरे नाना कार्यों को करने और यन्त्र, रथ आदि चलाने में समर्थ हो। (सा) वह विद्युत् (मातुः) उसको मापने वा उत्पन्न करने में चतुर शिल्पी के बनाये (गृहे) घर, पावर हाउस में (अथो भ्रातुः अथो पितुः) अथवा उसको भरण पोषण या अधिक प्रबल करने वाले, यन्त्र के बनाने वाले या उसको सुरक्षित रखने वाले शिल्पी के कोठे में (बध्यताम्) नियमित करके रख जाय। विद्युत् को पैदा करना मापना बढ़ाना और उसका संचय करना यह भिन्न २ यन्त्रों से किया जाय।

(३) हे (राजन्! एषा ते कुलपा, ताम् उ ते परिदद्मसि) राजन् विद्वन्! यह विद्युत् तेरे बहुत से कार्यों का पालन करती है, पंखा चलाना, दीपक जलाना आदि सब काम करती है। वह विद्युत् (शीर्ष्णः समोप्यात् पितृषु ज्योक् आस्ताम्) सिरे के मिलाने तक अपने पालक कारीगरों के पावर हाउस में ही चिरकाल तक रहे। जब तक सिरे नहीं मिलाये जाते तब तक विद्युत् धारा चलती नहीं वह पावर हाउस में ही रहती है। परन्तु जब तक बाहर सब तार ठीक २ लगा दिये जायं और सिरे मिला दिये जायं तो वह बिद्युत् औरों के घरों में भी कार्य करती है।

(४) (असितस्य कश्यपस्य गयस्य च ब्रह्मणा ते भगम् जामयः अन्तः कोशम् इव अपि नह्यामि) जिस प्रकार स्त्रियां या बहनें अपने भीतरी खजाने या कोष को सुरक्षित रखती हैं उसी प्रकार मैं विद्युत् विज्ञानवेत्ता तुम्हं विद्युत् के अलौकिक बल और तेज को खूब बांध कर सुरक्षित रखूं। इसके लिये विद्युत् के तीन ब्रह्म = विज्ञानों का उपयोग करूं। (१) असित बन्धन रहित, अवश्य या अदम्य विद्युत् के उच्छृंखल प्रबल गतिसम्बन्धी

विज्ञान, (२) कश्यप = पश्यक, विद्युत् के प्रकाश सम्बन्धी विज्ञान और (३) (गयस्य) विद्युत् के शब्द सम्बन्धी विज्ञान से विद्युत् के भग = सेवन करने योग्य बल और सामर्थ्य को बांधता हूँ ।

विद्युत् सम्बन्धी इन अर्थों को संक्षेप में प्रकट किया है । विस्तृत विवरण असित, गय, कश्यप नाम से प्रकट मन्त्रों के सोम प्रकरण के वैज्ञानिक मन्त्रों में देखना चाहिये, उपभेदों में इसका विवरण संभव है ।

---

(१५) गमनागमन के साधन ।

अथर्वा ऋषिः । सिन्धुर्देवता । १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः । २ भुरिक्पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम ।

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

भा०—(सिंधवः) नदियां, नहरें (सं स्रवन्तु) मिलकर बहती हैं, (वाताः सम्) वायु के परमाणु मिलकर महावायु के रूप में बहते हैं, (पतत्रिणः) तथा पक्षी सदा मिलकर उड़ते हैं इसी प्रकार (प्रदिवः) उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न, पुरुष (इमं) इस (यज्ञं) राष्ट्रयज्ञ में (जुषन्ताम्) प्रेमपूर्वक मेल से एकमत हों, मैं राजा (संस्राव्येण) प्रजा के मिलकर चलने, काम करने के (हविषा) हवि, अर्थात् साधनों से (जुहोमि) राष्ट्र-यज्ञ को रचता हूँ ।

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) इस राष्ट्र यज्ञ में (मे) मेरे (हवम्) आह्वान करने पर (आयात) आइये । (इह) इस राष्ट्र यज्ञ में हे (सं स्रावणाः) मिलकर कार्य करने वाले विद्वानो ! आइये । (उत) और (गिरः) हे वाणियों के पतियो ! (इमं) इस राष्ट्र को (वर्धयत) बढ़ाइये । (यः पशुः) जितने प्रकार के भी पशु हों वे (सर्वः) सब

(इह, एतु) इस राष्ट्र में आवें और (या रयिः) जो भी धान्य सुवर्ण आदि धन है (अस्मिन्) इस राष्ट्र में (तिष्ठतु) विद्यमान है ।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(नदीनां) नदियों के (अक्षिताः) अविनाशी, अक्षय (ये) जो (उत्सासः) जलमय स्रोत (मे) मेरे राष्ट्र में (संस्रवन्ति) बह रहे हैं (तेभिः) उन (सर्वैः) समस्त (संस्रावैः) सहयोगी प्रवाहों द्वारा (धनम्) धन को (सं स्रावयामसि) मिलकर लाते रहें ।

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(सर्पिषः) घृत के (क्षीरस्य च) और दुग्ध के (ये) जो प्रवाह अर्थात् गौ बकरी आदि पशु के रूप में (उदकस्य च) और जल के जो प्रवाह, नदी आदि के रूप में (सं स्रवन्ति) बह रहे हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन सब प्रवाहों द्वारा हम (धनं संस्रावयामसि) बल तथा शक्ति रूप धन और प्राकृतिक धन को बढ़ाते और फैलाते हैं ।

---

(१६) दुष्टों के नाश का उपाय ।

चातन ऋषिः । अग्नीन्द्रौ, वरुणः, सीसश्च देवताः। १–३ अनुष्टुभः ४ ककुम्मती अनुष्टुप । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट पुरुष (अमावास्यां) चन्द्र के प्रकाश से रहित (रात्रिम्) रात्रि में (अत्रिणः) दूसरों का प्राण और धन चुरा कर खा जाने वाले लोग (व्राजं) गोल बांधकर डाका आदि के लिये (उद् अस्थुः) उठ खड़े हों तो (तुरीयः) विनाशकारी, तीव्र (सः) वह (यातुहा)

शत्रुनाशक (अग्निः) अग्नि, राष्ट्र का नायक अग्रणी (अस्मभ्यम्) हमें (अधिब्रवत्) नाश करने का उपदेश करे।

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

भा०—(वरुणः) वरुण, शत्रु के नाश के लिये (सीसाय) सीसे का (अधि आह) उपदेश करता है (अग्निः) अग्नि भी (सीसाय) सीसे के प्रयोग से प्रजाओं की (उपावति) रक्षा करता है। (इन्द्रः) इन्द्र ऐश्वर्यवान्, राजा (मे) मुझे (सीसं) सीसा (प्र अयच्छत्) रक्षार्थ देवे, (अङ्ग) हे पुरुषो! (तद्) यह सीसा ही (यातुचातनम्) पीड़ाजनक दुष्ट पुरुषों का नाशक है।

'वरुण' राष्ट्र के कष्टों का वारण करने वाला राज्य का अधिकारी अग्निः = राज्य प्रबन्ध का अग्रणी, मुख्य मंत्री, इन्द्र, सेनापति ये सीसे के बल पर शत्रुओं का नाश करते हैं। अथवा वरुणास्त्र = अग्नियास्त्र और ऐन्द्रास्त्र तीनों में सीसे की ही गोलियां चलाकर शत्रु का नाश किया जाय। अर्थात् जल, अग्नि या बारूद और विद्युत् के वेग से सीसे के छर्रे चलाकर शत्रु का नाश करना उचित है।

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः ।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

भा०—(इदं) यह सीसा (विष्कन्धं) विशेष सेना के दस्ते को भी (सहते) परास्त करता है, (इदं) यह सीसा (अत्रिणः) विनाशक डाकू, लुटेरों को भी (बाधते) नष्ट करता है (अनेन) इसके बल पर (पिशाच्याः) पिशाची अर्थात् पिशाच स्वभाव वाली आक्रमणकारी (या) जो २ (जातानि) जातियां हैं उन (विश्वा) सबको (ससहे) दबा देने में समर्थ है।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो सो अवीरहा ॥ ४ ॥

भा०—(यदि) यदि तू (नः) हमारी (गां) गौ को (हंसि) मारे और (यदि) यदि (अश्वं) अश्व को मारे और (यदि) यदि (पूरुषं) पुरुष, आदमी को मारे (तं त्वा) उस तुझ हत्यारे को (सीसेन) सीसे की गोली से ही (विध्यामः) बींधते हैं (यथा) जिससे तू (नः) हमारे (अवीरहा) वीर पुरुषों को मारने में असमर्थ (असः) रहे ।

---

(१७) शरीर की नाड़ियों और स्त्रियों का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । योषितो लोहितवाससो हिरा वा मन्त्रोक्ता देवताः । १ भुरिक् अनुष्टुप् २, ३ अनुष्टुप् । ४ त्रिपदा आर्षी गायत्री । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

भा०—(अमूः) वे (याः) जो (लोहितवाससः) रक्त का जिनमें निवास है ऐसी (हिराः) नाड़ियां हैं, वे (योषितः) विवाहित स्त्रियों की न्याई (यन्ति) शरीर में सदा गति करती रहें । परन्तु (अभ्रातरः) भर्त्ता या भाई रहित (हतवर्चसः) और इसीलिये नष्ट तेज वाली (जामयः इव) अविवाहित बहनों या स्त्रियों की नाईं (तिष्ठन्तु) रहें अर्थात् अपने २ स्थान से विचलित न हों । अर्थात् शरीर की नाड़ियां सदा गति करें, उनमें रक्त बहे जिस जिस स्थान में स्थित हैं उस उस स्थान से विचलित न हों ।

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही ॥ २ ॥

भा०—हे (अवरे) शरीर के अधोभाग की नाडि ! (तिष्ठ) तू अपने स्थान पर स्थिर रह । हे (परे) ऊर्ध्व शरीर की नाडि ! तू भी (तिष्ठ) अपने स्थान पर रह । हे (मध्यमे) शरीर के मध्यभाग की नाडि ! (त्वं तिष्ठ) तू भी अपने स्थान पर रह । (कनिष्ठका च) और छोटी से छोटी

नाड़ी इसी प्रकार अपने अपने स्थान पर स्थित रहे। नाडी भी शरीर में अपने नियत स्थान पर (तिष्ठति) रहे।

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

भा०—(शतस्य) सैकड़ों (धमनीनां) स्थूल नाडियों और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों सूक्ष्म नाडियों के (मध्यमाः) बीच के परिमाण की और (इमाः) ये (अन्ताः) अति सूक्ष्म नाडियां भी (अस्थुः) इस शरीर में अपने २ स्थान में स्थित रहें। वे सब (साकं) एक साथ ही (अरंसत) इस शरीर में अपना अपना कार्य करती रहें।

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत्।

तिष्ठतेलयता सु कम् ॥ ४ ॥

भा०—हे नाडियो! (वः) तुममें से ही एक (धनूः) धनुषाकार (बृहती) बड़ी (सिकतावती) रजोधर्म की नाडी (परि अक्रमीत्) गति कर रही है। (तिष्ठत) तुम सब अपने २ स्थान पर रहो और (कं) सुख (सु ईलयत) प्रदान करो, सुख की वृद्धि करो। शस्त्राघात या रजोधर्म से अधिक बहते हुए रुधिर की चिकित्सा के समय इसका विनियोग कौशिक सूत्रों में है। इन मन्त्रों में केवल नाडियों की शरीर में स्थितिमात्र का उपदेश है।

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसम्भवाः।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरालक्षत्रयात् परम्।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः॥

चिकित्सक रक्त प्रवाह के अवसर पर इन नाडियों की स्थिति को पहचाने और ठीक २ चिकित्सा करे। जो वैद्य सूक्ष्म और स्थूल नाडियों की स्थिति को नहीं जानता वह चिकित्सा में ही रोगी के प्राण ले लेता

३ = (च) 'साकमन्त्या' इति ह्विटनीकाभिमतः पाठः।

है। इस सूक्त का देवता 'योषितः' भी है उपमान और उपमेय में समान धर्म होने से इस सूक्त का अर्थ स्त्रियों के पक्ष में इस प्रकार है।

(१) (लोहितवाससः) रक्त का जिसमें निवास है ऐसी (हिराः) नाडियों की तरह (या अमूः) वे (योषितः) विवाहित स्त्रियां (यन्ति) सदा गति करती हैं और (अभ्रातर इव जामयः) बिना भर्त्ता वा भाई की स्त्रियां वा बहनें (हतवर्चसः) जिनमें रक्त नष्ट हो चुका है ऐसी नाडियों की तरह नष्ट तेज होकर (तिष्ठन्तु) घर में ही बैठी रहती हैं।

(२) (अवरे तिष्ठ, परे तिष्ठ, मध्यमे त्वं तिष्ठ, कनिष्ठिका च तिष्ठति, तिष्ठात् इत् मही धमनिः) छोटी, बड़ी, मझली और सबसे छोटी और सबसे बड़ी, सभी अपने २ नियत कार्यों में स्थित रहें अपने २ कार्य की मर्यादा का कोई उल्लंघन न करे।

(३) (धमनीनां शतस्य, सिराणां सहस्रस्य, इमाः मध्यमाः अस्थुः, साकम् अन्ताः अरंसत) सैकड़ों बड़ी, हजारों छोटी और बीच की स्त्रियां गृहस्थ में अपने २ कार्यों में स्थित रहें और (अन्ताः) और गृहस्थ के अन्दर रहने वाली ये सब परस्पर आनन्दित रहें।

(४) (वः सिकतावती, धनुः बृहती अक्रमीत् तिष्ठत सु ईलयत, कम्) तुममें से सिकतावती नाडी के सदृश जो बड़ी स्त्री है उसका भय धनुष की न्याई तुम सब पर सदा रहे और वह तुम्हारे नियत कार्यों को देखने के लिये घूमती रहे और तुम अपने २ कार्यों में स्थित रहो। इस प्रकार घर में सुव्यवस्था करो।

---

(१८) विवाह योग्य और अविवाह योग्य स्त्रियां।

द्रविणोदाः ऋषिः। विनायको देवता। १ उपरिष्टाद् विराड्बृहती, २ निचृज्जगती, ३ विराड् आस्तारपंक्तिः त्रिष्टुप्। ४ अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

निर्लक्ष्म्यं॑ नि॒र्ल॒लाम्यं॒ निररा॑तिं सुवामसि ।
अथ॒ या भ॒द्रा तानि॑ नः प्र॒जाया॒ अरा॑तिं नयामसि ॥ १ ॥

भा०—(ललाम्यम्) स्त्रियों में रत्नभूत, सुन्दर, (लक्ष्म्यम्) उत्तम लक्षणों वाली, लक्ष्मीरूप स्त्री को हम प्राप्त करते हैं। (अरातिम्) और कंजूस और शत्रुरूप स्त्री को (निः सुवामसि) दूर करते हैं। अर्थात् ऐसी स्त्री के साथ हम विवाह नहीं करते। (अथ) और (या भद्राः) जो भद्र स्त्रियां हैं (ताः) उन्हें (नः प्रजायै) अपनी उत्तम सन्तान के लिये (नि नयामसि) हम प्राप्त करते हैं (प्रजायै अरातिम्) और सन्तानों के प्रति कंजूस और शत्रुवत् स्त्री का परित्याग करते हैं।

निर॑रणिं सवि॒ता सा॑विषत्प॒दोर्निर्हस्त॑यो॒र्वरु॑णो मि॒त्रो अ॒र्य॒मा ।
निर॒स्मभ्य॒मनु॑मती॒ ररा॑णा॒ प्रेमां दे॒वा अ॑साविषुः सौभ॑गाय ॥२॥

भा०—(सविता) उत्पादक, पिता (पदोः) कन्या के पैरों में वर्तमान (अरणिम्) वृथा इधर उधर घूमने की आदत (निः साविषत्) निकाल दे। (वरुणः मित्रः, अर्यमा) वही पिता कभी दण्डरूप होकर, कभी मित्ररूप होकर, कभी दातृरूप होकर (हस्तयोः) कन्या के हाथों में वर्तमान (अरणिम्) अदान अथवा वृथा हाथों को चलाने की आदत को (निः) निकाल दे। (निः) जिसके कि हाथ पैर सधे हुए नहीं वह हमसे दूर रहे। (अनुमतिः) और पति के अनुकूल मति वाली (रराणा) सदा दान देने वाली स्त्री (अस्मभ्यम्) हमें प्राप्त हों। (देवाः) माता पिता और आचार्य देव (इमाम्) ऐसी कन्या को (प्र असाविषुः) प्रेरित करें (सौभगाय) वह सौभाग्य के लिये हो।

यत्त॑ आ॒त्मनि॑ त॒न्वां घो॒रमस्ति॒ यद्वा॒ केशे॑षु प्रति॒चक्ष॑णे वा ।
सर्वं॒ तद्वा॒चाप॑ हन्मो व॒यं दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता सू॑दयतु ॥ ३ ॥

[१] तानि = ता। नि। इस प्रकार पदच्छेद करना अर्थ दृष्टि से उत्तम होगा।

भा०—(ते) हे स्त्री ! तेरी (आत्मनि) आत्मा और (तन्वाम्) देह में (यत्) जो (घोरं) पाप (अस्ति) विद्यमान है और (यद् वा) जो दुर्विचार, पाप (केशेषु) केशों वा सिर में हैं, (वा) और जो (प्रति चक्षणे) तेरी आंखों में पाप है (तत् सर्वं) उस पापों को (वयं) हम (वाचा) वाणी के उपदेश से (हन्मः) विनाश करते हैं। हे स्त्री ! (त्वा) तुझको (सविता) उत्पादक, प्रेरक (देवः) विद्वान् व प्रभु (सूदयतु) सत् मार्ग में प्रेरित करें।

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(रिश्यपदीं) मृग की तरह पैरों वाली, चञ्चल, (वृषदतीं) बैल के समान दांतों वाली, सदा खाते रहने वाली, (गो-सेधां) गाय के समान कद में छोटी, (विधमाम्) क्रोध की, धधकती, (विलीढ्यम्) कुछ न कुछ सदा चाटने वाली चटोरी स्त्री को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम सदा हटावें, चाहे वह देखने में सुन्दर भी क्यों न हो।

---

(१९) शत्रुओं का विनाश।

ब्रह्मा ऋषिः । १ इन्द्रः २ मनुष्येषवः ३ रुद्रः ४ सर्वे देवा देवताः । १-४ अनुष्टुप् २ पुरस्ताद् बृहती, ३ पथ्या पंक्ति । चतुर्ऋचं सूक्तम्।

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

भा०—(नः) हमें (विव्याधिनः) विशेषरूप से अस्त्रादि से प्रहार करने वाले (मा विदन्) न जानें, न पकड़ सकें और (अभिव्याधिनः) सब ओर से प्रहार करने वाले शत्रुपक्ष के पुरुष भी (मा उ विदन्) हमें न जानें, न पावें। हे इन्द्र सेनापते ! (विषूचीः) नाना दिशाओं में जाने वाले या विशेष तीक्ष्ण, सूचीमुख (शरव्या) बाण (अस्मत्) हमसे (आरात्) दूर (पातय) फेंक।

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

भा०—(ये) जो (शरवः) हिंसक बाण (अस्ताः) फेंक दिये और (ये च) जो (अस्याः) फेंकने हैं वे सब (अस्मत्) हमसे दूर ही (विश्वञ्चः) सब दिशाओं में (पतन्तु) जाकर पड़ें और (दैवीः) जल, अग्नि, वायु और विद्युत् आदि के बल से चलने वाले और (मनुष्येषवः) मनुष्य के बल से फेंके जाने वाले बाण और अस्त्र (मम) मेरे (अमित्रान्) शत्रुओं को (वि विध्यत) नाना प्रकार से मारें।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्याः पूर्वार्धेन समः पूर्वार्धः ।

भा०—(यः) जो (स्वः) अपना मित्र (अरणः) या शत्रु (सजातः) एक जाति का (उत) और (यः निष्ट्यः) जो भिन्न जाति का भी (अस्मान्) हमको (अभिदासति) दास बनाना चाहता है (एतान्) इन (मम, अमित्रान्) मेरे सब प्रकार के शत्रुओं को (रुद्रः) रोदनकारी तीक्ष्ण सेनापति (शरव्यया) शरों, बाणों, घातक हथियारों की पंक्ति से (वि विध्यतु) नाना प्रकार से मारे।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १९ । अस्या उत्तरार्धेनोत्तरार्धः समः ॥

भा०—(यः) जो (सपत्नः) शत्रु है और (यः) जो (असपत्नः) शत्रु नहीं है (यः च) और जो (द्विषन्) हमसे द्वेष करता हुआ (नः) हमें (शपाति) बुरा भला कहता है (तं) उसको (सर्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (धूर्वन्तु) ताड़ना करें। (ब्रह्म) वेदमन्त्र का सदुपदेश ही (मम) मेरा (आन्तरम्) भीतरी, हार्दिक (वर्म) रक्षा साधन हो। जो द्वेषवश होकर

हमें गाली दे भले आदमी उसकी ताड़ना करें, हम अपने सद्
विचार ही रखें।

---

(२०) राजा के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। १ सोमः, २ मरुतः, ३ मित्रावरुणौ, ४ इन्द्रो देवता।
१ त्रिष्टुप् २-४ अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः।
मा नो विददभिमा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या॥

भा०—हे (देव) प्रकाशमान! हे (सोम) सेना के प्रेरक सेनापते! हमारा शत्रु (अदारसृद्) हमारी स्त्रियों का मान भंग करने वाला (भवतु) हो और (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ या संग्राम में (मरुतः) मरुद् गण, प्राण, वीर भट और वैश्यगण (नः) हमें (मृडत) सुख आनन्द दें। (अभिभाः) हमारे मुकाबले पर आने वाला शत्रु (नः) हमें (मा विदद्) न पा सके। (अशस्तिः) कीर्तिरहित शत्रु (मा उ) हमें न पा सके और (वृजिना) पापी और (या) जो (द्वेष्या) द्वेष करने हारे या द्वेष के कारण उत्पन्न पाप भी (नः) हमें (मा विदद्) न प्राप्त हों।

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि॥ २॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मुख्य मन्त्री और राजन्! (अद्य) आज, अब (अघायूनां) पापाचारियों, (यः) जो (सेन्यः) सेना सम्बन्धी (वधः) शस्त्रास्त्र (उद् ईरते) हमारे विरोध में उठे (तं) उसको (अस्मत् परि) हमसे (यावयतं) दूर करो।

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ३॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुनिवारक राजन्! (इतः) इधर से, समीप से (अमुतः च) और दूर से (यद् वधं) जो हिंसक हथियार आवे उसको

(यावय) हमसे परे कर और हमें (महत्) बड़ा भारी (शर्म) सुखप्रद शरणस्थान (वि यच्छ) विशेष रूप से प्रदान कर और (वरीयः) बहुत अधिक बड़े भारी (वधं) शत्रु के आघात को (यावय) हम से परे कर।

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १५२ । १ ॥

भा०—(इत्था) इस प्रकार हे राजन् ! तू (अमित्रसाहः) शत्रुओं का पराभव करने वाला (अस्तृतः) स्वयं किसी से भी हिंसित न होने वाला, (महान्) बड़ा (शासः) शासक (असि) है (यस्य) जिसका (सखा) मित्र किसी से (न हन्यते) नहीं मारा जा सकता और (न कदाचन) न कभी (जीयते) जीता जा सकता है।

---

(२१) राजा के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः । ऋग्वेदे शासो भारद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १५२ । २ ॥

भा०—(विशाम् पतिः) प्रजाओं का स्वामी (वृत्रहा) राष्ट्र को घेरने हारे शत्रुओं का नाशक (विमृधः) शत्रुओं को कुचलने वाला, (वशी) सब प्रजाओं और काम, क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं और इन्द्रियों पर वश करने वाला, (वृषा) मेघ के समान सुखों का वर्षक, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, राजा (स्वस्तिदाः) सब कल्याणकारी उत्तम फल का देने हारा होता है। वही (सोमपाः) विद्यासम्पन्न, शमदमादि साधनयुक्त विद्वानों का और सुख देने वाले सब पदार्थों का पालक (अभयंकरः) अभय का देने हारा होकर (नः) हमारे (पुरः) समक्ष (एतु) आवे।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १५२ । ४ ॥ यजु० ८ । ४४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) संग्रामकारी शत्रुओं को (वि जहि) विनाश कर और (पृतन्यतः) सेना लेकर चढ़ाई करने वाले, (नीचा) नीच पुरुषों को (यच्छ) वश कर। (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) नाश करता है या गुलाम बनाता है (अधमं) उस नीच पुरुष को (तमः) अति दुःख, शोकपूर्ण अन्धकारमय स्थान, बन्दी-गृह या (मृत्यु) को (गमय) प्राप्त करा ।

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १५२ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (रक्षः) राक्षस, जिससे राष्ट्र को बचाना आवश्यक है ऐसे हानिकारक पुरुष, पदार्थ, रोग व्याधि, कुप्रथा आदि को (वि जहि) विनाश कर । हे (वृत्रहन्) राष्ट्र के घेरने हारे और विघ्नकारी पुरुष के नाशक ! आप (वृत्रस्य) सर्वत्र विघ्नकारी और घेरने हारे दुष्ट पुरुष के (हनू) दाढ़ों या प्रहार के साधनों को (वि रुज) अच्छी प्रकार तोड़ डाल । हे राजन् ! (अभिदासतः) क्षयकारी या गुलाम बनाने वाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युं) क्रोध, अभिमान को (वि रुज) चूर कर दे ।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १५२ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (द्विषतः) द्वेष वा प्रेम न करने वाले (जिज्यासतः) सदा हानि चाहने वाले शत्रु के (मनः) मन को या उसके सोचे हुए, षड्यन्त्र को (अप) दूर कर और (वधम्) विनाशक हथियार या आक्रमण को भी (अप) परे हटा । (महत् शर्म यच्छ) हमें

बड़ा रक्षास्थान प्रदान कर और (वरीयः) शत्रु के भारी (वधं) आघात को (यावय) दूर कर ।

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

---

(२२) हृद्रोग और कामला की चिकित्सा ।

ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो मन्त्रोक्तो हरिमा हृद्रोगश्च देवता । अनुष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गोरोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे व्याधित पुरुष ! (ते) तेरा (हृद्-द्योतः) हृदय का चमकना और (हरिमा च) शरीर, चक्षु, नख आदि में व्याप्त हरा वर्ण (सूर्यम्) सूर्य के (अनु) उदय होने के साथ ही (उद्‌अयताम्) उठ जाये, नाश हो जाय । (गोः) सूर्य की किरण के (रोहितस्य) लाल रंग की किरण या सूर्य अथवा शालमली वृक्ष के (वर्णेन) रोगनाशक गुण या पुष्प, फल, रस से (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) पुष्ट करते हैं । इस मन्त्र में सूर्य की रक्त वर्ण की किरणों से हृद्रोग या पाण्डुरोग नाश करने के लिये प्रयोग करने का उपदेश है । लाल गौ का दूध पीना उसके लाल रोमों से छानकर पानी पीना, तथा लाल गौओं का स्पर्श आदि इस रोग में लाभकारी है ।

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

भा०—हे (हारिद्रा) पाण्डुरोग से पीड़ित पुरुष ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु प्राप्त करने के लिये (त्वा) तेरे (परि) चारों ओर (रोहितैः) सूर्य की किरणों से लाल या रोहित नाम वृक्षों के (वर्णैः) प्रकाशयुक्त आवरणों या रसों से (दध्मसि) तुझे पुष्ट करते हैं । (यथा) जिससे

(अयम्) यह रोगी (अरपाः) रोग से रहित (असत्) हो जाय और (अहरितः) हारिद्र या पाण्डुरोग से मुक्त (भुवत्) हो ।

या रोहि॑णीर्दे॒व॒त्या॒३॒ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः ।

रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वयस्ता॒भि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ ३ ॥

भा०—(याः) जो (देवत्याः) देव, प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रोहिणीः) प्रातः कालिक रक्त वर्ण की (गावः) किरणें हैं और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण की कपिला गौएं हैं, वा उगने वाली ओषधियां हैं उनकी (रूपं) रूप कान्तिजनक दीप्ति को और (वयः वयः) दीर्घ आयुजनक दुग्ध आदि अन्न को प्राप्त करके (ताभिः) उन द्वारा (त्वा) तुझको (परि दध्मसि) परिपुष्ट करते हैं ।

सु॒के॑षु ते हरि॒माणं॑ रोप॒णाका॑सु दध्मसि ।

अथो॑ हारि॑द्रवेषु ते हरि॒माणं॒ नि द॑ध्मसि ॥ ४ ॥

ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—हे व्याधिपीडित पुरुष ! (सुकेषु) उत्तम सुख देने वाले कर्मों या शुक नाम वृक्षों और (रोपणाकासु) घाव आदि दूर करके व्रण भरने वाली रोहिणी नामक ओषधियों के बीच में (ते) तुझ रोगी को (दध्मसि) रखते हैं (अथो) और (ते) तेरे (हरिमाणं) पाण्डुरोगों को भी (हारिद्रवेषु) रोगहारी द्रव पदार्थों में (नि दध्मसि) रखते हैं । अथवा (ते हरिमाणं रोपणाकासु) तेरे हरिमा रोग को बलकारी ओषधियों के बल पर और (हारिद्रावेषु नि दध्मसु) कष्टहारी रसों के बल पर दमन करते हैं ।

सायण ने हारिद्र रोग को तोता, खुटबढ़ई और हारिद्रव नामक पक्षियों में लगा देने का अर्थ किया है वह असंगत है वस्तुतः हृद्योत और हरिमा दो रोग हैं उनकी चिकित्सा के लिये सूर्य की रक्तवर्ण की किरणों

४—'शुकेषु मे' इति पाठः ऋ० । क्वचित् क्वचिदादर्शपुस्तकेषु च 'शुकेषु' इत्येव पाठ उपलभ्यते [शं० पा०]

के प्रयोग और कुछ ओषधिवर्ग का उपदेश है जिनमें गौ, रोहित रोगिणी, सुक या शुक, रोपणाका, हारिद्रव, ये सब चिकित्सा कारक ओषधि और उपायों के वाचक हैं। वागभट अष्टांग संग्रह (हृद्रोग निदान अ० ५) में लिखते हैं कि 'पांच प्रकार का हृदय रोग होता है वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और क्रमियों से। इनके भिन्न २ लक्षण प्रकट हैं। इसी प्रकार पाण्डुरोग का एक विकृत रूप हलीमक है। उसमें शरीर हरा नीला पीला हो जाता है। उसमें सिर में चक्कर, प्यास, निद्रानाश, अजीर्ण और ज्वर आदि दोष अधिक हो जाते हैं। इनकी चिकित्सा में रोहिणी और हारिद्रव और गोक्षीर का प्रयोग दर्शाया गया है। रोहित, रोहिणी, रोपणाका, यह एक ही वर्ग प्रतीत होता है। हारिद्रव हल्दी और इसके समान अन्य गांठ वाली ओषधियों का ग्रहण है। शुक भी एक वृक्षवर्ग है। शुक = शिरीष, स्थौणेयक और तालीश पत्र इसी प्रकार गन्धक, चक्रमर्दा स्योनाक, जम्बु, अर्क, दाडिम, शिग्रु और क्षीरी वृक्ष शुकवर्ग में हैं शिरीष शरीर की त्वचा के रंग, कोढ़ और खाज और त्वचा के दोष, सांस, कास आदि का नाशक है। स्थौणेयक-कटु तिक्त, पित्त प्रकोपशमन, बलपुष्टिकारक है। तालीशपत्र-तिक्तोष्ण, कफवातघ्न, कास, हिक्का, क्षय, श्वास आदि का नाशक है। गन्धक विषघ्न, कुष्ठ, कण्डू, खर्जू त्वग्दोष का नाशक और जाठराग्नि बढ़ाने वाला है। चक्रमर्दा-कटु, उष्ण, वातकफ-नाशक, कान्ति और सौकुमार्य करती है। स्योनाक-पित्त, श्लेश्म, आमवात, अतिसार, कास, अरुचि का नाशक है। जम्बू-रोहिणी, शोषहर, कृमि-दोषनाशक, श्रमपित्त, दाहनाशक और श्वासकासहर है। अर्क-तिक्त, उष्ण, परम रक्तशोधक, कण्डू, व्रणहर, जन्तुनाशक, कुष्ट, प्लीहा, शोष, विसर्प, उदररोग और व्रण का विनाशक है। राजार्क, शुक्लार्क श्वेतमन्दार आदि भी इसके भेद हैं। इसे वेद में सूर्य कहा है। दाडिम कास वात कफ और पित्त का नाशक है। शिग्रु तिक्त, कटु, उष्ण, कफ, शोफ, वायुनाशक, क्रिमि, आम और विष का नाशक, विद्रधि, प्लीहा और

गुल्म का नाशक है। क्षीरीवृक्ष-रुचिकर वातनाशक, पित्त, हृद्रोग नाशक, तर्पक, वृष्य और प्रमेहनाशक है। रोहिणी वर्ग में जम्बू—रोहितक, रोहिण या वट, कटुक, काश्मर्य, मंजिष्ठ, मांसी और हरीतिकी ये वृक्ष हैं। सूर्य वर्ग में अर्क, उपविष, क्षीरपर्णी, समस्त नक्षत्र वृक्ष, सुवर्चला, सूर्यकान्त, ऐन्द्री सूर्यादि दाह, आतप आदि पदार्थ हैं। इनमें रोहितक = शाल्मली यकृत्, प्लीहा, गुल्म, उदर, शोष नाशक, कटु और उष्ण, विषवेगजनक, कृमिदोष, व्रण और नेत्र रोग का नाशक है। कटुका-तिक्त, पित्तदोष-नाशक, कटु, कफ, अरोचक और विषमज्वर, हृदयरोग का नाशक है। काश्मर्य—तिक्त, गुरु, उष्ण, रक्तपित्त नाशक, त्रिदोषनाशक, श्रम, दाह, पीड़ा, ज्वर, तृष्णा और विष का नाशक, वृष्य, बलकारी, शोफनाशक। मंजिष्ठ—कषाय, उष्ण, कफ, उग्र व्रण, प्रमेह, रक्तपित्त, विष और नेत्र रोगों का नाश करता है। मांसी—स्वादु, कषाय, कास पित्त रक्त नाशक, विष-नाशक, मारुत हृद्रोग नाशक बलकारी, त्वचा की कान्तिदायक, भूत और दाह का नाशक प्रसन्नता का उत्पादक। इसी का भेद गन्धमांसी है वह भी रक्तपित्तनाशक, वर्णकारी, विष भूतज्वर आदि का नाशक है। इसी का भेद आकाशमांसी जो शोफ, व्रण, नाडीरोग मकडी, गर्दभजालादि का नाशक है और वर्णकारी है। हरीतकी—आत्मा, चेतकी, पथ्या, पूतना और हरीतिकी इतनी भेदों वाली है। वह उदररोग, मूत्ररोग, प्रमेह, पथरी, वात, पित्त, कफ का नाशक है और जया नाम की हरीतकी गुल्म-रोग, प्लीहा, रक्तातिसार और पित्त का नाशक है और हैमवती सर्व-रोगनाशक, नेत्ररोग नाशक है। यही प्रमेह, कोढ़, व्रण आदि का भी नाश करता है। सूर्यवर्ग में अर्क के गुण पूर्व लिख दिये हैं। उपविष एक वर्ग है जिसमें अफूक, अर्क, करवीर, कलिकारी, काकादनी, धत्तूर और अति-विषा, शरभ और खद्योत ये ओषधियां गिनी गई हैं। नक्षत्र वृक्षों में विषमुष्टी, स्थामली, औदुम्बर, जम्बू, अगरु, वेणु, पिप्पल, चम्पक, वट, पलाश, पायरी या प्लक्ष, जाती, बिल्व, अर्जुन, बबूल, नागपुष्प, मोच,

शालवृक्ष, वेत, निचुल, अर्क, शमी, कदम्ब, आम रिष्ट मोहवृक्ष, इतनी वृक्षोषधियां हैं। क्षीरपर्णी अर्क को कहते हैं। सुवर्चला = आदित्यभक्ता, मण्डूकपर्णी आदित्यलता कहाती हैं जो कटु, उष्णा, स्फोटकनाशनी है और त्वगदोष, कण्डू, व्रण, कुष्ठ, भूतग्रह, उग्र शीत और ज्वर का नाश करती है। इसका एक भेद ब्राह्मी है। वह भी कुछ पाण्डु, प्रमेह और रक्त का नाशक है। इसका एक भेद क्षुद्रपत्रा है, वह शोफ नाशक है। सूर्यकान्त के तीन भेद हैं—स्फटिक, सूर्यकान्त और वैक्रान्त (बिल्लौर) इनमें स्फटिक-पित्त, दाह और पीड़ा का नाशक है। सूर्यकान्त–उष्ण, निर्मल रसायन है और वातश्लेश्मनाशक है। वैक्रान्त मणि क्षय, कुष्ठ और विष का नाशक, पुष्टिप्रद और रसायन है। ऐन्द्री वर्ग में देवसर्षप और इलायची है। ऐन्द्री–कृमि, श्लेष्म और व्रण का नाशक है, वह सब उदररोगों का भी नाश करती है। सूर्यादि दाह और आतप कटु स्वभाव, रूक्ष हैं। इत्यादि समस्त ओषधिवर्ग के हमने संक्षेप से गुण दर्शा दिये हैं, वेद ने हृद्रोग और पाण्डुरोग के विनाश के लिये इन ओषधियों का संकेत किया है।

---

(२३) कुष्ठ और पलित चिकित्सा।

अथर्वा ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। श्वेतलक्ष्मविनाशनाय ओषधिस्तुतिः। अनुष्टुप् छन्दः। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥ १॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे! तू (नक्तं) रात्रि में या नक्त नामक ओषधि रूप से (जाता) उत्पन्न (असि) है। हे (रामे) रामा नाम ओषधे! हे (कृष्णे) कृष्णा नामक ओषधे! हे (असिक्नि) असिक्नी नामक ओषधे! हे (रजनि) रजनीनामक ओषधे! (इदं) यह (यत्) जो (किलासं)

---

[२३] १—'रंजनी' इति ह्विटनिकामितः पाठः।

किलास नामक कोढ़ और (पलितं) पलित नामक रोग हैं उसको (रजय) नाश कर। इसको उत्तम बर्ण कर दे।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥

भा०—हे ओषधे! (इतः) इस रोगयुक्त देह से (किलासं) किलास नामक कुष्ठ और (पलितं च) पलित नामक रोग को (निर् नाशय) निर्मूल कर। (पृषत्) त्वचा से जल बहाने वाले, दर्द करने वाले रोग को भी नाश कर। हे रोगी! (त्वा) तेरे शरीर को (स्वः) अपना (वर्णः) पूर्व निरोग दशा का रूप (आ विशतां) प्राप्त हो और (शुक्लानि) श्वेत कुष्ठ के चिह्नों और बालों को (परा पातय) दूर भगा दे।

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।

असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे! (ते) तेरा (प्रलयनं) शरीर में लीन होना (असितं) श्वेत का नाशक है और (तव) तेरा (आस्थानं) चिपकना (असितं) सित या श्वेत कुष्ठ का नाशक है। हे ओषधे! तू (असिक्नी) असिक्नी नाम वाली (असि) है (इतः) इस शरीर से (पृषत्) पीड़ाकारी या जल छोड़ने वाले पृषत् अर्थात् श्वेत रंग के कुष्ठ को (निर् नाशय) नाश कर दे।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

भा०—(अस्थिजस्य) हड्डियों में उत्पन्न होने वाले (च) और (तनूजस्य) त्वचा और अस्थि के बीच मांस में उत्पन्न होने वाले

२—(द्वि०) नाशया पृथक्। इति सायणाभिमतः पाठः। (तृ०)

३—(प्रा०) 'निलयनम्' इति तै० ब्रा०। (च०) 'नाशया पृथक्' इति सायणः।

(किलासस्य) किलास नामक कुष्ट को और (यत्) जो रोग (त्वचि) त्वचा में उत्पन्न हो गया है और (दूष्या) रक्त आदि में विकार उत्पन्न करने वाले दूषी विष द्वारा (कृतस्य) उत्पन्न हुए रोग के (लक्ष्म) शरीर की शोभा के नाशक (श्वेतं) श्वेतकुष्ट को मैं उत्तम वैद्य (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि से (अनीनशम्) दूर करता हूँ। इस सूक्त में नक्त, रामा, कृष्णा, असिक्नी और ब्रह्म ये नाम ओषधिवाचक हैं। धन्वन्तरि के अनुसार—

(१) 'नक्त' नाम से कलिकारी, गुग्गुलु, उलूक, प्रसहा, करंज, फंजी या भार्ङ्गी इन ओषधियों का ग्रहण है। इनके गुण इस प्रकार हैं—(१) कलिकारी (नक्तेन्दुपुष्पिका) कफ और वात, सूजन, शल्य व्रण का नाशक। (२) गुग्गुलु (=नक्तं) व्रण, प्रमेह और शोफ का नाशक। कण गुग्गुलु और भूमि इसके दो भेद हैं। (३) उल्लू पक्षी के मांसादि विसर्प कुष्ठ के नाशक हैं। (४) प्रसह वर्ग में काक, गीध, उल्लू चील आदि पक्षिगण। (५) करंज (नक्तमाल) या घृतकरंज व्रण, प्लीहा और कृमिनाशक और सब त्वचा के दोषों को दूर करता है। उदकीर्य और अङ्गारवल्लिका इसी के भेद हैं जिनमें अङ्गारवल्लिका कण्डू, विचर्चिका, कुष्ठ, त्वग्दोष, व्रण (नासूर) आदि का नाशक है। (६) फंजी या भार्ङ्गी या ब्रह्मसुवर्चला—शोफ, व्रण, कृमि का नाश करती है। इसका दूसरा नाम 'ब्राह्मणयष्टि' है।

(२) रामा नाम से आरामशीतला, गृहकन्या, रोचना, लक्ष्मणा, का ग्रहण होता है। आरामशीतला दाहदोष, विस्फोट और व्रण का नाशक है, गृहकन्या या घृतकुमारी पित्त, कास श्वास और कुष्ट का नाशक है। शेष भी कटु तिक्त होने से रक्तशोधक हैं।

(३) कृष्णा शब्द से काश्मर्य, कृष्णा तुलसी, कृष्णा मूली, कृष्णा नीलपुनर्नवा द्राक्षा और पिप्पली का ग्रहण है। जिसमें से काश्मर्य (१।१२) सूक्त में लिखा जा चुका है। कृष्णा तुलसी जन्तु, भूत, कृमि आदि का नाशक है। नीलपुनर्नवा-हृद्रोग, प्रदर, पाण्डु, सूजन, श्वास, वात, आम आदि

का नाशक है। पुनर्नवा और क्रूर ये दो भी इसी जाति के हैं। कृष्णा, काला जीरा कफशोफनाशक है। पिप्पली रक्तशोधक हैं, ये सभी कटु और तिक्त गुण उष्ण हैं। (४) 'असिक्नी' नामक औषध वर्तमान में कोई प्रसिद्ध नहीं हैं तथापि असिक्नी यह असिशिम्बी प्रतीत होती है जो व्रण दोष नाशक है। (५) 'रजनी' शब्द से हरिद्रा, दारुहरिद्रा, उदकीर्य (करंजभेद) रोचना, शिंशपा, वनबीजपुर, यूथिका, मूर्वा, ये सभी ओषधियां 'पीता' कहाती हैं और इनका गुण त्वग्दोष, कुष्ठ, कण्डू आदि को नाश करना है। (६) 'ब्रह्मन्'—भार्ङ्गी, फांजी नामक ओषधि ही ब्रह्मसुवर्चला या 'ब्राह्मणयष्टि' कही गई है वही यहां 'ब्रह्म' शब्द से लेनी उचित है।

---

(२४) त्वग्दोष का निवारण।

ब्रह्मा ऋषिः। आसुरी वनस्पतिर्देवता। १, ४, ४ अनुष्टुभः, २ निचृत् पथ्यापंक्तिः। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥ १॥

भा०—(प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ, (सुपर्णः) सुपर्ण नामक वनस्पति या सूर्य इस दोष का नाशक (जातः) है। हे उपरोक्त रजनी ओषधे! (त्वं) तू (तस्य) उसके (पित्तम्) पित्त रस के समान उष्णस्वभाव, रस को (आसिथ) प्राप्त है। (आसुरी) आसुरी नामक ओषधि (युधा) कूट २ कर (जिता) अनुकूल बनाई जाकर (वनस्पतीन्) नाना वनस्पतियों को भी (तत्) उस ही (रूपं) सेवनीय रूप का (चक्रे) बना देती है। रजनी, हरिद्रा = दारुहल्दी का 'पित्ता' भी एक नाम है।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत् त्वचम्॥ २॥

भा०—(आसुरी) आसुरी नाम ओषधि (प्रथमा) सबसे श्रेष्ठ है। (इदं) यह (किलासभेषजं) किलासनामक कुष्ठ की चिकित्सा (चक्रे) करती है। (इदं किलासनाशनं) यह स्वयं किलास का नाश करने हारी है। वह (किलासं) किलास = कुष्ठरोग को (अनीनशत्) नाश करती और (त्वचं) त्वचा को (सरूपाम्) सर्वत्र एक समान (अकरत्) बना देती है।

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

भा०—हे ओषधे ! (ते) तेरी (माता) उत्पत्ति-भूमि (सरूपा) तेरे ही समान गुण रूप वाली 'सरूपा' है और (ते) तेरा (पिता) उत्पादक बीज या पालक सूर्य भी (सरूपः नाम) 'सरूप' नाम वाला है। हे ओषधे ! (त्वं) तू स्वयं (सरूपकृत्) त्वचा का समान रूप बना देने हारी है, इसलिये (इदं) इस दोषयुक्त कुष्ठी शरीर को भी (सरूपं) समान सुन्दर रूप (कृधि) कर।

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।

इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

भा०—(श्यामा) पूर्व मन्त्र में कही ओषध श्यामा नाम वाली (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि उद्-भृता) ऊपर उत्पन्न और पुष्ट होती है वह (सरूपं करणी) उत्तम रूप और समान त्वचा बना देती है। हे श्यामे ! तू इस कुष्ठ को (प्र साधय) ठीक कर और (पुनः) बार २ (रूपाणि) नये २ रूप, नयी त्वचाएं (कल्पय) उत्पन्न कर।

सुपर्ण, आसुरी, सरूपा और श्यामा शब्द औषधि वाचक हैं। जिनमें प्रथम सुपर्ण = सप्तपर्णी, गुल्म, कृमि, कुष्ठ की नाशक है। आसुरी, राई लाल सरसों। यह कृमि व्रण का नाशक है। सरूपा या सुरूपा शब्द से पित्ता, हल्दी, भार्ङ्गी, वार्षिकी, शालिपर्णी और लाक्षा कहाती है;

जिनमें से भाङ्गी का वर्णन पहले किया है। लाक्षा लाख कृमिनाशक और व्रणनाशक है। 'शालिपर्णी' शोफ को नाश करती है, वार्षिकी विष स्फोट फुंसियों और कृमिदोष का नशक है। 'सुपर्णी' शब्द से शालिपर्णी पलाशी और रेणुका या हरेणुका, विषकण्डू अर्थात् विष की खाज का नाश करती है। 'श्यामा' शब्द से गुडूची, कस्तूरी, नीलपुनर्नवा, नीलिनी, पिप्पली, रोचना, वटपत्री और हरिद्रा ये ओषधियां ली जाती हैं। इनमें से गुडूची, गिलोय त्रिदोषनाशक, रक्त-अर्श और कुष्ठ का नाशक है। कस्तूरी विषघ्न और किलास, कफ आदि का नाशक है, नील पुनर्नवा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। नीलिनी, विष वात, रक्त और कृमिनाशक है। पिप्पली, रोचना दोनों का वर्णन पूर्व किया है। वटपत्री-प्रमेह कृच्छ्र और व्रण का नाशक है। बन्द का जखम भर देने वाली और रसायन है, हरिद्रा का पूर्व वर्णन कर आये हैं। इस प्रकार वेद के ओषधि नाम व्यापक गुणों को दर्शाते हैं। सायण ने कौशिक सूत्र के अनुसार भृंगराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी, और नीलिका इनको पीसकर श्वेतकुष्ठ पर लगाने का संकेत किया है। इनमें भृंगराज अर्थात् भांगरा, हरिद्रा हल्दी, नीलिका नीलिनी और इन्द्रवारुणी, ऐन्द्री भी कृमिदोष, कुष्ठ-व्रण और श्लीपद का नाश करती है। इन्द्रावारुणी विशाला को भी कहते हैं जिसका एक भेद श्वेतपुष्पी है इसको नागदन्ती और भटा भी कहते हैं। इनमें कुष्ठनाशक गुण विशेष हैं।

---

(२५) ज्वर चिकित्सा।

भृग्वङ्गिरा ऋषिः यक्ष्मनाशनोऽग्निर्मन्त्रोक्ता ह्रूडु' आदयो देवताः । १ त्रिष्टुप्, २, ३ विराड्-गर्भा त्रिष्टुप् । ४ पुरोऽनुष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत्प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि ।
तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

भा०—हे (तक्मन्) शरीर को कष्ट देने वाले ज्वर ! (यत्र) जिसके आश्रय पर (धर्मधृतः) धर्म, आत्मा को धारण करने वाले शरीरधारी

वात पित्त और कफ या सप्त धातु (नमांसि) नाना शरीर के कार्यों को (अकृण्वन्) साधते हैं (तत्र) उसमें ही वे परम विद्वान् वैद्य (ते) तेरा (परमं) सबसे मूलभूत (जनित्रं) उत्पत्तिस्थान (आहुः) बतलाते हैं और जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (आपः) जलों में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर उसको तपाता है उसी प्रकार हे ज्वर! तू भी (आपः) सर्व शरीर में व्यापक रुधिरों या प्राणों में (प्रविश्य) भीतर घुसकर शरीर को (अदहत्) तपाता और धर्मभृत्, शरीर के भीतर मांस मेदस्, अस्थि, मज्जा, रुधिर शुक्र आदि धातुओं को जलाता है। उस ज्वरकारी कारण को (विद्वान्) जानने हारा वैद्य तू (सः) वह कुशल होकर (नः सं परिवृङ्धि) उसको हमसे दूर कर। अथवा, हे (तक्मन्) कष्टदायी ज्वर! (सः) वह तू उक्त प्रकार से (सं विद्वान्) वेदना देने वाला है, अतः योग्य चिकित्सा द्वारा (नः) हमें (सं परि वृङ्धि) छोड़ दे।

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः श॑कल्ये॒षि यदि॑ वा ते ज॒नित्र॑म्।
ह्रूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्धि तक्मन् ॥२

भा०—हे (तक्मन्) कष्टमय जीवन करने हारे! (यदि) चाहे तू (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला के समान जलन करने वाला (यदि वा) और चाहे (शोचिः) तापजनक है (यदि वा) और चाहे (ते) तेरा (जनित्रम्) प्रादुर्भाव (शकल्य-इषि) शरीर के अंग २ में व्याप कर थर थर पैदा करने वाला हो, हे (देव) शरीर को तप्त करने वाले, अथवा अग्नि के विकार रूप ज्वर! तू (हरितस्य) हरित नाम कामला रोग का (ह्रूडुः) निश्चय से उत्पादक है इसलिये तू 'ह्रूडु' (नाम) नाम से प्रसिद्ध (असि) है (नः) हम

२—ह्रूडु = ह्रुडु, रूडु, ह्रुडु, हुडु इत्यादयो बहवः पाठाः 'हुडु' इति पैप्प सं० ८। रूढुरिति सायणः। प्रादुर्भावार्थस्य रुहेरौणादिकस्तुनू प्रत्ययः होडः इति ह्विटनी।

में से (सः) वह प्रसिद्ध वैद्य इस रहस्य को (सं-विद्वान्) जानता है उसकी चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्धि) छोड़ दे ।

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः ।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ।३

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! (यदि शोकः) चाहे तू एक देश में तापकारी है, (यदि वा) और चाहे (अभिशोकः) तू सब अंगों में भीतर बाहर सर्वत्र तापजनक है, (यदि वा) और चाहे तू (वरुणस्य) सबको आवरण करने वाले, सर्वत्र फैलने वाले जलीय अंश का (पुत्रः) रूपान्तर है, तो भी हे (देव) अग्नि या जलांश से उत्पन्न ! (हरितस्य) पाण्डु कामला या पैत्तिक रोग का (ह्रूडुः) निश्चय से उत्पादक है, इस प्रकार से तू (नाम) प्रसिद्ध (ह्रूडुः असि) ह्रूडु है । इस बात को (नः) हममें से (सः) वह वैद्य (संविद्वान्) उत्तम जानता है अतः उसकी योग्य चिकित्सा से तू हमें (परि वृङ्धि) त्याग दे ।

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

भा०—(शीताय) शीत से उत्पन्न या शीत देकर उत्पन्न होने वाले (तक्मने) कष्टप्रद, ज्वर आदि के लिये (नमः) यह उपचार है और (शोचिषे) ताप या गर्मी देकर उत्पन्न होने वाले 'रूर' या 'ह्रूडु' नामक ज्वरव्याधि के लिये मैं (नमः कृणोमि) ओषधोपचार करता हूँ और (यः) जो ज्वर (अन्येद्युः) प्रतिदिन और (उभयेद्युः) दो दिनों के अन्तर पर (अभ्येति) प्रकट होता है उस (तक्मने) ज्वरव्याधि के लिये (नमः, अस्तु) ओषधोपचार हो । ह्रूडु नामक ज्वर कदाचित् 'हुड़हुड़ा' ज्वर है । वेद सभी ज्वरों को 'ह्रूडु' कहता है । वह आरूढ़ हो जाता या पीलिया आदि नाना रोगों को उत्पन्न करता है, वही 'रूर' अर्थात् क्रूर, कष्टदायी है ।

'शकल्येषि शोचि, अर्चि और वरुणपुत्र, ये क्रम के वात, पित्त, कफ

से उत्पन्न ज्वरों के तीन प्रकार हैं। वही शीत, तक्मा रूर, शोचि, एक दो या तीन दिन के अन्दर से आने से नाना भेद का होता है।

---

(२६) रक्षा, सभ्यता और शान्ति।

ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रादयो मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १, ७३ गायत्री, २ त्रिपदा साम्नी त्रिष्टुप् । ४ पादनिचृत् । २, ४ एकावसाना । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

आरे॒३ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत् ।
आ॒रे अश्मा॒ यम॒स्य॑थ ॥ १ ॥ ऋ० १ । १७२ । २ ॥

भा०—(देवासः) हे विजिगीषु सैनिक पुरुषो ! (असौ) यह (हेतिः) अस्त्र, हथियार (यम्) जिसको तुम (अस्यथ) शत्रुओं पर फेंकते हो वह (अस्मद्) हमसे (आरे अस्तु) दूर रहे और वह (अः श्मा) अश्मा = दृढ़ लोह या पाषाण का बना शस्त्र जिसको तुम फेंकते हो वह भी (आरे असत्) हमसे दूर ही रहे।

सखा॒साव॒स्मभ्य॑मस्तु रा॒तिः सखेन्द्रो॒ भगः॑ ।
स॒वि॒ता चि॒त्ररा॑धाः ॥ २ ॥

भा०—(असौ) वह (रातिः) धन ऐश्वर्य देने वाला पुरुष, (भगः) ऐश्वर्यों का स्वामी, (सविता) सबका प्रेरक और (चित्रराधाः) नाना प्रकार से आराधना और साधना करने योग्य या नाना ऐश्वर्यों का स्वामी (इन्द्रः) राजा के समान परमेश्वर ही (अस्मभ्यं) हमारा (सखा) एकमात्र मित्र (अस्तु) हो।

यू॒यं नः॑ प्रवतो नपा॒न्मरु॑तः॒ सूर्य॑त्वचसः ।
शर्म॑ यच्छाथ स॒प्रथाः॑ ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) वीर पुरुषो ! तुम (सूर्य-त्वचसः) सूर्य के समान उज्ज्वल होकर (प्रवतः नपात्) वेग से बढते हुए सैनिकों को न गिरने देने वाले हे मुख्य सेनापते ! (यूयं) आप लोग (नः) हमें (सप्रथाः) अति विस्तृत (शर्म) सुख या शरण, नगर या दुर्ग (यच्छाथ) प्रदान करो।

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

भा०—हे विद्वान् वीर पुरुषो ! (सु सूदत) शत्रुओं को दूर कर दो, (मृडत) सदा स्वतः सुखी रहो और प्रजा को सुखी करो (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों को (मृडय) सुखी करो और (नः तोकेभ्यः) हमारे अगले सन्तानों के लिये भी (मयः) कल्याण, सुख का (कृधि) सम्पादन करो ।

---

(२७) सेना-सञ्चालन ।

स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । चन्द्रमा इन्द्राग्नी च देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २, ३, ४ अनुष्टुभः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३ वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः॥१॥

भा०—(अमूः) ये (पारे) नदी के पार (त्रि-सप्ताः) नदी तरकर पार गये हुए और दूर तक फैले हुए (पृदाकूः) सर्प समान भयंकर सेनाएं हैं जिहोंने (निर्जरायवः) कैंचुली के समान अपने कवच उतारे हुए हैं (तासां) उनके (जरायुभिः) कवचों पर छापा मारकर उन कवचों द्वारा (वयम्) हम लोग (अघायोः) हमारी हत्या करने की चेष्टा में यत्नवान् (परिपन्थिनः) शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (अपि वि अयामसि) हम धूल डालें, उन्हें चकित कर दें ।

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

भा०—(विषूची इव) सूच्यग्र के समान आगे थोड़े सैनिकों को रखकर सूचीव्यूह में चलने हारी या संकेतों से चलने वाली सेना (पिना-

कम्) धनुष हाथ में (बिभ्रती) लिये हुए (एतु) आगे बढ़े। (पुनर्भुवाः) शत्रु सेना जो तितर बितर है वह यदि पुनः सेना रूप होकर चढ़ाई करे तो हमारी सेना का आक्रमण शत्रु की सेना के (मनः) मन को (विष्वक्) सब तरफ पुनः नाना दिमागी करें। इस प्रकार हमारे शत्रु (अघायवः) पापी पुरुष (असमृद्धाः) ऋद्धि से रहित हों।

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥ ३॥

भा०—(अघायवः) हमारे शत्रु सैनिक (बहवः) बहुत से (सम्) मिलकर भी (न अशकन्) हम पर आक्रमण की शक्ति से रहित हों। (अर्भकाः) वे बच्चों के समान निर्बल (न अभि दाधृषुः) हमारे पर आक्रमण की धृष्टता भी न कर सकें। (वेणोः अभितः) बांस के चारों ओर (अद्गाः इव) छोटी २ शाखाओं की न्याईं (अघायवः) हत्यारे शत्रु-सैनिक (असमृद्धाः) तितर वितर हो जाने के कारण सफलता रहित हों।

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥ ४॥

भा०—सेना का प्रत्येक सैनिक कहे कि—(पादौ) हे मेरे दोनों पैरो! (प्रेतम्) आगे चलो, (प्रस्फुरतम्) जल्दी २ उठो, (पृणतः) अपनी प्रजा के पालक राजा के (गृहम्) घरों तक (वहतम्) हमें ले चलो। (इन्द्राणी) मुख्य सेनापति की सेना (प्रथमा) जो सर्व श्रेष्ठ है (अजीता) जो जीती नहीं गई, (अमुषिता) जिसका दिल नहीं चुराया गया अर्थात् जिसने कभी धैर्य नहीं त्यागा वह सेना (पुरः) शत्रु के नगरों को (एतु) प्राप्त हो।

---

(२८) घृणाकारी दुष्टों का नाश ।

चातन ऋषिः । १ अग्निर्देवता २, ३, ४ यातुधान्यो देवताः । १, २ अनुष्टुभौ, ३ विराट् पथ्याबृहती, ४ पथ्यापंक्तिः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

उप प्रागा॑द् दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः ।
दह॒न्नप॑ द्वया॒विनो॑ यातु॒धाना॑न् किमी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

भा०—(देवः) कर को राज्योन्नति में लगाने वाला, गुणों से द्योतमान् (अग्निः) अग्रणी, राष्ट्र का मुख्य नेता, प्रधान मंत्री (उपप्रागात्) राष्ट्र में प्रमुख होना चाहिये । (रक्षोहा) वह राक्षस स्वभाव वाले मनुष्यों का नाश करने वाला तथा (अमीवचातनः) राष्ट्र में फैले रोगों का निवारक है । (द्वयाविनः) हृदय के खोटे (किमीदिनः) 'अब क्या' 'अब क्या' इस प्रकार राष्ट्रीय घटनाओं के जानने के लिये उत्सुक, परराष्ट्रीय शत्रु (यातुधानान्) जो कि हमें यातना पहुचाते हैं उन्हें (अप दहन्) यह मुखिया नष्ट करे, दूर रखे ।

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव किमी॒दिनः॑ ।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥

भा०—(देव) हे देव ! मुख्यनेता ! (किमीदिनः यातुधानान्) छिद्रान्वेषी यातना पहुँचाने वाले शत्रुओं को (प्रतिदह) मुकाबले में अग्नि के अस्त्रों द्वारा दग्ध कर । हे (कृष्णवर्तने) शत्रु के कर्षण अर्थात् विनाश कर देने वाले ! (यातुधान्यः) यातना पहुँचाने वाली शत्रु की सेनाएं (प्रतीचीः) यदि प्रति आक्रमण करें तो (सं दह) उन सबका तू आग्नेय अस्त्रों द्वारा संहार कर ।

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु सा ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो शत्रु सेना (शपनेन शशाप) निन्दित वचनों से

हमारी निन्दा करती है, (या) जो शत्रु सेना (मूरम्) मोहक (अघम्) और घातक अस्त्र (आदधे) लिये हुए हैं, (या) जो शत्रुसेना (रसस्य हरणाय) राष्ट्र रूप देह के रस या बल के हर लेने के लिये (जातंतोकम्) हमारे नन्हे २ बच्चों को भी (आरेभे) पकड़ लेती है, उन्हें मार डालती है, (सा) वह शत्रु सेना भी (अस्तु) अपने इन कर्तव्यों को बुरा भला चखे अर्थात् हम भी उस सेना के साथ तथा उस सेना के देश में ऐसा ही बर्ताव करें।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो३विघ्नतां यातुधान्यो३वि तृह्यन्तामराय्यः ॥४॥

भा०—(यातुधानीः) यातना पहुँचाने वाली शत्रु सेना (पुत्रम्) अपने पुत्र को भी (अत्तु) इसी प्रकार नष्ट करे (स्वसारमुत नप्त्यम्) इनकी कन्याएं, बहनें तथा अन्य नाती को भी इसी प्रकार नष्ट करे और इनमें ऐसा त्रास तथा भेद नीति फैलाया जाय कि ये (विकेश्यः) एक दूसरे के केशों को नोचती हुईं (मिथः विघ्नताम्) परस्पर युद्ध द्वारा नष्ट हो जांय (यातुधान्यः अराय्यः) यातना पहुँचाने वाली शत्रु सेनाएं (वि तृह्यन्ताम्) एक दूसरे का नाश करें ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

---

(२९) युद्ध सम्बन्धी अभीवर्त्त शक्ति का वर्णन ।

वसिष्ठ ऋषिः । अभीवर्त्तमणिमुद्दिश्य ब्रह्मणस्पतिर्देवता । चन्द्रमसं राजानमभिलक्ष्य ब्रह्मणस्पतेः स्तुतिः । अनुष्टुप् छन्दः । षड्चं सूक्तम् ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

ऋ० १० । १७४ । १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् मन्त्रिन् ! (येन) जिस

(अभीवर्तेन) अभीवर्त रूप (मणिना) मणि से (इन्द्रः) राजाओं का राजा अर्थात् चक्रवर्ती सम्राट् (अभिवावृधे) विशाल राष्ट्रसम्पत्ति को प्राप्त करता है (तेन) उसी द्वारा (अस्मान्) हमको भी (अभि वर्धय) बढ़ा। (राष्ट्राय) ताकि हमारे राष्ट्र की भी अभिवृद्धि हो सके। इसकी विशेष व्याख्या अगले मन्त्र में है।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

ऋ० १० । १७४ । १ ॥

भा०—हे ब्रह्मणस्पते ! तू अभीवर्त मणि द्वारा (सपत्नान्) हमारी इष्ट सम्पत्ति के स्वामी हो जाने का दावा करने वाले शत्रुओं को (अभिवृत्य) चारों तरफ से घेर कर, तथा (नः) हमारे (याः अरातयः) जो कर देने से इन्कार करने वाले अधीनस्थ राष्ट्र हैं उनको भी अभीवर्तमणि द्वारा घेरकर उन्हें वश करके, तदुपरान्त (पृतन्यन्तम्) सेनाओं द्वारा चढ़ाई करने वाले शत्रु राजा को (अभि तिष्ठ) तू दबा दे और (यः) जो (नः) हमें (दुरस्यति) दुःखकारी दशा में डालना चाहता है उसको भी (अभि तिष्ठ) तू दबा दे, कुचल दे। अर्थात् शत्रुओं को घेरने, अधीन राष्ट्रों को वश करने, सेना द्वारा चढ़ाई करने, शत्रुओं का मुकाबला करने और क्रूरों का विनाश करने की शक्ति को ही 'अभीवर्त्त' मणि कहा गया है।

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४७ । ३ ॥

भा०—हे ब्रह्मणस्पते ! इस कार्य में (सविता देवः) सेना का प्रेरक विजिगीषु, मख्य सेनापति (त्वा) तेरी (अवीवृधत्) वृद्धि करता है, (सोमः) कोश सम्पन्न राजा भी (अभि) तेरी अभिवृद्धि के लिये सहायता

करता है। (विश्वा भूतानि) समस्त प्रजाजन भी (त्वा अभि) तेरी अभिवृद्धि के लिये सहायता करते हैं, (अभिवर्त्तः यथा असमि) जिससे तु स्वयं अभीवर्त रूप में दृष्टिगोचर हो।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।

राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

भा०—(अभिवर्तः मणिः) आक्रमण आदि की शक्ति (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाशकारी और (अभिभवः) पराजय करने वाली है। उसे (मह्यम्) मुझ राजा के (राष्ट्राय) राष्ट्र की उन्नति के लिये (बध्यतां) हे ब्राह्मणस्पति ! उत्तम रूप से व्यवस्था द्वारा दृढ़, सुबद्ध कर। जिससे (सपत्नेभ्यः) शत्रुओं का (पराभुवे) पराजय हो।

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।

अथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १५९ । १ ॥

भा०—(असौ) वह द्यौलोक में प्रकाशित (सूर्यः) सूर्य (उत् अगात्) उदय होता है और इसी प्रकार (मामकं) मेरा (इदं) यह (वचः) प्रतिज्ञा वचन भी (उत्) प्रकट हो, (यथा) वह यह मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का नाशक और (सपत्नहा) मेरे राष्ट्र पर अपना स्वामित्व चाहने वाले विरोधियों का नाशक होकर (असपत्नः) शत्रुरहित, अद्वितीय सम्राट् (असानि) हो जाऊं।

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १७४ । ६ ॥

भा०—(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का विनाश (वृषा) सब सुखों का

५—'उदसौ सूर्योऽगादुदयं मामको भगः । अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषा सहिः' इति ऋ० १० । २५९ । १ ।

दाता (विषासहिः) नाना शत्रुओं के आक्रमणों, दैवी विपत्तियों को सहने में समर्थ (अहम्) मैं राजा (अभिराष्ट्रः) राष्ट्र के आधिपत्य को प्राप्त होऊं। (यथा) जिससे (एषां) इन (वीराणां) वीर योद्धाओं और (जनस्य च) समस्त प्रजाजन के बीच में (विराजानि) विशेष रूप से, विराट् या सम्राट् रूप में शोभा पाऊं।

---

(३०) प्रजा का राजा के प्रति कर्तव्य।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः। विश्वेदेवाः देवताः। वस्वादिदेवस्तुतिः। १, २, ४ त्रिष्टुभः। ३ शाक्करगर्भा विराड् जगती। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

विश्वे॑दे॒वा वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒मम॒ुता॑दि॑त्या जागृ॒त यू॒यम॒स्मिन्।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॒त् पौरु॑षेयो व॒धो यः॥ १॥

भा०—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो! और हे (वसवः) राष्ट्र में बसने हारो! आप लोग (इमम्) इस राष्ट्र एवं राष्ट्रपति की (रक्षत) रक्षा करो। (उत) और हे (आदित्याः) आदान प्रतिदान करने हारे, कर और शुल्क संग्रह करने वाले अध्यक्ष पुरुषो! (यूयम्) तुम लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र में (जागृत) सदा जागृत रहो, सूर्य के समान तेजस्वी विद्वानो! आप सदा जागृत रहो। (इमं) इस राष्ट्रपति तक (सनाभिः) स्वजातीय शत्रु (उत) अथवा (अन्यनाभिः) विजातीय शत्रु (मा प्रापत्) न पहुँच सके और (यः) जो (पौरुषेय) शत्रु पुरुषों द्वारा फेंका गया (वधः) आघातकारी शस्त्र भी (इमं मा प्रापत्) इस तक न पहुँचे। (२) अध्यात्मपक्ष में—वसवः = प्राणाः, आदित्याः—प्राणाः।

ये वो॑ देवाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम्।
सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ॥ २॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् राष्ट्रवासिगणो! आप लोग (सचेतसः) एकचित्त, सावधान होकर (मे) मुझ राष्ट्र-पुरोहित या सभापति का

(इदम्) यह (उक्तं) वचन (शृणुत) सुनो कि (ये) जो (वः) आप लोगों के (पितरः) जीवन के परिपालक मां, बाप और वृद्ध गुरु, आचार्य लोग हैं (ये च पुत्राः) और जो पुत्र, आपको संकटों से रक्षा करने हारे हैं मैं (वः सर्वेभ्यः) आप सबके (स्वस्ति) हित के लिये (एतं) इस राष्ट्रपति को (परिददामि) सबके ऊपर अधिष्ठातृ रूप से समर्पित करता हूँ। आप लोग (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (एतं वहाथ) इसको धारण करो ।

ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑१॒॑न्तः।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान् परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून् ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) ज्ञानवान् और क्रियावान् दिव्य पुरुषो ! आप में से (ये) जो (दिवि) ज्ञानमय अवस्था, द्युलोक और सात्विक उन्नत दशा में (ष्ठ) हो और (ये) जो (पृथिव्यां) पृथिवी में हो और जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में विमान आदि चलाने हारे हों, (ओषधीषु) और जो ओषधि वनस्पतियों में उनके संग्रह और प्रयोग में लगे हों और (पशुषु) जो अन्य जीवों, पशुओं के पालन, वृद्धि, सदुपयोग में लगे हों और (अप्सु अन्तः) जो जलों के भीतर, समुद्रादिक में मुक्ता आदि संग्रह और व्यापार कार्यों में लगे हों, (ते) वे सब मिलकर (अस्मै) इस राष्ट्रपति के (जरसं) वार्धक्य काल तक (आयुः) जीवन की रक्षा (कृणुत) करें और वे (अन्यान्) और भी (शतं) सैकड़ों (मृत्यून्) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) दूर करें। सूर्य, चन्द्र आदि द्युलोक में जल नदी आदि पृथिवी पर और वायु, विद्युत् आदि अन्तरिक्ष में दिव्य पदार्थ हैं। ओषधियों में रसायन द्रव्य सोम आदि, पशुओं में गौ आदि, जलों में दिव्य जल आदि, इनसे पुरुष की आयु रक्षा और कष्टों को दूर करने का भी उपदेश है।

येषां॑ प्रया॒जा उ॒त वा॑नुया॒जा हु॒तभा॑गा अहु॒ताद॑श्च दे॒वाः ।
येषां॑ वः॒ पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ विभ॑क्ता॒स्तान् वो॑ अ॒स्मै स॑त्र॒सदः॑ कृणोमि ॥४॥

भा०—(येषां) आप लोगों में से जिसके (प्रयाजाः) उत्कृष्ट निष्काम

यज्ञ हैं (उत वा) और जिनके (अनुयाजाः) आशानुरूप कर्मफल प्राप्ति के निमित्त सकाम कर्म हैं और जो (हुतभागाः) आहुति रूप में अग्नि में डाले पदार्थों को ग्रहण करते हैं और जो (अहुतादः) आहुति न दिये गये केवल भिक्षामात्र से प्राप्त अन्न का भोग करने वाले (देवाः) विद्वान्गण हैं (वः) आप लोगों में से (येषां) जिनके (पञ्च) पांच (प्रदिशः) दिशाएं (विभक्ताः) विभक्त हैं (तान्) उन (वः) आप लोगों को मैं (अस्मै) इस राष्ट्रपति के यज्ञ में (सत्रसदः) सत्रसद् सभासद् (कृणोमि) बनाता हूँ।

---

(३१) समर्पण।

ब्रह्मा ऋषिः। आशापालाः वास्तोष्पतयश्च देवताः। १, २ अनुष्टुभौ। ३ विराट् त्रिष्टुप्। ४ परानुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः।
इ॒दं भू॒तस्याध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम्॥ १॥

भा०—(आशानाम् आशापालेभ्यः) चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा के पालक अर्थात् अध्यक्ष (चतुर्भ्यः) चार (अमृतेभ्यः) अमर शक्तियों के प्रति (भूतस्य अध्यक्षेभ्यः) जो अमर शक्तियां कि जड़ चेतन रूप सब भूत की अध्यक्ष हैं, उनके प्रति (हविषा) आहुति, यज्ञ द्वारा (वयम्) हम (विधेम) सेवा समर्पित करते हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार मुख्य दिशाएं हैं। परमात्मा इनमें क्रम से अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम रूप से अध्यक्षरूप में स्थित है। हम यज्ञीय आहुतियों द्वारा इन्हीं के प्रति आत्मसमर्पण करते हैं।

य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ दे॒वाः।
ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सो अंहसः॥ २॥

भा०—(आशानां आशापालाः) चार मुख्य दिशाओं में से प्रत्येक दिशा के जो तुम पालक (चत्वारः) चार (देवाः स्थन) देव अग्नि, इन्द्र,

वरुण और सोम हो। (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः) दुःखदायिनी पापप्रवृत्ति के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसः अंहसः) प्रत्येक पाप और उसके फन्दों से (मुञ्चत) छुड़ाओ। प्रत्येक दिशा में परमात्मा अग्नि आदि रूप स्थित है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वव्यापक समझें तो पाप-प्रवृत्ति रुक जाती है।

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥३॥

भा०—(यः) जो (आशानां) चार मुख्य दिशाओं में से (आशापालः) प्रत्येक दिशा का पालन करने हारा (तुरीयः देवः) तुर्यावस्था का देव अर्थात् ब्रह्म (सः) वह (नः) हमें (सुभूतम्) उत्तम विभूति (इह) इस जन्म में ही (आवक्षत्) प्राप्त करावे। हे ब्रह्मदेव ! (अस्रामः) अखिन्न-चित्त होकर मैं (त्वा) तेरी (हविषा) उत्तम हवि द्वारा (यजामि) पूजा करता हूँ और (अश्लोणः) व्याधिरहित, अनालस होकर (त्वा) तेरे प्रति (घृतेन) घी से (जुहोमि) आहुति करता हूँ।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

भा०—हे ब्रह्मदेव ! आपसे प्रार्थना करता हूँ कि (नः) हमारी (मात्रे) माता को (स्वस्ति) सुख हो, (उत) और (पित्रे) पिता को सुख हो, (गोभ्यः) राष्ट्रों के लिये (जगते) सब जगत् के लिये (पुरुषेभ्यः) सब जीवों के लिये (स्वस्ति) सुख और शान्ति प्राप्त हो। (नः) हमारा (विश्वं) समस्त संसार (सुभूतं) उत्तम विभूति से युक्त तथा (सुविदत्रं) उत्तम ज्ञानों से सम्पन्न हो और हम (ज्योक् एव) चिरकाल तक (सूर्यं) सूर्य और ज्ञान प्रकाशक परमेश्वर का (दृशेम) दर्शन करें।

---

(३२) ब्रह्म का विवेचन ।

ब्रह्माऋषिः द्यावापृथिवी देवते । ब्रह्मसूक्तम् । १, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः । २ ककुम्मती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥

भा०—(जनासः) हे जीवो ! (इदम्) इस (महत्) सबसे महान् (ब्रह्म) ब्रह्म को (विदथ) तुम जानो, (वदिष्यति) ब्रह्म ज्ञानी उसके सम्बन्ध में उपदेश करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न पृथिव्याम्) न केवल पृथिवी में है, (नो दिवि) न द्युलोक में है और न केवल अन्तरिक्ष में है, अपितु सर्वत्र है, वह वह है जिस द्वारा (वीरुधः) वनस्पति आदि जगत् (प्राणन्ति) प्राण धारण कर रहे हैं ।

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥ २ ॥

भा०—(आसाम्) इस वनस्पति आदि जगत् की (स्थाम) स्थिति (अन्तरिक्षे) आकाश की नाईं व्यापक उस ब्रह्म में ही है, (श्रान्तसदामिव) थककर विश्राम करने वालों के समान जीवन मरण के चक्र से थके आत्मवेत्ताओं की स्थिति (अस्य भूतस्य) इस समस्त जड़ चेतन जगत् के (आस्थान) आश्रम स्थान (तत्) उस ब्रह्म को (वेधसः) बुद्धिमान् लोग (विदुः) जानते हैं (न वा) या नहीं जानते—यह वे ही जानते हैं ।

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

भा०—(रेजमाने) सदा गतिशील (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक (भूमिश्च) अर्थात् भूलोक और द्युलोक (यत्) जिस ब्रह्म द्वारा (निरतक्षतम्) रचे गये हैं, (तद्) वह ब्रह्म (अद्य) आज (सर्वदा) और

श्रद्धा से वह (समुद्रस्य) समुद्र के (स्रोत्या इव) सोतों अर्थात् आन्तरिक लहरों या समुद्रगामिनी महा नदियों की नाईं (आर्द्रम्) दयार्द्रहृदय है।

विश्वम॒न्यामभीवारं तद॒न्यस्या॒मधि॑ श्रि॒तम् ।
दि॒वे च॑ वि॒श्ववे॑दसे पृथि॒व्यै चा॑करं॒ नम॑: ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वं) विश्व को (अभिवारं) सब ओर से आच्छादन करने वाली (अन्यां) उससे अतिरिक्त प्रकृति को हम लोग जानते हैं। (तत्) और वह अतिरिक्त सत्ता भी (अन्यस्यां) इससे भी अतिरिक्त ब्रह्मशक्ति में (अधिश्रितम्) आश्रित है। मैं (विश्ववेदसे) उस समस्त पदार्थों या ब्रह्माण्ड को जानने हारी (दिवे च) प्रकाशमान (च) और (पृथिव्यै) विस्तृत तथा सर्वाश्रय ब्रह्मशक्ति को (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूँ।

---

(३३) मूलकारण 'आपः' और आप्तजनों का वर्णन।

'सर्वकारणमापः' इति ज्ञानवान् शंतातिर्ऋषिः । चन्द्रमा उत आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । चतुर्ऋचं सूक्तम् ।

हिर॑ण्यवर्णा॒: शुच॑यः पाव॒का यासु॑ जा॒तः स॑वि॒ता यास्व॒ग्निः ।
या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आप॒: शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥१॥

पूर्वार्धः ऋ० ७ । ४९ । ३ ॥

भा०—(यासु) जिनमें (सविता) सबका प्रेरक परमात्मा (जातः) चित् रूप जीवनशक्ति द्वारा, जीव संसार को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ और (यासु) जिनमें (अग्निः) अग्नि, विद्युत् या उसके समान ज्ञानी, नेता, अग्रणी, प्रधान मन्त्री है, (याः) जो 'आपः' आप्तजन (अग्निं) अग्नि तुल्य प्रकाशमान प्रधान मन्त्री को अपने (गर्भं) भीतर, गर्भ में ही (दधिरे) धारण करते हैं (ताः) वे (सुवर्णाः) उत्तम रूप वाली, वरण करने योग्य

(हिरण्यवर्णाः) हितकारी और रमणीय, हृदय को प्रिय और (शुचयः) शुद्ध, कान्तिमय (पावकाः) अग्नि के समान स्वयं मलशोधक, पवित्र (आपः) 'आपः' आप्तजन (नः) हमें (शं) कल्याणकारी (स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
या अग्निं० ॥ २ ॥

भा०—(यासां) जिनके (मध्ये) बीच में (राजा) सबका अनुरंजन करने वाला या प्रकाशमान (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ राजा या वरण करने योग्य प्रभु (जनानां) समस्त प्राणियों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य, पारमार्थिक और व्यावहारिक कर्मों को (अव पश्यन्) देखता हुआ (याति) क्रिया कर रहा है और (याः) जो (सुवर्णाः) उत्तम वर्ण वाले (आपः) 'आपः' आप्तजन (गर्भं) ग्रहण करने में समर्थ (अग्नि) अग्नि को (दधिरे) धारण करते हैं (ताः-आपः) वे आप्तजन (नः) हमें (शं, स्योनाः) कल्याणकारी (भवन्तु) हों।

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥

भा०—(यासां) जिनके (भक्षं) भोग खाद्य को (देवाः) वायु, मेघ, सूर्य, रश्मि आदि दिव्य पदार्थ (दिवि) अपने प्रकाशमय सामर्थ्य में (कृण्वन्ति) उत्पन्न करते हैं (याः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (बहुधा) बहुत रूपों में (भवन्ति) प्रकट होती हैं, (याः सुवर्णाः आपः अग्निं गर्भं दधिरे) जो उत्तम सामर्थ्य से युक्त अपने ग्रहण सामर्थ्य वाले अग्नि को भीतर धारण करती हैं (ताः आपः नः शं स्योनाः भवन्तु) वे 'आपः' हमें सुखकारी हों। अन्तरिक्ष = राष्ट्र।

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥४॥

भा०—हे (आपः) 'आपः' प्राप्त करने योग्य आप्तजन ! (मा) मुझको आप लोग (शिवेन) सुख, कल्याणयुक्त (चक्षुषा) चक्षु से (पश्यत) देखो और (शिवया) कल्याणकारी (तन्वा) स्वरूप से (मे) मेरी (त्वचं) त्वचा को (उपस्पृशत) स्पर्श करो। (याः) जो आप (शुचयः) कान्तिमय, शुद्ध (घृतश्चुतः) कान्ति, तेज को देने वाले और स्नेह के देने वाले (पावकाः) पवित्रकारी हैं (ताः, आपः) 'आपः' वे आप्तजन (नः) हमें (शं स्योनाः) कल्याण और सुखकारी (भवन्तु) हों।

---

(३४) मधुलता के दृष्टान्त से ब्रह्म विद्या और मातृशक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । मधुवनस्पतिर्देवता । मधुवनस्पतिस्तुतिः । अनुष्टुप् छन्दः । पञ्चर्चं, मधुवमणिसूक्तम् ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

भा०—(इयं) यह (वीरुत्) विशेष रूप से निरन्तर बढ़ने वाली ब्रह्मविद्या या लता के समान वीर को जन्म देने हारी स्त्री (मधुजाता) मधु = अमृतमय ब्रह्म से या प्रेम से प्राप्त हुई है। अतः हे ब्रह्मविद्ये ! या प्रिये ! प्रेयसि ! (त्वा) तुझको (मधुना) अमृत रूप जीव या प्रेम द्वारा (खनामसि) श्रम से प्राप्त करते हैं, क्योंकि तू (मधोः) मधुरूप परमात्मा से, या स्नेह से (अधि प्रजातासि) उत्पन्न हुई है अतः वह तू (नः) हमें (मधुमतः) आत्मज्ञान से, स्नेह से युक्त, (कृधि) कर। लतापक्ष में— 'मधुलता' को हम मधुररस के निमित्त खोदते हैं। मधुररस से ही वह विशेष उत्तम गुणकारी होती है, वह हमें सुखयुक्त करे।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

भा०—हे लतावत् ब्रह्मविद्ये या बीजजन्मदात्रि प्रिये ! (जिह्वायाः)

जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) ब्रह्मज्ञान रहे और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूलभाग मानस में भी (मधूलकम्) अति अधिक मधुर मनोहर ज्ञानामृत हो। हे ब्रह्मविद्ये ! (मम) मेरे (क्रतौ) क्रियावान् कर्ता आत्मा में (इत् अह) अवश्य ही (असः) तू विद्यमान रह और (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में भी (उपायसि) व्याप्त रह। लता पक्ष में मधुलता मन, शरीर में पुष्टि, आरोग्यता और स्वरमाधुर्य और मानस बल का सम्पादन करे। स्त्रीपक्ष में मधु = स्नेह।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः, ऋ० १० । २४ । ६ ॥

भा०—(मे) मेरा (निक्रमणं) कार्यों में प्रवृत्त होना या जाना (मधुमत्) मधु के समान मधुर, सुखकर हो। (मे परायणम्) मेरा कार्यों की समाप्ति तक पहुँचना या पुनः आना भी (मधुमत्) सुखकारी हो। (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधु के समान मनोहर, प्रेमयुक्त वचन (वदामि) बोलूं और मैं सब प्रकार से (मधुसंदृशः) मधु के समान देखने और दीखने हारा वा मधुर दृष्टि वाला (भूयासम्) हो जाऊं।

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः।
मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

भा०—हे जनो! मैं (मधोः) मधु से भी (मधुतरः) अधिक प्रिय, चित्तहारी (अस्मि) हूँ, (मदुघात्) ज्ञानरूप मधु के संचय करने हारे विद्वान् से भी (मधुमत्तर) अधिक ज्ञान-मधु का संग्रह करने वाला हूँ। हे पुरुष ! जिस प्रकार (मधुमतीं) मधु से युक्त (शाखां) शाखा या लता को रस का इच्छुक प्राणी सेवन करता है उस प्रकार (माम् इत्) मुझको ही (किल) निश्चय से (त्वं) तू (वनाः) सेवन कर। गृहपक्ष में पति का स्त्री के प्रति वचन है। मधु = स्नेह।

परि॑ त्वा परि॒तत्नु॒नेक्षुणा॑गा॒मवि॑द्विषे ।
यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ ५ ॥

भा०—हे प्रिये पत्नि ! (त्वा) तुझको (परितत्नुना) सब ओर फैलते हुए, विस्तृत (इक्षुणा) गन्ने के समान मधुर, या ईक्षण = दर्शन करने वाले नयन या इच्छाशील चित्त से तेरे सहयोग में मैं (अविद्विषे) तुझसे कभी द्वेष न करने एवं सदा प्रेम, व्यवहार के लिए ही ऐसे (परआगम्) प्राप्त होऊं और (यथा) जिस प्रकार तू (मां) मुझको (कामिनी) कामना करने हारी (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझसे (अपगाः) दूर, पृथक् (न असः) न हो ।

---

(३५) दीर्घ जीवन का उपाय ।

आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । हिरण्यं विश्वेदेव वा देवताः । १–३ जगत्यः । ४ अनुष्टुप् गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप् । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

यदा॒बध्न॑न् दाक्षाय॒णा हिर॑ण्यं श॒तानी॑काय सुमन॒स्यमा॑नाः ।
तत्ते॑ बध्ना॒म्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑य दीर्घा॒यु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥१॥
यजु० ३४ । ५२ ॥

भा०—ब्रह्मचर्यसाधना का उपदेश (दाक्षायणाः) दक्ष रूप आत्मा के आश्रय पर रहने वाले योगी लोग (सुमनस्यमानाः) शुभ संकल्प वाले होकर (शतानीकाय) सैकड़ों अनीक, बल, सामर्थ्यों और आयु के शत वर्षों तक जीने हारे देह के लिये (हिरण्यं) हितकारी और रमणीय (यत्) जिस वीर्य को (आ बध्नन्) विषयों में नष्ट न कर उसकी रक्षा करते हैं (तत्) उसको मैं आचार्य (ते) तुझ शिष्य के (आयुषे) आयु (वर्चसे) तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय) सौ वर्षों तक के लम्बे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) अपने अधीन व्रत रूप में बांधता हूँ ।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥
यजु० ३४। ५१ ॥

भा०—(एनं) वीर्य रक्षा करने ब्रह्मचारी को (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्टभाव और ज्वरादि पीड़ाएं और (पिशाचाः) मांसभोजी पुरुष और दुर्बल करने हारे रोग भी (न) नहीं (सहन्ते) दबा सकते, क्योंकि (एतत्) यह वीर्यरूप मूल (देवानां) तत्व इन्द्रियों में और विद्वानों में (प्रथमजं) सबसे पूर्व और श्रेष्ठ (ओजः) ओज, तेज है। (यः) जो ऊर्ध्वरेता पुरुष (दाक्षायणं) मुख्य प्राण में आश्रित इस (हिरण्यं) हितकारी, रमणीय पदार्थ शुक्र को (बिभर्ति) यत्नपूर्वक धारण करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (आयु) आयु, जीवन काल को (दीर्घं) बहुत लम्बा (कृणुते) कर लेता है।

"ओजो हि शरीरधारको बलहेतुरष्टमो धातुविशेषः।"

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्या/णि।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र, आत्मा (इन्द्रियाणि इव) जिस प्रकार इन्द्रियों को बल धारण करता है उसी प्रकार (अपां) वीर्य का (तेजः) सामर्थ्य, (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) ओज, (बलं) बल, (च) और (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों या प्राणों के (उत) भी (वीर्याणि) सामर्थ्यों को हम (अस्मिन्) इस ब्रह्मचारी में (धारयामः) धारण कराते हैं। यह ब्रह्मचारी (दक्षमाणः) बल, शौर्य में वृद्धि करता हुआ (तत्) उस परम (हिरण्यं) वीर्य को (बिभरत्) धारण करे।

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

भा०—(वयं) हम आचार्यगण (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (समानां) बहुत वर्षों और (मासानां) मासों और (संवत्सरस्य) पूर्ण वर्ष के (पयसा) पुष्टिकारक सामर्थ्य से और (ऋतुभिः) नाना ऋतुओं के बल से (पिपर्मि) पूर्ण करते हैं (इन्द्राग्नी) इन्द्र, परमेश्वर और अग्नि मुख्य आचार्य दोनों और (विश्वेदेवाः समस्त विद्वान् पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच रहित होकर तुझे इस उत्तम कार्य की (अनुमन्यन्ताम्) अनुमति दें।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

[पञ्चत्रिंशच्च सूक्तानि त्रिपञ्चाशत् शतं ऋचः]

अथ द्वितीयं काण्डम्

(१) परमात्मदर्शन ।

वेन ऋषिः । ब्रह्मात्मा देवता । १, २ ४ त्रिष्टुभः । ३ जगती । चतुर्ऋचं सूक्तम् ॥

वे॒नस्तत् प॑श्यत् प॒र॒मं गुहा॒ यद् य॒त्र विश्वं॒ भव॒त्येक॑रूपम् ।
इ॒दं पृश्नि॑रदुहज्जाय॑मानाः स्व॒र्विदो॑ अ॒भ्य॑नूषत व्राः ॥ १ ॥

यजु० ३२ । ८ ॥

भा०—(यत्) जो ब्रह्म (गुहा) गुहा, हृदय और समस्त ब्रह्माण्ड रूप गुहा में व्यापक, (परमं) तथा सर्वोत्कृष्ट है (तत्) उसको (वेनः) ज्ञान-ज्योतिर्मय विद्वान् योगी (पश्यत्) साक्षात् करता है । (यत्र) जिस ब्रह्म में (विश्वं) समस्त संसार (एकरूपम्) एकरूप, प्रलयकाल में एकाकार (भवति) हो जाता है, (पृश्निः) नाना वर्णों की प्रकृति ने (इदं) इस ब्रह्म का (अदुहत्) दोहन किया है । अर्थात् ब्रह्म ज्ञान के दो प्रकार

(१) १—यजुर्वेद स्वयंभु ब्रह्मऋषिः । परमात्मा देवता ।

हैं। एक तो अन्तर्ध्यान और दूसरा प्रकृति के रहस्यों का खोजना। प्रकृति के नाना रूपों में छिपे हुए ब्रह्म के ज्ञान का यहां वर्णन है। प्रकृति मानो अपने नाना रूपों तथा विषयों द्वारा ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानदुग्ध अन्वेषकों को पिला रही है। (जायमानाः) उत्पन्न होते हुए सिद्ध (व्राः) जिन्होंने उस ब्रह्म को ध्येय रूप वरण किया है, इस प्रकार प्रकृति के रहस्यों द्वारा ब्रह्म को जान कर (स्वर्विदः) प्रकाशस्वरूप उस मोक्षसुख को किये हुए हैं वे ब्रह्म की (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं।

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥२॥

यजु० ३२ । ९ ॥

भा०—(अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप ब्रह्म को (विद्वान्) जानने हारा (गन्धर्वः) वेदवाणियों का धारण करने हारा, विद्वान् (तत्) जो ब्रह्म (गुहा) हृदय गुफा, या ब्रह्माण्ड गुफा, या प्रकृति शक्ति में है जो (परमं) सबसे श्रेष्ठ (धाम) धारणशील, तेजःस्वरूप है। (अस्य) इस परमेश्वर के (त्रीणि पदानि) तीन स्वरूप तीन चरण, (गुहा) हृदय गुफा में (निहिता) रक्खे हुए हैं। (यः) जो विद्वान् (तानि) उक्त ब्रह्म के तीन स्वरूपों को जानता है (सः) वह (पितुः) पालक का भी (पिता) पालक (असत्) हो जाता है। संसार में नाना प्रकार के पालक हैं। अन्न द्वारा, प्राकृतिक कठिनाइयों से रक्षा द्वारा, प्राकृतिक ज्ञान के देने द्वारा इत्यादि नाना प्रकार से प्रजा के सभी रक्षक पालक या पिता हैं, परन्तु वह पिता का भी पिता महापालक है जो स्वयं अन्तर्ध्यान से अध्यात्मिक रहस्यों को जानकर लोगों में उन तत्वों का उपदेश करता है। अध्यात्मिक तत्व ही प्रजा के अधिक पालक होते हैं, अपेक्षया प्राकृतिक तत्वज्ञों के।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ८२ । ३ । यजु० ३२ । १०

भा०—(सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (पिता) पालक (जनिता) और उत्पादक है (सः उत) और वह ही हमारा (बन्धुः) सबको प्रेम में बांधने वाला सहायक है, वह (विश्वा) समस्त (धामानि) धारण सामर्थ्यों, स्थानों, नामों और मूलकारणों को और (भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने हारे लोकों, पदार्थों को (वेद) जानता है। (यः) जो स्वयं (देवानां) समस्त देवों, दिव्यगुण वाले पदार्थों के (नामधः) नामों को स्वयं सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण धारण करने हारा (एक एव) एक, अद्वितीय है। (संप्रश्नं) गुरु के समीप शिष्य रूप से प्रश्न कर उपदेश से जानने योग्य (तं) उस परमात्मा को ही (सर्वा) समस्त (भुवना) लोक और समस्त भूतवर्ग (यन्ति) प्राप्त होते हैं उसी में प्रलयकाल में लीन होते हैं।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः॥ ४॥

यजु० ३२। ११, १२ इत्यनयोर्व्यत्यस्ता पादाः॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक का (परि) परित्याग कर मैं (सद्यः) शीघ्र ही (आयम्) इस ब्रह्म की ओर आता हूँ और (ऋतस्य) सत्य नियमों के (प्रथमजाम्) प्रथम उत्पादक की (उपातिष्ठे) उपासना करता हूँ। (वक्तरि) वक्ता में (वाचम् इव) वाणी जैसे स्थित रहती है वैसे ही यह ब्रह्म (भुवनेष्ठाः) सब भुवनों में स्थित है, (एषः) यह ब्रह्म (धास्युः) जगतकारण की इच्छा से स्थित है, (ननु) निश्चय से (एषः) यह ब्रह्म (अग्निः) 'अग्नि' नाम वाला है।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त॥ ५॥

यजु० ३२। ११। १२। १०॥

भा०—(विश्वा भुवनानि) सब भुवनों का (परि) परित्याग कर

(आयम्) मैं इस ब्रह्म की ओर आया हूँ ताकि (विततम्) सर्वत्र विस्तृत (ऋतस्य) सत्य नियमों के (तन्तुम्) तांते को (दृशे) देख पाऊं (समाने) समग्र संसार की सामान्य (योनौ) आश्रयरूप (यत्र) जिसमें (अमृतम्) मोक्ष के आनन्द को (आनशानाः) भोगते हुए (देवाः) दिव्य गुणों वाले योगीजन (ऐरयन्त) विचरते हैं। अर्थात्—द्युलोक और पृथिवी लोक या समग्र संसार का सुख यदि एक ओर हो तथा ब्रह्म प्राप्ति का सुख दूसरी ओर, तब भी मनुष्य प्राकृतिक सुख को इच्छापूर्वक लेकर भी ब्रह्म-प्राप्ति के सुख को न त्यागे।

---

(२) गन्धर्व, परमात्मा, उसकी शक्तियां।

मातृनामा ऋषिः। गन्धर्वाप्सरसो देवताः। १ विराड जगती। २, ३ त्रिष्टुभौ।
४ त्रिपदा विराड्नाम गायत्री। ५ भुरिग अनुष्टुप्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑ वि॒क्ष्वी॒ड्यः॑।
तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म्॥१॥

भा०—(दिव्यः) सर्वत्र रमणशील, प्रकाशस्वरूप, विद्वानों और ध्यान योगियों के रमण करने योग्य (गन्धर्वः) समस्त गतिमान् पदार्थ, सूर्य पृथिवी आदि पिण्डों एवं वेदवाणी को धारण करने हारा (यः) जो (भुवनस्य) समस्त जगत् का (पतिः) पालक है वह (एकः) एक (एव) ही (विक्षु) वह समस्त प्रजाओं में (ईड्यः नमस्यः) स्तुति और नमस्कार करने योग्य है। हे (दिव्य देव) विद्वानों के योग्य, सर्वप्रकाशक सर्वदाता, परमेश्वर (तं त्वा) उस तुझको (ब्रह्मणा) वेदमय ज्ञान से (यौमि) प्राप्त होता हूँ और (दिवि) ज्ञानमय मोक्षरूप परमधाम में (ते) तेरा ही (सधस्थम्) सत्संग (अस्तु) मुझे प्राप्त हो। भगवन् (ते नमः) तुझे मेरा नमस्कार है।

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥२॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (भुवनस्य) समस्त संसार का (पतिः) पालक है वह (एक एव) एक ही है । वह (गन्धर्वः) वेदवाणी का पालक (दिवि) मोक्ष में (स्पृष्टः) सदा से प्राप्त है, (यजतः) वह स्तुति, पूजा करने योग्य (सूर्यत्वग्) सूर्य का भी प्रकाशक एवं सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । वह (दैव्यस्य) दिव्य पदार्थों के भी (हरसः) तेज को (अवयाता) मात करता है। वही (सुशेवाः) उत्तम सुख सम्पन्न, आनन्दघन (नमस्य) वन्दनीय परमेश्वर हमें (मृडात्) सुखी करे ।

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३॥

भा०—(अप्सरासु) समस्त लोकों में फैलने वाली शक्तियों में (अपि) भी (गन्धर्वः) गन्धर्व गति देने वाली शक्ति का धारक, उनका स्वामी (आसीत्) है । वह (अनवद्याभिः) अनिन्दनीय, निर्दोष, नियम व्यवस्था से सम्पन्न (आभिः) इन जगत्-नियामक शक्तियों के (सम्, जग्मे, उँ) साथ मिलकर तन्मय हो रहा है । (समुद्रे) जो परमात्मा इन सब लोकों का उद्भवस्थान है उस समुद्ररूप परमात्मा में (आसां) इनका (सदनं) आश्रयस्थान भी है । (मे) मुझको वेद द्वारा ऋषिगण इसी प्रकार (आहुः) उपदेश करते हैं कि (यतः) जिससे ये शक्तियां (आयन्ति च) प्रकट होती हैं (च) और (परायन्ति) वे पुनः उसी में लीन हो जाती हैं । जैसे उपनिषद् में लिखा है—"य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। एक जलवान् अपनी शक्तियों के समस्त लोकों को वश किये हुए है। गन्धर्वों और अप्सराओं का विवेक यजुर्वेद (अ० १८ । मं० ३८-४३) में किया है।

गन्धर्व	अप्सराएं
ऋताषाड् ऋतधामा अग्निः	मुदः, ओषधयः
संहिता विश्वसामा सूर्यः	आयुः, मरीचयः
सुषुम्णः सूर्यरश्मिः चन्द्रमाः	भेकुरयः, नक्षत्राणि
इषिरो विश्वव्यचाः वातः	ऊर्जः, आपः
भुज्युः सुपर्णः यज्ञः	स्तावाः, दक्षिणाः
प्रजापतिः विश्वकर्मा मनः	एष्टयः, ऋक्सामानि

साधारणतः 'गन्धर्व पुरुष और अप्सरा स्त्री' में भी यह मन्त्र संगत है॥

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवीः) दिव्यगुण युक्त ! हे (अभ्रिये) अभ्र-मेघ में निवास करने हारी एवं हे (विद्युत्) निरन्तर प्रकाशमान सूर्यप्रभे ! हे (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में विद्यमान शक्तियो ! आप (याः) जो (विश्वावसुं) समस्त लोकों में व्यापक (गन्धर्व) ज्ञान और सूर्यों के धारक परमेश्वर के साथ (सचध्वे) संयुक्त हो (ताभ्यः वः) उन आपके प्रति (नमः इत् कृणोमि) आदर भाव से झुकता हूँ।

या क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

भा०—(याः) जो अप्सरायें परमात्मा की व्यवस्थायें (क्लन्दाः) संसार में जन्म की देने वाली हैं (तमिषीचयः) अज्ञानरात्रि में सात्विक वृत्तियों की आच्छादिकाएं हैं, (अक्षकामाः) जो इन्द्रियों की कामना रूप हैं, (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) परमात्म पालित (अप्सराभ्यः) व्यवस्थाओं के प्रति (नमः) आदरभाव (अकरम्) करता हूँ।

---

(३) आस्राव रोग का उपचार।

अंगिरा ऋषिः । भैषज्यायुर्धन्वन्तरिर्देवता । १—५ अनुष्टुभः । ६ त्रिपात् । स्वराट् उपरिष्टान्महाबृहती । षड्चं सूक्तम् ॥

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

भा०—(अवत्कम्) रोगों से रक्षा करने वाला (अदः) वह जल (यद्) जो कि (पर्वतात् अधि) पर्वत से (अवधावति) नीचे की ओर दौड़ता है (तत्) उसकी तरह शान्तिदायक जो वह ब्रह्म है उसे (ते) तेरे लिये (भेषजम्) ओषधरूप (कृणोमि) करता हूँ। (यथा) क्योंकि (सुभेषजम्) उत्तम औषध रूप (अससि) यह ब्रह्म है।

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

भा०—(अङ्ग) हे प्रिय ब्रह्म ! (आत्) और (कुवित्) बहुत ही (अङ्ग) हे प्रिय ब्रह्म (शतम्) तथा सैकड़ों (या) जो अन्य (भेषजानि) औषध (ते) तेरे अधीन हैं (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू (अनास्रावम्) आस्राव अर्थात् द्रव बहने के रोग को दूर करने वाली (अरोगणम्) तथा रोग को सर्वथा हटा देने वाली (उत्तमम्) उत्तम ओषध है।

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

२—वीर्यस्राव काम का परिणाम है। विषय काम के उत्तेजक हैं। वीर्यस्राव का रोग तभी शान्त हो सकता है जब कि मनुष्य विषयों से मन को हटाकर ब्रह्म की ओर लगाये। वीर्यस्राव के रोकने की सम्भवतः सैकड़ों औषध हों, परन्तु जब तक मन विषयों में लिप्त है ये औषध कार्य साधक नहीं होतीं। विषयों से हटकर मन जब ब्रह्म की शरण चला जाता है तब काम के शिथिल

भा०—(असुराः) प्राणशक्ति वाले (नीचैः) नम्र होकर (अरुस्राणम्) मर्मभूत को पकाने वाली (इदम् महत्) इस महान् ब्रह्मौषध को (खनन्ति) बड़े परिश्रम से प्राप्त करते हैं (तद्) वह ब्रह्म (आस्रावस्य) धातु द्रव बहने की (भेषजम्) औषध है (तत्) वह निश्चय से (रोगम्) रोग का (अनीनशत्) नाश कर देती है ।

उ॒प॒जीका॒ उद्भ॑रन्ति समु॒द्राद॑धि भेष॒जम् ।

तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं तदु॒ रोग॑मशीशमत् ॥ ४ ॥

भा०—(उपजीकाः) ब्रह्म के आश्रय में जीने वाले (समुद्रात् अधि) शक्ति के समुद्र रूप ब्रह्म से (भेषजम्) औषध (उद्भरन्ति) प्राप्त करते हैं (तत् आस्रावस्य भेषजम्) वह ब्रह्म वीर्य-स्राव का औषध है, (तत् उ रोगम् अशीशमत्) वह निश्चय से इस रोग का नाश कर देता है ।

अ॒रु॒स्रा॒णमि॒दं म॒हत् पृ॑थि॒व्या अध्युद्भृ॑तम् ।

तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं तदु॒ रोग॑मनीनशत् ॥ ५ ॥

भा०—(अरुस्राणम्) मर्मभूत वस्तु अर्थात् वीर्य के पकाने वाले (इदं) इस (महत्) महान् ब्रह्म को (पृथिव्या अधि) पार्थिव शरीर पार्थिव घटनाओं से (उद्धृतम्) प्रकट किया है, (तत्) वह ब्रह्म (आस्रावस्य) वीर्यस्राव का (भेषजम्) औषध है, (तत्) वह ब्रह्म ही (रोगम्) रोग का (अनीनशत्) नाश करता है ।

शं नो॑ भवन्त्व॒प ओष॑धयः शि॒वाः । इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॒ अप॑ हन्तु र॒क्षस॑ आ॒राद् विसृ॑ष्टा इष॑वः पतन्तु र॒क्षसा॑म् ॥ ६ ॥

भा०—(अपः ओषधयः शिवाः) जल की तरह शान्त तथा कल्याणकर ब्रह्मरूप औषध (नः) हमें (शं भवन्तु) शान्तिदायक हो । (इन्द्रस्य)

हो जाने पर वीर्यस्राव रुक जाता है अतः इसकी ब्रह्म महौषध है । वीर्य भी मर्मभूत वस्तु है । इस पर शरीर-यात्रा निर्भर है । इसका पकना और पकने से पूर्व न गिरना तभी सम्भव है जब ब्रह्मौषध का आश्रय लिया जाय ।

आत्मा का (वज्रः) आत्मिक बलरूप वज्र (रक्षसः) राक्षस भावों का (अपहन्तु) हनन करे (रक्षसाम्) इन राक्षस भावों द्वारा (विसृष्टाः) छोड़े गये (इषवः) बाण (आरात्) हमसे दूर (पतन्ताम्) गिरें।

---

(४) जङ्गिड़ और शण दो प्रकार की सेनाएं।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्रमा जङ्गिडो वा देवता। जङ्गिडमणिस्तुतिः। १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः। २–६ अनुष्टुभः। षडृचं सूक्तम्॥

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

भा०—हम (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये और (बृहते) बहुत बड़ी (रणाय) आनन्द प्राप्ति या जीवन-संग्राम में विजय के लिये (सदैव) सदा ही (दक्षमाणाः) प्रयत्न और बल का कार्य करते हुए (अरिष्यन्तः) तथा नाश को प्राप्त न होते हुए (विष्कन्धदूषणं) शरीर के रस के सूखने को हटाने वाले (जङ्गिडं) सन्तानोत्पादक अंश को अपने भीतर रखने वाले (मणिं) वीर्य रूप मणि को (बिभृमः) उत्तम रूप से सुरक्षित रक्खें।

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

भा०—(जङ्गिडः) सन्तानोत्पादक अंश को भीतर रखने वाला वीर्य (मणिः) वास्तव में उत्तम धन है, (सहस्रवीर्यः) इससे अक्षय्य वीर्य प्राप्त होता है, (नः) यह हमारी (विश्वतः परि पातु) सब प्रकार से पूर्ण रक्षा करता है, (जम्भात्) नाश से, (विशरात्) विविध आयुध से (विष्कन्धात्) रक्त दोष से, (अभिशोचनात्) तथा हाथ पैर आदि के जलन से बचाता है।

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्त्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) ब्रह्मचर्य से रक्षित वीर्य (विष्कन्धम्) रक्त-शोषण को (सहते) दबा देता है, (अयम्) यह (अत्रिणः) खा जाने वाले काम क्रोध आदि शत्रुओं का (बाधते) नाश करता है, (जङ्गिडः) ब्रह्मचर्य रूप (विश्वभेषजः) महौषध (नः) हमें (अंहसः) हत्या या पापवृत्तियों से (पातु) बचाए।

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

भा०—(देवैः) माता, पिता तथा आचार्य आदि देवों द्वारा (दत्तेन) दिये हुए (मयोभुवा) और कल्याणकारी (जङ्गिडेन) ब्रह्मचर्यरूपी (मणिना) उत्तम धन द्वारा (विष्कन्धम्) रस या रक्त के शोषण को तथा (सर्वा) सब (रक्षांसि) राक्षसी भावों को (सहामहे) हम पराभूत करते हैं, (व्यायामे) और व्यायाम के आधार पर रक्त शोषण रोग तथा राक्षसी भावों को दूर करते हैं।

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—(शणः) अन्न तथा (जङ्गिडः) ब्रह्मचर्य (मा) मेरी (विष्कन्धात्) रक्त-शोषण से (अभिरक्षताम्) पूर्ण रक्षा करें। (अन्यः) एक अर्थात् ब्रह्मचर्य का भाव तो (अरण्यात्) जंगल अर्थात् जंगल में स्थित ब्रह्मचर्याश्रम व वानप्रस्थ द्वारा (आभृतः) प्राप्त किया है, (अन्यः) और दूसरा अर्थात् अन्न (कृष्याः) कृषि से तथा (रसेभ्यः) नाना प्रकार के रसों से प्राप्त किया है। [ब्रह्मचर्य तथा सात्विक अन्न ये दो उपाय हैं जिन द्वारा रक्त शोषण रोग दूर किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य के भाव की रक्षा वनों में ही हो सकती है न कि नगरों में जहां चारों ओर प्रलोभन ही प्रलोभन होता है।]

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

भा०—(अयं मणिः) यह ब्रह्मचर्य रूप उत्तम धन (कृत्यादूषिः) राक्षसी भावों और विनाशक सेनाओं का नाश करने वाला है, (अथो) और (अरातिदूषिः) अदान अर्थात् कंजूसी आदि के भावों को नाश करने वाला है, (अथो) और यह भाव (सहस्वान्) साहस का उत्पादक है, (जङ्गिडः) वीर्य रक्षा का भाव (नः) हमारी (आयूंषि) आयु को (प्रतारिषत्) बढ़ाए।

---

(५) राजा को उपदेश।

भृगुराथर्वण ऋषिः। इन्द्रो देवता। आद्यया आह्वानमपराभिश्च स्तुतिः। १, २, ५-७ त्रिष्टुभः। ३ विराट् पथ्याबृहती। ४ जगती पुरो विराट्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥ १॥

साम० उ०। ३। १। २२। १॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन्! (प्र वह) उत्कृष्ट राज्य को अपने सामर्थ्यवान् कन्धों पर उठा। हे (शूर) शत्रु के हिंसक वीर! (हरिभ्याम्) युद्धभूमि में रथ को ले जाने वाले घोड़ों या दायें और बायें चलने वाले सेनापक्षों के साथ (आ याहि) शत्रु पर आक्रमण के निमित्त आ। (मतेः) मति, विचार द्वारा (सुतस्य) उत्तम रूप से निष्पादित, सुविचारित (मधोः) सारभूत ज्ञान को (पिब) पान कर, ग्रहण कर और यह सोमरूप ज्ञान (चकानः) पूर्वरूप से तृप्तिकारी (मदाय) आनन्द, हर्ष प्राप्त करने के लिये (चारुः) श्रेष्ठ है। अथवा—हे इन्द्र तू इस प्रकार (मदाय) प्रजाओं के हर्ष के लिये (चकानः) अति सन्तुष्ट होकर (चारुः) अति हृदयहारी होता है।

इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः॥ २॥

साम० उ०। ३। १। २२। २॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् (नव्यः न) नवागत अतिथि के समान (जठरं) उदर के समान कोश को (पृणस्व) पूर्ण करो और (दिवः) सूर्य जिस प्रकार (मधोः न) पृथिवी से अपनी रश्मियों द्वारा जल को लेकर अन्तरिक्ष रूप कोश को भर लेता है। उसी प्रकार (अस्य) इस (स्वः न) स्वर्ग के समान (सुतस्य) पुत्र के समान पालन करने योग्य, स्वयं सुरक्षित राष्ट्र के (मधोः) संग्रहीत कर से (पृणस्व) अपने को पूर्ण कर। ऐसा करने से (त्वा) तेरे लिये (मदाः) आनन्द तृप्ति और कीर्ति की जनक (सुवाचा) उत्तम वाणियां, लोकप्रशस्तियां (अगुः) प्राप्त होंगी।

मदाः—मद तृप्तियोगे (चुरादिः), मदी हर्षग्लेपनयोः (भ्वादिः), मदी हर्षे (दिवादिः), मद स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्येभ्यो धातुभ्यः पचाद्यच् मधु—धमतीर्गतिकर्मा अन्तर्णीतण्यर्थो निःकालेन दृष्टः। निर्धम्यते निःकाल्यते कररूपेण यद् धनं तन्मधु। मधु मेघोदरवर्त्तिसलिलम्॥ तत्र पुनर्वैद्युतात्मा दह्यमानं सरःस्वर्णेन तद् गतेनेव वायुना ध्यायमानं धमति। माद्यन्ति वा तेन तेन प्राणिनः। मधुवत्स्वादुत्वाद्वा इति स्कन्दस्वामिनिर्वचनम्। मनेर्वा औणादिरुः, नस्य च धः। मननीयं मधु, इति भट्टभास्करमिश्राः।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥ ३॥

साम० उ० । ३ । १ । २२ । ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा ऐश्वर्यवान् (तुराषाट्) शीघ्र ही शत्रु को दबा लेने हारा, (मित्रः) प्रजा का परम मित्र है। (यः) जो (यतिः न) यम-नियम के पालन करने हारा योगी के समान जितेन्द्रिय होकर (वृत्रं) नियम में बाधक अज्ञान और काम क्रोध आदि विघ्न के समान (वृत्रं) राष्ट्र को घेर लेने वाले शत्रु को (जघान) नाश करता है और (भृगुः न) जिस प्रकार सूर्य को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार जो (वलं) शत्रु

के बल सेनाव्यूह को (बिभेद) तोड़ फोड़ डालता है और जो (सोमस्य) ऐश्वर्य के (मदे) प्राप्ति होने पर (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) दबा लेता है वही राजा अपने राष्ट्र का (मित्रः) मित्र है ।

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वा) तुझे (सुतासः) समस्त राष्ट्र के उत्पन्न पदार्थ (आ विशन्तु) प्राप्त हों । (कुक्षी) मनुष्य भोजन से अपनी कोख भर लेता है, उसी प्रकार तू दोनों कोश = धान्यकोश और द्रव्यमय कोश (पृणस्व) पूर्ण कर ले और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि द्वारा हे (शक्र) शक्तिशाली राजन् ! तू (विड्ढि) प्रजा के सब कार्यों को जान और (नः) हमारे पास (आ, इहि) आ, हम तक पहुँच । तू (हवं) हम प्रजाओं की, पुकार को (श्रुधि) श्रवण कर, (मे) मेरी, मुझ प्रजा के प्रतिनिधि की (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) प्रेम से सेवन कर । हे इन्द्र राजन् ! (स्वयुग्भिः) अपने सहयोगी सेनापति और मन्त्रियों सहित तू (महे) बड़े भारी (रणाय) आनन्दजनक राष्ट्रशासन और युद्धोद्योग के लिये (मत्स्व) सदा तैयार रह ।

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० १ । ३२ । १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील राजा के (वीर्याणि) बलयुक्त कार्यों का मैं (प्रवोचं नु) उपदेश करता हूँ, (यानि) जिन (प्रथमानि) श्रेष्ठ, कीर्ति-जनक कामों को (वज्री) वज्र, राजदण्ड को धारण करने वाला राजा (चकार) अवश्य करे । विद्युत् मेघ को ताड़ित करके जलों को बहाती है और पर्वतों के चट्टान तोड़ फोड़ देती है उसी प्रकार राजा (अहिम्) प्रजा के घातक का (अहन्) नाश करे और (अपः) नाना जलधारा या

नलों को (अनु ततर्द) काट कर राष्ट्र में बहावे और (पर्वतानां) पर्वतों के (वक्षणा) वक्षस्थलों को (अभिनत्) काट २ कर साफ करे जिससे प्रजाएं सुख से बसें और वृद्धि करें। प्रजा के घातकों का नाश, कृषि के लिये जलविभाग और निवास के लिये पर्वतादि का सम करना ये बड़े २ कार्य राजा को प्रथम हाथ में लेने चाहिएं।

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष ।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ ६ ॥
ऋ० १।३२।२॥

भा०—(पर्वते) पर्वत पर (शिश्रियाणं) आश्रय लिये (अहिं) मेघ को वायु वेग से (अहन्) आघात करता है और (त्वष्टा) सूर्य (अस्मै) इस इन्द्र वायु के (स्वर्यं) भयंकर शब्द करने वाले (वज्रं) आघात के साधन, विद्युत् को (ततक्ष) तीक्ष्ण कर देता है उसी प्रकार राजा (पर्वते) पर्व २ खण्ड २ करके जुड़े हुए राष्ट्र में (शिश्रियाणं) आश्रय किये हुए (अहिं) प्रजा के घातक को (अहन्) विनाश करे और (त्वष्टा) शिल्पी लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (स्वर्यं) गर्जन और आघातकारी, सुखकारी शासन को स्थापन करने में हितकारी (वज्रं) शस्त्र, खड्ग और तोप आदि को (ततक्ष) गढ़ कर तैयार करें और (वाश्राः) हंभारती हुई (धेनवः इव) गौवें राष्ट्र में दूध की धाराएं बहाती हों उसी प्रकार (आपः) जलधाराएं नदियां, नहरें भी (स्यन्दमानाः) बहती हुई (अञ्जः) बेरोक टोक (समुद्र) समुद्र को (अव जग्मुः) जावें, जिनसे कृषि कार्य और समुद्रव्यापार सुख से हों।

वृ॒षा॒यमा॑णो अवृणीत॒ सोमं॒ त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सु॒तस्य॑ ।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम् ॥ ७ ॥
ऋ० १।३२

भा०—सूर्य (वृषायमाणः) वर्षण करने वाले मेघ के तुल्य (सोमं अवृणीत) सोम-जल को उठा लेता है और (सुतस्य) बाष्परूप हुए उसको

(त्रिकद्रुकेषु) ज्योति, गौ, किरण और आयु, जीवन, वायु इन तीनों रूपों में (अपिबत्) पान कर लेता है, उसी प्रकार राजा (वृषायमाणः) प्रजाओं में सुख संपदाओं का वर्षण करने हारे मेघ, पर्जन्य का व्रत धारण करके (सोमं) राष्ट्रीय ऐश्वर्य को (अवृणीत) स्वीकार करे और उसमें से (सुतस्य) प्राप्त हुए कर को (त्रिकद्रुकेषु) ज्योति = अपना तेज, सेना, पराक्रम, गौ = पशु-वृद्धि और आयु = प्रजा के स्वास्थ्य और जीवनोपयोगी कार्य तीनों में (अपिबत्) लगा दे और (मघवा) विद्युत् रूप इन्द्र (वज्रं आदत्त) वज्र को अपने भीतर धारण करता और (अहीनां) जलों के (प्रथमजां) प्रथम उत्पन्न हुए वाष्परूप मेघ को (अहन्) आघात करता है और वर्षा कर देता है उसी प्रकार (मघवा) समस्त धनों का स्वामी राष्ट्रपति (सायकं) शत्रु का अन्त कर देने वाले (वज्रं) शस्त्र को (आदत्त) ग्रहण कर और (अहीनां) प्रजा के घातक लोगों के (प्रथमजां) सबसे प्रथम प्रकट होने वाले, उनके मुख्य २ पुरुष का (अहन्) विनाश करे।

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

---

(६) विद्वान् राजा का कर्तव्य।

सम्पत्कामः शौनक ऋषिः। अग्निर्देवता। अग्निस्तुतिः। १-३ त्रिष्टुभः। ४ चतुष्पदा आर्षी पंक्तिः। ५ विराट्। प्रस्तारपंक्तिः। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

यजु० अ० २७ । १ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन्! राजन्! (समाः) चान्द्रवर्ष (ऋतवः) ऋतुएं और (संवत्सराः) संवत्सर या सौर वर्ष (ऋषयः) मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण और (यानि) जो (सत्या) सत्य ज्ञानमय वेदमन्त्र हैं ये भी (त्वा) तुझको

---

[६] १-(च०) 'आभाहि प्रदिशः पृथिव्याः' इति तै० सं०।

(बर्धयन्तु) बढ़ावें । तू (दिव्येन) दिव्य, ज्ञानमय, (रोचनेन) सबको प्रकाशित करने हारे तेज से (दीदिहि) प्रकाशित हो और सूर्य के समान (विश्वाः) समस्त (चतस्रः) चारों दिशाएं और (प्रदिशः) चारों उपदिशाएं भी (आभाहि) प्रकाशित कर ।

सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ वर्धये॒ममु॒च्च॑ तिष्ठ म॒हते॒ सौभ॑गाय ।
मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ अग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शसः॑ सन्तु॒ मान्ये ॥२॥
यजु० अ० २७ । २ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! राजन् (च) और (सम् इध्यस्व) हमारे हृदय में उत्तम रीति से प्रकाशित हो और (इमं च) इस जीव को (प्रवर्धय) खूब शक्ति बल विज्ञान से बढ़ा, उन्नत कर और (महते) बड़े भारी (सौभगाय) सौभाग्य समृद्धि के लिए (उत्तिष्ठ च) सबसे उन्नत होकर विराजमान हो, (ते) तेरे (उपसत्तारः) समीप पहुँचने हारे योगी, मुमुक्षु जन (मा रिषन्) विनाश और क्लेश को प्राप्त न हों । (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक ! (ब्रह्माणः) ब्रह्म = वेद के जानने हारे विद्वान् (ते) तेरे (यशसः) यश.स्वरूप कीर्ति से सम्पन्न (सन्तु) हों । (मा अन्ये) और दूसरे, अविद्वान्, बिलासी लोग यश को प्राप्त न हों ।

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः ।
स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥
यजु० अ० २७ । ३ ॥

भा०—परमेश्वर और राजा इनका समान रूप से वर्णन । हे (अग्ने) परमात्मन् ! राजन् ! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) ब्रह्म के ज्ञाता, ब्रह्मचारी, विद्वान् ब्राह्मगण (त्वा) तुझको (वृणते) अपना स्वामी, राष्ट्रपति बरण करते हैं । हे अग्ने ! सबके आगे चलने हारे नेता, ज्ञानवान् ! (नः) हमारे (संवरणे) रक्षाकार्य में तू (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो और हे (अग्ने) तेजस्विन् ! तू (सपत्नहा) शत्रुओं और भीतरी शत्रु-काम क्रोध

आदि का विनाशक और (अभिमातिजिद्) अभिमानी, उद्धत, उद्दण्ड पुरुषों को विजय करने हारा (भव) हो और (स्वे) अपने (गये) प्राण, धन, गृह और राष्ट्र में (अप्रयुच्छन्) बिना प्रमाद किये (जागृहि) जाग, सावधान रह ।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥

यजु० अ० २७ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर और राजन् ! आप (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत से त्राण करने वाले सामर्थ्य से, या सैन्य-बल से (सं रभस्व) विजय आरम्भ कर और हे (अग्ने) परमेश्वर और राजन् ! (मित्रेण) मित्र, भक्त उपासक या मित्र राष्ट्र के साथ मिलकर (मित्रधाः) मित्र, उपासकों या मित्रशक्तियों, मित्र राजाओं को धारण पोषण करता हुआ (यतस्व) प्रजा के उपकार का या युद्ध विजय का यत्न कर और (सजातानां) तेरे एक समान बल के (राज्ञाम्) प्रकाशमान आत्माओं या राजाओं के (मध्यमेष्ठः) भीतर स्थित या मध्यस्थ होकर रहता हुआ (विहव्यः) बिशेषरूप से आत्मा समर्पणीय, या विशेष युद्ध करने में अन्न, बल सम्पन्न होकर (इह) इस संसार में (दीदिहि) विराजमान रह ।

अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर और राजन् ! (त्वम्) तू (निहः) घातक कामादि या प्रजानाशक शत्रु के भटों को (अतितर) विजय कर और (सृधः[1]) देह या राष्ट्र का धन और बल का शोषण करने और कुत्सित आचरण वाले कामादि या लोगों को भी (अतितर) वश कर और (अचित्तीः) आत्मिक अज्ञान या प्रजास्थ अज्ञान का भी (अतितर)

१. स्रेधतिः कुत्सितकर्मा इति उवटः ।

नाश कर, (द्विषः अति) द्वेष आदि कुत्सित भावों या प्रजा में, पारस्परिक द्वेषभाव को भी वश कर। हे अग्ने! परमेश्वर और राजन्! तू (विश्वा) समस्त (दुरिता) दुष्ट आचरणों को (अति तर) नष्ट कर। (अथ) और (अस्मभ्यं) हमें (सहवीरं) वीरपुत्रों सहित और वीरपुरुषों सहित (रयिं) आत्मिक या प्राकृतिक धन लक्ष्मी (दाः) दे।

---

(७) सहनशीलता का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। वनस्पतिर्देवता, दूर्वास्तुतिः। १ भुरिक्। २, ३ अनुष्टुभौ। ४ विराडुपरिष्टाद् बृहती। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि॥ १॥

भा०—(अघद्विष्टा) पाप से प्रेम न करने हारी, पापी लोगों का विरोध करने वाली (देवजाता) विद्वानों से उत्पन्न होने वाली (शपथयोपनी) निन्दाजनक बचनों का मूल नाश करने वाली (वीरुत्) विरुद्ध या विपरीत भावना (मलम्) मल को जिस प्रकार (आपः इव) जलधाराएं दूर कर देती हैं उस प्रकार (मत्) मुझसे (सर्वान् शपथान्) सब प्रकार के निन्दावचनों को (प्राणैक्षीत्) सर्वदा नष्ट कर दे। 'वीरुत्' मानसिक विरुद्ध भावना, प्रतीप-भावना, विपरीत भावना, योगशास्त्र के शब्दों में प्रतिपक्ष-भावना से अपने भीतर बैठी गाली देने की बुरी आदत को दूर करना चाहिये।

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥ २॥

भा०—(यः) जो (च) भी (सापत्नः) द्वेष करने हारे पुरुषों के हमारे प्रति (शपथः) निन्दा वचन हैं और (जाम्याः) स्त्रियों भगिनियों और समाजबन्धुओं के (यः च) भी जो (शपथः) निन्दावचन, गाली आदि हों,

(मन्युतः) क्रोध के कारण (ब्रह्मा) वेद का जानने हारा विद्वान् भी (यत्) जो कुछ हमें (शपात्) बुरा भला कहे (तत्) वह (सर्वं) सब कुछ (नः) हमारे (अधः पदम्) चरण के नीचे कुचल सा जाय, हम पर उसका प्रभाव न रहे, हम उसकी उपेक्षा करें, उसे सहें।

दि॒वो मूल॒मव॑ततं पृथि॒व्या अध्युत्त॑तम्।
तेन॑ स॒हस्र॑काण्डेन॒ परि॑ णः पाहि वि॒श्वतः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(दिवः) जिस प्रकार सूर्य का (मूलम्) किरणसमूह जड़ों के समान नीचे आकर (पृथिव्या अधि उत् ततम्) पृथिवी के ऊपर और अन्तरिक्ष में फैलता है उसी प्रकार (दिवः) ज्ञानमय प्रकाश का (मूलम्) आदि मूल वेदज्ञान (दिवः) उस प्रकाशमय परमात्मा से (अवततं) प्राप्त हुआ है और (पृथिव्या अधि) पृथिवी पर (उत् ततम्) उत्कृष्टरूप में सर्वत्र फैला है। हे परमात्मन्! (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों काण्डों से सम्पन्न ईश्वरीय ज्ञान से (नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से (परि पाहि) पूर्ण रूप से पालन कर।

परि॒ मां परि॑ मे प्र॒जां परि॑ णः पाहि यद्धन॑म्।
अरा॑तिर्नो मा ता॑री॒न्मा न॑स्तारिषुर॒भिमा॑तयः ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (मां) मेरी (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा करो, (नः) हमारी (प्रजां) प्रजा को (परिपाहि) परिपालन करो और (यत्) जो (नः) हमारा (धनं) धन है उसे भी (परिपाहि) परिपालन कर। (नः) हमें (अरातिः) अदानी, कंजूस शत्रुजन (मा तारीत्) वश में न करें और (अभिमातयः) अभिमानी गर्वी लोग भी (नः) हमें (मा तारिषुः) वश में न करें।

श॒प्तार॑मेतु श॒पथो॒ यः सु॒हार्त् तेन॑ नः स॒ह।
च॒क्षुर्म॑न्त्रस्य दु॒र्हार्दः॑ पृ॒ष्टीरपि॑ शृणीमसि ॥ ५ ॥

भा०—(शपथः) निन्दाजनक गाली आदि वचन (शप्तारं) निन्दा करने वाले पुरुष के पास ही (एतु) रहे। (यः) और जो (सुहार्त्)

हमारे प्रति उत्तम हृदय वाला, मित्रभाव से है (तेन सह) उसके साथ (नः) हमारा भी मैत्रीभाव है और हम (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंखों के इशारों से गुप्त २ सलाहें करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष की (पृष्टीः) स्पर्शकारी, मर्मवेधक करतूतों को उसकी पसलियों के समान (श्रृणीमसि) विनाश करें।

---

(८) आत्मज्ञान ।

भृग्वंगिरा ऋषिः । यक्ष्मनाशनो वनस्पतिर्देवता । मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः ।
१, २, ५ अनुष्टुभौ । ३ पथ्यापंक्तिः । ४ विराट् । पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

उद॑गातां भग॑वती वि॒चृतौ॒ नाम॒ तार॑के ।
वि क्षे॑त्रि॒यस्य॑ मुञ्चतामध॒मं पाश॑मुत्त॒मम् ॥ १ ॥

भा०—शक्तिसम्पन्न (विचृतौ) विविध रोगों के विनाशक (तारके) तराने वाले प्राण और अपान जब (उद् अगातां) उर्ध्व गति करते हैं तब (क्षेत्रियस्य) क्षेत्र = वर्तमान देह में रहने हारे आत्मा के (अधमं) मनुष्य-योनि की अपेक्षा नीच तिर्यक् आदि योनि में ले जाने वाले (पाशं) कर्मजाल, पाप, कर्म्मबन्धन को और (उत्तमं पाशं) पुण्यकर्मों के फलस्वरूप देव लोकादि शुभ कर्म-बन्धन को (वि मुंचतां) तोड़ डालते हैं। देवयान और पितृयान नामक दुःखनाश 'तारक् विचृत्' दो सृति या दो पन्था हैं, वे दोनों मार्ग हमें तिर्यग्-योनि और उत्तम देवयोनियों के पाशों से मुक्त करावें। अथवा अविद्या और विद्या दो तारका हैं जिनसे आत्मा अधमपाश अर्थात् अधर्म, दुष्ट कर्मजाल, मृत्यु और उत्तम पाश अर्थात् परोपकार आदि से भी कुछ काल के लिये मुक्त हो जाता है। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते । ईशोपनिषद् ।

अपे॒यं रात्र्यु॑च्छत्वपो॑च्छन्त्वभि॒कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् क्षे॑त्रि॒य॒नाश॒न्यप॑ क्षे॒त्रि॒यमु॑च्छतु ॥ २ ॥

भा०—(इयं) यह (रात्रि) अन्धकारमय रात्रि, अज्ञान दशा (अप उच्छतु) दूर हट जाय। (अभिकृत्वरीः) काटने वाली अर्थात् दुःख बाधाओं वाली चित्तवृत्तियां (अप उच्छन्तु) नष्ट हो जायं। (क्षेत्रियनाशनी) देह में निवास करने वाले आत्मा के देह-बन्धन का नाश करने वाली (वीरुत्) विरुद्ध भावना की नाशिका चितिशक्ति या ब्रह्मविद्या रूप ब्रह्मवल्ली (क्षेत्रियम्) देह में बंधे आत्मा को (अप उच्छतु) देहबन्धन से मुक्त करे।

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या। वीरुत्० ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार (बभ्रोः) पीले और (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेतकाण्ड या डण्डी वाले (यवस्य) जौ को (पलाल्या) तुष से पृथक् कर लिया जाता है या जैसे (तिलस्य) तिल का (तिलपिञ्ज्या) तिलों की फली से मुक्त कर दिया जाता है उसी प्रकार (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देहबन्धन का नाश करने वाली यह ब्रह्मवल्ली, चितिशक्ति (क्षेत्रियं) देह में बंधे आत्मा को (अप उच्छतु) बन्धन से मुक्त करे। यथा उपनिषद् में—'प्रवहेत मुञ्जादिवेषीकं धैर्येण।' जिस प्रकार आत्मा को योगी अलग करे।

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत्० ॥ ४ ॥

भा०—हे योगिन्! (ते) तेरे (लाङ्गलेभ्यः) उत्तम लता के बीज वपन के लिये क्षेत्र हल आवश्यक है उसी प्रकार चित्तभूमि सुधार के लिये और उनमें विज्ञानरूप ब्रह्मज्ञानमय बीज वपन के लिये अपेक्षित योग के आठ अंग-यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा समाधि रूप लाङ्गल अर्थात् हल हैं उनको (नमः) हम आदर दृष्टि से देखते और साधना करते हैं और (ईशायुगेभ्यः) हल खैंचने के लिये उसमें 'ईषा' नामक दण्ड और बैलों को जोड़ने के लिये जुआ होता है उसी प्रकार यहां आत्मा और बुद्धि या आत्मा और परमात्मा दोनों को जोड़ने के लिये

ईषा = मानस प्रेरणा रूप चितिशक्ति द्वारा योगी जनों को भी (नमः) नमस्कार है। उनकी शिक्षा से (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) देहबन्धन को काट डालने वाली ब्रह्मानन्द वल्ली (क्षेत्रियम् अव उच्छतु) आत्मा को बन्धन से मुक्त करे।

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः। नमः क्षेत्रस्य पतये। वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

भा०—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) जिनके अक्ष = इन्द्रियों के वेग शान्त हो गये हैं ऐसे जितेन्द्रिय, योगाभ्यासी, परम ब्रह्मज्ञानियों को (नमः) नमस्कार है। (संदेश्येभ्यः) जिनके देहरूप देह, भोगायतन जीर्ण हो गये हैं या जो आत्मज्ञान का उत्तम रूप से उपदेश करते हैं उनको भी (नमः) नमस्कार है और (क्षेत्रस्य) विनाशशील अथवा आत्मा के निवास योग्य इस देह और इस ब्रह्माण्ड के स्वामी आत्मा और परमात्मा को भी (नमः) साक्षात् आदरपूर्वक नमस्कार है। (वीरुत् क्षेत्रियनाशनी) यह ब्रह्मानन्द-वल्ली देहबन्धन को नाश करती है वह (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) जीवात्मा को बन्धन से मुक्त करे।

---

(९) आत्मज्ञान का उपदेश।

मृग्वंगिरा ऋषिः। वनस्पतिर्यक्ष्मनाशनो देवता। मन्त्रोक्तदेवतास्तुतिः। १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः। २–५ अनुष्टुभः। पञ्चर्चं सूक्तम् ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु। अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

भा०—हे (दशवृक्ष) दश प्राणों के बन्धनों के काटने हारे परमात्मन्! (इमं) इस जीव को (रक्षसः) विनाशकारी अज्ञान के (ग्राह्यः) पकड़ने वाली, ग्राही, भोगतृष्णा से (मुञ्च) मुक्त कर। (या) जो बांधने वाली रस्सी (एनं) इस जीव को (पर्वसु) पोरू २ पर (जग्राह)

पकड़े बैठी है । हे वनस्पते ! समस्त वनों आत्माओं के पते स्वामिन् परमेश्वर ! (एनं) इस (जीवानां) समस्त जीवों के (लोकं) लोक को (उन्नय) आप उठाओ और इसे देह के दुःखबन्धन, जन्म मरण के पाश से मुक्त करो । "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोश्वत्थः सनातनः ।" अथवा "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पूरुषेण सर्वम्" । "वनमित्युपासीत" इत्यादि उपनिषद् और वेदवाक्यों में ईश्वर को वृक्ष और जीव को 'वन' शब्द से कहा है । रक्षसो ग्राही = तमः पाश । दशवृक्ष = वृक्षो व्रश्चनात् । [निरु०] । काटने से 'वृक्ष' कहाता है, दशों प्राण-बन्धनों को काटने से ईश्वर 'दश वृक्ष' कहाता है ।

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

भा०—(अयम्) यह परमात्मा (आगात्) संसार में प्राप्त है, (उदगात्) और सांसारिक दुःख-बन्धनों से ऊपर उठा हुआ है । (जीवानाम्) जीवों के (व्रातम्) समूह को (अपि) भी (अगात्) अन्तर्यामी रूप से प्राप्त है और वह सब (पुत्राणां) पुत्रस्वरूप जीवों के पिता (अभूत्) है और (नृणां च) मनुष्यों में (भगवत्तमः) सबसे श्रेष्ठ, ऐश्वर्यसम्पन्न है ।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह जीव (अधीतीः) नाना गतियों, योनियों और अवस्थाओं को (अधि अगात्) प्राप्त होता है और (जीवपुरा) नाना प्राणधारी 'पुर' देहों को भी (अधि अगन्) प्राप्त होता है । (अस्य) इस जीव के (भिषजः) भव-बन्धन की चिकित्सा करने हारे भी (शत) सैकड़ों गुरु हैं और (वीरुधः) जिस प्रकार दुःखी पुरुष के रोग के दूर करने के लिये सैकड़ों वनलताएं हैं उसी प्रकार जन्म मृत्यु के रोग को

नाश करने के लिये ब्रह्मोपदेश करने हारी वल्लियां (उत) भी (सहस्रम्) सैकड़ों हैं ।

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

भा०—हे (जीव) शरीरधारिन् ! (ते) तेरी (चीतिं) शरीर परमाणुओं के संग्रह और उपचय होने की विधि को (देवाः) विद्वान् (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी, वेदवित् (वीरुधः) और ब्रह्मज्ञानी स्त्रियां या पुत्रोत्पादक माताएं या ब्रह्मवल्लियां ही (अविदन्) जानती हैं । (ते चीतिं) तेरी देह में वृद्धि को प्राप्त होने की विधि (भूम्याम् अधि) इस पृथिवी पर (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुण धारण करने हारे विद्वान् और पञ्चभूत आदि (अविदन्) जानते और प्राप्त करते या कराते हैं ।

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो परमात्मा इस देह को बनाता है (सः) वह (निष्करत्) पूर्ण रूप से ही इसका निर्माण करता है, उसमें किसी बात की त्रुटि नहीं रहने देता, क्योंकि (सः एव) वह ही (सुभिषक्तमः) सर्व प्रकार के मानस और शरीरपीड़ाओं का सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक है । हे बन्धनग्रस्त, आधि-व्याधि-पीड़ित जीव ! (सः एव) वह ही (तुभ्यं) तेरे लिये (भेषजानि) नाना प्रकार के रोगों का उपाय (कृणवत्) करता है और इसी प्रकार तू (भिषजा) उस उत्तम चिकित्सक के द्वारा स्वयं भी (शुचिः) शुद्ध मन और कार्य वाला हो ।

---

(१०) आरोग्य और रोग विनास।

भृग्वंगिरा ऋषिः । निर्ऋतिर्द्यावापृथिव्यादयो नानादेवताः । १ ब्रह्मणा सह द्यावापृथिवी स्तुतिः । २ अद्भिः सह अग्निस्तुतिः । ओषधीभिः सह सोमस्तुतिश्च । ३ वातस्तुतिश्चतुर्दिवस्तुतिश्च । ४, ६ वातपत्नी सूर्ययद्मनिर्ऋतिप्रभृतिस्तुतिः । १ त्रिष्टुप् । २ सप्तपाद अष्टि । ३, ५, ७, ८ सप्तपादो धृतयः । सप्तपाद अत्यष्टिः । ८ अत्रोत्तरौ द्वौ औष्णिहौ पादौ । अष्टर्च सूक्तम् ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

भा०—मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) क्षेत्र = शरीर में उत्पन्न, अथवा क्षेत्र = माता पिता के देह से प्राप्त होने वाले क्षय आदि रोग से (निर्ऋत्याः) ऋति = सम्यक् उपचार लालन, पालन और उत्तम शिक्षा के अभाव से होने वाले कष्ट और (जामिशंसाद्) भगिनी और स्त्रियों या बन्धुओं के वाक्-प्रहारों से और (द्रुहः) द्रोहों, अनिष्ट चिन्ताओं से और (वरुणस्य पाशात्) सबसे श्रेष्ठ परमात्मा के कर्म-कर्मफल रूप बन्धन से (मुञ्चामि) तुझे मुक्त करता हूँ और (ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (त्वा) तुझको (अनागसं) पापों से रहित शुद्ध (कृणोमि) करता हूँ। (ते) तुझे (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, पिता और माता, प्राण अपान (उभे) दोनों (शिवे) कल्याण, कारक (स्ताम्) हों।

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो०।० ॥ २ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (ते) तुझे (अग्निः) अग्नि (अद्भिः) जलों के (सह) साथ (शं अस्तु) कल्याण और सुखकारक हो। (सोमः) सोमलता, सूर्य और चन्द्र (ओषधीभिः सह) अन्य ओषधियों सहित (शं) कल्याणकारी हों। (एवा) इस प्रकार (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्, निर्ऋत्या जामिशंसात् द्रुहः०) शरीर के भीतरी उत्पन्न होने हारे माता

पिता सम्बन्धी, लालन पालन सम्बन्धी तथा पूर्व मन्त्रोक्त अन्य दुःखों से मुक्त करता हूँ (अनागसं त्वा ब्रह्मणा कृणोमि०) वेदज्ञान से पापरहित करता हूँ और द्यौ और पृथिवी दोनों तुझे कल्याणकारी हों।

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छन्नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। एवाहं०।० ॥ ३ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित पुरुष ! (ते) तुझे (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में बहने वाला (वातः) वायु (शं) कल्याण और सुखकारी हो और (वयः) तेरी आयु को (धात्) पुष्ट करे, बढ़ावे और (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं (ते) तेरे लिये (शं) कल्याण और सुख देने हारी (भवन्तु) हों। 'एवाहं'० इत्यादि पूर्ववत्।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे। एवा०।० ॥ ४ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तेरे चारों ओर (यः) जो (इमाः) ये (देवीः) प्रकाश वाली और (वातपत्नीः) वायु जिनका अधिपति है अर्थात् शुद्ध वायु की धारा वाली (सूर्यः) सूर्य, सूर्य का प्रकाश (अभि) जिनके ऊपर (विचष्टे) विशेष रूप से पड़ता है (चतस्रः) वे चार (प्रदिशः) दिशाएं तेरे लिये कल्याणकारिणी हों। ('एवाहं'०) पूर्ववत्।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः। एवा०।० ॥ ५ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! (त्वा) तुझको मैं वैद्य (जरसि) वृद्धावस्था तक भी (तासु) पूर्वोक्त गुण वाली दिशाओं में, जिनमें उत्तम वायु और उत्तम सूर्य-प्रकाश हों, (आदधामि) रहने का उपदेश करता (यक्ष्म) यक्ष्मा, राजयक्ष्मा जो सूक्ष्म रोगजन्तुओं से उत्पन्न व्याधि है वह (प्र एतु) सर्वथा दूर हो जाय और (निर्ऋतिः) शरीर की क्लेशदशा (पराचैः) दूर हो जाय 'एवाहं०' पूर्ववत्।

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । एवा०।० ॥ ६ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित ! तू (यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा रोग से (अमुक्थाः) मुक्त हो गया है और उसी प्रकार (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार अर्थात् दुष्टप्रवृत्तियों और उनसे उत्पन्न दुःख व्याधि और (द्रुहः) हिंसामूलक चिन्ताओं और (पाशाद्) शरीर को फांसने वाले या जकड़ने वाले अपस्मार आदि रोग और (ग्राह्याः) ग्रहण कर लेने वाली या शरीर में शिथिलता उत्पन्न करने वाली पीड़ा से (च) भी (उद् अमुक्थाः) सर्वथा उन्मुक्त हो गया है। (एवा०) इत्यादि पूर्ववत् समान है।

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवा०।० ॥ ७ ॥

भा०—हे व्याधिपीड़ित जन ! इस पूर्व उपचार से तू ने अपने (अरातिम्) जीवन आनन्द के विनाशक शत्रु, रोग को (अहाः) विनाश कर दिया है और (स्योनं) शरीर के सुख को (अविदः) प्राप्त कर लिया है और तू पुनः कुमार्ग, कुपथ्य में न गिर कर (सुकृतस्य) उत्तम सदाचार और धार्मिक पुण्यकार्य के (भद्रे) सुखजनक (लोके) शास्त्रप्रदर्शित मार्ग में (अभूः) रह (एवाहं०) इत्यादि पूर्ववत् समान है।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(तमसः) अन्धकार, तिमिर रोग और (ग्राह्याः) शरीर को चिपटने वाली रोगपीड़ा से (देवाः) विद्वान् लोग स्वयं (निरेणसः) निष्पाप, धर्मात्मा होकर अन्यों को (मुञ्चन्तः) मुक्त करते हुए (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्य प्रकाश को ही (ऋतं) सब दुःखों के विनाशक और ठीक सत्य

औषध (अधि असृजन्) बतलाते और प्रयोग करते हैं। 'एवाहं०' इत्यादि पूर्ववत्। इस सूक्त में नाना प्रकार की शारीरिक और मानस व्याधियों और वंशगत तपेदिक, क्षय, अपस्मार आदि रोगों की स्थिर चिकित्सा के लिये वेद में ब्रह्मचर्य पालन, मां बाप के सदाचार, जल-चिकित्सा, सोम आदि ओषधियों का सेवन, स्वच्छ वायु विहार, निरन्तर चलने हारे पवन और प्रकाश के उज्ज्वल स्थानों में रहने और रोगमुक्त हो जाने पर भी दुराचार से बचने और सदाचार से ही रहने और अन्धकारमय रोगोत्पादक स्थानों पर न रहने के लिये विशेष बल दिया है। स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी शिक्षा का यही आदर्श है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

---

(११) राजा को उपदेश।

शुक्र ऋषिः। कृत्यादूषणं देवता। कृत्यापरिहरणसूक्तम्। स्रात्त्यमणेः सर्वरूपस्तुतिः॥ १ चतुष्पदा विराड् गायत्री। २–५ त्रिपदाः परोष्णिहः। ४ पिपीलिकामध्या निचृत। पंचर्चं सूक्तम्॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ १॥

भा०—हे राजन्! तू (दूष्याः) प्रजा में द्रोह करने हारी शत्रुमन्त्रणा को (दूषिः) विनाश करने वाला (असि) है। (हेत्याः) हनन करने हारे हथियार का भी (हेतिः) प्रतिहनन करने हारा तू हथियार रूप (असि) है और (मेन्याः) अस्त्र द्वारा फेंके गये घातक साधन का भी तू (मेनिः) निवारक अस्त्र रूप (असि) है। जब तू स्वयं इतना बलवान् है और अपने आगे आने वाले सब कष्टों को हटाने में समर्थ है तब (श्रेयांसं) श्रेष्ठ मार्ग और पदार्थ को (प्राप्नुहि) प्राप्त कर और (समं) अपने समान बलशाली शत्रु को (अति क्राम) लांघ जा, अथवा—(श्रेयांसम् आप्नुहि)

कल्याणकारी बलवान् धार्मिक पुरुष का आश्रय ले और अपने समान बल- वाले शत्रु का विजय कर ।

स्रक्त्यो॑ऽसि प्रति॒स॒रो॑ऽसि प्रत्यभि॒चर॑णोऽसि ।
आ॒प्नु॒हि० ॥ २ ॥

भा०—हे राजन् ! तू स्वयं (स्रक्त्यः) गतिशील, आगे बढ़ने हारे (असि) है, तू (प्रतिसरोऽसि) अपने शत्रु के मुकाबले पर जाने में समर्थ (असि) है और तू (प्रति अभिचरणः) अपने विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी पर चढ़ाई करने में समर्थ (असि) है । तब (आप्नुहि श्रेयांसम्) तू श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर और (समं अतिक्राम) अपने समान पर विजय कर ।

प्रति॒ तम॒भि च॑र॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
आ॒प्नु॒हि ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष, राजन् ! (तं प्रति) उस पर (अभिचर) चढ़ाई कर (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) प्रेमरहित होकर द्वेष करता है और (यम्) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । इस प्रकार (आप्नुहि श्रेयांसम्) श्रेष्ठ राजपद को प्राप्त कर और (समम् अतिक्राम) समान स्पर्द्धा करने हारे को कुचल डाल ।

सू॒रिर॑सि वर्चो॒धा अ॑सि तनू॒पानो॑ऽसि ।
आ॒प्नु॒हि० ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सूरिः असि) विद्वान्, धर्मोपदेष्टा या शत्रु- तापक है, एतएव (वर्चोधाः असि) तू तेज का धारण करने हारा है । तू (तनूपानः असि) समस्त प्रजा के शरीरों की रक्षा करने हारा है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) अधिक श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर और (समम्) समान प्रतिस्पर्धी से (अति क्राम) आगे बढ़ । [सूरि, 'स्वः' 'स्वृ' शब्दो- पतापयोः । शब्दनमुपदेशः तत्कर्त्ता सूरिर्विद्वान् अभिज्ञः । स्वः तापकः । इति सायणः, अथवा उपतापकः शत्रूणां सूरिः ।]

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (शुक्रः असि) तू तेज और कान्ति को धारण करने वाला है । (भ्राजः असि) तू शत्रुओं को भून डालने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी है । (स्वः असि) तू सबका प्रकाशक शत्रु का पीड़क है, (ज्योतिः असि) तू तेजस्वी है । (श्रेयांसम् आप्नुहि) तू श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर और (समम् अति क्राम) समान प्रतिस्पर्धी को पार कर जा ।

---

(१२) तपस्या की साधना ।

भरद्वाजप्रवस्कं सूक्तम् । भरद्वाज ऋषिः । नाना देवताः । प्रथमया द्यावापृथिव्योः उरुगा यस्यान्तरिक्षस्य च स्तुतिः । द्वितीयया देवस्तुतिः । तृतीयया इन्द्रस्तुतिः । चतुर्थ्या आदित्यवस्वांगिरःपितृणाम् सौम्यानां । पंचम्या, ब्रह्मद्विषः तमोऽन्यानां । षष्ठ्या मरुताम् । सप्तम्या यमसदनात् ब्रह्मस्तुतिः । अष्टम्या अग्निस्तुतिः । २ जगती । १, ३-६ त्रिष्टुभः । ७, ८ अनुष्टुभौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
उतान्तरिक्षमुरुवातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी और उनके समान इस देह में प्राण और अपान और गृह में माता और पिता (उरु) विशाल (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष, आकाश एवं हृदय-देश और गृह के अन्य जन (क्षेत्रस्य पत्नी) समस्त लोकों के निवासस्थान और तीनों लोकों का पालक ईश्वरी शक्ति और इस देह की पालिका चितिशक्ति और घर में धर्मपत्नी (उरुगायः) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक बड़े २ विद्वानों से कीर्तित, परब्रह्म और देह में यह आत्मा (अद्भुतः) जो कि कभी न उत्पन्न होने वाला, अद्भुत है (उत) और (वातगोपाम्) वायु और प्राण से सुरक्षित यह (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) चेतन संसार और देह के इन्द्रिय

गण (ते) वे सब (इह) इस दशा में जब (मयि) मैं (तप्यमाने) तपस्या करता हूँ (तप्यन्ताम्) तपस्या करें और तप में सहायक हों।

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं इदं हिनस्ति ॥२॥

भा०—तपस्या का प्रकार—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और हे मेरी इन्द्रियो ! आप लोग (ये) जो यज्ञ आदि धर्म अनुष्ठान में एवं जीव ब्रह्म की संगतिरूप समाधियज्ञ में लग्न (स्थ) हो, (शृणुत) मेरी प्रतिज्ञा सुनो। (मह्यम्) इस कार्य के लिये मुझे (भरद्वाजः) ज्ञान और अन्न से संसार का भरण पोषण करने हारा परमात्मा (उक्थानि) वेदमन्त्रों का (शंसति) उपदेश करता है और (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस (मनः) मननशील, आत्मा और चित्त को (हिनस्ति) विनाश करता है (सः) वह काम और क्रोध रूप शत्रु (पाशे बद्धः) पाश में बंधा हुआ सा होकर (दुरिते) दुर्दशा में (नियुज्यताम्) नियुक्त रहे। मनुष्य जीवन को यज्ञरूप पवित्र कार्य समझे, वेद का स्वाध्याय, श्रवण, मनन करे और मन पर वश करने हारे काम, क्रोध आदि शत्रु को नियन्त्रण में रखे।

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वां हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

भा०—हे (सोमप) समस्त संसार रूप सोम का पालन और प्रलयकाल में आदान करने हारे (इन्द्र) परमेश्वर ! (शोचता) पवित्र होते हुए (हृदा) हृदय से (यत्) जब तुझे (जोहवीमि) स्मरण करता हूँ तब तू (इदं) यह बात मेरी (शृणुहि) श्रवण कर कि (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस उत्तम (मनः) मननशील आत्मा का (हिनस्ति) घात करता और पीड़ा देता है उसको (कुलिशेन) वज्ररूप कुठार या अशनि के पात से (वृक्षं इव) जिस प्रकार वृक्ष को काट दिया जाता है या फट जाता है उस प्रकार आत्मा के नाशक मोह रूप शत्रु को (वृश्चामि) ज्ञान वज्र से समूल काट डालूं।

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

भा०—(अशीतिभिः तिसृभिः) तीन अस्सी २४० बहुत संख्या वाले (सामगेभिः) सामवेदादि का गान करने वाले (आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः) आदित्य वसु तथा रुद्र ब्रह्मचारियों द्वारा किये हुए (इष्टापूर्तम्) यज्ञ तथा परोपकार आदि के कार्य (नः) हमारी (अवतु) रक्षा करें, (पितॄणाम्) पितर रूप उन वसु, रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचारियों के (अमुम्) इस यज्ञ कार्य को (दैव्येन हरसा) दिव्य तेज के सहारे (आ ददे) मैं स्वीकार करता हूँ, मनु० (३ । २८४) में वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारियों के पिता, पितामह तथा प्रपितामह कहा है, अतः ये सब पितर (पालक) हैं ।

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

भा०—उक्त तपस्या का फल । (द्यावापृथिवी) हे द्यौ और पृथिवी ! माता और पिता ! राजा और प्रजा ! (मा) मेरे (अनु) अनुकूल, मेरे पीछे २ (दीधीथां) यशस्वी होओ । (विश्वेदेवासः) हे समस्त विद्वान्गण ! (मा अनु) मेरी इच्छा के अनुसार ही (रभध्वम्) कार्य आरम्भ करो । हे (अङ्गिरसः) रुद्र आदि ब्रह्मचारियो ! प्राणों के समान बल संचार करने वाले ज्ञानी पुरुषो ! (सोम्यासः) शान्त और शुभ गुणों से युक्त, उत्तम कार्यों के प्रवर्त्तक (पितरः) पितरो ! पालक जनो ! (अपकामस्य) निन्दनीय इच्छा का (कर्त्ता) करने हारा पुरुष (पापम्) पाप के फल को (आ ऋच्छतु) अवश्य प्राप्त हो ।

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभि सं तपाति ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ५२ । २ ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान्‌गण ! वायुओं के समान राष्ट्र में बल धारण करने हारे, नेता पुरुषो ! (यः) जो अपने को (अतीव) बहुत अधिक (मन्यते) मानता है, अभिमानी है और (यः वा) जो (नः) हमारे (क्रियमाणं) किये गये (ब्रह्म) वेदानुकूल ज्ञान, ब्रह्मचर्य और ब्रह्मज्ञान आदि की (निन्दिषत्) निन्दा करता है, हमारे (तपूंषि) तप या तपाने हारे आयुध (तस्मै) उसके (वृजिनानि) वर्जन करने हारे (सन्तु) हों। (ब्रह्मद्विषं) वेद और वेदज्ञों का द्वेष करने हारे पुरुष को यह (द्यौः) सूर्य के समान प्रकाश भी (अभि सं तपाति) पीड़ित करे। अथवा (तस्मै वृजिनानि तपूंषि सन्तु) उसके त्याज्य, पापकर्म ही उसको सन्तापकारी हों, बल्कि (ब्रह्मद्विषं द्यौः अभि संतपाति) वेदज्ञान के शत्रु को सूर्य और सूर्य के समान ज्ञान और ज्ञानी पुरुष भी पीड़ा देता है।

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

भा०—देहबन्धन का ब्रह्मयोग से विनाश। (सप्त प्राणान्) इस देह में सात प्राण जो (मूर्धास्थान) में हैं और (अष्टौ मन्यः) आठ धमनियां, उन सब देहबन्धनकारी साधनों को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (वृश्चामि) काटता हूँ। हे बद्धजीव ! अब तू (अग्निदूतः) ज्ञानवान् परमात्मा को उपास्य रूप से अपना सहायक करके (अरंकृतः) सुशोभित या कृतकृत्य होकर (यमस्य) संसार नियन्ता परमेश्वर के (सादनम्) परम आश्रय मोक्षस्थान में (अयाः) चला जा और योगाग्नि से युक्त होकर मोक्ष का सुख भोग।

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते) तेरे (पदं) निज स्वरूप को (समिद्धे) अति दीप्त, उज्ज्वल, तेजोमय (जातवेदसि) सर्वज्ञ, सर्वोत्पादक, परम ब्रह्म में

(आदधामि) स्थापित करता हूँ । (शरीरं) भौतिक शरीर को (अग्निः) वह अग्नि योगाग्नि (वेवेष्टु) सब प्रकार से व्याप्त करे (वाक् अपि) वाणी भी (असुं) प्राण में (गच्छतु) लीन हो । इस प्रकार सब अपने कारणों में लीन होकर आत्मा के बन्धन का कारण न हों और आत्मा विदेह प्रकृति लय को प्राप्त होकर मोक्ष को प्राप्त होऊं । वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य अध्यात्म होने से पूर्वमन्त्र भी उक्त प्रकार से लगते हैं ।

---

(१३) ब्रह्मचर्य व्रत में आयु, बल और दृढ़ता की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । १ अग्निर्देवता । २, ३ बृहस्पतिः । ४, ५ विश्वेदेवाः । १ अग्नि-स्तुतिः । २, ३ चन्द्रमसे वासः प्रार्थना । ४, ५ आयुः प्रार्थना । १—३ त्रिष्टुभः । ४ अनुष्टुप् । ५ विराड् जगती । पंचर्चं सूक्तम् ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥१॥
यजु० ३५ । १७ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर ! गुरो ! आप (आयुर्दाः) आयु, जीवन, प्राण देने हारे हैं अतः आप (जरसं) वृद्ध अवस्था आयु, जीवन की हानि को (वृणानः) दूर करते हुए (घृतप्रतीकः) दीप्तिस्वरूप, (घृतपृष्ठः) देदीप्यमान ज्ञानरसों को प्रदान करने हारे, तेजों के आश्रय भूत हैं । हे अग्ने ! परमात्मन् ! जिस प्रकार (पुत्रान् पिता इव) पुत्रों को पिता (चारु गव्यं घृतं) गाय के उत्तम मधुर घी के भोजनों से पुष्ट करता है उसी प्रकार आप तेजोमय, स्नेहमय, (चारु) आस्वादन करने योग्य, उत्तम (मधुं) मधुर, अमृतस्वरूप, (गव्यं) आत्मासम्बन्धी (घृतं) ज्ञान (पीत्वा) पान करा कर (इमम्) इस नव साधक, ब्रह्मचारी की (अभि-रक्षतात्) रक्षा करें ।

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥
अथर्व० १९ । २४ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (परि धत्त) आप पुत्रों को ब्रह्मचारी बनाकर परिपुष्ट करो और (वर्चसा) ब्रह्म तेज से (नः) हमारे (इमं) इस ब्रह्मचारी को (धत्त) पुष्ट करो और इसको (जरामृत्युम्) वृद्धावस्था में ही मृत्यु कराने वाली (दीर्घम्) बहुत बड़ी चिर (आयुः) आयु, जीवनकाल (कृणुत) बढ़ाने का यत्न करो । (बृहस्पतिः) वेदवाणी का स्वामी, आचार्य, परमेश्वर ही (एतत्) यह तेजोमय (वासः) सर्वदेवमय देहरूप आवास-योग्य चोला (राज्ञे) प्रकाशनशील, तेजस्वी (सोमाय) चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी जीवात्मा को (परिधातवा) धारण करने के लिये (उ) ही (प्रायच्छत्) देता है । इसी भावना से आचार्य अपने शिष्य को योग्य वस्त्र दे और उसके शिर पर अग्नि द्वारा घृतलिप्त हस्त तपा २ कर आशीर्वाद दे ।

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुप संव्ययस्व ॥ ३ ॥

भा०—हे बालक ! ब्रह्मचारिन् ! पुरुष ! (इदं वासः) देहमय चोले के समान इस वस्त्र को (स्वस्तये) सुख, कल्याण करने और स्वयं सुखी होने के लिये (परि अधिथाः) तुम शरीर पर धारण करो और (गृष्टीनाम् = कृष्टीनाम्) गौओं के समान विषयों और ज्ञानों तक पहुँचने या विषयों की ओर खैंच ले जाने वाली इन्द्रियों या प्रजाओं को (अभिशस्तिपाः) विनाश से बचाने वाला (उ) ही (भूः) बन । इस प्रकार (शतं) सौ (शरदः) वर्षों तक (च) और (पुरूचीः) और इससे भी बहुत अधिक (जीव) जी । (रायः च) नाना प्रकार धन सम्पदाओं और (पोषम्) पुष्टिजनक पदार्थों को (उप संव्ययस्व) प्राप्त कर, संग्रह कर और उचित

रीति से उपयोग कर। इस मन्त्र से पति पत्नी को और गुरु शिष्य को वस्त्र धारण करने और उससे देह की रक्षा करने का उपदेश देता है।

एह्यश्मा॑नमा ति॑ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः ।

कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥

भा०—हे ब्रह्मचर्य पालक बालक! (एहि) गुरु के समीप आ और (अश्मानं) दृढ़ पत्थर पर (आ तिष्ठ) खड़ा हो, चट्टान के समान दृढ़ ब्रह्म का आश्रय ले। (ते) तेरा (तनूः) शरीर (अश्मा भवतु) शिला के समान दृढ़ हो। (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्‌गण और दिव्य शक्तियां (ते आयुः) तेरी आयु को (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (कृण्वन्तु) करें।

यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं॑१ हरा॑मस्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः ।

तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हवः॒ सुजा॑तम् ॥५॥

भा०—हे बालक! ब्रह्मचारिन्! (यस्य ते) जिस तेरे लिये हम (प्रथमवास्यं) प्रथम आश्रय में पहनने योग्य वस्त्र को (हरामः) लाते हैं। (तं त्वा) उस तेरी (विश्वे) समस्त (देवाः) विद्वान्‌गण (अवन्तु) रक्षा करें। (सुवृधा) उत्तम वृद्धि, उन्नति से (वर्धमानं) उन्नति पथ पर सदा बढ़ते और (सुजातं) उत्तम रूप में विद्यासम्पन्न होते हुए (तं त्वा) उस तेरे (अनु) पीछे (बहवः) बहुत (भ्रातरः) भाई, सब्रह्मचारी (जायन्ताम्) हों।

---

(१४) बुरी आदतों और कुस्वभाव के पुरुषों का त्याग।

चातन ऋषिः। शालाग्निमन्त्रोक्ताश्च देवताः। अग्निभूतपतीन्द्रादिस्तुतिः। १, ३, ५, ६ अनुष्टुभः। २ भुरिक्। ४ उपरिष्टाद् बृहती। षडृचं सूक्तम्॥

निः सा॒लां धृ॒ष्णुं धि॒षण॑मेकवा॒द्यां जि॑घ॒त्स्व॑म् ।

सर्वा॒श्चण्ड॑स्य न॒प्त्यो॑ नाशया॑मः स॒दान्वाः॑ ॥ १ ॥

भा०—(निः सालां) आवारागर्दी, (धृष्णुं) ढीठपन, (धिषणं) हठ

(एकवाद्याम्) एक ही बात दोहराते जाना, (जिघत्स्वम्) और खाऊ होना आदि (सर्वाः) ये सब आदतें हैं, (चण्डस्य) प्रचण्ड क्रोधी और लोभी के (नप्त्यः) साथ सम्बन्ध रखती हैं, (सदान्वाः) इन रुलाने या कलह कराने वाली आदतों को (निः नाशयामः) हम समूल नाश करें।

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

भा०—हे (मगुन्द्याः) मगुन्दी मघ अर्थात् आनन्द या सुख का क्षय करने वाली कुवासना की (दुहितरः) कन्या रूप उससे उत्पन्न (वः) तुमको (गोष्ठाद्) गौ = वेदवाणी, ज्ञान-कथा और आत्मा के निवासस्थान, हृदयदेश से, गोशाला से गौओं के समान (निः अजामसि) हम निकाल देते हैं। (आक्षात् निः) और आनन्द, विनोद और व्यवहार या इन्द्रिय-गण से भी तुम्हें निकाल देते हैं, (उपानसात्) अनस् अर्थात् यज्ञस्थान या देह से भी (निः) दूर करते हैं और (गृहेभ्यः निः चातयामहे) अपने घरों से भी हम परे करते हैं। [बुरी आदत और बुरी आदत वाले दोनों को उक्त स्थानों से निकाल देने का उपदेश है ।]

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (गृहः) घर, निवासस्थान (अधराद्) नीचे अन्धकारमय है (तत्र) वहां (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) प्रजा को पीड़ा देने वाली विपत्तियां, रोग आदि (अराय्यः) जो मनुष्य को लक्ष्मी या शोभा से रहित करती (सन्तु) रहती हैं। (तत्र) वहां (सेदिः) दुःख और विनाश (नि उच्यतु) सदा रहा करते हैं।

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

३—'प्र० द्वि० तृ०' 'अमुष्मिन्नधरे गृहे सर्वास्वन्ताराय: । तत्र पाप्मा नियच्छतु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(भूतपतिः) समस्त प्राणियों और पञ्चभूतों की शक्तियों का पति, पालन और वश करने वाला परमेश्वर और (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, सूर्य के समान प्रकाशमान आत्मा (सदान्वाः) सदा कष्टदायक विपत्तियों को पीड़ाओं, रोग-व्याधियों को (इतः) हमारे इस शरीर रूप घर से (निर् अजतु) निकाल दे और जो (गृहस्य) शरीर रूप घर के (बुध्ने) नीच के भाग अर्थात् सिर आदि में (आसीनाः) बैठी हों (ताः) उनको भी (इन्द्रः) आत्मिक शक्तिसम्पन्न आत्मा (वज्रेण) दूर करने के उपाय, ब्रह्मचर्य रूप वज्र से (अधि तिष्ठतु) उन पर वश करे ।

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥

भा०—हे दुःखकर पीड़ाओ ! (यदि) यदि तुम (क्षेत्रियाणां) क्षेत्र अर्थात् शरीर से शरीर में, या मा बाप के पुत्रादि में प्राप्त (स्थ) हो, (यदि वा) या जो (पुरुषेषिता) कुसंगी, दुष्ट पुरुषों से प्रेरित हो, (यदि) या (दस्युभ्यः) विनाशकारी दुष्ट भावों और विचारों के कारण उत्पन्न (स्थ) हो तो भी (सदान्वाः) सदा रुलाने और कलह करने वाली तुम (इतः) यहां से (नश्यत) भाग जाओ ।

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवा सरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

भा०—हे (सदान्वाः) सदा कलह, शोर गुल, या रोना आदि मचाने वाली आपत्तियो ! (वः) तुम्हारी (सर्वान्) सब (आजीन्) आक्रमणों और आगमन के उपायों को मैं (अजैषं) जीतूं । तुम (इतः) यहां से (नश्यत) भाग जाओ । हे पुरुषो ! जिस प्रकार (आशुः) शीघ्रगामी घोड़ा (गाष्ठाम् इव) परम अवधि पर पहुँच जाता है उसी प्रकार विद्वान् लोग (आसाम्) इन सब पीड़ाकारिणी विपत्तियों के (धामानि)

४—'ता वज्रेणाधि तिष्ठतु' इति पैप्प० सं० ।

आश्रयस्थानों तक (परि असरन्) इनका पीछा करें, आक्रमण करें और उन स्थानों से उनको निकाल दें।

---

(१५) अभय की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणो देवता। १—६ त्रिपाद् गायत्र्यम्। षडृचं सूक्तम्॥

यथा द्यौश्च॑ पृथि॒वी च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः।
ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः॥ १॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (द्यौः च) द्यौ और (पृथिवी च) पृथिवी (न बिभीतः) भय नहीं करते (न रिष्यतः) कभी नष्ट भी नहीं होते (एवा) इसी प्रकार हे (मे) मेरे (प्राण) प्राण! (मा) मत (बिभेः) भय कर।

यथाह॑श्च॒ रात्री॑ च॒ न बि॑भी॒तो ०।० ॥ २॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्रि (न बिभीतः) न किसी से भय करते और (न रिष्यतः) और न नष्ट होते हैं (एवा मे प्राण मा बिभेः) इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय मत कर।

यथा॒ सूर्य॑श्च च॒न्द्रश्च॒ ०।० ॥ ३॥

भा०—(यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च०) और जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र न भय करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय मत कर। तू भी नष्ट नहीं होगा।

यथा ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॒०।० ॥ ४॥

भा०—(यथा ब्रह्म च) और जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान या ब्राह्मण और (क्षत्रं च०) और क्षात्र बल या क्षत्रिय दोनों वर्ण नहीं डरते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय मत कर। तू भी नष्ट नहीं होगा।

यथा सत्यं चानृतं च०।० ॥ ५ ॥

भा०—(यथा सत्यं च) और जिस प्रकार सत्य और (अनृतं च) असत्य अर्थात् व्यावहारिक प्रयोग अथवा सत्य परमार्थ और अनृत ऐहिक अर्थ दोनों (न बिभीतिः न रिष्यतः) भय नहीं करते और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे प्राण ! तू भी भय मत कर और नष्ट मत हो। लोकव्यवहार अनित्य होने पर भी प्रवाह से नष्ट नहीं होता।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

भा०—(यथा भूतं च) और जिस प्रकार भूतकाल और (भव्यं च) भविष्यत् काल दोनों (न बिभीतः) भय नहीं करते और (न रिष्यतः) नष्ट नहीं होते इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी भय मत कर।

---

(१६) रक्षा की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणापानौ आयुश्च देवताः। १, ३ एकपदा आसुरी त्रिष्टुप्। एकपदा आसुरी उष्णिक। ४, ५ द्विपदा आसुरी गायत्री। पंचर्चं सूक्तम् ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (मा) मुझ को (मृत्योः) शरीर छूटने के भय से (पातं) बचाओ, (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

स्वाहा—स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राह इति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। (नि० ८। २०) स्वैव ते वाग् 'अब्रवीद सोऽजुहोत् स्वाहा इति तत् स्वाहाकारस्य जन्मा [तै० ब्रा० २।१।२।३।]

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! (मा) मुझे (उपश्रुत्या) श्रवण शक्ति द्वारा (पातं) पालन करो। (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

सूर्य॒ चक्षु॑षा मा पा॑हि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रकाशक सूर्य ! एवं उसके समान सबके प्रकाशक प्रभो ! (मा) मुझको (चक्षुषा) दर्शन इन्द्रिय के द्वारा (पाहि) पालन कर, (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

अग्ने॑ वैश्वानर॒ विश्वै॑र्मा दे॒वैः पा॑हि स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशमान ! हे (वैश्वानर) समस्त शरीरों में व्यापक ईश्वर, वैश्वानर ! (मा) मुझको (विश्वैः) समस्त (देवैः) विद्वानों, दिव्य पदार्थों और इन्द्रियों द्वारा (पाहि) पालन कर। (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

विश्व॑म्भर॒ विश्वे॑न मा॒ भर॑सा पा॑हि स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भा०—हे (विश्वम्भर) संसार के पोषक परमात्मन् ! (मा) मुझे (विश्वेन) समस्त (भरसा) पोषण शक्ति से (पाहि) पालन कर, (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना दीर्घ आयु चाहने वाला पुरुष इस सूक्त का मनन करे।

---

(१७) ओज, सहनशीलता, बल, आयु और इन्द्रियों की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। प्राणापानौ वायुश्च देवताः। १—६ एकावसाना आसुर्यस्त्रिष्टुभः।
७ आसुरी उष्णिक्। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ओजो॒स्योजो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ १ ॥ यजु० १९। ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (ओजः) आप ओज, कान्ति और तेजःस्वरूप हैं। आप (मे) मुझे (ओजः) कान्ति, ओज (दाः) दें। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना है।

सहो॑सि॒ सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥ यजु० ॥ १९। ९ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (सहः असि) सहनशील, सब की शक्तियों को सहने हारे हैं। आप (मे) मुझे (सहः) सहनसामर्थ्य (दाः) प्रदान करें (स्वाहा) ऐसी उत्तम प्रार्थना है।

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥ यजु० ११ । ९ ॥

भा०—(बलम् असि) हे परमात्मन् ! आप बलस्वरूप हैं, आप (मे बलं दाः) मुझे बल दें। (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (आयुः असि) आप सबको जीवन प्राप्त कराने हारे सबके जीवनाधार हैं (मे आयुः दाः) मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें (स्वाहा) मैं यह प्रार्थना करता हूँ।

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (श्रोत्रम् असि) प्रार्थनाओं का श्रवण करने हारे और श्रवणशक्ति के दाता हैं। (मे श्रोत्रं दाः) मुझे श्रवणशक्ति दान करें, (स्वाहा) मैं प्रार्थना करता हूँ।

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (चक्षुः असि) समस्त संसार के द्रष्टा, दर्शक, प्रकाशक, हैं। (मे चक्षुः दाः) मुझे चक्षु प्रदान करो, (स्वाहा) मैं प्रार्थना करता हूँ।

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (परिपाणम् असि) संसार के पालन करने हारे हो, (मे) मुझे भी (परिपाणं) समस्त इन्द्रियों और प्रजाओं के पालन करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो, (स्वाहा) यह प्रार्थना करता हूँ।

इति तृतीयोऽनुवाकः।

[तत्र सप्त सूक्तानि द्वाचत्वारिंशश्च ऋचः]

---

(१८) शत्रुनाशक बल की प्रार्थना।

सम्पत्कामश्चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । साम्नी बृहती । पंचर्चं सूक्तम् ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! तू (भ्रातृव्यक्षयणम्) भ्रातृत्व के विनाशक शत्रु को नाश करने हारा (असि) है (मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनं) शत्रु-नाशक बल (दाः) दे। (स्वाहा) यह उत्तम प्रार्थना है।

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (सपत्नक्षयणं) पराये धन पर स्वामित्व चाहने वाले दुष्टों के विनाशक (असि) हो, (मे) मुझे (सपत्नचातनं) शत्रु नाशक बल (दाः) प्रदान करें, (स्वाहा) यह शुभ प्रार्थना है।

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (अरायक्षयणम् असि) दान न करने हारे कंजूस, स्वार्थी, अनुदार पुरुषों का नाश करते हो (अतः) (मे) मुझे भी (अरायचातनं) ऐसे लोलुप पुरुषों के विनाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह शुभ प्रार्थना है।

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (पिशाचक्षयणम् असि) दूसरों के मांस के लोभी क्रूर पुरुषों के नाशक हो, अतः (मे) मुझे (पिशाचचातनं) ऐसे मांसाशी, क्रूर पुरुषों के नाश करने का सामर्थ्य (दाः) प्रदान करो। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (सदान्वाक्षयणम् असि) आप रुलाने, कष्ट देने वाली आपत्तियों के विनाशक हो, अतः (मे) मुझे भी (सदान्वा-चातनं) ऐसी पीड़क आपत्तियों के नाश करने का सामर्थ्य (दाः) दीजिये। (स्वाहा) यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

---

(१९) द्वेष करने वालों के सम्बन्ध में प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १–४ निचृत् सामगायत्री, ५ भुरिग् विषमा । पंचर्चं सूक्तम् ॥

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तपाने हारे परमात्मन् ! (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यं) और जिस पुरुष को (वयं) हम (द्विष्मः) प्रेम नहीं करते (तं) उसको (यत्) जो तेरा (तपः) संतापकारी पापनिवारक बल है (तेन) उससे (प्रति तप) संतापित कर, जिससे वह पाप छोड़ दे ।

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान्द्वेष्टि० ॥ २ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टिः) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते हरः) जो तेरा पापनिवारक मृत्युरूप बल है उस द्वारा (तं) उसको (प्रति हर) पाप कर्मों और कुपथ से हटा ।

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जो हमें द्वेष करता और जिसको हम प्रेम नहीं करते (यत् ते अर्चिः) जो तेरी ज्वाला, प्रकाश, ज्ञानमय दीप्ति है (तेन तं प्रति अर्च) उस द्वारा उस पापकारी पुरुष को ज्ञान दे और तामस मार्ग से परे कर ।

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (योऽस्मान्०) जो हमसे द्वेष करता और जिसको हम भी प्रेम नहीं करते (यत् ते शोचिः) जो तेरी दीप्ति है (तेन तं प्रति) उस द्वारा उसके प्रति (शोच) प्रकाशित हो और सन्मार्ग दिखा ।

[१९] १–'यो अस्मान्', 'यं वयं च' इति पाठभेदः प्रायः सर्वासु ऋक्षु, मै० सं० ।

अग्ने यत्ते तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो३॰ ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्नि ! (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम भी प्रीति नहीं करते (यत् ते तेजः) जो तेरा तेज = तीक्ष्ण स्वभाव है (तेन) उस द्वारा (तं) उस पुरुष को (अतेजसं) तीक्ष्ण स्वभाव से रहित सौम्य स्वभाव (कृणु) बना, जिससे वह सज्जन जाय ।

---

(२०) द्वेष करने वालों के सम्बन्ध में प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । वायुर्देवता । १–४ निचृद विषमा गायत्र्यः । ५ भुरिग्-विषमा । पंचर्चं सूक्तम् ॥

वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो३॰ ॥ १ ॥

भा०—हे (वायो) सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक, सूत्ररूप से सबके धारक! परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं (यत् ते तपः तेन तं प्रति तप) जो तेरा पापनिवारक पश्चात्तापरूप तपोबल है उससे उसको संतप्त कर ।

वायो॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो३॰ ॥ २ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करें और जो हमसे द्वेष करे (यत् ते हरः तेन तं प्रति हर) जो आपका पापहारी क्रोध है उस द्वारा उसे अपनी शरण में लें जिससे वह द्वेष छोड़कर पुण्यात्मा हो जाय ।

वायो॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन तं प्रत्य॑र्च॒ यो३॰ ॥ ३ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (योऽस्मान् द्वेष्टि०) जो हमसे द्वेष करता है इसी कारण जिससे हम द्वेष करने लगते हैं (यत् ते अर्चिः, तेन तं प्रति अर्च) आपका जो ज्ञानमय प्रकाश है उससे उस मूढ को ज्ञानवान् कर जिससे वह द्वेष छोड़ सीधे मार्ग पर आ जाय ।

वायो॒ यत्ते॒ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो३॰ ॥ ४ ॥

भा०—हे (वायो) परमात्मन् ! (योऽस्मान् ०) जो हमारे द्वेष करता है, इसी कारण जिससे हम प्रीति नहीं करते (यत् ते शोचिः, तेन तं प्रति शोच) जो आपकी दीप्ति है उससे उसे ज्ञानवान् करो जिससे वह प्रकाश मार्ग में आकर द्वेष न करे।

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (वायो) ज्ञानरूप, परमात्मन् ! (योऽस्मान् ०) जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं। (यत् ते तेजः) जो तेरा तीक्ष्ण सामर्थ्य है (तेन तम् अतेजसं कृणु) उससे उसे तेज से रहित कर जिससे वह सौम्य होकर द्वेष न करे।

---

(२१) द्वेष करने वालों के सम्बन्ध में प्रार्थना।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत्। सूर्यो देवता। पंचर्चं सूक्तम् ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके उत्पादक और प्रकाशक और प्रेरक परमात्मन् ! शेष सब पूर्ववत् है।

---

(२२) द्वेष करने वालों के सम्बन्ध में प्रार्थना।

ऋषिश्छन्दश्च पूर्ववत्। चन्द्रो देवता। पंचर्चं सूक्तम् ॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३० ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३० ॥ ३ ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३० ॥ ५ ॥

भा०—हे (चन्द्र) समस्त जगत् के आह्लादक परमात्मन् ! शेष सब पूर्ववत् ।

---

(२३) द्वेष करने वालों के सम्बन्ध में प्रार्थना ।

पूर्ववत् ऋषिः । आपो देवता । १-४ समविषमा । स्वराड् विषमा । पंचर्चं सूक्तम् ।

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३० ॥ २ ॥
आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३० ॥ ३ ॥
आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३० ॥ ४ ॥
आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भा०—हे (आपः) सबके प्राप्तव्य ! सबके शरण्य ! इत्यादि पूर्ववत् । भौतिकपक्ष में—अग्नि, चन्द्र, सूर्य और आपः उनसे अपने शत्रु को विनाश करने का संकल्प है । प्रत्येक में पांच शक्तियां हैं । (१) तपः = पीड़क संतापकारी शक्ति, (२) हरः = संहार, विनाश या विध्वंसकारी शक्ति, (३) अर्चिः = ज्वाला, भस्म या निर्मूल करने की शक्ति, (४) शोचिः = पवित्र करने और दुःखित होने की शक्ति और (५) तेजः = तेज, तीक्ष्णता और तीव्रता की शक्ति । इन शक्तियों को अपने वश करके इनका उचित साधनों से प्रयोग करके अपने शत्रु को वश करना चाहिये ।

---

(२४) हिंसक स्त्री-पुरुषों के लिये दण्ड विधान।

ब्रह्मा ऋषिः । शेरभकादयो मन्त्रोक्ता देवताः । १, २ पुर उष्णिहौ, ३, ४ पुरोदेवत्ये पाङ्क्ते । १—४ वैराजः । ५—८ पंचपदाः पथ्यापंक्तयः । ५, ६ भुरिजौ । ६, ७ निचृतौ । ५ चतुष्पदा बृहती । ६—८ भुरिजः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

शेरभक् शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

भा०—हे (शेरभक) दूसरों का अन्त करने, मारने का कार्य करने वाले, सर्पस्वभाव उग्र, नृंशस ! घातक ! पुरुष ! (शेरभ) हे हत्यारे पुरुष ! और हे (किमीदिनः) 'यह क्या यह क्या' इस प्रकार सब पदार्थों पर चोर की सी दृष्टि वाले दुष्ट पुरुषो ! (यातवः) सब पीड़ाजनक कार्य (वः) तुम्हारे पास ही (यन्तु) जावें अर्थात् कार्यों का दण्ड पुनः तुमको ही प्राप्त हो । (पुनः हेतिः) और हथियार की पीड़ा तुम्हारे पास ही जावे । क्योंकि (यस्य स्थ) जिसके तुम संगी होते हो (तम् अत्त) उसको तुम खा जाते हो और (यः) जो (वः) तुमको (प्राहैत्) प्रेरणा, उपदेश या सीधा मार्ग बतलाया है (तम् अत्त) तुम उसको भी खा जाते हो और फिर जब तुम्हारे साथ कोई नहीं रहता तब तुम (स्वा मांसानि) अपने ही सम्बन्धियों के शरीरों का घात करके उन्हें (अत्त) खाते हो । दुर्जन पुरुष का यही स्वभाव होता है कि वे अपने स्वामी, प्रेरक और साथियों का नाश कर लेते हैं । इस प्रकार उनकी दी पीड़ाएं, उनके शस्त्र, उनके ही अपने नाशक होते हैं ।

शेवृधक शेवृध पुनर्वो० ।० ॥ २ ॥ म्रोकानुम्रोक पुनर्वो० ।० ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो० ।० ॥ ४ ॥

भा०—हे (शेवृधक) हे हिंसा के कार्य में सबसे आगे बढ़ने वाले घातक ! और हे (म्रोक) धन अपहरण करके छुप जाने वाले चोर ! और हे (अनुम्रोक) चोरों के बुरे काम का अनुसरण करने वाले ! हे (सर्प)

कुटिल मार्ग से चलने वाले पुरुष ! और हे (अनुसर्प) कुटिल पुरुष के साथी लोगो ! आप सब लोग (किमीदिनः) किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो। बुरा काम करके तुम लोगों के दिल 'अब क्या होगा ? अब कैसे, इत्यादि फिकिरों में धुक् २ करते हैं। पर तुम्हारी ये सब (यातवः) पीड़ाएं जो तुम अन्य लोगों को देते हो (वः यन्तु) तुम्हें ही प्राप्त होनी चाहिये। (पुनः हेतिः) यह शस्त्रप्रहार भी तुमको प्राप्त हो, पकड़े जाने पर तुम छोड़े नहीं जाओ क्योंकि स्वभावतः (यस्य स्थ) जिसके तुम रहते हो (तम् अत्त) उसको खा जाते हो। (यः वः) जो तुम लोगों को (प्राहैत्) प्रेरणा दे (तं अत्त) उसको खा जाते हो और फिर लाचार होकर (स्वा मांसानि अत्त) अपने में आप को भी नष्ट करते हो।

मन्त्रपाठ में 'यन्तु', 'स्थ', 'अत्त' आदि प्रयोग अभीष्ट अर्थ में 'लोट' के हैं। वेदमन्त्र में उपदेश है कि हिंसाकारी, हिंसा के वर्धक, चोर, गुप्त, घोर, कुटिलाचारी पुरुषों को पकड़ कर उनको वैसी ही पीड़ाएं दी जावें जैसी उन्होंने दूसरों को दीं, वैसे ही शस्त्र से उनका नाश किया जावे जैसे शस्त्र से वे दूसरों का नाश करते हैं। उनसे ही उनके नेता को मरवायें और उनको ऐसे बेजार करें कि वे आपस में एक दूसरे के प्राण के प्यासे होकर एक दूसरे को खा जावें। तब वे आपसे आप नष्ट हो जाते हैं।

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ०।० ॥ ५ ॥
उपब्दे पुनर्वो ०।० ॥ ६ ॥ अर्जुनि पुनर्वो ०।० ॥ ७ ॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातव पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

भा०—हे जूर्णि ! वायु का नाश करने हारी नागिनीवत् दूसरों के नाश करने वाली दुष्ट स्त्री ! हे (अर्जुनि) बदला लेने वाली, या पुरुष को संताप देने वाली, या अपने कुकर्म से द्रव्य अर्जन करने वाली स्त्री ! और

हे (उपब्दे) गुप्तरूप से कलह करने वाली और परपुरुष से संग करने हारी ! और (भरूजि) हे कपटकारिणी ! अपने क्षुद्र वचनों से हृदय को पीड़ा देने वाली स्त्रियो ! तुम भी (किमीदिनीः) कर्त्तव्यपथ में मूढ़ हो। तुम अपने पापों से शंकित रहती हो, तुम्हारी दी हुई पीड़ाएं तुमको प्राप्त हों, तुम्हारे हथियार भी तुमें ही कष्ट दें। तुम जिसकी हो उसको खाती और जो तुमको प्रेरित करे, मार्ग दिखाये, उसको खा जाती और अपने सम्बन्धियों, पुत्रों और भाइयों तक के प्राणों को हरती हो।

इस सूक्त में चार प्रकार के पुरुषों और चार प्रकार की स्त्रियों का वर्णन है। अध्यात्म में भीतरी दुःसंकल्पों और कुप्रवृत्तियों का वर्णन किया है। जैसे—शेरभक = हिंसा का भाव, शेवृधक = लोभ, म्रोक = काम, सर्प = क्रोध, जूर्णि = चिन्ता, उपब्दि = निन्दा, अर्जुनि = प्रतिहिंसा, बदले की प्रवृत्ति, भरूजि = चुगलखोरी, पिशुनता = पीठ पीछे दूसरे का नाश करना, कृतघ्नता ये सब संकल्प और दुष्प्रवृत्तियां ऐसी बुरी होती हैं कि ये जिस पुरुष में रहती हैं उस पुरुष को खा जाती हैं, जिसमें ये रहती हैं उसके प्राणों तक की बलि ले लेती हैं। उनका परित्याग ही श्रेयस्कर है।

---

(२५) पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन।

चातन ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। पृश्निपर्णिस्तुतिः। १—३ अनुष्टुभः।
४ भुरिक्। चतुर्ऋचं सूक्तम्॥

शं नो॑ देवी पृ॑श्निपर्ण्यशं निर्ऋ॑त्या अकः।
उग्रा हि क॑ण्वजम्भनी ताम॑भक्षि सह॑स्वतीम्॥ १॥

भा०—(पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी पिठवन नाम की ओषधि (देवी) दिव्य गुण वाली (नः) हमें (शं) कल्याण, सुख करे और (निर्ऋत्याः) निर्ऋति = पापप्रवृत्ति का (अशं) भक्षण (अकः) करे। वह (हि) क्योंकि (कण्वजम्भनी) पाप और पाप से उत्पन्न होने हारे कुष्ठ आदि रोगों को

नाश करने में (उग्रा) बलवती ओषधि है। (तां) उस (सहस्वतीं) रोग-शमन वाली ओषधि को मैं (अभक्षि) सेवन करूं।

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥

भा०—(सहमाना) रोग को रोकने में प्रबल (इयं) यह (प्रथमा) सबसे श्रेष्ठ ओषधि (पृश्निपर्णी) पृश्निपर्णी ही (अजायत) सिद्ध हुई है। (तया) उससे (दुर्नाम्नां) बुरे नाम या स्वरूप वाले कुष्ठ आदि रोगों के (शिरः) मूल, मुख्य, पूर्व कारणों को भी (शकुनेः) पक्षी के शिर के समान सुगमता से (वृश्चामि) काट डालूं।

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

भा०—हे पृश्निपर्णि! ओषधे! तू (गर्भादं) गर्भ के विनाशक (कण्वं) जीवन को मिटा देने वाले रोग को (नाशय) मिटा दे और (सहस्व च) उसके बुरे प्रभाव को रोक जो रोग (अरायम्) देह की पुष्टि, कान्ति और लक्ष्मीनाशक (असृक्पावानं) रक्त का पी जाने वाला, रक्त को विकृत कर देने वाला और (यः च) जो (स्फातिं) शरीर की वृद्धि को (जिहीर्षति) नाश करता है।

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ् जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (देवि पृश्निपर्णि) दिव्य गुणों से युक्त पृश्निपर्णि ओषधे! तू (एनान्) इन (कण्वान्) पापमूलक, जीवन को मिटा देने वाले या उदास कर देने वाले (जीवितयोपनान्) जीवन को संदेह में डालने वाले रोगों को (गिरिं) पर्वतों पर (आवेशय) भेज दे अर्थात् परे कर दे और (त्वं) तू (तान्) उनको (अग्निः इव) अग्नि के समान (अनुदहन्) जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो।

परा॒च ए॒नान् प्र णु॑द॒ कण्वा॑ञ्जीवित॒योप॑नान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत्क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥ ५ ॥

भा०—(एनान्) इन (जीवितयोपनान्) जीवन के संदेहजनक और (कण्वान्) जीवन के विनाशक कारणों को (पराचः) दूर (प्र णुद) भगा दे । मैं भी (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छति) रहते हैं (तत्) वहां (क्रव्यादः) कच्चा मांस खाने वाले हिंसक पशुओं के समान शरीर विनाशक रोगों को भी (अजीगमम्) भेज देता हूँ ।

पृश्निपर्णी के पृष्टिपर्णी, चित्रपर्णी, श्वपुच्छी, कलशी, धावनी, गुहा, शृगालविन्ना, शृगालपुच्छी, सिंहपुच्छी आदि नाम हैं । उसके गुण कटु, उष्ण, अम्ल, तिक्त, अतिसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, दाह इनको नाश करती है । अथवा पृश्निपर्णी, सहमाना, सहस्वती ये नाम 'सहा' नामक ओषधि के हैं जिसको 'जीमूतक' कहते हैं इसके गुण-तिक्तोष्ण, कटु, पाण्डु, कुष्ठ, दुर्नाम, श्वास, कामला आदि रोग और मूत्र-ग्रह का नाशक है ।

---

(२६) इन्द्रियों और पशुओं का पालन ।

सविता ऋषिः । पशवो देवता । १, २ त्रिष्टुभौ । ३ उपरिष्टाद् विराड् बृहती । ४ भुरिगनुष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । पंचर्चं सूक्तम् ॥

एह य॑न्तु प॒शवो॒ ये प॑रे॒युर्वा॒युर्येषां॑ सहचा॒रं जु॒जोष॑ ।
त्वष्टा॒ येषां॑ रूप॒धेया॑नि॒ वेदा॒स्मिन् तान् गो॒ष्ठे स॑वि॒ता नि य॑च्छतु ॥१॥

भा०—(सविता) गोपालक पशुओं को हांकता है और गोशाला में पुनः लाकर उनको नियम से बांध देता है । उसी प्रकार सर्वप्रेरक परमेश्वर (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोष्ठ रूप इन्द्रियों के निवासस्थान देह में (तान्) उन पशु, इन्द्रियों को नियम में रखता है । (त्वष्टा) संसार को रचने हारा ईश्वर जिनके (रूपधेयानि) रूप (वेद) जानता है और (ये पशवः) जो पशु,

इन्द्रियों को नियम में रखता है। (त्वष्टा) संसार को रचने हारा ईश्वर जिनके (रूपधेयानि) रूप (वेद) जानता है और (ये पशवः) जो पशु, विषय का ग्रहण और दर्शन करने वाले इन्द्रियगण (परेयुः) बाहर विषयों के ज्ञान के लिये चले जाते हैं (वायुः) वायुरूप सूत्रात्मा प्राण भी (येषां) जिनके (सहचारं) साथ २ गति करता है। वे इन्द्रियां (इह) इस देह में (आ यन्तु) पुनः आ जावें। इन्द्रियों के वर्णन के साथ २, गोशाला से पशुओं को बाहर ले जाना उनको शुद्ध वायु का सेवन कराना और उनको ठीक २ पहचान २ कर नियत २ स्थान पर उचित रूप बांधने का भी उपदेश वेद ने किया है।

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

भा०—(इमं गोष्ठं) इस इन्द्रियों के रहने के स्थान देह में (पशवः) विषयों को देखने हारे इन्द्रियरूप पशु (सं स्रवन्तु) उत्तम रीति से रहें और ठीक प्रकार से विषयज्ञान करावें। (बृहस्पतिः) बृहती = वाणी का स्वामी आत्मा (प्रजानन्) इन द्वारा समस्त बाह्यज्ञान प्राप्त करता हुआ इनको (आ नयतु) विषयों के प्रति प्रेरणा करे और पुनः भीतर करे। (सिनीवाली) प्राणियों को अपने में बांधने वाली और सबको चेतना रूप से वरण करने वाली, प्राणशक्ति (एषां) इनको (अग्रं नयतु) अपने आगे प्रेरित करे या सूक्ष्म रूप प्राप्त करावे और हे कर्म करने और इन्द्रियों से विषय ग्रहण करके उनको पुनः मनन या ज्ञान करने वाली मनःशक्ते! बुद्धे! (आजग्मुषः) पुनः विषयों से लौट कर आए ज्ञानेन्द्रिय रूप पशुओं के समान स्वच्छन्द होकर व्यसनों में न जावें। सिनीवाली और अनुमति ये दोनों पुरुष प्रजापति में उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मासरूप में सिनीवाली और अनुमति अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा हैं। इनमें कृष्ण पक्ष 'रयि' और शुक्ल पक्ष 'प्राण' हैं। अतः शरीर में भी प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भाग हैं। दोनों को नियम में रखने वाली

दो शक्तियां सिनीवाली और अनुमति हैं। सिनीवाली प्राणशक्ति है जो अन्न के बल पर सब इन्द्रियों को बांधती है और वश रखती है। दूसरी 'अनुमति' है जो इन्द्रियों से गृहीत विषय क मनना करती है और आत्मा को ज्ञान कराती है।

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भा०—(पशवः) पशु (सं सं स्रवन्तु) हमारे पास आवें (अश्वाः सम्) और अश्व आवें, (पूरुषाः सम्) पुरुष आवें। (या धान्यस्य स्फातिः) जो धान्य की वृद्धि, सम्पत्ति है वह (सं) प्राप्त हो। मैं (संस्राव्येण) उत्तम रीति से इन सब पदार्थों के प्राप्त कराने हारे (हविषा) उपाय से (जुहोमि) इन सबको प्राप्त करता हूँ। अध्यात्म पक्ष में पशवः = ज्ञानेन्द्रियगण, अश्वाः = कर्मेन्द्रिय, पुरुषाः = अन्तःकरण या जीव, धान्यं = विषय ज्ञान, संस्राव्यं हविः = इनकी प्रेरणा और वशीकरण का उपाय, योगाभ्यास।

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥

भा०—(गवां क्षीरं) गायों के दूध के समान मधुर ज्ञानरस को मैं (सं सिञ्चामि) उत्तम रूप से प्रवाहित करता हूँ। (आज्येन) घृत के समान पुष्टिकारक तेज के सहित (रसम्) आनन्दजनक हर्ष और (बलं) बल को भी (सं सिंचामि) धारण करता हूँ। (अस्माकं वीराः) इस प्रकार हमारे वीर, प्राण एवं पुत्रगण भी बल, हर्ष और आनन्द से (सं सिक्ताः) आप्लावित, परिपुष्ट हों और (मयि) मुझ (गोपतौ) इन्द्रिय रूप गौओं के स्वामी के पास (गावः) इन्द्रिय रूप गौवें (स्थिराः) स्थिर रूप से रहें। इस मन्त्र में दूध, घी, रस और बल के साथ २ ज्ञान, बल और आनन्द की प्रार्थना है और गौओं और प्राणों के साथ पुत्र और पशुओं की भी प्रार्थना है।

आ ह॑रामि गवां॑ क्षीरमाहा॑र्षं धान्यं॒ रस॑म् ।
आहृ॑ता अ॒स्माकं॑ वी॒रा आ पत्नी॑रि॒दमस्त॑कम् ॥ ५ ॥

भा०—मैं (गवां क्षीरं) गौओं का दूध और इन्द्रियों का ज्ञान (आहरामि) प्राप्त करता हूँ। (धान्यं) धान्य और (रसं) अन्न के स्वादु रस और ग्राह्य विषय और उनसे प्राप्य सुख भी (आहार्षम्) प्राप्त करता हूँ। (अस्माकं वीराः) हमारे पुत्र, वीर और प्राण भी (आहृताः) हमारे पास हों, (पत्नीः आ) स्त्री और बुद्धि हमारे पास हो (इदम्) यह (अस्तकम्) घर, शरीर भी हमें प्राप्त हो।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

---

(२७) ओषधि के दृष्टान्त से चितिशक्ति का वर्णन ।

कपिञ्जल ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १—४ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

नेच्छत्रुः प्राशं॑ जयाति॒ सह॑मानाभि॒भूर॑सि ।
प्राशं॒ प्रति॑प्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ १ ॥

भा०—चितिशक्ति का ओषधि के दृष्टान्त से वरण। हे ओषधे! ओषधि के समान शरीर के ओष = उष्णता को धारण कराने वाली जीवनशक्ते! (शत्रुः) शत्रु या तेरे विलोपकारी पदार्थ (प्राशं) उत्तम रूप से व्यापक आत्मा को (न इत्) नहीं (जयाति) जीत सकता, क्योंकि तू (सहमाना) सहनशील, शत्रु का नाश करने और उसको (अभिभूः असि) पराजित करने वाली है। (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रबल रूप से हृदय में व्यापने वाले शोक, मोह, क्रोध आदि भावों को विपरीत भावना द्वारा हृदय में व्याप्त होकर, वादी को प्रतिवादी के समान (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान्) निर्बल (कृणु) कर।

सु॒प॒र्णस्त्वान्व॑विन्दत् सूक॒रस्त्वा॑खनन्न॒सा । प्राशं॒० ॥ २ ॥

भा०—(सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान्, विद्वान्, (त्वा) तुझको (अनु

अविन्दत्) खोज कर प्राप्त करता है। (सूकरः) प्राणरूप वायु या प्राणायाम का उत्तम अभ्यासी (त्वा) तुझे (नसा) नासिका से प्राणायाम करके (अखनत्) खोद लेता है, तेरा मल पा लेता है। (प्राशं प्रतिपाशः) पूर्ववत् ।

इन्द्रो॑ ह च॒क्रे त्वा॑ बा॒हाव॑सुरे॑भ्य स्तरी॑तवे । प्राशं० ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, इन्द्र, आत्मा (त्वा) तुझको (असुरेभ्यः) असुर, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह मद आदि दुष्ट भावों को (स्तरीतुम्) विनाश करने के लिये (बाहौ) अपनी बाहुरूप बल वीर्य पर (चक्रे) धारण करता है। शेष पूर्ववत् ।

पा॒टामिन्द्रो॒ व्या॑श्नाद॒सुरे॑भ्य॒ स्तरी॑तवे । प्राशं॒० ॥ ४ ॥

भा०—(असुरेभ्यः) असुरों, आसुरी भावों को (स्तरीतवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रः) इन्द्र, आत्मा (पाटाम्) दीप्तिमती आत्मशक्ति, विवेकख्याति रूप, प्रत्यक् चेतना को (वि आ अश्नाद्) उपभोग करता है। (प्राशं० इत्यादि) पूर्ववत् ।

तया॒हं शत्रू॒न्त्साक्ष॒ इन्द्रः॑ सालावृ॒काँ इ॑व । प्राशं० ॥ ५ ॥

भा०—(अहं) मैं (इन्द्रः) साक्षात् आत्मा (तया) उस चेतना शक्ति से (शत्रून्) अपने अन्तःशत्रुओं का (सालावृकान् इव) कुत्तों के समान (साक्षे) तिरस्कार करता हूँ और (प्राशं प्रतिप्राशं० इत्यादि) पूर्ववत्।

रुद्र॒ जला॑षभेषज॒ नील॑शिखण्ड॒ कर्म॑कृत् ।
प्राशं॒ प्रति॑पाशो जह्य॒रसान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र ! ब्रह्म का उपदेश करने हारे आचार्य ! शब्द ब्रह्मरूप से हृदयाकाश में व्यापक ! या अन्तकाल में रुलाने हारे ! या सब पर दया करने हारे ! या रुत् नाम संसार-दुःख को विनाश करने हारे ! हे (जलाषभेषज) सुखस्वरूप, सबके चिकित्सक ! भवरोगनिवारक!

५—'साक्षिय इन्द्रः' इति पैप्प० सं० ।

हे (नीलशिखण्ड) मनोहर कान्तिमय ! हे (कर्मकृत्) सकल कर्म के कर्त्ता परमात्मन् ! और हे (ओषधे) भवरोग के नाशक ! (प्राशंप्रतिपाशः) शरीर में व्यापक आत्मा की शक्तियों के विनाशक क्रोधादि का नाशक होकर तू (अरसान्) आनन्द रस से शून्य, संतापजनक विषयों को (जहि) विनाश कर और उनको (अरसान् कृणु) निर्बल कर।

तस्य॑ प्राशं त्वं ज॑हि यो न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति ।

अधि॑ नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यः) जो (नः) हमें (अभि दासति) विनाश करता है (तस्य) उसके (प्राशं) उत्तम भोग सामर्थ्य को (त्वं जहि) तू नाश कर और (शक्तिभिः) ज्ञानशक्तियों से (नः) हमें (अधि ब्रूहि) उत्तम उपदेश कर। (प्राशि) प्रश्न करने हारे के ऊपर (माम्) मुझको (उत्तरं) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (कृधि) कर अथवा (प्राशि) हृदय में मोहरूप से व्यापने वाले अज्ञान पर मुझे (उत्तरं कृधि) अधिक शक्ति वाला बना। सायण मत से—यह सूक्त 'पाटा' नामक ओषधि परक है। उसके मत से प्राश = प्रश्नकर्त्ता। प्रतिपाश = प्रतिवादी पर विजय पाने की प्रार्थना है, परन्तु चतुर्थ मन्त्र में 'पाटा' शब्द को सायण ने 'पाठा' समझ लिया है।

---

(२८) दीर्घायु की प्रार्थना।

शम्भुर्ऋषिः । जरिमायुर्देवता । १ जगती । २–४ त्रिष्टुभः । ५ भुरिक् ।
पंचर्चं सूक्तम् ॥

तुभ्य॑मे॒व ज॑रिमन् वर्धताम॒यं मेम॒मन्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः श॒तं ये ।
मा॒तेव॑ पु॒त्रं प्रम॑ना उ॒पस्थे॑ मि॒त्र ए॑नं मि॒त्रियात् पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—हे (जरिमन्) सबको जीर्ण करने हारे वार्धक्यकाल ! हे बुढ़ापे ! अथवा हे स्तुति योग्य अग्ने ! (अयं) यह बालक (तुभ्यम् एव) तेरे तक पहुँचने के लिये ही (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो। (अन्ये

मृत्यवः) और देह को आत्मा से पृथक् करने वाले नाना कारण (इमम्) इसको (शतं) सौ बरस तक (मा हिंसिषुः) न मारें, कष्ट न दें। (माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता पुत्र का पालन करती है और सब विपत्तियों से बचाती है उसी प्रकार (मित्रः) मृत्यु से रक्षा करने वाला परमात्मा (प्रमनाः) उत्तम ज्ञानवान् (उपस्थे) अपनी गोद में धर कर (एनं) इसको (मित्रियात्) मित्रोंवत् स्नेहवश किये हुए (अंहसः) द्रोहादि या पापाचरण व्यवहार से (पातु) रक्षा करे, बचावे।

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥२

भा०—(मित्रः) मृत्यु से त्राण करने वाला प्राण और (वरुण) शरीर के सब कष्टों का वारण करने वाला अपान, (रिशादा) दोनों हिंसा या प्राणापहरण करने वाले कारणों के विनाशक होकर (संविदानौ) परस्पर मिल कर, एकचित्त एक दूसरे की शक्ति को प्राप्त होकर इस बालक को (जरामृत्युं) जरा, काल में देह त्याग करने हारा (कृणुतां) करें। (होता) अन्नादि भक्षण करने वाला, या प्राण और अपान दोनों की आहुति करने वाला (अग्निः) जाठर अग्नि या ज्ञानी अभ्यासी (वयुनानि) समस्त ज्ञान करने योग्य ज्ञानों और कर्मों और लोकों को (विद्वान्) जानता हुआ (देवानां) देवों, इन्द्रियों के (विश्वा) समस्त (जनिमा) जन्म, प्रादुर्भाव होने के रहस्यों को (विवक्ति) उपदेश करे।

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥३॥

भा०—हे परमात्मन्! (त्वं) तू (पार्थिवानां) पृथ्वी पर उत्पन्न (पशूनां) जीवों में से (ये जाताः) जो उत्पन्न हुए और (ये जनित्राः) जो उत्पन्न होंगे उन सबका (ईशिषे) स्वामी है। इस कारण परमात्मन्! (इमं) इस बालक को (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न त्याग करे और

(मित्रः) मित्र, स्नेही जन (मा वधिषुः) इसके प्राणों का नाश न करें और (अमित्राः उ मा) शत्रु भी इसका वध न करें ।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

भा०—हे बालक ! (द्यौः) द्यौ = प्रकाशस्वरूप सूर्यवत् उत्पादक, पिता और (पृथिवी) विशाल गर्भ में धारण करने वाली पृथिवी के समान (माता) माता, दोनों (संविदाने) एक मति होकर (त्वा) तुझको (जरामृत्युं) वृद्धावस्था में देह छोड़ने में समर्थ (कृणतां) करें । तू (अदितेः) इस पृथिवी माता की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्यां) प्राण और अपान दोनों से (गुपितः) रक्षित होकर (शतं हिमाः) सौ वर्षों तक (जीव) जी ।

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥५॥

भा०—हे अग्ने ! देव ! (इमम्) इस पुत्र को (आयुषे) दीर्घ आयु और (वर्चसे) तेज और बल प्राप्त करने के लिये (नय) सन्मार्ग से ले चल । हे वरुण ! हे मित्र ! हे राजन् ! यह हमारा ही (प्रियं) प्रिय (रेतः) वीर्य है, इसलिये हे (अदिते) अखण्डचरित्रा पृथिवी ! आप (माता इव) माता के समान (अस्मा) इसको (शर्म) सुख और शरण (यच्छ) दो । हे (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो और दिव्य पदार्थो ! आपके बल पर यह (यथा) जिस प्रकार (जरदष्टिः) जराकाल तक जीवन यापन करने वाला (असत्) हो ।

---

(२९) ब्रह्मचर्य और दीर्घ जीवन की प्रार्थना ।

अथर्वा ऋषिः । मन्त्रोक्ता बहवो देवताः । १ अनुष्टुप् । २, ३, ५-७ त्रिष्टुभः । ४ पराबृहती निचृत्प्रस्तारा पंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥ १ ॥

भा०—(अस्मै) इस पुरुष को (देवाः) दिव्यगुण वाले पदार्थ (अग्निः) अग्नि, ज्ञानी (सूर्यः) सूर्य, तेजस्वी (बृहस्पतिः) बड़े लोकों और वेद वाणी का पालक, परमेश्वर (पार्थिवस्य) पृथिवी से उत्पन्न (भगस्य) सेवन करने योग्य, ऐश्वर्य युक्त, भोगायतन इस (तन्वः) शरीर के (बले) बलस्वरूप (रसे) सारिष्ठ भाग वीर्य में (आयुष्यम्) दीर्घ आयुप्रद (वर्चः) तेज को (आधात्) आधान करे। रोग से मुक्त होने और कुमारों को पुष्ट करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन कराना आवश्यक है।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधि निधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक या उनको जानने हारे अग्ने ! परमात्मन् ! (अस्मै) इस कुमार को (आयुः) दीर्घ आयु (धेहि) प्रदान करो। हे (त्वष्टः) समस्त शरीरों की रचना करने हारे परमात्मन् ! (अस्मै) इस कुमार में (प्रजां) सन्तति उत्पन्न करने का विशेष सामर्थ्य (अधि निधेहि) स्थापित करो। हे (सवितः) सबके उत्पादक और प्रेरक परमात्मन् ! (अस्मै) इसको (रायस्पोषं) धन, जीवन और देह का पालन पोषण सामर्थ्य (आ सुव) प्रदान करो। (अयम्) यह कुमार (शतं शरदः) सौ वर्षों तक (जीवाति) जीवे।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥३॥

भा०—हे माता और पिता ! आप दोनों (सचेतसौ) समान चित्त होकर (नः) हमें (आशीः) आशीर्वाद (धत्तम्) प्रदान करो (उत) और (सौप्रजास्त्वं) उत्तम प्रजाओं का सामर्थ्य (दक्षं) बल और (द्रविणं) ऐश्वर्य को (धत्तं) धारण करो और (जयं) जय (क्षेत्राणि) और धन धान्य सम्पन्न खेतों को (धत्तं) प्राप्त करो। हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (अयम्) यह कुमार, नव गृहपति (अन्यान्) अन्य (सपत्नान्)

अपने शत्रुओं को (सहसा) बल से (अधरान्) नीचा (कृण्वानः) दिखाता हुआ (जयं) जय को और (क्षेत्राणि) धान्य सम्पन्न क्षेत्र भी प्राप्त करे।

इन्द्रे॑ण द॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टो म॒रुद्भि॑रु॒ग्रः प्रहि॑तो न॒ आग॑न् ।
ए॒ष वां॑ द्यावापृथिवी उ॒पस्थे॑ मा क्षु॑ध॒न्मा तृ॑षत् ॥ ४ ॥

भा०—यह पुरुष (इन्द्रेण) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा से (दत्तः) नाना पदार्थ प्राप्त करके (वरुणेन) श्रेष्ठ आचार्य से (शिष्टः) शिक्षित होकर, (मरुद्भिः) विद्वान् पुरुषों, प्राणों और प्रजाओं से (प्राहितः) योग्य कार्य में नियुक्त हुआ (नः) हमारे पास (आगन्) आवे। हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता और पिता जनो ! (वां) आप दोनों के (उपस्थे) समीप रक्षा में रहकर वह कभी (मा क्षुधत्) भूखा न रहे और (मा तृषत्) और कभी प्यास से पीड़ित न हो।

ऊर्ज॑मस्मा ऊर्जस्वती धत्तं॒ पयो॑ अ॒स्मै पय॑स्वती धत्तम् ।
ऊर्ज॑म॒स्मै द्यावा॑पृथि॒वी अ॑धाता॒ं विश्वे॑दे॒वा म॒रुत॒ ऊर्ज॒मापः॑ ॥५॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवीवत् माता और पिता ! (अस्मै) इस कुमार को आप दोनों (ऊर्जस्वती) अन्न और बल धारण करने वाले होकर (ऊर्ज) बल और अन्न (धत्तं) प्रदान करो और (पयस्वती) पुष्टि-कारक दूध और अन्न रस वाले होकर (पयः) पुष्टिकारक पदार्थ (धत्तम्) प्रदान करो। (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान् और दिव्य पदार्थ और (मरुतः) ज्ञानी और व्यवहारविज्ञ और (आपः) आप्तजन (ऊर्जम्) पुष्टिकारक बल अन्न प्रदान करें।

शि॒वाभि॑ष्टे हृद॑यं तर्पयाम्यनमी॒वो मो॑दिषीष्ठाः सु॒वर्चाः॑ ।
स॒वा॒सिनौ॑ पिबतां म॒न्थमे॒तम॒श्विनो॑ रू॒पं प॑रि॒धाय॑ मा॒याम् ॥६॥

भा०—हे कुमार ! (ते) तेरे (हृदयं) हृदय को (शिवाभिः) कल्याण-कारिणी शिक्षाओं से और शरीर को कल्याणकारी जलधाराओं से (तर्प-

यामि) तृप्त करता हूँ । तू (अनमीवः) रोग से रहित और (सुवर्चाः) उत्तम ब्रह्मचर्य से प्राप्त तेज से सम्पन्न होकर (मोदिषीष्ठाः) प्रसन्न रह। हे माता पिताओ, वर वधुओ ! आप दोनों (अश्विनोः) आत्मवान् जितेन्द्रिय, पथ्यकारी, ज्ञानी स्त्री पुरुषों के (रूपं) स्वरूप (मायां) और शोभा को (परिधाय) धारण करके (सवासिनौ) एक ही व्रत में निष्ठ समान वस्त्र धारण कर एकत्र रह कर (एतं) इस बलोत्पादक (मन्थम्) सत्तू के बने घोल या मठे को (पिबतां) पान करो । जिससे आप दोनों का बल बढ़े और स्वास्थ्य बना रहे । कुमार ब्रह्मचर्य पालन करें और मां बाप पुष्टिकर अन्नों का उपभोग कर व्रतनिष्ठ रहें, एक से वस्त्र पहनें, समान रूप से धर्म-कार्य करें। सवासिनौ समानं वस्त्रं वसानौ एकत्र वसन्तौ वा इति सायणः ।

इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन् ॥७॥

भा०—हे कुमार ! (इन्द्रः) ज्ञानवान् पुरुष ने (विद्धः) भूख, दुर्बलता एवं रोगों से पीड़ित होकर स्वयं (अग्रे) प्रथम ही (अजरां) न जीर्ण होने वाले, अविनश्वर, प्रभावकारी (ऊर्जां) बलकारी, देहपोषक (स्वधां) अमृतरूप (एतां) इस अन्न को (ससृजे) उत्पन्न किया है । हे पुरुष ! हे कुमार ! (तया) उस अन्न से (त्वं) तू (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (शरदः) सौ वर्ष तक (जीव) जीवन का भोग कर (ते) तेरा प्राप्त किया हुआ बलवीर्य (मा आ सुस्रोत्) कभी स्रवित न हो, क्योंकि यह अवस्था (भिषजः) रोगों को दूर करने हारे विद्वानों ने (ते) तेरे लिये (अक्रन्) बनाई है । अन्न खाकर जीवनयापन करें और बल वीर्य का पालन कर दीर्घायु हों यही वैद्य, डाक्टरों की व्यवस्था है ।

---

(३०) प्रेमपूर्वक स्वयंवर-विधान ।

प्रजापतिर्ऋषिः । अश्विनौ देवता । १ पथ्यापंक्तिः । भुरिक् । २, ४, ५ अनुष्टुभः । पंचर्चं सूक्तम् ॥

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑ ।
ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॥१॥

भा०—कन्या के प्रति विवाहेच्छु युवक कुमार इस प्रकार विचार करे । (यथा) जिस प्रकार (इदं तृणं) इस तृण को (भूम्या अधि) इस पृथ्वी पर (वातः) वायु का झकोरा (मथायति) उड़ाये फिरता है (एवा) उसी प्रकार (ते मनः) तेरे मन को मैं (मथ्नामि) अपने साथ २ लिये फिरूं अर्थात् तेरे मन को मैं अपने वश करूं । (यथा) जिससे तू (मां) मुझे ही (कामिनी) चाहने वाली (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार तू (मत्) मुझे छोड़ (अपगाः) अन्यत्र जाने वाली (न असः) न हो । कुमार कुमारी के चित्त को इतना अधिक खींच ले कि वह उसी की अभिलाषा करे उसको त्याग कर अन्य को वरने की न सोचे । इतना प्रेम होने पर विवाह होना चाहिये ।

स चेन्नया॑थो अश्विना का॒मिना॒ सं च॒ वक्ष॑थः ।
सं वां॒ भगा॑सो अग्मत॒ सं चि॒त्तानि॒ समु॑ व्र॒ता ॥ २ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) आत्मवान्, जितेन्द्रिय कुमार और कुमारी ! तुम दोनों (चेत्) यदि गृहस्थ रथ में अश्वी = आत्मवान् होकर, स्वतः कर्त्ता होकर गृहस्थ के कार्य (नयाथः) उठाने में समर्थ होओ, (च) और (कामिना) एक दूसरे की अभिलाषा वाले होकर एक दूसरे के भार को (सं वक्षथः) मिल कर उठाने में समर्थ होओ, तब (वां) तुम दोनों को (भगासः) ऐश्वर्य (सं अग्मत) तुम्हें प्राप्त हों (चित्तानि) तुम्हारे हृदय के सब संकल्प (सं) एक हों । (व्रता उ) शास्त्र प्रतिपादित धर्मकार्य, यम नियम आदि व्रत भी (सम्) समान रहें । विवाह के लिये युवक युवती के आत्मा एक, मनोरथ एक, चित्त और व्रत एक होने उचित हैं ।

यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (शल्यः) कांटा, तीक्ष्ण सुई (कुल्मलं) कोमल फूल की कली को बेध देती है उसी प्रकार (मे) मेरी (हवं) यह पुकार (तत्र) उस दिल पर (गच्छतात्) पड़े (यत्) जिसके विषय में (सुपर्णाः) संदेश लाने वाले उत्तम ज्ञानी पुरुष भी (विवक्षवः) मुझे संदेश बतलाना चाहते हैं और (अनमीवाः) नीरोग पुरुष (विवक्षवः) मुझे आरोग्य आदि का संदेश दें। विवाहेच्छु कुमार विद्वान् संदेशहर और आरोग्यकारी वैद्यों का निर्णय प्राप्त करके भावी सुभाङ्गी स्त्री के प्रति अनुमति दे।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

भा०—(विश्वरूपाणां) सब अङ्गों में रूपवती, उत्तम, अनिन्दित निर्दोष अंगों वाली, (कन्यानां) कन्याओं के (यद् अन्तरं) जो भीतर चित्त में होता है (तद् बाह्यं) वही उनके बाहर वाणी में भी हो और (यद् बाह्यं) जो वे बाहर वाणी से प्रकट करती हैं (तद् अन्तर) वही हृदय में चिन्तन करें। हे (ओषधे) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ ! तू (मनः) कन्या या वरण योग्य कुमारी के चित्त को (गृभाय) ग्रहण कर। विवाह के अवसर पर वर, वधू परस्पर अन्न खाकर बाह्य वचन और भीतरी हृदय को एक कर लें। सर्वाङ्गों में शुभ कन्याएं सदाचारिणी, सत्यवादिनी होती हैं। जो दुराचारिणी और असत्यवादिनी होती हैं उनके शरीरों की रचना में बहुत दोष होते हैं यह लक्षणवेत्ताओं का अनुभव है। "ओं अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते।" मन्त्रब्राह्मण। इस मन्त्र से वर अन्न का शेषांश वधू को खिलाता है।

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

भा०—विवाह हो जाने पर वर कहता है। (इयम्) यह वधू (पतिकामा) पति की अभिलाषा वाली होकर (आ अगन्) आई है और (अहम्) मैं (जनिकामः) पुत्रोत्पादन में समर्थ भार्या का अभिलाषी (आगमम्) गृहस्थ में आया हूँ। (यथा अश्वः कनिक्रदद्) जिस प्रकार अश्व अश्वा को देख हिनहिनाता, प्रसन्न होता है उसी प्रकार मैं भी (कनिक्रदद्) अपने हृदय और वाणी से बुलाता हुआ (भगेन सह) ऐश्वर्य के साथ (आ अगमम्) युक्त होऊं। इसी प्रकार स्त्री भी विचार करे कि मैं पतिकामा हूँ यह भार्याकाम है, मैं इस सौभाग्यशील पति के साथ युक्त हो जाऊं।

वेदमन्त्र भी है—'भगस्ते हस्तमग्रभीत्।'

---

(३१) रोगकारी जन्तुओं के नाश का उपदेश।

कण्व ऋषिः। मही चन्द्रो वा देवता। १ अनुष्टुप्। २, ४ उपरिष्टाद् विराड् बृहती। ३ आर्षी त्रिष्टुप्। पंचर्चं सूक्तम्॥

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत् क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न् दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव॥ १॥

भा०—रोगकारक जन्तुओं के नाश का उपदेश। (इन्द्रस्य) तेजस्वी सूर्य की (या) जो (मही) बड़ी भारी (दृषत्) विदारण करने वाली (विश्वस्य) समस्त (क्रिमेः) फैलने वाले रोग जन्तुओं की (तर्हणी) विनाशक शक्ति है (तया) उससे (क्रिमीन्) रोगकारी क्रिमियों को (सं पिनष्मि) एक साथ ही ऐसा पीस कर विनाश करूं जैसे (दृषदा) चक्की की शिला से (खल्वान् इव) चनों को पीसा जाता है। सूर्य, वायु, प्राण और आत्मा ये इन्द्र शब्द से कहे जाते हैं। इनकी शक्ति से रोगजन्तुओं को नाश करना चाहिये।

दृ॒ष्टम॒दृष्ट॑मतृह॒मथो॑ कु॒रूरु॑मतृहम्।
अ॒ल्गण्डू॒न्त्सर्वा॑ञ् छ॒लुना॑न् क्रिमी॒न् वच॑सा जम्भयामसि॥ २॥

भा०—मैं (दृष्टम्) चक्षु से दीखने वाले रोग-कीट का (अतृहम्) नाश करूं और (अदृष्टम्) जो चक्षु से न दीखने वाला है उसका भी नाश करूं। (अथो) और (कुरूरुम्) कुत्सित शब्द करने वाले, चिटचिटाने वाले या बुरी तरह से रुलाने वाले, कीट जाति का मैं (अतृहम्) विनाश करता हूँ और (सर्वान्) सब प्रकार के (अल्गण्डून्) अति अधिक खाज पैदा करने वाले (शलुनान्) शरीर में प्रवेश कर जाने वाले, वेगवान् (क्रिमीन्) रोगकीटों को (वचसा) वेदवाणी के बतलाये उपायों या वाक्शक्ति से हम (जम्भयामि) बांधता या विनाश करते हैं।

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै॥३॥

भा०—(अल्गण्डून्) अति अधिक खाज उत्पन्न करने वाले 'अल्गण्डु नामक कीटों को (महता वधेन) बड़ी तीव्र विनाशक ओषधि से (हन्मि) विनाश करूं। वे सब कीट ओषधि से (दूनाः) जलभुन कर और (अदूनाः) या बिना जले ही सूख कर (अरसाः) बिना प्राण के (अभूवन्) हो जाते हैं। उन जन्तुओं में से मैं (शिष्टान्) शास्त्र में जिनके विशेष नाम, लक्षण कहे हैं उनको और (अशिष्टान्) जिनके नहीं कहे उन उनके समान हानिकारक अन्यों को भी (वाचा) वाणी के बल से या वेदवाणी के लिये उपदेश से (नि तिरामि) मूल से विनाश करूं (यथा) जिससे (क्रिमीणां) फैलने वाले, रोगकारी कीटों में से (नकिः) कोई भी न (उत् शिषातै) बच पावें।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य मथो पार्ष्ट्यं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भा०—(अन्वान्त्र्यं) आंतों में उत्पन्न होने वाले, विषूचिका के कीट, (शीर्षण्यं) शिरो भाग में उत्पन्न होने वाले दाद, खाज और पीनस या शिरोरोग के उत्पादक (अथो पार्ष्ट्यं) और पृष्ठ देश के मोहरों या

पसलियों में उत्पन्न होने वाले कुकुता, नासूर या राजयक्ष्मा आदि के (क्रिमीन्) रोगकीटों को और इसी प्रकार (अवस्कवं) त्वचा के भीतर घुस जाने वाले दद्रु, पामा आदि के कीट (व्यध्वरं) नाना प्रकार से फैलने या विविध प्रकार से शरीर का विकृत मांस खाने वाले (क्रिमीन्) रोग-कीटों को (वचसा) वाणी की शक्ति या शास्त्र प्रयोग से (जम्भयामसि) विनाश करें। (द्वि०) (पार्ष्णेयं) (तृ०) व्यद्वरं इति पाठः।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

भा०—(ये क्रिमयः) जो क्रिमि, रोगजनक जन्तु (पर्वतेषु) पर्वतों में (वनेषु) वनों, जंगलों में, (ओषधीषु) ओषधि आदि खाने योग्य पदार्थों में, (पशुषु) पशुओं में और (अप्सु अन्तः) पान करने योग्य जलों में हों और (ये) जो (अस्माकं) हमारे (तन्वं) शरीर में व्रण मार्ग से या अन्न जल के साथ (आ विविशुः) घुस जाते हैं (सर्वं तत्) उन सब (क्रिमीणां) रोग जन्तुओं के (जनिम) जातियों को या उत्पत्ति के मूलकारण (हन्मि) मैं विनाश करूं।

इति पञ्चमोऽनुवाकः।

---

(३२) रोगकारी क्रिमियों के नाश करने का उपदेश।

कण्व ऋषिः। आदित्यो देवता। १ त्रिपदा भुरिग् गायत्री। २—५ अनुष्टुभः। ६ चतुष्पदा निचृदुष्णिक्। षडृचं सूक्तम्॥

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

भा०—(उद् यन्) उदित होता हुआ (आदित्यः) सूर्य का तेज (क्रिमीन्) रोग-कीटों का (हन्तु) नाश करे और (निम्रोचन्) अस्त होता हुआ सूर्य (रश्मिभिः) किरणों से (हन्तु) उन रोग जन्तुओं का नाश करे (ये) जो (क्रिमयः) रोगजनक जन्तु (गवि) पृथिवी या इन्द्रियों के (अन्तः)

भीतर विद्यमान हैं। उदित और अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में विशेष रोगनाशक घातक गुण हैं। तिरछी पड़ती किरणें ही घरों में, गुफाओं में और वृक्षों के झुरमुटों में प्रवेश कर सकती हैं। (प्र० 'उद्यन्सूर्यः क्रिमीन्' पाठः।

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

भा०—मैं (विश्वरूपं) नाना आकार के, (चतुरक्षं) चार २ आंखों वाले, या मकड़ी के समान चारों तरफ देखने वाले, (सारङ्ग) श्याम खाकी रंग के शरीर वाले, या सरक कर चलने वाले (अर्जुनम्) श्वेत वर्ण के, या कुटिल गति से जाने वाले, कीट जाति का भी (शृणामि) विनाश करूं और (अस्य) इसके (पृष्टीः) पसलियों या पीठ के प्रत्येक मोहरों का भी विनाश करूं और (यत्) जो (शिरः) उसका मुख्य शिर या अगला सिरा है उसको भी (वृश्चामि) काट डालूं। इन रोग-कीटों के प्रत्येक अंग अंग का विनाश करना चाहिये क्योंकि उनका प्रत्येक अंग अलग अलग कर देने पर भी वे जीते रहते हैं।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

भा०—(अत्रिवत्) जिस प्रकार हिंसक मांसभक्षी जीव अपने भक्ष्य जीव का विनाश कर देता है और (कण्ववत्) कण २ करके खाने वाला मुर्गा आदि पक्षि जैसे कण २ चुन २ कर समस्त कण खा जाता है और या (जमदग्निवत्) जिस प्रकार प्रज्वलित आग एक ही बार में सब भस्म कर देता है उस प्रकार हे (क्रिमयः) रोग जन्तुओ ! मैं (वः) तुमको इन नाना विधियों से (हन्मि) विनष्ट करूं और (अहं) मैं (क्रिमीन्) इन रोगकारी जन्तुओं को (अगस्त्यस्य[1]) अगस्त्य = अग,

१—अग = सूर्य (आप्टे) अगस्त्य = अग का सहन न करने वाला, इकट्ठा करते

रोगनिवारक सूर्य का भी संहनन अर्थात् निर्माण करने वाले परमात्मा द्वारा उपदिष्ट (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र के उपाय या अग्नितत्व के बल से (सं पिनष्मि) उत्तम रीति से विनाश करूं।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार भूमि पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं के राजा, मन्त्री, माता, भाई, बहिन आदि सहित शत्रु को निर्मूल कर दिया जाता है उसी प्रकार (क्रिमीणां) रोग-जन्तुओं में भी जो मुख्य जन्तु हो उस (राजा) राजा को (हतः) औषध प्रयोग से मार डाला जाय। (उत एषां) और इनके (स्थपतिः) रहने के निवास बनाने वाले जन्तुओं का भी (हतः) नाश किया जाय और (हतमाता) इनके प्रसव करने वाली रानी कीट को भी मारा जाय। (हतभ्राता) इनके सहवर्गी कीटों को भी मारा जाय और (हतस्वसा) इनके भगिनी मादा कीटों को भी मारा जाय, तब (क्रिमिः) फैलने वाले रोग-जन्तु (हतः) नष्ट होता है।

मधुमक्खी और कीड़ियों के समान कीटों में भी कुछ कीट उनमें राजा, कुछ उनके मकान बनाने वाले, कुछ भाई, कोई रानी आदि नाना विभाग होते हैं, रोगकारी सूक्ष्म कीटों में भी बड़ा संगठन होता है उनका विनाश शत्रु के नाश के समान ही करना उचित है।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

भा०—शत्रु के जिस प्रकार (वेशसः) सेवक और भीतरी अन्तरंग

वाला। सूर्य रोगनाशक है। परमात्मा उस सूर्य का भी निर्माता है। अतः वह महौषध रूप है।

५—(तृ०) 'क्षुद्लका' इति नेदं पदं 'क्षुद्रक' पदस्य प्राकृतं रूपमपि त्वार्षम्। तैत्तिरीयारण्यकगतं 'क्षुद्रक' पदमस्य व्याख्यानमात्रम्।

पुरुषों और (परिवेशसः) बाहर के रक्षकों (क्षुल्लकाः) और छोटे मोटे सहचरों को भी मार दिया जाता है उसी प्रकार (अस्य) इस विनाश करने योग्य रोग-जन्तु के (वेशसः) भीतरी आश्रय-स्थानों या मुख्य जीवों को और (परिवेशसः) उनसे मिलते जुलते उस वर्ग के अन्य कीटों को भी (हतासः) मारा जाय। (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लकाः) अत्यन्त क्षुद्र, झिल्ली या अण्डों के रूप में उनके बीजभूत (इव) से हैं (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) रोगसंक्रामक जीव (हताः) मार दिये जायं तभी रोग दूर हो सकता है।

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

भा०—विषैले जन्तु का नाश करने का उपदेश। (ते) तेरे (शृङ्गे) दोनों कांटों को (शृणामि) नाश करता हूँ (याभ्यां) जिनसे (वि तुदायसि) तू नाना प्रकार से काटता और पीड़ा देता है और (ते) तेरे (कुषुम्भं) उस थैली को (भिनद्मि) फोड़ देता हूँ (यः) जो (ते) तेरा (विषधानः) जहर रखने का स्थान है।

---

(३३) देह के अङ्गों से रोग नाश करने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः। यक्ष्मविबर्हणं चन्द्रमा वा देवता। आयुष्यं सूक्तम्। १, २ अनुष्टुभौ। ३ ककुम्मती। ४ चतुष्पदा भुरिग् उष्णिक्। ५ उपरिष्टाद् विराड् बृहती। ६ उष्णिग्गर्भा निचृदनुष्टुप्। ७ पथ्या पंक्तिः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

ऋ० १० । १६३ । १॥

भा०—शरीर के अंगों में बैठे रोगों की चिकित्सा। हे पुरुष ! मैं वैद्य,

---

६—(तृ०) 'कुपूभम्' 'कुषभं' 'कषभं' कुपुभं' इति पाठाः।

आयुर्वेद का जानने हारा विद्वान् (ते) तेरे (अक्षीभ्यां) दोनों आंखों में से (नासिकाभ्यां) दोनों नासिकाओं में से और (छुबुकाद् अधि) ठोडी में से और (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) शिर में भीतर भेजे अर्थात् मस्तिष्क भाग में से और (शीर्ष्ण्यं) शिर में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूँ।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१ंमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६३ । २ ॥

भा०—(ते ग्रीवाभ्यः) तेरी गर्दन १४ सूक्ष्म अवयवों से (उष्णिहाभ्यः) ऊपर की धमनियों से, (कीकसाभ्यः) जत्रु और वक्षःस्थल की हड्डियों से और (अनूक्यात्) अस्थिओं के मिलाने वाले संधिभाग से और (ते अंसाभ्यां) तेरे कन्धों और (बाहुभ्यां) जाहुओं से और (दोषण्यं) और भुजाओं में होने वाले (यक्ष्मं) रोग को (वि वृहामि) दूर करता हूँ। 'ग्रीवाभ्यः' = ग्रीवाः पञ्चदश । चतुर्दश वा एता करूकराणि वीर्यं पञ्चदशम् । तस्मात् एताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरु भारं वहति । (श० ब्रा० १२। २।४।१०) ग्रीवा में १४ करूकर = सूक्ष्म अवयव, मांसपेशियां हैं जिनके बल पर गर्दन भारी भार भी उठा लेती है। उष्णिहा = धमनीः इति सायणः। ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः। तदुक्तं उष्णिग् उत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । अनूक्यम् = अनुक्रमेणोच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि इति अनूक्यम् तत्संधिः। उच समवाये इत्यतः अनुपूर्वाण्ण्यत्। दोषण्यम् = दोष्णोर्भवम् ।

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥
उत्तरार्धम् ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते हृदयात्) तेरे हृदय से, (क्लोम्नः) हृदय के समीप के फेंफड़े से, (हलीक्ष्णात्) चित्तोत्पादक अंग से, (पार्श्वाभ्यां मतस्नाभ्यां)

दोनों पासों पर लगे गुर्दों से, (प्लीह्नः) पिलही से और (ते यक्नः) तेरे यकृत् अर्थात् कलेजे से हम (यक्ष्मं वि वृहामसि) रोग को दूर करते हैं।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १६३ । ३ ॥

भा०—(ते आन्त्रेभ्यः) तेरी आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदाओं से, (वनिष्ठोः) स्थूल आंतों से, (उदराद् अधि) और उदर अर्थात् आमाशय से (कुक्षिभ्यां) दोनों कोखों के, (प्लाशेः) मलाशय से और (नाभ्यां) तेरी नाभि से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को दूर करता हूँ ।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १६३ । ४ ॥

भा०—(ते ऊरुभ्यां) तेरी ऊरू = जंघाओं से, (अष्टीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां) सख्त हड्डी वाले दोनों गोडों और एडियों से, (प्रपदाभ्यां) पैर के अगले भागों, पंजों से तेरा यक्ष्म = रोग विनाश करता हूँ और इसी प्रकार दोनों कूल्हों से और (भसद्यं) कटिदेश में उत्पन्न रोग को दूर करता हूँ और (ते भंससः) तेरे गुह्य = मूत्र मार्ग से (भासदं) गुह्य प्रदेश में उत्पन्न (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को भी दूर करता हूँ ।

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १६३ । ५ ॥

भा०—(ते अस्थिभ्यः) तेरी हड्डियों से, (मज्जभ्यः) मज्जा भागों से, (स्नायुभ्यः) स्नायुओं से (धमनिभ्यः) धमनी, रक्त-वाहिनी नाड़ियों से (पाणिभ्यां) तेरे हाथों से (अंगुलिभ्यः) अंगुलियों से और (ते नखेभ्यः) तेरे नखों से (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग दूर करता हूँ ।

अङ्गे॑अङ्गे॒ लोम्नि॑लोम्नि॒ यस्ते॒ पर्व॑णि पर्वणि ।
यक्ष्मं॑ त्वच॒स्यं॑ ते व॒यं क॒श्यप॑स्य वीब॒र्हेण॒ विष्व॑ञ्चं॒ वि वृ॑हामसि ॥७॥
ऋ० १० । १६३ । ६ ॥

भा०—(ते) तेरे (अङ्गे अङ्गे) अंग २ में और (लोम्नि लोम्नि) रोम रोम में और (पर्वणि पर्वणि) पोरु २ में (ते त्वचस्यं) तेरी त्वचा के भीतर बैठे, (विश्वञ्चं) सब देह में बैठे (यक्ष्मं) रोग को (कश्यपस्य) रोग के कारण और उनके उपायों को देखने हारे ज्ञानी पुरुष के उपदेश किये हुए (वीबर्हेण) नाना प्रकार के रोगविनाशक उपाय से (वि वृहामसि) हम दूर करते हैं।

---

(३४) मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अथर्वा ऋषिः । पशुपतिर्देवता । पशुभागकरणम् । १–४ त्रिष्टुभः । पंचर्चं सूक्तम् ।

य ईशे॑ प॒शुप॑तिः पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् ।
निष्क्री॑त॒ः स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम् ॥१॥

भा०—(यः) जो विभूतियों का अभिलाषी आत्मा (पशूनां) अपनी इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करने हारे (चतुष्पदां) चौपाये और (द्विपदां) दो पाये मनुष्य और पक्षियों पर भी (ईशे) अपना वश करता और उनका स्वामी हो जाता है। वह (पशुपतिः) 'पशुपति' कहाता है। (सः) वह (निष्क्रीतः) सब प्रकार से स्वतन्त्र होकर (यज्ञियं) यज्ञयोग्य या परमात्मा सम्बन्धी (भागं) भाग, ऐश्वर्य को (एतु) प्राप्त हो और (रायः पोषाः) धनादि की समस्त विभूतियां और सामर्थ्य (यजमानं) उस महान् यज्ञकर्त्ता आत्मसाधक को (सचन्तां) प्राप्त होते हैं।

---

[३४] १–'येषां पशुपतिः' इति पैप्प०, तै० सं० । (द्वि०) 'यश्च द्विपदाम्', 'यजमानस्य सन्तु' इति तै० सं० ।

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पार्थः ॥ २ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! और पृथिवी आदि लोको ! अथवा प्राकृतिक विकार रूप पञ्चभूतो ! (भुवनस्य) उत्तम होने हारे इस देह और विश्व के (रेतः) उत्पन्न होने के मूलकारण, कर्मफल को या प्रकृति को (समुञ्चन्तः) सर्वथा परित्याग करते हुए (यजमानाय) पुण्य-कार्य और ज्ञानयज्ञ के सम्पादक मुमुक्षु आत्मा के लिये (गातुं) ज्ञानमार्ग का (धत्त) आश्रय दो। (यद्) जब वह जीव (देवानां) मुक्त ज्ञानयोगी विद्वानों के (प्रियं पाथः) प्रिय मार्ग, देवयान मार्ग में (अस्थात्) दृढ़रूप से स्थिति करे तब (उपाकृतं) योगसाधनों से संस्कृत, (शशमानं) इस देह-बन्धन को छोड़कर मोक्ष में जाने के लिये उद्यत, निरन्तर शमादि के पालक, इस आत्मा को वह मार्ग भी (एतु) प्राप्त हो ।

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो ध्यानी, योगाभ्यासी, मुमुक्षु पुरुष (दीध्यानाः) योगसमाधि द्वारा ध्यान करते हुए (बध्यमानम्) देह में बंधे आत्मा को (मनसा) मननशक्ति और (चक्षुषा) प्रज्ञानेत्र से (अनु ऐक्षन्त) अनुदर्शन करते हैं (अग्निः) सर्वप्रकाशक ज्ञानमय (देवः) प्रकाशस्वरूप (विश्वकर्मा) समस्त विश्व का कर्त्ता परमेश्वर (प्रजया) समस्त जीव प्रजा या सर्वोत्पादक प्रकृति के साथ (संरराणः) रमण करता हुआ जगदीश्वर (अग्रे) प्रथम ही (मुमोक्तु) देह के क्लेशमय बन्धन से मुक्त कर देता है, उनको जीवन्मुक्त कर देता है ।

२–(प्र०) 'प्रमुञ्चमाना', (च०) 'जीवं देवानां' इति तै० सं०। (प्र०) 'भुवनस्य गोपा' (द्वि०) 'देवा यजमानाय धत्त' (च०) 'अप्येति पाथः'। इति पैप्प० सं० ।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो (ग्राम्याः) समाजधर्म का पालन करते हुए भी (पशवः) आत्मिक-मार्ग के दर्शन करने वाले हैं, (विश्वरूपाः) विश्व में जो कि दर्शनीय (विरूपाः) भिन्न २ कर्मों से नाना रूप होते हुए भी जो (बहुधा) प्रायः कर (एकरूपाः) निष्काम कर्म से एकरूप हैं (तान्) उन्हें (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ रमण करता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा की रक्षा करता हुआ (वायुः) सूत्रात्मा रूप व्यापक परमात्मा (अग्रे) शीघ्र (प्र मुमोक्तु) मुक्त कर देता है। अर्थात् ऐसे महात्माओं को मुक्ति के लिये नाना जन्म नहीं देखने पड़ते।

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

भा०—जिस प्रकार (पूर्वे) पूर्वकल्प के ऋषिजन अथवा पूर्व पुरुष (प्रजानन्तः) ब्रह्म और आत्मा के तत्व को भली प्रकार जानते हुए समस्त अङ्गों में (परि आचरन्तं) सर्वत्र गति करते हुए (प्राणं) प्राण को वश करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु जन भी योग-साधनों से उस प्राण को (परि गृह्णन्तु) अपने वश करें। हे मुमुक्षु पुरुष ! तू भी (शरीरैः) शरीरों द्वारा (प्रति तिष्ठाः) आत्मा को प्रतिष्ठित साधना-सम्पन्न, सामर्थ्यवान् कर और फिर (देवयानैः पथिभिः) विद्वानों द्वारा गमन करने योग्य, मुमुक्षु मार्ग, देवयान नामक ज्ञानमार्गों से (स्वर्गं) उस पुण्यफल, सुखमय मोक्ष अवस्था को (याहि) प्राप्त कर और (दिवं) उस प्रकाशस्वरूप ब्रह्मपद को भी (गच्छ) प्राप्त कर।

यह सूक्त सायण ने बलि करने के योग्य वध्य पशु पर लगाकर महा-अनर्थ किया है। कौशिकसूत्र प्रदर्शित दिशा से ही 'सर्वलोकाधिपत्यकाम' ज्ञानी परक यह सूक्त लगाया जाता तो उत्तम था।

---

(३५) मोक्षमार्ग का उपदेश ।

अंगिरा ऋषिः । विश्वकर्मा देवता । १ विराड् गर्भा त्रिष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । ४, ५ भुरिग् । पंचर्चं सूक्तम् ॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥ १ ॥

भा०—भोग त्याग करके मोक्षमार्ग में जाने का उपदेश । (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) भोग करते हुए (वसूनि) धनों के तुल्य देह में बसे प्राणों को (न आनृधुः) समृद्ध, समर्थ, सम्पन्न, वर्चस्वी नहीं होने देते और (यान्) जिनको (धिष्ण्या) देह के भीतर अपने २ स्थान में विराजमान (अग्नयः) प्राणादि अग्नियां (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देती हैं । (तेषां) उन भोगी पुरुषों का जो (अवयाः) हीन यज्ञ अर्थात् इन्द्रियों में विषयार्थों की निकृष्ट आहुति या कुसंगति है और (दुरिष्टिः) दोषयुक्त, शास्त्रविधान के प्रतिकूल तामस बुरी इच्छा वा प्रवृत्ति है, (विश्वकर्मा) वह समस्त संसार का स्रष्टा परमेश्वर (नः) हमारी (तां) उस हीन प्रवृत्ति को (स्विष्टि) उत्तम इच्छा, पुण्यकार्य में (कृणवत्) बदल दे ।

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

भा०—(प्रजाः) प्रजाः = पुत्र पौत्र आदि के (अनु) साथ स्वयं (तप्यमानं) कष्ट अनुभव करते हुए, उनकी ममता में बंधे, (यज्ञपतिम्) यजमान आत्मा को (ऋषयः) तत्वदर्शी विद्वान् गण (एनसा) मोह में

[३५] १–(तृ०) दुरिष्टेः स्विष्टिं नस्तान् कृण०' इति ह्विटनीकामितः पाठः काचित्कश्च । (प्र०) 'वसून्या वृधु' इति क्वाचित्कः पाठः । वसून्यानशुः इति मै० सं० । (तृ०) 'इयं तेषामवया दुरिष्ट्यै' (च०) 'विश्वकर्मा–कृणोतु' मै० सं० । (तृ०) 'दुरिष्टा स्विष्ट' इति पैप्प० सं० ।

(निर्भक्तं) फंसा हुआ (आहुः) कहते हैं और (यान्) जिन (मथव्यान्) मथन करने हारे, चित्त को हर्ष करने हारे (स्तोकान्) पदार्थों को (अप रराध) वह परे रखता है (तेभिः) उन पदार्थों से भी (सः) वह (विश्वकर्मा) जगदीश्वर (नः) हमारे आत्मा जो (सं सृजतु) युक्त करे।

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

भा०—(धीरः न) धीर, प्रतिभावान् के समान (विद्वान्) विद्वान्, विद्यासम्पन्न पुरुष भी (यज्ञस्य) यज्ञ के (समये) समय अर्थात् सत्संग के अवसर पर (सोमपान्) ब्रह्मानन्द रस का पान करने हारे अन्तर्ज्ञानी पुरुषों को भी (अदान्यान्) दान दक्षिणा देने के अयोग्य (मन्यमानः) समझता हुआ गर्व में आकर (बद्धः) मोह अविद्या में बद्ध (एषः) यह जीव (यद्) जो (एनः) पाप या अनुचित कर्म (चकृवान्) कर देता है, हे (विश्वकर्मन्) समस्त संसार के उत्पादक प्रभो ! आप (तं) उस जीव को (स्वस्तये) उसके कल्याण के लिये (प्र मुंच) उसे पाप से मुक्त करो।

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान् ॥४॥

भा०—(ऋषयः) यथार्थ मन्त्रों के द्रष्टा, विद्वान् वस्तुतः (घोराः) घोर तपस्वी होते हैं। (एभ्यः) इनके लिये हमारा सदा (नमः अस्तु) नमस्कार हो। (तद्) क्योंकि (एषां) इनकी (चक्षुः) आंख या यथार्थ दर्शन और (मनसः च) मन का मनन दोनों (सत्यम्) सत्य होते हैं। हे (महिष) पूजनीय पद के दातः ! हे विश्वकर्मन् ! सबके उत्पादक ! (ते) तुझ (बृहस्पतये) महान् संसार के प्रतिपालक, प्रभु के लिये (द्युमत्) सबसे अधिक (नमः) नमस्कार है, (नमः ते) तुझे नमस्कार है। तू (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर। सायण सम्मत पदपाठ (महि षत् द्युमत् नमः) प्रभो ! आपका बड़ा भारी प्रकाशमय 'सत्' स्वरूप है।

अध्यात्म में—चक्षु आदि प्राण घोर ऋषि हैं। इनको (नमः) अन्न प्राप्त हो। प्राणों और मन के बीच में चक्षु का देखा सत्य है। हे महिष! आत्मन्! बृहती वाणी के पति! इस आत्मा या आसन्य प्राण के लिये (द्युमत् नमः) तेजोमय, ज्ञानमय सोमरूप अन्न हैं। हे विश्व-कर्मन् प्रभो! आपको नमस्कार है। आप हमारी रक्षा करें।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अथर्व० १९ । ५८ । ५ ॥

भा०—(यज्ञस्य) इस पुरुषमय यज्ञस्वरूप आत्मा का (चक्षुः) आंख और (मुखं च) मुख (प्रभृतिः) उत्तम भरण पोषण करने वाला साधन है। एक ज्ञानभरण करता है और दूसरा अन्नभरण करता है। इस यज्ञ में (श्रोत्रेण) श्रोत्र से (वाचा) वाणी से और (मनसा) मन से (जुहोमि) ज्ञान की आहुतियां आदान प्रदान करता हूँ। (विश्वकर्मणा) जगत् के स्रष्टा परमेश्वर से इस शरीर में (विततं) विस्तृत किये हुए (इमं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (देवाः) यज्ञ में विद्वान् पुरुषों के समान इन्द्रियगण (आ यन्तु) प्राप्त हों।

---

(३६) कन्या के लिये योग्य पति की प्राप्ति।

पतिवेदन ऋषिः। अग्नीषोमौ मन्त्रोक्ता सोमसूर्येन्द्रभगधनपतिहिरण्यौषधयश्च देवताः। १ भुरिग्। २, ५–७ अनुष्टुभः। ३, ४ त्रिष्टुभौ। ८ निचृत् पुरोष्णिक्। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! आचार्य! पुरोहित! परमात्मन्! (सं-भलः) उत्तम रीति से आदान करने हारा, योग्य पात्र या उत्तम

विद्वान् प्रवक्ता (नः) हमारे पास (आ गमेद्) आवे और (इमां) इस (सुमतिं) उत्तम ज्ञान, मति वाली, बुद्धिमती (कुमारीम्) नवयौवना कुमारी कन्या को (भगेन सह) ऐश्वर्यमय धन और सौभाग्य के साथ (आ गमेत्) आकर स्वीकार करे । उत्तम विद्वान्, सत्पात्र इस कुमारी को प्राप्त हो और यह कन्या (समनेषु) समान चित्त वाले (वरेषु) वरों में से (पत्या) अपने पालन करने में समर्थ अभिलषित पति के संग (वल्गुः) मधुर वचन आलाप करे, (अस्यै) इस कन्या को (ओषं) सहवास-रूप (सौभगं) सौभाग्य (अस्तु) प्राप्त हो । सम्मलकः समादाता इति सायणः ।

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥ २ ॥

भा०—(सोमजुष्टं) सोम, विद्वान्, पति और पत्नी द्वारा प्रेमपूर्वक स्वीकृत, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों और वेद द्वारा अनुमोदित, (अर्यम्णा संभृतं) अर्यमा = विवाहाग्नि द्वारा परिरक्षित (पतिवेदनं) पतिवरणरूप (भगम्) सौभाग्यतम विवाहकृत्य को मैं पति और पत्नी (धातुः) समस्त संसार के पालक और उत्पादक (देवस्य) देव परमात्मा के (सत्येन) साक्षीभूत सत्यव्रत से (कृणोमि) करता हूँ और करती हूँ । अथवा, कन्या का पिता कहता है कि विधाता = प्रजापति के व्रत से प्रेरित होकर मैं कन्या का विवाह करता हूँ ।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

भा०—हे अग्ने ! (इयं नारी) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त हो । (राजा) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त (सोमः) पुत्रोत्पादन करने में समर्थ, वीर्यवान् ब्रह्मचारी, पति (हि) निश्चय से इसको (सुभगाम्) सौभाग्यसम्पन्न (कृणोति) करे । यह नारी (पुत्रान्) पुत्रों को (सुवाना)

उन्नत करती हुई (महिषी) पूजनीय, श्रेष्ठ, रानी के समान (भवाति) हो और (पतिं) पति के पास (गत्वा) जाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि राजतु) विशेष शोभा को प्राप्त हो। महिषी महनीया श्रेष्ठा भार्या इति सायणः।

यथाखरो मघवश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सं प्रिया पत्या वि राधयन्ती ॥४॥

भा०—(मघवन्) हे ऐश्वर्यवन् पते ! (यथा एषः चारुः आखरः) जैसे यह सुन्दर गृह अर्थात् पशु-शाला (सुषदाः) पशुओं के सुखपूर्वक बैठने योग्य होकर (मृगाणां प्रियः) पशुओं को प्यारा (बभूव) हो जाता है (एवं) ऐसे ही (पत्या) पति के साथ (अविराधयन्ती) बिगाड़ न करती हुई (इयं नारी) यह नारी भी (भगस्य) भाग्यवान् पति की (जुष्टा) प्रेम-पात्री और (संप्रिया) अति प्रियतमा (अस्तु) हो।

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

भा०—हे कन्ये ! (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) तेरी अभिलाषा के योग्य है, तू उस (भगस्य) सौभाग्यशील पति की (पूर्णाम्) पूरी (अनुपदस्वतीम्) विनाशरहित, शरणदायिनी (नावं) कष्टसागर के पार उतारने वाली, नाव के समान शरण (आरोह) चढ़, जा बैठ, (तया) उससे (उप प्रतारय) पति को और अपने को भी कष्टसागर या ऋण से पार उतार।

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

भा०—हे (धनपते) ऐश्वर्यवन् ! या कन्या के पिता ! उस (वरम्) वर को (आक्रन्दय) बुलाओ और उसको (आमनसं) अनुकूल चित्त वाला (कृणु) करो (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) कन्या की अभिलाषा के

अनुकूल है। हे वर ! तू (सर्वं) सबको (प्रदक्षिणं कृणु) अपने दायें अनुकूल रख, कर अथवा (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) हे वर ! तू सर्वं = अग्नि की प्रदक्षिणा कर। 'सर्वः = शर्वः, अग्नि के आठ नामों में से एक नाम है।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

भा०—हे कुमारि ! (इदम्) यह (हिरण्यं) स्वर्णमय अंगूठी या स्वर्णमुद्रा, (गुलगुलु) यह गूगल का सुगन्धित द्रव्य, (अयम् औक्षः[1]) यह प्रोक्षण, अर्घ्य, पाद्य का जल या दूध का बना पदार्थ, (अथो) और (भगः) यह सौभाग्य या सुभगंकरण, सौभाग्यसूचक कुंकुम आदि द्रव्य (एते) ये सब (पतिभ्यः) मान्य पति के पक्ष के लोगों की ओर से (प्रतिकामाय) तुझसे प्रेम दर्शाने हारे अपने प्रियतम के हाथ (वेत्तवे) उसे प्राप्त करने के लिये (त्वाम्) तुझको (अदुः) प्रदान करते हैं। अर्थात् सुवर्णादि सब लक्षणों से तू अपने अभिलषित वर को सौंपी जाती है।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

भा०—(सविता) सबका प्रेरक, उत्पादक परमात्मा (ते) तेरे लिये हे कन्ये ! पति को (आनयतु) प्राप्त करावे और (यः) जो (प्रतिकाम्यः) इसको प्रेम से चाहता है वह (पतिः) पति इसको (नयतु) अपनी पत्नी बनाकर ले जावे। हे (औषधे) पुष्टिकारक ओषधे ! वा कामना को धारण करने वाले पति ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस कन्या के गर्भ में उत्तम, पुष्ट, स्थापित वीर्य को (धेहि) धारण और पोषण कर।

इति षष्ठोऽनुवाकः।

इति द्वितीयं काण्ड समाप्तम्।

तत्रानुवाकाः षट्, त्रिंशत् षट् च सूक्तान्यथो ऋचः।
सप्ताधिकं च द्विशतं, द्वितीयं काण्डमिष्यते ॥

---

१ सेचनार्थस्य उक्षतेः रूपम्, नचोक्षो वृषभार्थस्य ताद्धितम् इति ह्विटनिः।

अथ तृतीयं काण्डम्

(१) शत्रु सेनाओं के प्रति सेनापति के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः । अग्निमरुदिन्द्रादयो वहवो देवताः । सेनामोहनम् । १ त्रिष्टुप् । २ विराड्गर्भा भुरिक् । ३, ६ अनुष्टुभौ । विराड् पुरोष्णिक । षड्चं सूक्तम् ॥

अ॒ग्निर्नः॒ शत्रू॒न् प्रत्ये॑तु वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।
स सेनां॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणव॒ज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

भा०—(अग्निः) आगे २ चलने वाला, सेना का अग्रणी, सेनापति (नः शत्रून्) हमारे शत्रुओं पर (प्रति एतु) चढ़ाई करे और वह (विद्वान्) शत्रुओं की माया और युद्ध विद्या को भली प्रकार जानता हुआ (अभिशस्ति) चढ़ाई करने वाले, सब ओरों से हमें घात करने हारे (अरातिम्) अदानशील, अनुदार शत्रु को (प्रतिदहन्) आग्नेय अस्त्रों से जलाता, भूनता हुआ (सः) वह (परेषां) पराये शत्रुओं की (सेनां) सेना को (मोहयतु) मोह में डाल दे, उनको किंकर्तव्यविमूढ़ कर दे और वह (जातवेदाः) सब उत्पन्न हुई घटनाओं को जानने हारा, शत्रुओं को (निर्हस्तान्) निहत्था, शस्त्ररहित (कृणवत्) करे ।

यू॒यमु॒ग्रा म॑रुत ई॒दृशे॑ स्था॒भि प्रेत॑ मृ॒णत॒ सह॑ध्वम् ।
अमी॑मृण॒न् वस॑वो नाथि॒ता इ॒मे अ॒ग्निर्ह्ये॑षां दू॒तः प्र॒त्ये॑तु वि॒द्वान् ॥ २ ॥

भा०—सेनापति का सेनाभटों के प्रति उपदेश । हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र गति से जाने और बल पराक्रम का कार्य करने हारे वीरो! (यूयम्) तुम लोग सदा (उग्राः) अपने हथियारों को उठाये रहो, सदा बलवान् बने रहो । (ईदृशे स्थ) ऐसे युद्ध के अवसर में हो कि तुम शत्रु के प्रति (अभि प्रेत) चढ़ाई करो, (मृणत) उनको मारो और (सहध्वं) शत्रु के प्रहारों को सहन करो और शत्रु का बलपूर्वक विजय करो।

(इमे) ये (नाथिताः) शत्रु को तप्त करने हारे, सम्पन्न (वसवः) राष्ट्र में बसे प्रजागण ही हैं जो (अभिमृणन्) शत्रुओं का नाश करते हैं। (एषां) इनमें से (दूतः) मुख्य सबसे अधिक शत्रु-सेना का संतापक (अग्निः) अग्निस्वरूप सेनापति है जो (विद्वान्) सब कार्यों को जानने हारा होकर (प्रति एतु) शत्रु के प्रति गमन करे।

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३॥

साम० उ० ९।३।६।२॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यसम्पन्न राजन्! (अस्मान्) हम से (शत्रूयतीम्) शत्रुता का व्यवहार करती हुई (अमित्रसेनाम् अभि) शत्रु-सेना को लक्ष्य करके चढ़ाई कर। हे इन्द्र! राजन्! हे (वृत्रहन्) नगर को घेरने हारे शत्रु विनाशक! और हे (अग्ने) सेनापते! (युवं) आप दोनों (तान्) उन शत्रुओं को (प्रति दहतं) अपराध के दण्ड रूप में भस्म कर, निर्मूल कर।

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वकसत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

ऋ० ३।३०।६॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (ते) तेरा (वज्रः) शस्त्र (हरिभ्यां प्रसूतः) शत्रुसंहारी अग्नि शक्ति और विद्युत् शक्ति द्वारा प्रेरित हुआ (प्रवता) ऊंचाई से गिराया गया (प्र एतु) शत्रु की ओर आगे बढ़े, (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणत्) विनाश करता हुआ (प्र एतु) आगे बढ़े और तू (प्रतीचः) सामने से लड़ने वाले, (अनूचः) पीछे से आने वाले और (पराचः) दूर से आक्रमण करने वाले सब शत्रुओं को (जहि) विनाश कर और (एषां) इनके (चित्तम्) चित्त को (सत्यं) सचमुच (विष्वक्) अव्यवस्थित (कृणुहि) कर दे। अथवा—(विष्वक् चित्तं) सब प्रकार से

इनके चित्त को (सत्यं कृणुहि) सत्यानुगामी बना, जिससे वे शत्रुता छोड़ श्रेष्ठ हो जायं।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनां) सेना को (मोहय) किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर और (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) प्रचण्ड वायु के (ध्राज्या[1]) अस्त्र से (तान्) उनको (विषूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) नाश कर। राजा शत्रु सेना पर आग्नेयास्त्र और वायव्यास्त्र का प्रयोग करे।

इन्द्र सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

भा०—(इन्द्रः) राजा या ऐश्वर्यवान् या बिजली के समान शस्त्रधारी पुरुष (सेनां) शत्रुसेना को (मोहयतु) व्याकुल, विमूढ़ कर दे। (मरुतः) वायु के समान वेगवान्, उग्र वीर भट लोग (ओजसा) बड़े बल से (घ्नन्तु) मारें और (अग्निः) तीव्र आग्नेय अस्त्र उनसे (चक्षूंषि) आंख को (आदत्ताम्) हर ले। इस प्रकार वह शत्रुसेना (पुनः) बाद में (पराजिता) पराजित होकर (एतु) लौट जाय या हमारी शरण में आये और हमारी सेना पुनः (पर-अजिता) शत्रु से बिना हारे ही लौट जाये।

---

(२) शत्रुसेना के प्रति सेनापति का कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः। सेनासंमोहनम्। अग्न्यादयो बहवो देवताः। १, ५, ६ त्रिष्टुभः। २–४ अनुष्टुभौ। षड्चं सूक्तम्॥

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

---

१. ध्रज गतौ इत्यस्मादुणादिरिन् सार्वध तुकः। बाहुलकाद्वा इन्।

भा०—(नः दूतः अग्निः विद्वान् अभिशस्तिम् अरातिम् प्रतिदहन् प्रति एतु) हमारा मुख्य प्रतिनिधि विद्वान् अग्निरूप अग्रणी = सेनापति हम पर चढ़ाई करने वाले शत्रु को संताप देता हुआ शत्रु पर चढ़ाई करे। (सः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह शत्रुओं के चित्तों को विमूढ़ कर दे और (जातवेदाः) स्वयं सबका ज्ञान करता हुआ (निर्हस्तान् कृणवत्) शत्रुओं को निहत्था कर दे। (देखो व्याख्या अथर्व० ३ । १ । १ ॥)

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

भा०—हे शत्रुओ ! (वः) आप लोगों के (हृदि) हृदय में (यानि) जितने (चित्तानि) चेतना सामर्थ्य हैं (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, सेनापति उनको भी (अमूमुहत्) विनाश करे और (वः) आप लोगों को (ओकसः) अपने स्थान, दुर्ग से भी (वि धमतु) निकाल बाहर करे और (सर्वतः) सब स्थानों में (वः) आप लोगों को (प्र धमतु) पछाड़ दे।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! (चित्तानि) शत्रुओं के चित्तों को (मोहयन्) विमूढ़ करता हुआ (आकूत्या) हमारे अनुकूल सम्मति, सद्बुद्धि से (अर्वाङ्) हमारे प्रति (चर) आ और (अग्नेः) अग्नि और (वातस्य) प्रचण्ड वायु की (ध्राज्या) गति से (तान्) उन शत्रुओं को (विषूचः) छिन्न भिन्न करके (विनाशय) विनष्ट कर डाल। (देखो अथर्व० ३।१।५)

व्याकूतय एषामितार्थो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (आकूतयः[1]) दृढ़ संकल्पो ! पराक्रम के संकल्प वालो ! (एषां) इन शत्रुओं से तुम (वि इत) पृथक् हो जाओ (अथो) और इनके

४—१. 'व्याकूतय' इत्येकं पदम् सा० भा०।

(चित्तानि) चित्तों को (मुह्यत) मूढ़ कर दो। (अथो) और (यद्) जो (अद्य) आज (एषां) इनके (हृदि) हृदय में चिन्तित मनोरथ है (तद्) वह भी (एषां) इनका (परि निर्जहि) सब प्रकार से नाश कर।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥५॥

यजु० १७। ४४। ऋ० १०। १०३। १२॥

भा०—हे (अप्वे[1]) व्याधि और भय! पापवृत्ते! (अमीषां) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) मुग्ध, व्याकुल करती हुई इनके (अंगानि) शरीरों को (गृहाण) जा पकड़। (परा इहि) हमारे यहां से परे चली जा और (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभि प्रेहि) प्राप्त हो और उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) भस्म कर डाल, (ग्राह्या) निरुद्यम वृत्ति से और (तमसा) अन्धकार से शत्रुओं को (विध्य) वेध डाल, विनाश कर।

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६॥

ऋ० १०। १०३। परि०॥ साम० उ० ६। ३। ४। ३॥ यजु० १७।४७॥

भा०—(मरुतः) हे सेना के वायु समान प्रचण्ड, वेगवान् सुभट पुरुषो! (या) जो (असौ) यह (परेषां) शत्रुओं की (सेना) सेना (ओजसा) बल से (स्पर्द्धमाना) स्पर्धा करती हुई (अस्मान्) हम पर (अभि एति) चली आ रही है (तां) उसको (अपव्रतेन) कार्य में शिथिल कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से ऐसा (विध्यत) पीड़ित करो कि (यथा) जिस

१. अपवाययति, अपगमयति सुखं प्राणांश्चेति अप्वा, पापदेवता। भयजनितातीसारादयो व्याधयोऽप्वाः इति वेबरः। यथा चाह व्यासो महाभारते भीष्मपर्वणि—'श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः'। भी० प० १। १८॥

प्रकार (एषां) इनमें से (अन्यः) एक (अन्यं) दूसरे को भी (न-जानात्) न जान पावे ।

---

(३) राजा की पुनः स्थापना ।

अथर्वा ऋषिः । नाना देवाः अग्निर्वा देवता । १, २, ४ त्रिष्टुभः । ३ चतुष्पदा भुरिक्पंक्तिः । ५, ६ अनुष्टुभौ । षड्ऋचं सूक्तम् ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥
ऋ० ६ । ११ । ४ ॥

भा०—राजा को राष्ट्र की प्राप्ति का उपदेश । हे अग्ने ! सेनापते ! (स्वपाः) निज प्रजा का उत्तम रूप से पालने वाला राजा (अचिक्रदत्) शासन-घोषणाएं करता हुआ और राष्ट्र के अधिकारियों को बुलाता हुआ (इह भुवद्) इस राष्ट्र में शासन करने में समर्थ हो । हे (अग्ने) सबके अग्रणी नेता ! तू (उरूची) बड़े, सर्वव्यापक (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के समान राजवर्ग = शासकवर्ग और प्रजा = शास्य वर्ग दोनों को (व्यचस्व) अपने वश कर । (विश्ववेदसः) समस्त विद्याओं, देशों और पदार्थों को जानने हारे (मरुतः) विद्वान् गण (त्वा) तेरे साथ (युञ्जन्तु) सहयोग करें (रातहव्यम्) अपनी प्रजा से हव्य अर्थात् अपना षष्ठांश रूप कर प्राप्त करने हारे (अमुं) इस राष्ट्रपति राजा को (नमसा) बड़े भारी आदर सत्कार पूर्वक (आ नय) राष्ट्र प्राप्त करा । ब्रह्मपक्ष में—हे अग्ने ! प्रभो ! (इह) तू इस संसार में 'सु-आपः' उत्तम कर्म और ज्ञान से सम्पन्न, (भुवद्) है । (उरूची रोदसी व्यचस्व) तू विशाल पृथिवी और द्यौ को व्याप्त करता है । (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युंजन्तु) ज्ञानी विद्वान् तुझे योग से साक्षात् करें । हे पुरुष ! (अमुं) उस (रातहव्यं) अन्न और ज्ञान सुखप्रद परमेश्वर को (नमसा आनय) भक्ति से प्राप्त कर ।

अध्यात्म में—आत्मा देहरूप राष्ट्र में इन्द्रियों का पालक शुभ कर्मकर्त्ता प्राण और अपान दोनों पर वश करता है। मरुत् = प्राण उसके साथ सहयोग करें। परमात्मा उस जीवात्मा को अन्न और ज्ञान द्वारा पुष्ट करके सन्मार्ग पर ले जावे।

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥२॥

भा०—(अरुषासः) रोषरहित, प्रेमयुक्त प्रजाएं एवं ज्ञानसम्पन्न विद्वान् पुरुष (दूरे चित्) दूर देश में (सन्तं) विद्यमान होते हुए भी (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् प्रभु और राजा को (सख्याय) अपने सख्य = सौहार्द के लिये (आच्यावयन्तु) बुलाते हैं (यत्) और जब (गायत्रीम्) गायत्री, ब्रह्मबल और (बृहतीम्) बृहती छन्द, क्षत्रबल को, (अर्कं) जो कि सूर्य के समान पूजनीय है (अस्मै) इस राजा के लिये (देवाः) विद्वान् पुरुष (सौत्रामण्या) सौत्रामणी याग या उत्तम पालक नीति या शक्ति से (दधृषन्त) पुनः पुनः पुष्ट करते हैं।

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

भा०—युद्धकाल में विपत्तिग्रस्त राष्ट्र के राजा के तीन ही आश्रयस्थल होते हैं—१ समुद्र या जलीय प्रदेश, २ पर्वत प्रदेश, ३ अपनी प्रजाएं। इन तीनों स्थलों से भी राजा को बुलाकर राष्ट्र पर आरूढ़ करें। (अद्भ्यः) जलमय प्रदेशों से (वरुणः) सबसे श्रेष्ठ, सबसे बड़ा (राजा) राजा (त्वा) तुझ राजा को (ह्वयतु) बुलावे, प्रेरित करके उसे राजा से रहित राष्ट्र पर भेजे। इसी प्रकार—(पर्वतेभ्यः) यदि वह पर्वतमय प्रदेशों में हो तो वहां से (सोमः) ओषधियों का राजा या ब्राह्मण विद्वान्, (त्वा) तुझ राजा को (ह्वयतु) बुला कर राष्ट्र पर शासन करने की आज्ञा दे। (इन्द्रः) प्रजाओं का ऐश्वर्यशील मुख्य भाग भी (त्वा) तुझ को बुला ले। हे राजन्! (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिये (श्येनः) ज्ञानवान् और

पक्षियों में बाज़ के समान शत्रु पर आक्रमणकारी बलवान् होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आ पत) आवे ।

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥४॥

भा०—(अन्यक्षेत्रे) दूसरे के राष्ट्र में या आहाते में (चरन्तं) विचरते हुए (अपरुद्धं) शत्रुओं से घिरे हुए या कारागार में रुद्ध, (हव्यं) अपनी प्रजाओं से बुलाये जाने योग्य (त्वा) तुझ उत्तम राजा को (परस्मात्) दूसरे के राष्ट्र से (श्येनः) ज्ञानवान्, चतुर, दूसरे के राष्ट्र से वेगपूर्वक हर ले आने वाला पुरुष (आनयतु) निकाल लावे और (अश्विनौ) दो प्रकार के गुप्तचर एक नगर में रहने वाले दूसरे अरण्य में रहने वाले दोनों हे राजन् ! (ते) तेरे (पन्थां) मार्ग को (सुगं) सुखपूर्वक जाने योग्य (कृणुतां) करें और हे (सजाताः) राजवंश विद्या और बल में समान पुरुषो ! (इमं) इस राजा को आप लोग (अभि सं बिशध्वम्) प्राप्त कर उससे मिल कर राष्ट्र में बसो और पालन करो ।

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (प्रतिजनाः) प्रतिकूल लोग भी (त्वा ह्वयन्तु) तेरे अनुकूल होकर तुझे बुलावें और (मित्राः) मित्रजन भी (त्वा प्रति) तेरे प्रति (अवृषत) अपना सर्वस्व अर्पण करें । (इन्द्राग्नी) इन्द्र, विद्युत् और अग्नि और (विश्वेदेवाः) समस्त राष्ट्र के विद्वान्गण या दिव्य पदार्थ (ते विशि) तेरी प्रजा में (क्षेमम्) कल्याण, सुख, रक्षण और सम्पत्ति (अदीधरन्) धारण करावें ।

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

भा०—हे राजन् ! (यः) जो (सजातः) तेरे गोत्र विद्या और बल में समान, (निष्ट्यः) तुझसे नीच वर्ण या निर्बल हो, जो कोई भी (ते) तेरे

(हवं) प्रजाओं की तरफ से राज्य सिंहासन पर आरूढ होने के प्रस्ताव या तेरे शासन का (वि वदत्) विरोध करे हे इन्द्र ! राजन् ! (तं) (अपाञ्चं कृत्वा) देश या सभा से बाहर करके और (इमं) उसको (इह) इस राष्ट्र में (अव गमय) नीचा कर ।

---

(४) राजा का राज्याभिषेक ।

(अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ जगती । ५, ६ भुरिजौ । २, ३, ४, ७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

भा०—राजा को राजसिंहासन पर स्थापित करने का उपदेश करते हैं—हे (राजन्) राजन् ! सबसे अधिक गुणों में प्रकाशमान और सब प्रजाओं के चित्तों को अनुरंजन करने हारे पुरुष ! (त्वा) तुझको (राष्ट्रं) यह राष्ट्र (आगन्) प्राप्त होता है—तेरे हाथों सौंपा जाता है। तू (वर्चसा) अपने पराक्रम और वर्चः–तेज के साथ सूर्य के समान (उद् इहि) ऊपर उठ, उन्नति कर । तू (प्राङ्) सबसे आगे चलने हारा, नेता होने के कारण (विशां) समस्त प्रजाओं का (पतिः) पालक है । (त्वं) तू (एकराट्) एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर (विराज) शोभा दे—विराजमान हो । हे राजन् ! (त्वा) तुझको (सर्वाः) समस्त (प्रदिशः) दिशा प्रदिशाओं के वासी, अथवा उत्तम मार्ग दर्शाने वाली समितियां (ह्वयन्तु) आदरपूर्वक बुलावें और तेरा स्वागत करें । (इह) इस राष्ट्र में तू सबका (उपसद्यः) प्राप्त करने योग्य, शरण योग्य और (नमस्यः) आदर करने योग्य (भव) हो । राजा को समस्त राष्ट्र चुने, देश उसको अपना राजा स्वीकार करे, सब अपने कष्ट उससे कहें और सब उसका आदर करे ।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥२॥

भा०—राजा का समस्त प्रजा द्वारा चुनाव राजा की समस्त राष्ट्र की सम्पत्तियों का प्रजा में विभाग—हे राजन्! (विशः) समस्त देश में बसने हारी प्रजाएं (राज्याय) राज्य अर्थात् अपने ऊपर शासन करने के लिये (त्वां) तुझको (वृणतां) स्वयं चुनें। (इमाः) ये (देवीः) विद्वानों की बनी हुई (पंच) पांच (प्रदिशः) उत्तम मार्ग दर्शाने वाली विद्वत्समितियां भी वरण करें। (राष्ट्रस्य) समस्त राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शरीर में, समस्त अहाते में (ककुदि) सबसे उत्तम स्थान सिंहासन एवं श्रेष्ठ सम-प्रदेश, राजधानी में (श्रयस्व) तू आश्रय ले, निवास कर या राजसिंहासन पर विराज। (ततः) उसके बाद (उग्रः) सदा राजदण्ड के बल से बलवान् होकर (नः) हम प्रजाओं में यथोचित रीति से (वसूनि) राष्ट्र के बसने योग्य जीवनोपयोगी धनों का (वि भज) न्यायपूर्वक विभाग कर।

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥३॥

भा०—(समानाः) तेरे समान उच्चवंश में उत्पन्न कुलीन एवं तेरे समान बल, प्रभाव एवं उत्तम गुणों में सम्पन्न हुआ ही (हविनः) हव = आज्ञाकारी शासक होकर (त्वा) तेरे अनुकूल (अच्छ) भली प्रकार (यन्तु) चलें। (अजिरः) न जीर्ण होने वाला या वेगवान् तुझ से प्रेरित हुआ (अग्निः) विद्वान् राष्ट्र का अग्रणी या अग्नि के समान तेजस्वी, सुखस्वरूप (दूतः) तेरा प्रतिनिधि पुरुष (सं चरातै) सर्वत्र समान रूप से विचरण करे। (जायाः) स्त्रियां और (पुत्राः) पुत्र (सुमनसः) उत्तम मन वाले (भवन्तु) हों और तू (उग्रः) न्यायव्यवस्था को बनाये रखता हुआ (बहुं) बहुत प्रकार के (बलिं) करों को (प्रति पश्यासै) स्वीकार कर या उनकी योजना कर।

अ॒श्विना॒ त्वाग्रे॑ मि॒त्रावरु॑णो॒भा विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॑स्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा॒ मनो॑ वसु॒देया॑य कृणुष्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥४॥

भा०—हे राजन्! (त्वा) तुझको (अग्रे) सबसे प्रथम (अश्विना) दोनों अश्विगण सेनापति और (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण, मित्र = पुलिस विभाग का अध्यक्ष और वरुण = गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष ये दोनों और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् गण और (मरुतः) समस्त सैनिक लोग या समस्त वैश्यगण भी (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) अपना राजा स्वीकार करें। (अध) और तू भी (मनः) अपना संकल्प (वसुदेयाय) उत्तम धनों को प्रजा के प्रति निछावर करने के लिये ही (कृणुष्व) बनाये रख। (ततः) तदनुसार ही (नः) हमें (उग्रः) उद्यत दण्ड होकर (वसूनि) समस्त सम्पदाएं (वि भज) विविध प्रकारों से विभाग कर। जैसा कालिदास ने लिखा है:—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ रघुवंश ॥

राजा दिलीप प्रजाओं की लक्ष्मी-वृद्धि के लिये प्रजाओं से बलि अर्थात् कर लिया करता था। सूर्य भी तो पृथिवी से रस इसीलिये ऊपर को खींच लेता है कि पुनः वह उसे सहस्र गुणा लाभकारी बना कर बरसा दे।

अथवा—(अश्विनौ) सूर्य और पृथिवी (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण मेघ और समुद्र और विश्वे देव और (मरुतः) वायु सब उस राजा को (ह्वयन्तु) उपदेश करें अर्थात् उसको अपना २ गुण सिखावें। अर्थात् राजा सूर्य के समान प्रजा से बलि ले, पृथिवी के समान सब का आश्रय हो, पर्जन्य या मेघ के समान सब पर समान भाव से सुखों, अन्नों और कृपा की वर्षा करे, समुद्र के समान गम्भीर गुणरत्नों का आकर हो, इसी प्रकार समस्त दिव्य पदार्थों के गुण उसमें हों, वह वायु के समान उग्रकर्मा हो। जैसा कि मनु भगवान् ने लिखा है :—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ (मनु० अ० ७)

इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन सबके गुणांशों को एकत्र कर राजा बनाया जाता है। इस कारण समस्त प्राणियों को अपने तेज से दबा लेता है। वह सूर्य के समान सबके चित्तों और मनों को तपाता है, उसकी तरफ कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता, वह अपने प्रभाव से ही साक्षात् अग्नि है, वायु है, सूर्य है, सोम है, धर्मराज है, कुबेर है, वरुण है और वही महेन्द्र है।

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

भा०—हे राजन् ! (परमस्य परावतः) अत्यन्त दूर देशों तक भी तू (आ प्र द्रव) जाया कर और आया कर। इस दौरे के कार्य में (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) नर और नारी, राजा और प्रजावर्ग, आकाश और पृथिवी (ते) तेरे लिये (शिवे) मंगलकारी (स्ताम्) होवें। (तत्) तभी (अयं) यह (राजा) राजा (सः) वह (वरुणः) वरुणस्वरूप, सर्वश्रेष्ठ शासक है। (सः) वह ही (त्वा) तुझको (अयम्) यह ईश्वर (अह्वत्) उपदेश करता है कि (सं इदं उप आ इहि) वह ही तू योग्य पुरुष इस पद को प्राप्त करो।

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ६

भा०—(इन्द्र, इन्द्र) हे ऐश्वर्यशील 'इन्द्र' राजन् ! (मनुष्याः = मनुष्यान्) समस्त मानवों को (परा इहि) लांघ कर उनसे उत्कृष्ट रह, (वरुणैः) शासकविभाग में नियुक्त अधिकारियों, वरण करने वाले प्रजा के प्रतिनिधियों, उसको घेर कर बैठने वाले अमात्यों द्वारा (संविदानः) राष्ट्र की बातों पर विचार और सहमति कर (हि) निश्चय से तू सब कुछ (सं अज्ञास्थाः) ठीक २ प्रकार से निश्चय कर लिया कर । (सः अयम्) वह यह मनुष्य-लोक ही (त्वा) तुझको (स्वे) अपने (सधस्थे) सभास्थान, समाज और गृहों पर (अह्वत्) आदरपूर्वक बुलाता है । (सः) वह तू राजा ही (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (यक्षत्) स्थान पर नियुक्त करता है । (सः उ) वह राजा ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (कल्पयात्) सुव्यवस्थित करता है ।

पुथ्या॑रे॒वती॒र्बहुधा विरू॑पाः सर्वाः॒ सङ्गत्य॒ वरी॑यस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा॒ सर्वाः॒ संवि॑दाना ह्वयन्तु दश॒मीमु॒ग्रः सु॒मना॒ वशे॒ह ॥७॥

भा०—(पथ्याः) धर्ममार्ग को न त्यागने हारी, (रेवतीः) धनसम्पन्न, (विरूपाः) नाना प्रकार की (सर्वाः) सब प्रजाएं (बहुधा) प्रायः (ते) तेरे (वरीयः) वरण करने योग्य निर्वाचन किये गये राजपद को (अक्रन्) नियत करती हैं । इसलिये (ताः सर्वाः) वे सब प्रजाएं (संविदानाः) अपना ऐकमत्य करके (त्वा ह्वयन्तु) तेरे प्रति अपना मत, अभिप्राय प्रकट करें और उस अवस्था में (उग्रः) उग्र, राजदण्ड को अपने हाथ में लेकर तेजस्वी होकर भी (सुमनाः) शुभ चित्त से युक्त होकर (इह) इस राष्ट्र में (दशमीम्) दशावरा परिषद् को (वश) अपने वश किया कर, उसमें सभापति होकर विराजमान हो ।

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा । मनु० १२।१११॥

---

(५) 'पर्णमणि' के रूप में प्रधान पुरुषों का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । सोमो देवता । पुरोनुष्टुप् । त्रिष्टुप् । विराड् उरोबृहती । २–७ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१॥

भा०—(अयं) यह (पर्णमणिः) उत्तम ज्ञानवान्, पालन करने हारा शिरोमणि पुरुष राष्ट्र में (आ अगन्) आता है जो (बली) बलवान् होकर (बलेन) बल से (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनाश करता है। वही (देवानां) समस्त दिव्य शक्तियों या राष्ट्र के देवों का (ओजः) तेज और बल है और (ओषधीनां) समस्त ओषधियों का (पयः) रस जिस प्रकार सब रोगों को दूर करता है उसी प्रकार वह राष्ट्र की सब त्रुटियों को दूर करता है वही (अप्रयावन्) बिना प्रयाण के किये, अथवा बिना प्रमाद के (मा) मुझे, राष्ट्र के कार्य करने हारे पुरुष को (वर्चसा) अपने तेजः सामर्थ्य से (जिन्वतु) ठीक २ मार्ग में प्रेरित करे।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम्।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

भा०—हे पर्णमणे ! पालन करने और भरण पोषण करने हारे पुरुष-रत्न ! तू (मयि) मुझमें (क्षत्रम्) क्षत्र = क्षात्र बल और (रयिम्) धन धान्य पदार्थ (धारयताद्) धारण करा। जिसके आधार पर (अहं) मैं (राष्ट्रस्य) इस राष्ट्र के (अभीवर्गे) शासक वर्ग में (निजः) उनका निज, आत्मीय बन्धु होकर भी (उत्तमः) सबसे उत्कृष्ट होकर (भूयासम्) रहूँ।

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

२—(द्वि०, तृ०) 'अहंक्षत्रस्याभीवर्गे यजा भूयासमुत्तरा' इति पैप्प० सं०।

३—(द्वि, तृ०, च०) 'वाजि देवाः प्रियं निधिम्, ते मा इन्द्रः सहायुषा ददातु भर्तवे' इति पैप्प० सं०।

भा०—(यं) जिस (प्रियं) प्रिय, (गुह्यं) सुगुप्त, (मणिम्) बहुमूल्य मणि को (देवाः) देव वीर, विद्वान् (वनस्पतौ) वनस्पति अर्थात् वृक्ष के समान-राष्ट्र के पालक रूप में (निदधुः) सुगुप्तरूप से रखें, हे (देवाः) देवगण ! विद्वान् पुरुषो (तं) उस (मणिं) सारवान्, बहुमूल्य, नरशिरोमणि को (अस्मभ्यं) हम प्रजा के (भर्त्तवे) भरण पोषण करने एवं धारण करने के लिये (आयुषा सह) आयु-दीर्घजीवन के सहित प्रदान करें। वनस्पति, वृक्ष जिस प्रकार गुप्त रूप से ईश्वर की दिव्य शक्तियों से बहुत मणिरूप सारभूत पदार्थ को कितने ही आवरणों के भीतर रखता है जिन का यथावत् उपभोग करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है उसी प्रकार राष्ट्ररूप वृक्ष में उसके मणिभूत नेता हैं जो सुगुप्त रहते हैं। प्रजाजन को चाहिये, राज्य की दीर्घायु और अपनी यथासुख आयु भोग करने के लिये उस मुख्य शिरोमणि पुरुष को प्राप्त करें और विद्वानों से उसको राष्ट्रपति बनाने का आग्रह करें।

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

भा०—(सोमस्य) सोमरूप राष्ट्र का (पर्णः) पालन करने हारा विद्वद्गण (इन्द्रेण) राजा की शक्ति के साथ मिल कर (उग्रम्) बल को (आगन्) प्राप्त होता है। वह विद्वद्गण भी (इन्द्रेण दत्तः) राजशक्ति से बहुत ऐश्वर्य आदि पाकर (वरुणेन) राष्ट्र के कष्टनिवारक या सर्वश्रेष्ठ, वरण करने योग्य शासक द्वारा (शिष्टः) अनुशासित होता है। मैं राजा भी (शतशारदाय) दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये उस विद्वद्गण सहित (बहु रोचमानः) प्रजा का बहुत प्रिय एवं सुशोभित, संमानित होता हुआ (तं) उस विद्वत्समूह का (प्रियासं) पालन पोषण करूं।

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

भा०—राजा भी इस बात का विचार रक्खे कि (पर्णमणिः) प्रजा की रक्षा, पालन और पोषण करने हारा, शिरोमणि पुरुष अमात्य या मन्त्री के समान होकर (मह्या) बड़े भारी (अरिष्टतातये) कल्याण अर्थात् राष्ट्र को नाश होने से बचाने के लिये (मा आरुक्षत्) मुझसे भी ऊपर बिराजमान हो। (यथा) जिससे (अहम्) मैं (अर्यम्णः) शत्रुओं के नियामक, मुझसे अधिक बल वाले पर-राष्ट्र के राजा से (संविदः) तथा समान बल वाले पर-राष्ट्र के राजा से भी (उत्तरः) मैं उत्कृष्ट अर्थात् अधिक बल वाला (असानि) हो जाऊं।

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॑रा॒ ये म॑नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒स्तीन् पर्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ६ ॥

भा०—हे (पर्ण) राष्ट्र के पालक मन्त्रिन्! (त्वं) तू (मह्यं) मुझ राजा के लिये, (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान्, कलाकौशल में चतुर (रथकाराः) शीघ्र गमन करने वाले, रथों के बनाने वाले शिल्पी (कर्माराः) लोहे, सुवर्ण आदि धातु के कारीगर और (ये) जो (मनीषिणः) मननशील, अध्यात्मवेदी विद्वान् हैं उन सब (जनान्) पुरुषों को मेरे (अभितः) चारों ओर (उपस्तीन्) उपस्थित (कृणुहि) कर। मन्त्री ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सब शिल्पी और विद्वान्गण राष्ट्र के लिये नियुक्त होकर राजकार्य में सहायक हों, सरकार की तरफ से कारखानों, गाड़ियों और विद्यालयों का प्रबन्ध हो।

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये ।
उ॒प॒स्तीन् पर्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥ ७ ॥

भा०—राजमन्त्री का एक और कार्य। हे (पर्ण) राष्ट्रपालक मन्त्रिन्! (ये) जो (राजानः) अन्य राजा, सामन्तगण और (राजकृतः) राजाओं को बनाने हारे, पुरोहितगण और मन्त्रिगण हैं और (ये) जो (सूताः) रथों और राजाओं के उत्तम संचालक और (ग्रामण्यः) ग्राम के प्रधान नेता

पुरुष हों उन (सर्वान्) सब (जनान्) उत्तम पुरुषों को (मह्यम्) मेरे (उपस्तीन्) समीप उपस्थित (कृणु) कर ।

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

भा०—हे (पर्ण) पालक ! तू (तनूपानः) हमारे शरीर की रक्षा करने हारा होने के कारण ही (पर्णः) पर्ण = पालक (असि) है। (मया) मुझ (वीरेण) वीर पुरुष के साथ तू भी (वीरः) वीर (असि) है। हे (मणे) मननशील, राष्ट्र-स्तंभनशील ! हे शोभाप्रद ! (तेन) उस (तेजसा) तेज, बल के कारण ही (त्वा) तुझको (संवत्सरस्य) एक वर्ष के लिये (बध्नामि) उचित कार्य में नियुक्त करता हूँ ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

---

(६) वीर सैनिकों के कर्त्तव्य ।

जगद्‌बीजं पुरुष ऋषिः । वनस्पतिरश्वत्थो देवता । अरिक्षयाय अश्वत्थदेवस्तुतिः ।
१–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥

भा०—जिस प्रकार (खदिराद् अधि) खदिर नामक वृक्ष पर (परिजातः) उत्पन्न हुआ (अश्वत्थः) पीपल का वृक्ष गुणों में अति अधिक हो जाता है उसी प्रकार (पुंसः) वीर्यवान् पुरुष से उत्पन्न हुआ (पुमान्) वीर्यवान् पुरुष भी बड़ा गुणी, बलवान्, निर्भय होता है। राजा ऐसे पुरुषों से यह आशा करे कि (सः) वह वीर पुरुष (अश्वत्थः) अश्व पर आरूढ़ होकर या अश्व सैन्य का प्रमुख होकर (मामकान्) मेरे उन (शत्रून्) शत्रुओं को (हन्तु) विनाश करे (यान्) जिनको (अहम्) मैं (द्वेष्मि) प्रेमभाव से नहीं देखता और साथ ही (ये च) और जो मुझ से

भी द्वेष करते हैं। वैद्य तीक्ष्णवीर्य ओषधि को प्राप्त करने की इच्छा से ऐसे पीपल को खोजता है जो तीक्ष्णवीर्य खदिर पर उत्पन्न हुआ हो। उसी प्रकार राजा भी युद्ध में शत्रु पर विजय के लिये ऐसे पुरुषों को अपनी सेना में ले जिनके पूर्व पुरुष, मां बाप बलशाली, बीर्यवान् हों। जो कुल परंपरा से साहस के कार्यों में प्रबल होते हैं। ऐसे पुरुषों की अश्वत्थ से उपमा है। उनको उसी प्रकार का जो चिह्न धारण कराया जावे उसका भी नाम 'अश्वत्थमणि' समझना उचित है।

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्व के ऊपर विराजने वाले वीर, घुड़सवार बहुयुद्धविजयी पुरुष ! तू (वृत्रघ्ना) विघ्नकारी शत्रुओं का नाश करने हारे, (इन्द्रेण) राजा के साथ और (मित्रेण) सबके साथ स्नेह करने हारे, प्रजा को मृत्यु से बचाने हारे या मित्र राजा और (वरुणेन च) वरुण-पुलिस और गुप्तचर के विभाग के साथ (मेदी) मित्रभाव से उनको पुष्ट करता हुआ, (वैबाधदोधतः) राष्ट्रवासियों को नाना पीड़ाओं से कंपाने हारे या स्वयं कांपने वाले (शत्रून्) राष्ट्रशत्रुओं को (निः शृणीहि) सर्वथा, सब प्रकारों से विनाश कर।

अर्थात् घुड़सवार वीर पुरुषों को राजा अपने सग और राष्ट्र के रक्षक पुलिस विभाग और गुप्तचर विभागों में भी नियुक्त करे।

यथाश्वत्थ निरभनोन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) हे घुड़सवार ! वीर पुरुष ! और हे अश्व के समान युद्ध में निष्प्रकम्प पुरुष ! (यथा) जिस प्रकार से (महति) बड़े भारी (अर्णवे) सेना के समुद्र में (अन्तः) भीतर प्रवेश करके (निरभनः) शत्रुओं का मर्दन करते हो उसी रीति से (यान् अहं द्वेष्मि) जिनको मैं

द्वेष करता हूँ और (ये च माम्) जो मुझको द्वेष करते हैं (तान् सर्वान्) उन सबको भी (भङ्ग्धि) विनाश कर डाल।

यः सह॑मान॒श्चर॑सि सासहा॒न इ॑व ऋष॒भः ।

तेना॑श्वत्थ॒ त्वया॑ व॒यं स॒पत्ना॑न्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) वीर! अश्वारोहिन्! (यः) जो तू (ऋषभ इव) ऋषभ = महावृषभ, बड़े सांड या दूरदर्शी पुरुष के समान (सहमानः) संकटों को सहन करता और (ससहानः) अपने विरोधियों को बार २ पराजित करता हुआ (चरसि) विचरण करने में समर्थ है (तेन) इस कारण (त्वया) तुझ वीर पुरुष से हम राजगण (सपत्नान्) अपने विरोधियों को (सहिषीमहि) पराजित करें।

सि॒नात्वे॑ना॒न् निर्ऋ॑तिर्मृ॒त्योः पाशै॑रमो॒क्यैः ।

अश्व॑त्थ॒ शत्रू॑न् माम॒कान् याने॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम् ॥ ५ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन्! (मामकान् शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (यान् अहं द्वेष्मि) जिनको मैं द्वेष करता हूँ और (ये च माम्) जो मुझको द्वेष करते हैं (निर्ऋतिः) अश्वारोहियों की घोर सेना (एनान्) इन शत्रुओं को (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्यैः) कभी न छूटने हारे (पाशैः) जालों से (सिनातु) बांध दे। अश्वारोहियों की सेना ही शत्रुओं को ऐसा घेरे कि शत्रु लोग बच के न जाने पावें।

यथा॑श्वत्थ वानस्प॒त्याना॒रोह॑न् कृणु॒षेऽध॑रान् ।

ए॒वा मे॒ शत्रो॑र्मू॒र्धानं॒ विष्व॑ग् भिन्धि॒ सह॑स्व च ॥ ६ ॥

भा०—हे (अश्वत्थ) अश्वारोहिन्! वीर पुरुष! (यथा) जिस प्रकार पीपल का वृक्ष 'अश्वत्थ' वह (वानस्पत्यान्) अन्य बड़े २ वृक्षों पर (आरोहन्) मूल जमा कर बड़ा होकर उनका रस स्वयं पी जाता है और उनको जीते रहने देकर भी अपने आप प्रधान हो जाता है (एवा) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (कृणुषे) कर दे और

(मे) मेरे (शत्रोः) शत्रु के (मूर्धानं) शिर को या मुख्यता को (विष्वग्) सब प्रकार से (भिन्धि) तोड़ डाल और (सहस्व च) उनको पराजित कर। अश्वत्थ के दृष्टान्त से वीर पुरुष किस प्रकार वर्णित है, स्पष्ट है।

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्त्तनम् ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे मेरे शत्रुगण (अधराञ्चः) नीचे गिरे हुए (बन्धनात्) बांधने हारी रज्जु के बंधन से (छिन्ना) कटी हुई (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) भंवर में पड़ कर बह जायं और डूब जायं (वैबाधप्रणुत्तानां) नाना प्रकार की पीड़ाओं से विनष्ट हुए उच्छिन्न शत्रुओं का (पुनः) फिर (निवर्त्तनम्) लौट कर आना (न अस्ति) सम्भव नहीं।

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

भा०—मैं (एतान्) इन शत्रुओं को (मनसा) अपने राष्ट्र के मानस बल, मन्त्रशक्ति से भी (प्र नुदे) अच्छी प्रकार पराजित करता हूँ। (प्र चित्तेन) अपने राष्ट्र के चित्त = विज्ञान द्वारा भी विनाश करूं (उत ब्रह्मणा) ब्रह्म—ब्राह्मणों के बल से भी विनाश करूं और (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य) पीपल की (शाखया) शाखा से जिस प्रकार उसका आधार वृक्ष विनाश हो जाता है उस प्रकार बलशाली अश्वारोही क्षत्रियवर्ग के (शाखया) व्यापक शक्ति या सेना के दण्ड-बल से (प्र नुदामहे) उनका विनाश करता हूँ।

---

(७) क्षेत्रिय व्याधियों का निवारण।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनो देवता। १–५, ७ अनुष्टुभः। ६ भुरिक्।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

भा०—क्षेत्रिय व्याधि क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि के निवारण का उपाय बतलाते हैं—(रघुष्यदः) अति वेग से दौड़ने वाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) सिर के ऊपर जो सींग हैं वह (भेषजम्) रोगों को दूर करने वाला पदार्थ है। (सः) वह विद्वान् चिकित्सक (विषाणया) सींग के द्वारा ही (विषूचीनम्) नाना प्रकार के कष्ट देने वाले रोगों को (अनीनशत्) विनाश करता है।

अनु॑ त्वा हरि॒णो वृषा॑ प॒द्भिश्च॒तुर्भि॑रक्रमीत् ।
विषा॑णे॒ वि ष्य॑ गुष्पि॒तं यद॑स्य क्षेत्रि॒यं हृ॒दि ॥ २ ॥

भा०—हे (विषाणे) रोगनाशक सींग (त्वा अनु) तेरे उत्पन्न हो जाने के अनन्तर (वृषा हरिणः) नर हरिण (चतुर्भिः) चार (पद्भिः) चरणों से (अक्रमीत्) चौकड़ी भरने लगता है। (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (गुष्पितं) छिपे हुए (क्षेत्रियं) क्षय आदि रोग का तू (वि ष्य) नाना प्रकार से नाश कर। हरिण के सींग के स्पर्श से त्वचा का दोष और प्रलेप से व्रण और भस्म से क्षय, कास, श्वास और अपस्मार की व्याधि दूर होती है।

अ॒दो यद॑व॒रोच॑ते॒ चतु॑ष्पक्षमिव च्छ॒दिः ।
तेना॑ ते॒ सर्वं॑ क्षेत्रि॒यमङ्गे॑भ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(अदः) यह (यद्) जो (चतुष्पक्षम्) चार पक्षों से (च्छदिः) शरीर को आच्छादन करने वाली मृगछाला (अव रोचते) शोभा देती है (तेन) उससे हे रोगी ! (ते) तेरे (अंगेभ्यः) सब अंगों से (सर्वं क्षेत्रियम्) सब प्रकार की रक्त आदि व्याधियों को (नाशयामसि) हम दूर करते हैं। मृगछाला के प्रयोग से रक्तपित्त वात आदि का नाश होता है। उस पर बैठने ओढ़ने आदि से बवासीर, कण्डू, खाज आदि रोग दूर होते हैं।

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अथर्व० २ । ८ । १ ॥

भा०—(दिवि) शिर में (ये) जो (सुभगे) सौभाग्यशील (विचृतौ नाम तारके) कष्ट बन्धनों से काटने वाले, तारक प्राण और अपान हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य) इस क्षेत्र अर्थात् शरीर में होने वाले, (अधमं) नीच, नाभि से नीचे के देह में लगे और (उत्तमम्) नाभि से ऊपर के देह भाग में लगे (पाशं) व्याधि, अपस्मार आदि के रोगपाश को (वि मुञ्चताम्) विशेष रूप से मुक्त कर दें।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १३७ । ६ अथर्व० ६ । ६१ । ३ ॥

भा०—(आपः इद् वा उ) आपः = जल ही (भेषजीः) स्वयं रोग-हारक उत्तम औषध हैं, क्योंकि (आपः) जल ही (अमीवचातनीः) रोग-जन्तुओं का नाश करने में समर्थ है। (आपः विश्वस्य भेषजीः) जलों से ही समस्त रोगों की चिकित्सा हो जाती है। (ताः त्वा) वे जल ही तुझे (क्षेत्रियात्) शरीरगत, परम्परा-प्राप्त पैतृक रोगों से भी (मुञ्चन्तु) छुड़ा दे सकते हैं।

जल-चिकित्सा का विस्तृत रहस्य अंगविद्या आयुर्वेद से जानना चाहिये, जल के द्वारा नेति, धौति, बस्ति क्रिया एवं धारा स्नान, मार्जन, परिसेचन, तर्पण, स्वेदन आदि विविध उपचारों से कुष्ठ एवं त्वचा के समस्त रोग, ज्वर और रक्तविकार और हृदयरोग मस्तिष्क रोग और वीर्यदोष भी शान्त किये जाते हैं।

५—(तृ०) 'आपः सर्वस्य' इति ऋ० (च०) 'तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्' इति ऋ०, अथर्व० ६ । ६१ । ३ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥

भा०—हे रोगिन् ! (क्रियमाणायाः) की जाती हुई (आसुतेः[1]) वीर्य की आधान क्रिया या प्रसव क्रिया से लेकर ही (यद्) जो (क्षेत्रियं) देह स्थित या वंश परम्परा से प्राप्त रोग (त्वा) तेरे शरीर में (वि आनशे) फैला हुआ है (तस्य) उसकी भी मैं (भेषजं वेद) चिकित्सा जानता हूँ। इसलिये (त्वत्) तेरे (क्षेत्रियं) शरीरगत या वंशागत ऐसे रोग का भी (नाशयामि) विनाश करता हूँ ।

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

भा०—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) अस्त हो जाने (उत) और (उषसाम्) उषाकाल, प्रभात वेला के भी (अपवासे) व्यतीत हो जाने पर हमारे शरीरों से (दुर्भूतं) कष्टदायक, (सर्वं) सब प्रकार का (क्षेत्रियं) शरीरगत रोग (अप उच्छतु) दूर हो जाय ।

यहां सूर्य के ताप से तीव्र ज्योतिः-स्नान का विधान प्रतीत होता है।

---

(८) राजा के कर्तव्य ।

अथर्वा ऋषिः । मित्रो विश्वेदेवा वा देवता । २, ६ जगत्यौ । ४ चतुष्पदा विराड् बृहतीगर्भा । त्रिष्टुप् । ५ अनुष्टुप् । १, ३ त्रिष्टुभौ । षडृचं सक्तम् ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

भा०—(मित्रः) सूर्य जिस प्रकार (ऋतुभिः) छहों ऋतुओं द्वारा नाना प्रकार के सामर्थ्यों को प्रकट करता हुआ (उस्रियाभिः) अपनी

[1] 'आसुतिः द्रवीभूतमन्नम्' इति सायणः, पानमिति सशयितो ह्विटनिः ।

किरणों द्वारा (पृथिवीं) पृथिवी को (संवेशयन्) आच्छादित करता हुआ प्राणियां से बचा देता है और समस्त देश को (वरुणः) जल, (वायुः) वायु और (अग्निः) अग्नि भी प्राणियों को बसाते हैं उसी प्रकार राजा (मित्रः) प्रजा को विनष्ट होने से बचाने वाला और सदा स्नेहवान् होकर (ऋतुभिः) सत्य धर्मों, कर्मों और शिल्पों से (कल्पमानः) समर्थ होकर (पृथिवीम्) पृथिवी, राष्ट्र को (उस्रियाभिः) उन्नतिशील प्रजाओं से (संवेशयन्) बसाता हुआ (अथ) और (वरुणः) राष्ट्र का रक्षक, राष्ट्र में सबसे श्रेष्ठ प्रजा के स्वयं वरण करने योग्य (वायुः) सबका प्रेरक, (अग्निः) सबका नेता होकर (बृहत्) बड़े भारी और (अस्मभ्यं) हम प्रजा गण के (संवेश्यं) बसने योग्य (राष्ट्रं) राष्ट्र को सुसम्पन्न सुव्यवस्थित बना कर (दधातु) पालन करे ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥२॥

भा०—राजा प्रजा की प्रार्थना सुनकर निम्न प्रकार से अधिकारी नियुक्त करे। (धाता) सन्निधाता नामक अधिकारी (रातिः) दानशील दानाध्यक्ष (सविता) समाहर्त्ता ये तीनों अधिकारी (इदं) इस राष्ट्र को (जुषन्तां) बसावें और सम्पन्न करें और (इन्द्रः) सेनापति (त्वष्टा) सब कारीगरों का मुख्य शिल्पाध्यक्ष ये सब (मे) मेरे (वचः) वाणी, आत्मा के (प्रति हर्यन्तु) अनुकूल रह कर कार्य करें और (शूरपुत्रां) शूरवीर पुत्रों को उत्पन्न करने हारी (देविम्) दिव्यगुण युक्त, (अदितिं) अदीन, आदरणीय पृथिवी, मातृशक्ति को (हुवे) मैं संबोधित करता हूँ वह वीर पुत्रों को मेरे संग करे, मैं (सजातानां) समान बल वाले अन्य राजाओं के बीच में (यथा) जिस प्रकार (मध्यमेष्ठः) मध्यस्थ, सबके बलों को समान रूप से तुलित रखने वाला (असानि) रहूँ। राष्ट्र को इतना प्रबल बनाना चाहिये कि शत्रु दोनों पक्षों को तुलित कर सके ।

धाता = सन्निधाता, दानाध्यक्ष, समाहर्त्ता आदि अधिकारी गणों का

विवरण देखिये अथर्ववेद उपवेद (अर्थशास्त्र कौटिल्य का 'अध्यक्ष-प्रचार' नामक अधिकरण)।

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

भा०—(अहम्) मैं (सोमं) सर्वप्रेरक, विद्वान्, शान्त, पुरुष को (सवितारं) सविता, समहर्ता पद पर (हुवे) नियत करता हूँ और (उत्तरत्वे) उसके अधीन (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदिति रूप राष्ट्र-माता के पुत्रों को (नमोभिः) आदर योग्य पदों से विभूषित करता हूँ। (अयम्) यह (अग्निः) सबका नेता होकर (सजातैः) समान रूप से बलवान् हुए (अप्रतिब्रुवद्भिः) अपना विरोध न करने हारे इन आदित्य पुरुषों द्वारा (इद्धः) खूब प्रज्वलित, प्रभाववान् होकर (दीर्घम् एव) चिरकाल तक (दीदयद्) शोभा दे, चमके ।

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

भा०—राजा का अधिकारीगण और प्रजाओं को उपदेश। हे प्रजाओ ! (इह इत्) यहां ही, इसी राष्ट्र में (असाथ) सुखपूर्वक निवास करो। (परः न) दूर मत (गमाथ) जाओ। इसी प्रकार का उपदेश राजा अपनी सेनाओं के प्रति भी करता है। (इर्यः) तुमको सन्मार्ग पर चलाने हारा, आज्ञापक (गोपाः) गौओं को पालन करने हारे गोपति के समान प्रजाओं और सेनाओं का पालक, (पुष्टपतिः) पुष्टिकारक सम्पत्तियों का भी परिपालक (वः) तुमको (आजत्) ठीक मार्ग पर चला रहा है। आप लोग (अस्मै) इसके (कामाय) अभिलाषा के अनुकूल ही (कामिनीः) अपनी अभिलाषा उसी प्रकार बनाये रखो जिस प्रकार अभिलाषा वाली स्त्रियां अपने प्रिय पतियों के प्रति रहती हैं। तभी (वः) तुमको (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्गण भी (उप संयन्तु) प्राप्त हों, तुम्हारे आज्ञावर्ती और सहायक हों।

राजा सब बिभागों पर अध्यक्ष नियत करे, उसके अनुसार सब चलें, तभी राष्ट्र के विद्वद्गण भी उनकी सहायता करें।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । १ ॥

भा०—अधिकारियों का प्रजाओं के प्रति उपदेश—हम लोग (वः) आप प्रजागण के (मनांसि) चित्तों को (सं नमामसि) अपने अनुकूल करते हैं। (व्रता सम्) आप लोगों के कर्मों को अपनी व्यवस्था के अनुकूल करते हैं (आकूतीः सम्) आपके विचारों को हम अपने अनुकूल करते हैं और (ये) जो (अमी) ये पुरुष (व्व्रताः) नियमों के प्रतिकूल कार्य करने हारे (स्थन) हों (तान्) उनको (वः) आपके सामने ही (सं नमयामसि) व्यवस्था के अनुकूल झुकावें, उनको दबावें, दण्ड दें।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अथर्व० ६ । ९४ । २ ॥

भा०—(अहं) मैं राजा, शासक (मनांसि) अपनी प्रजा के मनों को (मनसा) अपने मन से (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ, वश करता हूँ। हे प्रजाजनो! एवं मेरे अधीन शासकवर्गो! (चित्तेभिः) अपने चित्तों से (मम चित्तम् अनु) मेरे चित्त के अनुकूल ही (एत) होकर रहो। (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को मैं (मम) अपने (वशेषु) अधीन के कार्यों में (कृणोमि) नियुक्त करता हूँ। आप लोग (अनुवर्त्मानः) मेरे अनुकूल मार्ग पर चलने हारे होकर (मम यातम्) मेरे चले रास्ते पर ही (एत) गमन करो अर्थात् मेरे विधान किये मार्ग से विपरीत, विरुद्ध मार्ग पर पैर मत रक्खो।

इसी सूक्त के आचार्य माणवक के हृदय और नाभिदेश को स्पर्श करके उसे अपने अनुकूल रहने का उपदेश करता है। राजा का प्रजा से,

पिता का पुत्रों से, पति का अपने परिवार से एवं गुरु का शिष्य से जो सम्बन्ध है वह भी शास्य-शासक का सा है। उनकी भी अपनी अपनी सरकार सी है, फलतः उपरोक्त अर्थों की इन पक्षों में भी योजना कर लेनी चाहिये।

(९) प्रबल जन्तुओं और हिंसक पुरुषों के वश करने के उपाय।

वामदेव ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ उत विश्वेदेवा देवताः। १, ३, ५, अनुष्टुभः। ४ चतुष्पदा निचृद् बृहती। ६ भुरिक्। षड्र्चं सूक्तम्॥

क॒र्शफ॑स्य विश॒फस्य॒ द्यौः पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता।
यथा॑भिच॒क्र दे॑वा॒स्तथाप॑ कृणुता॒ पुन॑ः॥ १॥

भा०—(कर्शफस्य[1]) कर्शफ = करशफ अथवा कृशशफ जिन पशुओं के शफ = खुर पंजे के समान हैं जैसे व्याघ्र आदि या जिनके शफ निर्बल हैं और (विशफस्य) या जिनके शफ खुर नहीं हैं, या बिना चरण के हैं जैसे सर्प आदि उन सब जन्तुओं का भी (द्यौः) वह दिव्य गुण वाला सबका प्रकाशक प्रभु ही (पिता) पालक है और (पृथिवी) यह पृथिवी सबका आश्रय ही (माता) माता है। इस कारण (देवाः) विद्वान् लोग (यथा अभि चक्र) जिस प्रकार इनके प्रति व्यवहार करते आये और इनका निवारण करने का उपदेश करें। (पुनः) फिर भी हे पुरुषो! तुम (तथा अप कृणुत) वैसा ही इनका निवारण करो। अर्थात् उनका द्वेषबुद्धि द्वारा विनाश करना उचित नहीं, उनको वश करना उचित है।

अ॒श्रे॒ष्माणो॑ अधारय॒न् तथा॒ तन्मनु॑ना कृ॒तम्।
कृ॒णोमि॒ वध्रि॒ विष्क॑न्धं मुष्काब॒र्हो गवा॑मिव॥ २॥

१—क्षेमकरणस्त्रिवेदी 'यत्कृशाश्विलिगर्दिभ्योऽभवत' 'कृषिवृषिभ्यां कित्' इत्येते सूत्रे उदाजहार, तदसमञ्जसम्, ताभ्यां शरभवृषभशब्दयोः सिद्धिर्न तु कर्शफविशफयोः।

२—१. श्रिषुश्लिषु प्रषु प्लुषु दाहे। भ्वादिः। श्लिष श्लेषणे। चुरादिः। श्लिष आलिंगने, दिवादिः। इत्येतेभ्यो धातुभ्य औणादिको मनिन्।

भा०—आक्रमणकारी जन्तुओं को किस प्रकार वश करें उसका उपदेश—(अश्रेष्माणः[1]) दूसरे को पीड़ा न पहुँचाने वाले दयालु या बहुत ममता न करने वाले अनासक्त पुरुष उन सब जन्तुओं को (अधारयन्) पालन पोषण ही करते हैं, (तथा) और उसी प्रकार (मनुना) मननशील पुरुष भी (तत्) वही (कृतम्[2]) करता है। हे पुरुषो! (विष्कन्धं) विशेष रूप से जिनके स्कन्ध उठे हुए हों ऐसे जन्तुजाति को भी मैं (वध्रि) वश करने योग्य ही (कृणोमि) बनाता हूँ। जिस प्रकार (गवाम् इव) बैलों को वश करने के लिये उनके (मुष्काबर्हः) अण्डकोशों को तोड़ दिया जाता है और इससे वे जन्तु वश हो जाते हैं उनका क्रूरस्वभाव टूट कर सौम्य हो जाता है। इसी प्रकार और भी प्रबल कन्धे वाले बलवान् जानवरों को वश करने का उपाय है।

पि॒शङ्गे॑ सूत्रे॒ खृग॑लं॒ तदा ब॑ध्नन्ति वे॒धसः॑ ।
श्र॒व॒स्युं शुष्मं॑ काब॒वं वध्रिं॑ कृण्वन्तु ब॒न्धुरः॑ ॥ ३ ॥

भा०—हिंसक जन्तुओं को वश करने के उपाय—(वेधसः) विद्वान् लोग, उपाय करने हारे पुरुष (खृगलं) गैंडे जैसे मोटे खाल वाले अथवा कठोर गले वाले सांड के समान जन्तु को भी (पिशङ्गे) दृढ़, खूब बटे हुए (सूत्रे) सूत, डोरी या रस्से में (आ बध्नन्ति) बांध लेते हैं (तत्) यह वश करने का उपाय है और (बन्धुरः) बांधने हारे पुरुष (काबवं) हिंसक, मरखने प्राणी को प्रथम (शुष्मं) उपवास आदि द्वारा शुष्क करके (श्रवस्युं) पुनः अन्न, भोजन के अभिलाषी बनाकर (वध्रिं) बांधने लायक (कृण्वन्तु) कर लिया करें। अर्थात् हिंसक पशुओं को पहले कुछ दिन भूखा रखकर फिर भोजन चारा दिखाना चाहिये, तब वे आप से आप वश हो जाते हैं।

येना॑ श्रव॒स्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑ ।
शुनां॑ क॒पिरि॑व॒ दूष॑णो॒ ब॒न्धु॑रा काब॒वस्य॑ च ॥ ४ ॥

४—(तृ० च०) 'दूषणं बन्धरा काभवस्य च' इति पैप्प सं० ।

भा०—हे पुरुषो ! आप लोग भी (येन) जिस प्रकार से (असुर-मायया) वैश्य व्यापारियों की बुद्धि से प्रेरित होकर (श्रवस्यवः) अपनी पेटपूजा के निमित्त अन्न को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए (देवाः इव) विद्वान् सदाचारी पुरुषों के समान ही (चरथ) इस लोक में विचरते हो और एक दूसरे से लड़ना झगड़ना छोड़कर परस्पर मिलकर रहते हो उसी प्रकार इन जन्तुओं को भी अपने सद्व्यवहार से अन्नादि देकर सधा कर, भोला बनाकर रक्खो, उनको तुम अन्न दो, उनसे काम लो। यदि उनको बांधकर रक्खोगे और उनको दण्ड ही दण्ड दोगे तो वह भी उनके स्वभाव को बिगाड़ देता है, क्योंकि जिस प्रकार (शुनां) कुत्तों के बीच में (कपिः इव) बन्दर के आ जाने से बन्दर को क्रोध आ जाता है और आपस में एक दूसरे को फाड़ खाने की चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार (काववस्य) हिंसाशील जन्तु को भी (बन्धुरः) निरन्तर बांधे रहना (दूषणः) उसके स्वभाव को बिगाड़ देता है, वह भी अपने बांधने वाले के प्राण का प्यासा हो जाता है। इसलिये उसको भी पेट भर अन्न देकर उससे कार्य लेना चाहिये।

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भा०—यदि (काबवं) हिंसक जन्तु को किसी कारण से (दूष-यिष्यामि) क्रुद्ध भी कर दूं तो भी इस (त्वा) तुझ हिंसक जन्तु को (दुष्ट्यै) बिगड़े स्वभाव के कारण ही (भत्स्यामि) बांध कर रक्खूं और इस प्रकार बांध कर रखने से भी (आशवः) शीघ्रकारी (रथाः) रथों के समान, रथ में लगे घोड़ों के समान (शपथेभिः) तीक्ष्ण वचनों से या विश्वास्य वचनों से प्रेरित होकर ही तुम (सरिष्यथ) सन्मार्गों पर चलोगे। अर्थात् जब पशु को उसकी दुष्टता पर मारा जाय तो वह और भी बिगड़ जाता है तो भी उसको पुचकार कर या कठोर वचन कह कर सीधे रास्ते पर ले आना चाहिये और समय २ पर हन्टर भी लगाना चाहिये।

एकंशतं विष्कंन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनुं ।
तेषां त्वामग्र उज्जंहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

भा०—हे मनुष्य (विष्कन्धानि) प्रबल स्कन्ध वाले हिंसक जन्तुओं की (एकशतं) एक सौ एक या सैकड़ों जातियां (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर विचरती हैं (तेषाम् अग्रे) उनके बीच मुख्याधिकारी (त्वां) तुझको (मणिम्) शिरोमणि रूप होकर उन पर वश करने हारा (उत् जहरुः) अधिष्ठाता रूप से स्थापित किया है। तू स्वयं (विष्कन्धदूषणम्) उन प्रबल जन्तुओं को वश करने में समर्थ है।

इस अन्तिम मन्त्र में विष्कन्ध और दूषण ये दो शब्द प्रबल हिंसक जीव और उनके वश करने के उपायों के अतिरिक्त सेनानिवेश और उनके वश करने के उपाय पर भी प्रकाश डालते हैं। जिस प्रकार पशुओं को वश करने का उपाय कहा गया इसी प्रकार हिंसक पुरुषों की छावनी को भी, उन्हें परस्पर फोड़ कर वश कर लेना चाहिये। संक्षेप से शत्रुवश करने के लिये इतनी नीतियों का उपदेश किया है। (१) बैलों के समान उनका मदकारी अंश निकाल देने से शत्रु वश में हो जाएंगे, (२) गैंडे के समान या मोटे कन्धे वाले पशु के समान दृढ़ व्यवस्था से बांध लो, (३) जिस शत्रु के पास अन्न न रहे उसको भूखा मार कर फिर अन्न दो और इस प्रकार उसे वश करो, (४) सदा किसी पर बन्धन मत रक्खो, नहीं तो वानर और कुत्तों की सी चीर फाड़ होती रहेगी। इसलिये उनको अन्नादि पदार्थ देकर उनसे बदले में काम ले और व्यापार विनिमय द्वारा उनको बांधे रहे, (५) यदि उत्पात करे तब उन पर तर्जना करे और बन्धन लगा दे।

---

(१०) अष्टका रूप से नववधू के कर्तव्य।

अथर्वा ऋषिः । अष्टका देवताः । ४, ५, ६, १२ त्रिष्टुभः । ७ अवसाना अष्टपदा विराड्गर्भा जगती । १, ३, ८–११, १३ अनुष्टुभः । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥

भा०—अष्टका रूप से पत्नी का स्वरूप । हे (यमे) ब्रह्मचर्य आदि का पालन करने हारी ब्रह्मचारिणी ! (प्रथमा) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ कुमारी रूप से जो स्त्री अपने पति के गृह में (ह) निश्चय से (वि उवास) विशेष रूप से वास करती है (सा) वही उसके घर की (धेनुः) गौ के समान समस्त कार्यों में सुख की देने हारी (अभवत्) होती है । (नः) हमारे घरों में उसी प्रकार (सा) वह पत्नी (पयस्वती) पुष्टिकारक वर्धनशील सुखों के देने हारी होकर (उत्तरां उत्तरां समाम्) ज्यों २ वर्ष पर वर्ष बीतते जायं त्यों त्यों उत्तरोत्तर (दुहाम्) घर को सुखों से भरती जाय।

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

भा०—गृहपत्नी, नववधू का रात्रि और गौ से उपमा देकर वर्णन। (यां) जिस (रात्रिं) रमण करने योग्य सबको प्रसन्न करने एवं सुख देने हारी रात्रि के समान और (उप आयतीम्) स्वामी के पास प्रेम से स्वयं आने हारी, (धेनुं) नाना सुखों को उत्पन्न करने हारी गौ के समान गार्हस्थ्य सुख को प्राप्त कराने हारी वधू को (देवाः) विद्वान् पुरुष (प्रतिनन्दन्ति) देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं (या) जो (संवत्सरस्य) उत्तम रीति से वत्स = बालकों को अन्नादि से पुष्ट करने हारे अपने स्वामी के गृह की (पत्नी) अर्थात् स्वामिनी होकर रहती है वह (नः) हमारे समाज के लिये (सुमङ्गली) उत्तम शुभ मङ्गल करने हारी हो ।

नवोढ़ा को आशीर्वाद दिया जाता है 'सुमङ्गलीरियं वधूः इमां समेत

पश्यत ।' अन्यत्र भी "सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।" (अथर्व० १० । २ । २६)

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

भा०—हे (रात्रि) रमण करने योग्य, सबको सुख देने हारी रात्रि के समान पति को सुख देने हारी पत्नि ! (यां) जिस (त्वां) तुझको हम (संवत्सरस्य) संवत्सर, यजमान, गृहपति का (प्रतिमां) दूसरा स्वरूप या दूसरी मूर्त्ति—अर्धांगिनी के समान (उपास्महे) जानते हैं (सा) वह तू (नः) हमारी (आयुष्मतीं) दीर्घायु (प्रजां) प्रजा को (रायस्पोषेण) धन धान्य आदि पुष्टिकारक पदार्थों द्वारा (सं सृज) युक्त कर ।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥

अथर्व० ८ । ९ । ११ ॥

भा०—(इयम् एव) यह ही वधू (सा) वह है (या) जो (प्रथमा) गुणों में सबसे श्रेष्ठ होने के कारण (इतरासु) अन्य घर की (आसु) स्त्रियों के बीच में (वि औच्छत्) अपने गुणों का विशेष प्रकाश करती हुई (प्रविष्टा) उनके हृदयों में प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है, रहती है । (अस्यां) इन नवोढ़ा स्त्री में (महान्तः) बड़े भारी (महिमानः) महत्वपूर्ण यश हैं । वह (वधूः) नववधू (अन्तः) अन्तःपुर में (नवगत्) नव २, नये २ रूप को धारण करने हारी या अपने नव पति से संगत होकर (जनित्री) प्रजा को उत्पन्न करती हुई (जिगाय) सब से उत्कृष्ट होकर रहे ।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।

एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५॥

५—(तृ०) 'एकाष्टकायै हविषा विधेम' इति पैप्प० सं० । 'सुप्रजासः' इति क्वचित्पाठः । (प्र०) 'उलूखलाग्रावा' (द्वि०) 'वत्सरीणाम्'

भा०—गृहपत्नी को गृह के कार्यों का उपदेश। (वानस्पत्याः) वनस्पति या काठ के बने हुए (ग्रावाणः) कूटने के साधन ऊखल, मूसल, (हविः) यज्ञ के योग्य सामग्री धान्य आदि को (कृण्वन्तः) तैयार करते हुए (परिवत्सरीणम्) वर्ष भर (घोषम्) उत्तम शब्द (अक्रत) करते रहें। हे (एकाष्टके) एकमात्र गृह की आठों प्रहर सुध लेने हारी गृहिणी ! तेरे कारण हम (सुवीराः) उत्तम बलसम्पन्न, वीर्यवान् पुत्रों से युक्त (सुप्रजसः) और उत्तम सन्तानों से युक्त (रयीणां) और पशु एवं धन समृद्धियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों। अथवा (वानस्पत्याः) किरणों के स्वामी सूर्य के व्रत पालक तेजस्वी (ग्रावाणः) उपदेष्टा जन ज्ञानोपदेश करते हुए वर्ष भर (घोषम् अक्रत) वेदोपदेश करें।

इडा॑यास्प॒दं घृ॒तव॑त् सरीसृ॒पं जात॑वेदः॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय।
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पास्तेषां॑ स॒प्तानां॒ मयि॒ रन्ति॑रस्तु ॥६॥

भा०—(इडायाः) गौ का (सरीसृपं) निरन्तर गमन करने वाला (पदं) स्वरूप या चरण (घृतवत्) घृतादि पुष्टिकारक पदार्थ से युक्त होता है। हे (जातवेदः) अग्ने ! परमेश्वर ! (प्रति) प्रतिदिन (हव्या) हवन करने योग्य पदार्थों और प्रेमपूर्वक पढ़ी गई स्तुतियों को (गृभाय) स्वीकार करो। (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में पालन करने योग्य पुरुषों के संघ में रहने के स्वभाव वाले (विश्वरूपाः) नाना प्रकार के (पशवः) पशु हैं (तेषां) उन सब (सप्तानां) सातों प्रकारों के पशुओं की (रन्तिः) सुख-सम्पदा (मयि) मेरे पास (अस्तु) हो। गृहस्थी पुरुष गोपालन करे, उससे दूध, दही, मक्खन प्राप्त करे, प्रतिदिन यज्ञ करे, उपासना करे। गो-पालन, पशु-पालन करे और जीवन का आनन्द प्राप्त करे। गौ, बकरी, भेड़, हाथी, गधा, अश्व और ऊंट ये सात पशु हैं।

(तृ०) 'सुप्रजा वीरवन्तः' इति हि० गृ० सू० । (प्र०) 'औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणः' (च०) ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते' इति मै० ब्रा० ।

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥७॥ यजु० ३।५९॥

भा०—हे (रात्रि) सुख साधनसम्पन्न गृहपत्नि ! तू मुझ गृहस्थ के (पुष्टे) अति अधिक पुष्टि देने योग्य, बढ़े हुए धन में और (पोषे च) बालकों के पालन पोषण कार्य में सहायक हो। हम सब (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सुमतौ) शुभ मति में ही (स्याम) रहें। यज्ञ का उपदेश करते हैं—हे (दर्वे) घृतपूर्ण चमस ! तू (पूर्णा) पूर्ण होकर (परापत) अग्निहोत्र की अग्नि में पड़ और (सुपूर्णा) उत्तम रीति से पूर्ण होकर (पुनः आ पत) बार २ आहुति डाल। तू (सर्वान्) समस्त (यज्ञान्) पुण्यकार्यों को (संभुञ्जती) पालन करती हुई (ऊर्जं) रस और बल को (इषम्) पुष्टिकार अन्न को (नः) हमें (आ भर) प्राप्त करा। दर्वि की उपमा से यह मन्त्र गृहपत्नी का कर्त्तव्य कहता है कि—हे (दर्वे) सब दुःखों का दलन करने हारी ! तू (पूर्णा) शरीर में पूर्ण होकर (परा पत) घर के कार्यों में लग और (सुपूर्णा) खूब हृष्ट पुष्ट होकर (पुनः आ पत) बार २ हमारे प्रति आ अथवा प्रसन्न चित्त से तू माता पिता के साथ जा और भी अधिक प्रसन्नता से पुनः अपने पतिगृह में लौट कर आ और पुण्य कर्मों का पालन करती हुई हमारे लिये पुष्टिकर पदार्थों को प्राप्त करा।

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

भा०—हे (एका-अष्टके) एकमात्र घर को आठों प्रहर सुधारने वाली गृहपत्नी अथवा समस्त सुखों का भोग देने हारी ! तेरा (पतिः) स्वामी (अयम्) यह (संवत्सरः) संवत्सर स्वरूप, यज्ञरूप पुरुष है जो सम् = भली प्रकार वत्सरः = पुत्रों का दान करने एवं लालन पालन करने में समर्थ है। (सा) वह तू (आयुष्मतीं प्रजां) दीर्घ आयु वाली प्रजा को (रायः पोषेण) धनादि पोषणकारी पदार्थों से (संसृज) युक्त कर।

ऋ॒तून् य॑ज ऋ॒तुप॑तीनार्त॒वानु॒त हा॑य॒नान्।
समाः॑ संवत्स॒रान् मासा॑न् भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे ॥ ९ ॥

अथर्व० ११।६।१७॥

भा०—मैं, गृहपति (ऋतून् यजे) सब ऋतुओं में उन ऋतुओं के अनुकूल यज्ञ करूं और (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के परिपालक अग्नि, वायु आदि देव 'शब्दवाच्य' पदार्थों को भी (यजे) उचित रीति से संगत करके अपने अनुकूल करूं। (आर्तवान्) ऋतुओं के पक्ष मास आदि विशेष भागों को भी (यजे) यज्ञ द्वारा सुखकारी बनाऊं। (उत) और (हायनान्) सब वर्षों या सब दिनों (यजे) यज्ञ करूं और (समाः) चान्द्र वर्षों और (संवत्सरान्) सौर संवत्सरों, वर्षों और (मासान्) सब मासों में भी यज्ञ करूं और सब कालों में मैं (भूतस्य पतये) समस्त प्राणियों के पालक परमात्मा की (यजे) उपासना करूं।

इस मन्त्र में ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ का उपदेश करके ऋतुयज्ञ, मासयज्ञ, पाक्षिकयज्ञ, वार्षिकयज्ञ और दैनिकयज्ञ करने का भी उपदेश किया है।

ऋ॒तुभ्य॑ष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑।
धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे ॥ १० ॥

अथर्व० १९।३७।४॥

भा०—हे पत्नि! अष्टके! (त्वां) तुझे भी (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये, (आर्तवेभ्यः) ऋतुभागों के लिये, (माद्भ्यः) मासों और (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये (धात्रे) सबके पालक पोषक, (विधात्रे) सब के उत्पादक, (समृधे) सबको समृद्ध करने हारे (भूतस्य पतये) सब प्राणियों के परिपालक परमात्मा के लिये (यजे) अपने संग पत्नी बनाकर रक्खूं और तेरे संग ही सब यज्ञ आदि पवित्र कार्यों को करूं।

इड॑या जु॒ह्व॑तो व॒यं दे॒वान् घृ॒तव॑ता यजे।
गृ॒हानलु॑भ्यतो व॒यं सं वि॑शे॒मोप॒ गाम॑तः ॥ ११ ॥

भा०—गृहस्थ पुरुषों को सदाचार का उपदेश करते हैं। (इडया) अन्न और भूमि से उत्पन्न हुए पवित्र पदार्थों का (जुह्वतः) दान प्रतिदान और अग्नि में आहुति देते हुए (वयं) हम (देवान्) देवगण अग्नि, वायु, जल आदि पदार्थों और विद्वान् पुरुषों को (घृतवता) घृत आदि पोषणकारी पदार्थों से (यजे) उनको संगत कर पुष्टिकारक करूं और उनका आदर करूं और (वयं) हम सब (गोमतः) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (गृहान्) गृहों में (अलुभ्यतः) एक दूसरे के पदार्थों का लोभ न करते हुए, निर्लोभ होकर (उप सं विशेम) परस्पर मिल कर एक दूसरे के समीप रहें।

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

भा०—(एकाष्टका) एकमात्र गृहणी (तपसा) धर्म के पालन रूप तप और ब्रह्मचर्य से (तप्यमाना) व्रत पालन करती हुई (महिमानम्) महत्वपूर्ण (इन्द्रं) ऐश्वर्ययुक्त, गुणगौरवयुक्त आत्मा को (गर्भम्) अपने गर्भरूप में (जजान) धारण करके उत्पन्न करती है। (तेन) उस उत्तम पुत्र से (देवाः) विद्वगद्गण भी (शत्रून्) अपने शत्रुओं को (वि असहन्त) पराजित करते हैं और वही बड़ा होकर (शचीपतिः) शक्ति, सेना का स्वामी होकर (दस्यूनाम्) राष्ट्र के नाशकारी पुरुषों का (हन्ता अभवत्) विनाशकारी होता है। स्त्रियों की तपस्या ही बड़े २ राजर्षियों को उत्पन्न करती है।

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

भा०—हे अष्टके ! पत्नि ! गृहस्वामिनि ! हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुत्र वाली ! और हे (सोमपुत्रे) सौम्यगुणसम्पन्न, चन्द्र के समान आह्लादकारी पुत्र प्रसव करने हारी स्त्री ! तू (प्रजापतेः) प्रजा के पति

गृहस्थ की (दुहिता) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारी (असि) है। इसलिये तू (अस्माकं) हमारी (कामान्) समस्त अभिलाषाओं को (पूरय) पूर्ण कर और (नः) हमारा (हविः) स्वीकार योग्य भूषण, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ और उत्तम ज्ञानोपदेश एवं आदान करने योग्य वीर्यांश को भी (प्रतिगृह्णामि) स्वीकार कर, धारण कर।

इस सूक्त में 'अष्टिका' देवता हैं सायण ने 'अष्टका' शब्द से माघ की कृष्णाष्टमी का ग्रहण किया है और समस्त सूक्त उसी पर ही लगाया है, परन्तु हमें वैसा करना अभीष्ट नहीं जंचा, क्योंकि शतपथ ने अष्टका और एकाष्टका दोनों की व्याख्या दूसरी ही की है। "अष्टकायामुखां सम्भरति। प्रजापत्यमेतदहर्यदष्टका। प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा। प्राजापत्य एव तदहन् प्राजापत्यं कर्म करोति। यद्वेवाष्टकायाम्। पर्व एतत्संवत्सरस्य यदष्टका पर्व। तदग्नेर्यदुखा पर्वण्येव तत्पर्व करोति। यदेवाष्टकायाम्। अष्टका वा उखा।" (शत० ६। २। २। २३। २५॥ प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा। योनिर्वा उखा ॥ शत० ७। ५। १३८॥ अष्टका काल में उखासंभरण किया जाता है। यह अष्टका का दिन प्रजापति का दिवस है और उसका सम्भरण भी प्रजापति का कार्य है। अष्टका के दिन प्रजापति का कार्य करना संगत ही है। यह एक पर्व भी है। अष्टका ही उखा है। उखा का अर्थ योनि है। इस प्रकार से अष्टका वास्तव में ऋतुमती स्त्री का प्रतिनिधि है। उसी के कर्त्तव्यों को लक्ष्य करके 'उखा-सम्भरण' और अष्टका कर्म हैं। जिनमें ये मन्त्र योनिसम्भरण = गृहस्थ के कार्यों का उपदेश करने वाले मन्त्रों से वह पर्व मनाया जाता है। इनका मुख्यार्थ गृहस्थपूर्वक ही है। अष्टका = अस्तका, गृहस्वामिनी।

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

---

(११) आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय।

ब्रह्मा भृग्वङ्गिराश्च ऋषी । ऐन्द्राग्न्युषसो यक्ष्मनाशनो वा देवता । ४ शक्करीगर्भा जगती । ५, ६ अनुष्टुभौ । ७ उष्णिग् बृहतीगर्भा । पथ्यापंक्तिः । ८ त्र्यवसाना षट्पदा बृहतीगर्भा जगती । १—३ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥
ऋ० १० । १६१ । १ ॥

भा०—बालकों और घर के रोगग्रस्त पुरुषों के आरोग्य रखने और दीर्घायु होने के उपाय । हे बालक ! (त्वा) तुझको मैं गृहपति (जीवनाय) सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कराने के लिये (हविषा) सुगन्धित पुष्टिकारक चरु द्वारा (अज्ञातयक्ष्माद्) अज्ञात स्वरूप वाले, संग दोष से लगने वाले रोग से और (उत राजयक्ष्मात्) तपेदिक जैसे भयंकर, शोषक रोग से भी (मुञ्चामि) बचाये रक्खूं । (यदि) यदि (एनं) इस बालक को (ग्राहिः) सब अंगों को पकड़ लेने वाला, मसाने का रोग या शीत-वात रोग भी (जग्राह) पकड़ ले तो भी (इन्द्राग्नी) इन्द्रः = शुद्ध वायु या सूर्य का आतप या विद्युत् और अग्निः = होमाग्नि या सेक दोनों (एनं) इस बालक को (तस्याः) उस रोग से (प्र मुमुक्तम्) मुक्त करें । प्राभातिक वायु, उषःकालिक सूर्य-प्रभा, सेक और होमाग्नि बालकों को सब रोगों से मुक्त करते हैं ।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥
ऋ० १० । १६१ । २ ॥

भा०—(यदि) यदि यह बालक (क्षितायुः) रोग से अपनी जीवन-शक्ति को खो चुका हो, (यदि वा) और चाहे यह बालक (परेतः) और

[११] ऋग्वेदे यक्ष्मनाशनः प्राजापत्य ऋषिः । यक्ष्मनाशघ्न देवता ।

भी परली, निराशाजनक दशा को पहुँच गया हो, यदि (मृत्योः) शरीर के प्राण से छूट जाने की दशा के (अन्तिकं) समीप तक भी (नीत एव) पहुँच ही गया हो। तो भी (तं) उस बालक को मैं, उपायज्ञ पुरुष (निर्ऋतेः) मृत्यु या रोगकारी कारणों के (उपस्थात्) चंगुल से पुनः (आहरामि) फिर लौटा लेता हूँ। (एनं) और इस बालक को (शतशारदाय) सौ वर्ष का जीवन बिताने के लिये (अस्पार्शम्) पुनः बलवान् कर देता हूँ।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३॥
ऋ० १०। १६१। ३॥

भा०—मैं (सहस्राक्षेण) हजारों पुष्परूप चक्षु से युक्त या सहस्राक्ष नामक (शतवीर्येण) सैकड़ों वीर्य वाले (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने वाले (हविषा) ओषधि से (एनम्) इस आशातीत बालक को भी पुनः जीवन के लिये (आहार्षम्) मौत के पंजे से छुड़ा कर ले जाऊं। (यथा) जिससे (इन्द्रः) परमात्मा (एनं) इस जीव को (शरदः) सौ वर्षों तक (विश्वस्य) समस्त (दुरितस्य) दुष्ट, पाप कर्म के दुष्फल के (पारं) पार (अति नयाति) कर दे।

शतवीर्या ओषधि दूर्वा का एक भेद है जो सहस्रवीर्या और मत्स्याक्षी भी कहाती है जो बालक को पुष्टि के लिये दी जाती है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥
ऋ० ११६। ४॥

भा०—(शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देने में समर्थ (हविषा) हविरूप ओषधि या अन्न से मैं (एनं) इस बालक को (आहार्षम्) मौत के मुंह से लौटा ले आता या प्राप्त करता हूँ। विद्वान् लोग बालक को आशीर्वाद दें, हे बालक! तू (वर्धमानः) बराबर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (शतं

शरदः) सौ शरत् कालों तक, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त कालों तक और (शतम् उ वसन्तान्) सौ वसन्तों तक (जीव) जी, प्राण धारण कर और (इन्द्रः) परमेश्वर, (अग्निः) ज्ञानवान्, (सविता) सबका प्रकाशक और उत्पादक (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा (ते) तुझे (शतं) सौ वर्ष की आयु प्रदान करे ।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ५ ॥

अथर्व० ८ । १ । २० ॥

भा०—(अनड्वाहौ) जिस प्रकार रथ के दोनों बैल अपने (व्रजम्) निवासस्थान, वृषशाला में प्रविष्ट होते हैं उसी प्रकार हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान, भीतर जाने और भीतर से बाहर आने वाले श्वास प्रश्वास तुम दोनों (प्र विशतं) इस बालक में सुखपूर्वक उत्तम रीति से प्रवेश करो। (अन्ये) और जो (मृत्यवः) आत्मा से देह के छूट जाने के नाना कारण हैं (यान्) जिन (इतरान्) औरों को भी (शतम्) सौ की संख्या में (आहुः) गिनाया जाता है वे भी (वि यन्तु) दूर हो जांय।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

भा०—हे (प्राणपानौ) प्राण और अपान! तुम दोनों (इह एव) इस देह में ही (स्तं) रहो। (युवम्) तुम दोनों (इतः) इस देह को छोड़ कर (मा अप गातम्) मत जाओ। (अस्य) इस बालक के (शरीरम्) शरीर को और (अंगानि) अंगों को भी पुनः बराबर (जरसे) वृद्धावस्था तक (वहतम्) ले जाओ।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥७॥

भा०—हे बालक! (त्वा) तेरी (जरायै) वृद्ध होने की दशा तक (परि ददामि) सब प्रकार से रक्षा करता हूँ और उस बुढ़ापे तक तुझे

पहुँचाता हूँ। (त्वा जरायै) तुझको जराकाल तक (नि धुवामि) सब प्रकार से व्यवहार योग्य बनाये रखता हूँ। (त्वा) तुझको (जरा) वार्धक दशा भी (भद्रा) कल्याण, सुखों को (नेष्ट) प्राप्त कराये अर्थात् बुढ़ापे में भी शरीर को वात आदि रोग न सतावें और (अन्ये मृत्यवः) मृत्यु के और कारण भी (यान् इतरान् शतम् आहुः) जिनको लोग सौ गिनाया करते हैं वे भी (वि यन्तु) दूर हों।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

भा०—हे बालक! (त्वा) तुझको (जरिमा) बुढ़ापे ने भी (अहित) इस प्रकार बांध लिया है जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से (उक्षणम् गाम् इव) वृषभ, बैल को बांध लेते हैं। अर्थात् अब तेरे जीते रहने पर भी तुझे जीवन के अन्त में बुढ़ापा तो अवश्य ही आवेगा। शेष रही बाल्यकाल की मृत्यु। (यः मृत्युः) जिस अकालमृत्यु ने (जायमानं त्वा) उत्पन्न होते ही तुझको (सुपाशया) दृढ़ फांसे से (अभि अधत्त) फांस लिया है (ते तं) तेरे उस फंदे को (बृहस्पतिः) विश्व का पति परमात्मा या वाचस्पति वैद्य (सत्यस्य हस्ताभ्याम्) सत्य के हाथों से अर्थात् वास्तविक सत्य औषध प्रयोग और तेरे आत्मा के शेष पुण्य (उद् अमुञ्चद्) खोल डालें, ढीला कर देवें।

---

(१२) बड़े २ भवन बनाने का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः। वास्तोष्पतीयम् शालासूक्तम्। वास्तोष्पतिः शाला च देवते १, ४, ५ त्रिष्टुभः। २ विराड् जगती। ३ बृहती। ६ शाक्करगर्भा जगती। ७ आर्षी अनुष्टुप। ८ भुरिग। ९ अनुष्टुप। नवर्चं सूक्तम ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१॥

भा०—निवास योग्य भवन, हवेली, शाला, गृह आदि बनाने का उपदेश करते हैं। (इह एव) इस उत्तम भूमि प्रदेश में ही (ध्रुवां शालां) ध्रुव, दृढ़ शाला को (नि मिनोमि) बनाता हूँ। (क्षेमे) इस सुरक्षित प्रदेश में यह शाला, बनी हुई हवेली (घृतम्) सूर्य के प्रकाश को और शुद्ध जल वायु को (उक्षमाणा) अपने भीतर रहने वाले जनों को उत्तम रीति से देती हुई (तिष्ठाति) स्थिर रूप से खड़ी रहे। हे (शाले) हवेली ! (तां त्वा) उस तुझ में हम (सर्ववीराः) सब प्रकार के छोटे बड़े पुत्रों समेत, (सुवीराः) उत्तम बल वीर्य सम्पन्न होकर (अरिष्टवीराः) आरोग्यता-युक्त सामर्थ्यवान् होकर (उप संचरेम) रहें, विचरें ।

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

भा०—विशाल भवन बनाने का उपदेश करते हैं। हे (शाले) विशाल भवन ! (इहैव) इसी आधार, नींव पर तू (ध्रुवा) खूब मजबूत, दृढ़ होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित रह, जमा रह और (अश्वावती) घोड़ों (गोमती) गौओं और (सूनृतावती) शुभ वेदवाणियों और (ऊर्जस्वती) अन्न और (घृतवती) प्रकाश, वायु एवं घृत और (पयस्वती) गाय भैंसों के दूध और उत्तम जल आदि पदार्थों से सम्पन्न होकर (महते सौभगाय) मेरे बड़े भारी सौभाग्य को बनाये रखने के लिये (उत् श्रयस्व) खूब ऊंचा उठ कर खड़ी रह ।

बड़े २ भवन बनाओ जिनमें घोड़े बंध सकें, गायें पाल सकें, वेद-पाठी ब्राह्मण वेदपाठ करें, अन्नागार हों, घी दूध के कोठे हों और बड़ी समृद्धि रखी जा सके, जिसके कारण सब यश गावें ।

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

भा०—हे (शाले) विशाल भवन ! तू (धरुणी) विशाल स्तम्भों से

युक्त (बृहत्-छन्दाः) बड़ी लम्बी चौड़ी छतों से ढकी, (पूतिधान्या) पवित्र धन-धान्यों से परिपूर्ण हो। (त्वा) तुझमें (वत्सः) बच्चे और (कुमारः) कुमार = बालक (आगमेद्) आवें, खेलें और रौनक रहे, (धेनवः) गौएं भी (सायं) सायङ्काल के समय (आस्पन्दमानाः) सब तरफ से आती हुईं (आ) प्रवेश करें। अर्थात् तू आबाद रह।

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

भा०—(इमां शालां) इस शाला को (सविता) सूर्य (इन्द्रः) विद्युत्, (वायुः) वायु, (बृहस्पतिः) और वेदप्रवक्ता विद्वान् ये सब (प्रजानन्) उत्कृष्ट रूप में प्रकट होकर (नि मिनोतु) इसको उत्तम रूप से बनावें। (मरुतः) वायुएं और वायुविद्या को जानने हारे शिल्पी एवं सम्पन्न व्यापारीगण और प्रजाएं भी (घृतेन) सेचन समर्थ (उद्ना) जल से (उक्षन्तु) उसका सेचन करें और (नः) हमारा (भगः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शोभा सम्पादन करने हारे शिल्पी (कृषिं) नाना प्रकार के विलेखन आदि चित्रकार्यों को (नि तनोतु) करें। अथवा हमारा (भगः राजा) भाग्यवान् राजा, मुख्य पुरुष ही (कृषिं नि तनोतु) शाला बनवाने के लिये नींव खुदवावे या खेती करे।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥५॥

भा०—शाला, गृह और गृहिणी दोनों का समान रूप। हे (मानस्य पत्नि) मान, प्रतिष्ठा की पालक धर्मपत्नी के समान शाले ! तू (शरणा) सबको शरण देने वाली (स्योना) सुखकारिणी (देवी) दिव्यगुणशालिनी, सुखप्रदा है। तुझे (देवेभिः) देव, विद्वान् शिल्पियों ने (अग्रे) पूर्व कल्पों में भी बराबर (निमिता असि) इसी प्रकार से जाना या बनाया है। (त्वं) तू तृण-वल्कल-धारिणी ब्रह्मचारिणी के समान अब भी (तृणं वसाना)

फूस के सुन्दर आवरण और काष्ठ आदि की सुन्दर छत को धारण करती हुई (सुमनाः) शुभ चित्त वाली मनोनुकूल (असः) हो, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरं) पुत्रों के साथ (रयिं) यश, वीर्य, धन धान्य को (दाः) प्रदान कर।

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ६

भा०—वंश को ध्वजा के समान उन्नत रखने का उपदेश। (वंश) ध्वजादण्ड के समान हे वंश! जिस प्रकार ध्वजादण्ड अपने बल से विशाल शाला के स्थूल स्तम्भ के आगे बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार (उग्रः) तू बलवान् होकर (ऋतेन) सत्य के बल से (स्थूणाम्) दृढ़ आधारस्तम्भ पर (अधि रोह) खड़ा रह और (विराजन्) विशेष प्रकार से शोभा देकर (शत्रून्) शत्रुओं का (वृङ्क्ष्व) निवारण कर। हे शाले! (ते) तेरे भीतर (गृहाणाम् उपसत्तारः) गृहों को बसाने वाले या गृहों, कमरों में बैठने वाले (मा रिषन्) क्लेश को प्राप्त न हों और हम सब (सर्ववीराः) पुत्रों सहित (शतं जीवेम) सौ वर्षों तक जीवें।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः॥ ७॥

भा०—(इमां) इस शाला में (कुमारः) कुमार बालक (तरुणः) युवा पुरुष और (वत्सः) बच्चे (जगता सह) अन्य भी जीवों के साथ (आ अगुः) आवें और (इमां) इसमें (परिस्रुतः) स्रवण करने हारे पदार्थ घी, दूध, मक्खन, शहद आदि के (कुम्भः) घड़े, (दध्नः) दही के (कलसैः) भरे कलसों सहित (आ अगुः) आवें।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ ८॥

८—(तृ०) 'इमां पात्रीममृतेना समङ्ग्धि' इति सायणसम्मतः पाठः सुसंगततरः। पातॄनमृतेना इति शं० पा०, प्रायिकश्च पाठः॥

भा०—गृहपत्नी के कर्तव्य का उपदेश । हे (नारि) गृहपत्नि ! (एतं) इन (कुम्भम्) घड़ों और मटकों को (पूर्णं) पूर्ण भर कर (प्र भर) अपने घर में ले जा और (अमृतेन) अमृत, अन्न और जल से (संभृताम्) सम्पन्न (घृतस्य धाराम्) घी, दूध की धारा को भी घर में ले जा। (इमां) इस शाला को, शालास्थ स्त्री पुरुषों को और (पातॄन्) अन्य भी खाने पीने वाले अतिथि आदि को (अमृतेन) उत्तम अन्न रस से (आसमङ्ग्धि) सुशोभित कर और (एनां) इस शाला के (इष्टापूर्तं) यज्ञ दान और कूप बगीचा और बावड़ी आदि के (अभि) चारों तरफ से (रक्षाति) रक्षा करे । सायण—(इमां पात्रीम्) इस थाली आदि पात्र को अन्न से सुशोभित कर ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ६ ॥

अथर्व० ९ । ३ । २३ ॥

भा०—गृह में किस प्रकार के पदार्थ लावे इसका उपदेश । (इमाः) इन (अयक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः) रोगरहित तथा रोगनाशक स्वच्छ (आपः) जलों को मैं (प्रभरामि) अपने घर में भरूं और (अमृतेन) अन्न के साथ २ (ऋतेन) शुद्ध, ज्ञानमय (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी प्रकाशक विद्वान् के सहित (गृहान् उप) अपने गृहों में (प्रसीदामि) प्रसन्न होकर रहूँ ।

---

(१३) जलों के नामों के निर्वाचन।

भृगुर्ऋषिः । वरुणः सिन्धुर्वा देवता । १ निचृत् । ५ विराड जगती । ६ निचृद् त्रिष्टुप् । २–४, ७ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

भा०—एक पदार्थ के भिन्न २ नाम रखने का विज्ञान । जल के नामों की व्याख्या । हे (आपः) जलो ! (अदः अहौ) इस मेघ के (हते) विद्युत् और वायु द्वारा ताड़ित होने पर (सं प्रयतीः) एकत्र होकर बहते हुए (अनदत) ध्वनि करते हो, इसलिये तुम (नद्यः नाम) नदी नाम से (आ स्थ) पुकारे जाते हो (तस्मात्) इसी कारण हे (सिन्धवः) प्रस्रवणशील, बहने वाले जलो ! (वः) तुम्हारे (ताः) वे नाना प्रकार के (नामानि) नाम भी हैं ।

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

भा०—(यत्) जब (वरुणेन) पृथ्वी पर आवरण करने हारे मेघ द्वारा (प्रेषिताः) प्रेरित होकर (शीभं) शीघ्र ही (सम् अवल्गत) गति करते हो (तत्) तब (वः यतीः) गति करते हुए तुम में (इन्द्रः) विद्युत् (आप्नोत्) व्याप्त हो जाता है (तस्माद्) इसलिये तुम (आपः) 'आपः' (अनु स्तन) इस नाम से पुकारे जाते हो ।

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥

भा०—'वार्' नाम जलों का क्यों है ? (अपकामं) नीचे जाने की वासना अर्थात् वेग नामक संस्कार से युक्त होकर (स्यन्दमानाः) बहते हुए (इन्द्रः) इन्द्र विद्युत् ने या विद्युत् या शक्ति उत्पादन कला के विज्ञ विद्वान् ने (वः शक्तिभिः) तुम्हारी ही शक्ति = वेग, सामर्थ्यों के कारण (वः) तुमको (अवीवरत) वरण किया तुममें आश्रय लिया अर्थात् उसने अपने यन्त्रों को घुमाने के लिये जलधाराओं को वरण किया, चुना नालिका रूप से रोक कर प्रयोग किया । (तस्माद्) इस कारण (वः) तुम्हारा नाम (वार् हितम्) 'वार्' ऐसा धर दिया ।

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (एकः देवः) एक विद्वान् पुरुष (यथा-वशम्) स्वच्छन्द रूप से (स्यन्दमानाः) बहते हुए (वः) तुम जलों पर भी (अपि अतिष्ठत्) वश प्राप्त करता और (महीः) पृथिवी के ऊपर (उद् आनिषुः) ऊंचे स्थानों पर भी चढ़ा देता है (तस्मात्) इस कारण से जल को (उदकम्) उदक (उच्यते) कहा जाता है। अर्थात् जलों में ऊपर उठने का भी गुण है। नल के बल से जल समुद्रपृष्ठ पर ३३ फीट ऊपर उठ सकता है। अथवा—(एको देवः वः स्यन्दमानाः यथावशम् अपि अतिष्ठत्) एक विद्वान् तुम जलों पर भी अपनी शक्ति और कामना के अनुकूल वश करता (महीः उदानिषुः) और बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठा देता है (तस्मात् उदकमुच्यते) इस कारण जल को 'उदक' कहा जाता है। अर्थात् जल के ऊपर उठाने के गुण से बड़े २ पदार्थों को ऊपर उठाने का कार्य लिया जाता है। जैसे 'ब्रामा प्रेस' में जल का यह गुण कार्य में लाया जाता है कि जितना बल एक तरफ लगाया जाय उतना ही वे दूसरी तरफ पहुँचा देते हैं। अथवा बहती हुई जलधाराओं को विद्वान् अपने वश करके जहां चाहे ऊपर से या वह ऊपर की भूमि में उठा कर ले जाता है। उनको यन्त्र के बल से ऊपर उठा लेता है जैसे वाटर-वर्क्स से पर्वतों के शिखर पर भी जल को उठा दिया जाता है इसी इसका नाम 'उदक' है। अथवा देव = सूर्य-किरणों द्वारा समुद्र से जलों को मेघ रूप में आकाश के प्रति उठा लेता है। इत्यादि।

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

भा०—(भद्राः) कल्याणकारिणी, सुखदायिनी (आपः) आपः = जल ही (घृतम् इत्) घृत-तेज = कान्ति देने हारे, पौष्टिक पदार्थ (आसन्) हैं। (ताः इत्) वे ही (आपः) आपः = जल (अग्निषोमौ) अग्नि और सोम दोनों को (बिभ्रति) धारण करते हैं (मधुपृचाम्) जीवन, अमृत से युक्त तुम जलों का (तीव्रः रसः) तीव्र रस (अरंगमः) खूब

उत्तम रीति से मिल जाने वाला (प्राणेन वर्चसा सह) मेरे प्राण और वर्चस्-तेज के साथ (मा आ गमेत्) मुझे भी प्राप्त हो। जलों का अग्नि स्वरूप अंश = उद्जन जो स्वयं ज्वलनशील है और जो तेजाब बनाने में आवश्यक अंग है, जल का दूसरा अंश सोमस्वरूप ऑक्सीजन है जो 'ओप' उत्पन्न करता है अर्थात् ज्वलन में सहायक है वह स्वयं नहीं जलता। वह ओपधियों में 'ओष' उत्पन्न करने से सोमात्मक है। जिनमें से उद्जन स्वतः ज्वलनशील होने से घृतरूप है और ऑक्सीजन भी पुष्टिदायक होने से 'घृतस्वरूप' है। यह इसकी वैज्ञानिक व्याख्या है।

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

भा०—(आत्) इसके अनन्तर (आसाम्) इनके बीच में से मैं (पश्यामि) आरपार भी देख लेता हूँ (उत वा) और (आसाम्) इनके बीच में से (शृणोमि) श्रवण भी कर सकता हूँ। (घोषः) शब्द भी (आसाम्) इन जलों के बीच में से (मा) मुझ तक (आगच्छति) आ जाता है और (आसाम्) इनमें से (वाक्) वाणी भी (मा) मुझ तक गुजर आती है। हे जलो! हे (हिरण्यवर्णाः) अमृतस्वरूप या शब्द और प्रकाश को हरण करने वाले परमाणुओं के बने जलो! (यदा) जब (वः) तुमको (अतृपम्) पान करता हूँ (तर्हि) तब वे अपने को (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) सेवन करता हुआ (मन्ये) मानता हूँ। जल के तीन गुण दर्शाये हैं (१) ये पारदर्शक हैं अर्थात् किरणें इनमें प्रवेश कर सकती हैं। चक्षु इनके भीतर देख सकती हैं। (२) ये शब्दवाही हैं अर्थात् शब्द को भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देते हैं, (३) आरोग्यदायक होने से तृप्तकारक और पुष्टिकारक हैं।

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

भा०—हे (आपः) जलो ! (वः) तुम्हारी (इदं) यह जीवनशक्ति (हृदयम्) हृदय, सारभूत पदार्थ है। हे (ऋतावरीः) ऋत = चेतनाशक्ति को अपने भीतर गुप्त रखने वाले जलो ! (अयं) यह मण्डूक आदि जल-जन्तु तुम्हारे (वत्सः) बच्चों के समान हैं। हे (शक्वरीः) शक्तिसम्पन्न जलो ! आप (इह) इस भूतल पर (इत्थम्) इस प्रकार मेरे बनाये यन्त्रमार्गों से (एत) गति करो (यत्र) जहां २ (इदम्) इस प्रकार से (वः) आपको (वेशयामि) प्रवेश कराऊं। तभी तुम मेरे बहुत से यन्त्रों को शक्ति से चला सकोगे।

विज्ञान का विशेष विवरण वैज्ञानिक ग्रन्थों से जानना चाहिये। 'आपः' शब्द से प्रजाओं का भी ग्रहण होता है उस पक्ष में भी यह सूक्त स्पष्ट है। जैसे—(१) हे प्रजाओ ! 'अहि' अर्थात् कभी न मरने हारे आत्मा के समान राजा पर आघात होने पर आप लोग विचलित होकर नाद करती हो, इस कारण आपका नाम 'नदी' है और राजा के विचलित हो जाने पर प्रजाएं भी विचलित जाती हैं इसलिये प्रजाओं का एक नाम 'सिन्धु' है। (२) वरुण रक्षक राजा से प्रेरित होकर शीघ्र उन्नति करती हैं। तुम्हें इन्द्र प्राप्त होता है इसलिये तुम 'आपः' हो। (३) यथेच्छ उच्छृंखल चलती हुई तुमको इन्द्र राजा ने व्यवस्था से रोक दिया इससे तुम्हारा नाम 'वार्' है। (४) एक देव = राजा तुम पर अधिष्ठाता होकर रहता है वह तुम सबको उन्नत करता है इसलिये तुम्हारा एक नाम 'उदक' है। (५) हे उत्तम प्रजाओ ! तुम ही राजा के पोषक पदार्थ हो, तुम अग्नि = सेनापति और सोम = राजा और विद्वान् दोनों का पोषण करती हो। तुम्हारा तीव्र रस = क्षात्रबल, मुझ राजा को प्राण और तेज साथ २ प्राप्त हो। (६) मैं राजा देखता हूँ और सुनता भी हूँ कि मेरी घोषणा भी प्रजा में प्रचारित होती है और मेरी वाणी (हुक्म) भी मानी जाती है। जब इन सम्पन्न प्रजाओं को मैं अपने सुप्रबन्ध से प्रसन्न कर देता हूँ तब मैं भी अमृत = स्वर्ग के भोग के समान अपने

को समझता हूँ । अर्थात् प्रजा के प्रसन्न कर देने पर ही राजा को भी परम सुख है ।

इस प्रकार यह सूक्त अध्यात्म पक्ष में इन्द्रियों पर लगता है ।

---

(१४) गौओं और प्रजाओं की वृद्धि का उपदेश ।

ब्रह्मा ऋषिः । गावो देवताः उत गोष्ठो देवता । १, ६ अनुष्टुभः । ६ आर्षी त्रिष्टुप् । षडर्चं सूक्तम् ॥

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥ १ ॥

भा०—गौओं और गोपति के दृष्टान्त से प्रजाओं और गौओं की वृद्धि का उपदेश । हे गौवो ! हम लोग (वः) तुमको (सुषदा गोष्ठेन) सुख से बैठने, रहने योग्य 'गोष्ठ' गोशाला में रख कर (सं सृजामसि) सुख प्राप्त करावें, पालें, (रय्या सं) पुष्टिकारक पदार्थों से और (सुभूत्या) उत्तम भूति, सन्तान और धन आदि सम्पत्ति से तुमको (सं) सजावें और (यत्) जो (अहर्जातस्य) प्रतिदिन का जो (नाम) परिचय है (तेन) उससे भी (वः) तुमको (सं सृजामसि) पालन करें ।

इसी प्रकार राजा प्रजा के लिये उत्तम नगर, पुष्टिदायक अन्न, उत्तम सम्पत्ति और दैनिक परिचय और इनाम और पदवियों से सुशोभित करे।

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥ २ ॥

भा०—हे प्रजाओ और गौओ ! (वः) तुमको (अर्यमा) न्यायाधीश, स्वामी (सं सृजतु) पालन करे, बढ़ावे । (पूषा) भागधुक् = करसंग्राहक नामक अधिकारी और (बृहस्पतिः) विद्वान् पुरोहित और (इन्द्रः) इन्द्र, सेनापति (यः धनंजयः) जो शत्रुओं से धन को विजय करके लावे वह भी (सं, सं, सं, सम्) तुम्हें पालन करे तुम लोग (मयि) मुझ राजा के (यद् वसु) सब प्रकार के धन धान्य सामर्थ्य को (सं पुष्यत) पुष्ट करो ।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

भा०—हे गौवो ! आप (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) गौओं के रहने की शाला में (अबिभ्युषीः) निर्भय होकर (संजग्मानाः) परस्पर एकत्र होकर (करीषिणीः) गोबर और मूत्र आदि करती हुईं और (सोम्यं) शुभ उत्तम गुणयुक्त (मधु) मधुर दुग्ध (बिभ्रतीः) धारण करती हुईं (अनमीवाः) रोगरहित होकर (उपेतन) आकर रहो। (२) इसी प्रकार हे प्रजाओ! तुम भी राष्ट्र में (करीषिणीः) ऐश्वर्य सम्पन्न होकर, निर्भय होकर, एकत्र परस्पर संगठित होकर रहो और (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शुभ मधुर गुण और जीवन धारण करती हुई नीरोग होकर रहो।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! (इह एव) यहां, इस गोशाला में ही (एतन) आओ। (इह उ) और यहां ही (शका इव) मक्खियों के समान (पुष्यत) पुष्ट होओ, वृद्धि को प्राप्त होओ। (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) खूब प्रजा, पुत्रादि सन्तानों को उत्पन्न करो और (मयि) मुझमें (वः) तुम्हारा (सज्ञानम्) पूर्ण परिचय हो। तुम अपने प्रतिपालक को खूब पहिचानो। (२) हे प्रजाओ ! आप लोग इस राष्ट्र में आओ और यहां ही पुष्ट होओ और यहां ही प्रजा पुत्रादि से सम्पन्न होओ और तुम प्रजाओं का अपने राजा के प्रति पूर्ण परिचय रहे।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

भा०—हे गौवो ! (वः) तुम्हारे लिये (गोष्ठः) यह गोशाला (शिवः) कल्याणकारी (भवतु) होवे और तुम (शारिशाका इव) मधुमक्षियों के समान (पुष्यत) वृद्धि को प्राप्त होओ। (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वं) प्रजा आदि उत्पन्न करो। (वः) आपको मैं (मया) अपने से

(सं सृजामसि) और भी सम्बद्ध करता हूँ । राजा का प्रजा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

मया॑ गावो॒ गोप॑तिना सचध्वम॒यं वो॒ गो॒ष्ठ इ॒ह पो॑षयि॒ष्णुः ।
रा॒यस्पोषे॑ण बहु॒ला भव॑न्तीर्जी॒वा जीव॑न्ती॒रुप॑ वः सदेम ॥ ६ ॥

भा०—(मया गोपतिना) मुझ गोपाल के साथ हे (गावः) गौओ ! (सचध्वं) प्रेम से मिलकर रहो । (अयं वः गोष्ठः) यह तुम्हारे रहने की शाला है । (इह) यहां ही (पोषयिष्णुः) यह उत्तम रीति से पोषण करने हारा स्वामी रहता है । हम (जीवाः) जीवनसम्पन्न होकर (रायस्पोषेण) धन, सम्पत्ति और पुष्टि से (बहुलाः भवन्तीः) बहुत संख्या में बढ़ती हुई (जीवन्तीः) सुखपूर्वक जीवन बिताती हुई (वः) तुम गौओं को (उपसदेम) प्राप्त हों ।

---

(१५) वणिग्-व्यापार का उपदेश ।

[पण्यकामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवाः उत इन्द्राग्नी देवताः । १ भुरिक्, ४ त्र्यवसाना बृहतीगर्भा विराड् अत्यष्टिः । ५ विराड् जगती । ७ अनुष्टुप् । ८ निचृत् । २, ३, ६ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्र॑म॒हं व॒णिजं॑ चोदयामि॒ स न॒ ए॒तु॑ पुरए॒ता नो॑ अस्तु ।
नु॒दन्नरा॑तिं परिप॒न्थिनं॑ मृ॒गं स ईशा॑नो धन॒दा अ॑स्तु॒ मह्य॑म् ॥१॥

भा०—व्यापार करने का उपदेश । (अहं) मैं व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि चाहने वाला पुरुष (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशाली धनी, (वणिजम्) व्यवहार-व्यापार में कुशल पुरुष को (चोदयामि) प्रेरणा करता हूँ कि (सः नः एतु) वह हमारे पास आवे और (नः पुरः-एता अस्तु) हमारे आगे २ चलने हारा, मुख्य पुरुष होकर रहे । वह (अरातिं) दान न करने या कर देने हारे शत्रु को (परिपन्थिनं) व्यापार के मार्ग और व्यवस्था के उल्लंघन करने वाले या व्यापार के मार्ग में लूट और चोरी

करने वाले, (मृगं) चोर पुरुष को (नुदन्) पीड़ित, दण्डित करता हुआ (सः ईशानः) वह सबका स्वामी होकर (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन का देने वाला (अस्तु) हो।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ५५ । १ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(ये) जो (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (देवयानाः) विद्वानों व्यवहार करने वालों के जाने के योग्य (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्यौ = आकाश और पृथिवी के बीच में जल स्थल और आकाश में रथ, जहाज और विमान द्वारा जाने के लिये बने हुए (संचरन्ति) नाना स्थानों पर जाते हैं। (ते) वे (मां) मुझे भी (पयसा) जल और (घृतेन) घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों के साथ २ (जुषन्तां) प्राप्त हों (यथा) जिससे मैं दूर देश में जाकर (क्रीत्वा) बहुत से पदार्थ खरीद कर (धनम्) बहुत सा धन अपने देश में (आहराणि) ले आऊं।

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

ऋ० ३ । १८ । ३ ॥

भा०—हे अग्ने ! जिस प्रकार (इच्छमानः) तुमको चाहने वाला या तुझ द्वारा यज्ञ करने का अभिलाषी मैं (घृतेन) घृत के साथ (हव्यं) आहवनीय पदार्थ को (इध्मेन) काष्ठ के संग (तरसे बलाय) दुःखों से पार हो जाने और बल प्राप्त करने के लिये (जुहोमि) आहुति देता हूँ, (यावद् ईशे) और जितना मैं कर सकता हूँ उतना (ब्रह्मणा वन्दमानः) वेद मन्त्रों से स्तुति करता हुआ यज्ञ करता हूँ (इमां) इस (देवीम्) दिव्यगुणयुक्त, उत्तम शुभ (धियं) धारणावती बुद्धि को भी पुष्ट करता हूँ कि मुझे

३—ऋग्वेदे कतो विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता।

(शतसेयाय) अपरिचित सैकड़ों धन प्राप्त हों। संसार पार करने और इसमें चित्त को बल देने के लिये यज्ञ, होम और वेदमन्त्रों से ईश्वर का भजन आवश्यक है। वहां साथ ही व्यापार करने के लिये सैकड़ों धन प्राप्त करने के लिये दृढ़ धारणा भी आवश्यक है।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥
पूर्वार्धः ऋ० १। ३१। १६ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् या साक्षिन्! जामिन्! दोनों के बीच के मध्यस्थ पुरुष (इमाम्) इस (नः) हमारी (शरणिम्) पीड़ा, थकान को (मीमृषः) सहन कर। (यम्) जिस (अध्वानं) मार्ग को हम (दूरम्) दूर तक (अगाम) चले जावें और (नः) हमारा (प्रपणः) अपने पदार्थ को दूसरे के हाथ बेचने के लिये उसका भाव = दर नियत करना और (विक्रयश्च) उसको दूसरे के हाथ बेच देना और (प्रतिपणः) दूसरे के पदार्थ को स्वयं प्राप्त करने के लिये दर नियत करना, ये सब व्यवहार (नः) हमारे लिये (शुनं) शुभ, सुखकारी या अतिशीघ्र (अस्तु) हो जायं। यह सब व्यवहार (मां) मुझको (फलिनं) बहुत फल, लाभ प्राप्त करने में समर्थ (कृणोतु) करे। मध्यस्थ कहता है कि—हे व्यवहार, व्यापार करने वाले व्यापारियो! तुम दोनों (इदं हव्यं) इस लेन देन के पदार्थ को (संविदानौ) खूब अच्छी प्रकार से परस्पर सलाह करके (जुषेथां) प्राप्त करो जिससे (नः) हमारा (चरितम्) यह किया हुआ व्यापार, या चलान किया गया माल और (उत्थितं च) उठाया हुआ नफा भी (नः शुनं अस्तु) हमें सुखकारी हो।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥५॥

भा०—मैं व्यापारी (धनेन) धन से (धनम्) धन को (इच्छमानः) चाहता हुआ, (देवाः) हे विद्वान् उत्तम पुरुषो ! (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि) व्यापार, विनियम, लेन देन का व्यवहार करता हूँ (तत्) वह (मे) मेरा (भूयः अवतु) बहुत अधिक हो जाय। (मा कनीयः) वह कमती न हो। हे (अग्ने) साक्षिन् ! मध्यस्थ ! या राजन् ! (सातघ्नः) लाभ लेन देन में प्रतिबन्धक (देवान्) अधिष्ठातारूप शासक राजपुरुषों को भी (हविषा) उनकी हवि = शुल्क दे करके (निषेध) बाधा डालने से रोक दो। अथवा—(सातघ्नः देवान्) प्राप्त धन को नाश करने वाले, मदकारी या प्रजापीड़क, क्रीड़ा, जूआ आदि में नाश करने वालों को (हविषा) उनसे लेने योग्य या उचित उपाय से रोक। 'देवाः'- दिवु क्रीड़ा....मद....गतिषु। दिवु मर्दने देवृ देवने।

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तस्मि॑न् म॒ इन्द्रो॒ रुचि॒मा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः ६

भा०—हे (देवाः) अधिकारीवर्गो ! शासको ! एवं विद्वान् पुरुषो ! (धनेन धनम् इच्छमानः) धन से और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणं चरामि) व्यापार करता हूँ (तस्मिन्) उसमें (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमेश्वर या वह राजा (मे) मेरी (रुचिम्) इच्छा और उत्साह को (आ दधातु) और बढ़ावे जो (प्रजापतिः) समस्त प्रजाओं का स्वामी (सविता) सबको उन्नति मार्ग पर प्रेरणा करने वाला (सोमः) सोम = वेद का विद्वान् (सविता) सबका प्रेरक (अग्निः) नेता है।

उप॑ त्वा॒ नम॑सा व॒यं होत॑र्वैश्वानर स्तु॒मः।
स नः॑ प्र॒जास्वा॒त्मसु॒ गोषु॑ प्रा॒णेषु॑ जागृहि ॥ ७ ॥

७—(च०) 'अग्ने मातें'. 'अहरप्रयावं भरन्ताऽश्वायेव तिष्ठते घ.समस्मै' इति यजु०। 'रात्रिं रात्रिमप्रयातं' इति अथर्व० १६। ५५। १० ॥

भा०—हे (होतः) दान प्रतिदान करने वाले ! और हे (वैश्वानर) समस्त पुरुषों में व्यापक ! परमेश्वर ! (त्वा) तेरी (नमसा) बड़े आदर से (उप स्तुमः) स्तुति करते हैं। (सः) वह तू (नः प्रजासु) हमारी प्रजाओं में, (आत्मसु) हमारे आत्माओं में, (गोषु) हमारी ज्ञान-इन्द्रियों और उनकी चेष्टाओं में और (प्राणेषु) कर्म-इन्द्रियों में (जागृहि) तू सदा जागृत रहता है, तुझे साक्षी करके हम सब व्यवहार करें।

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥
यजु० ११ । ७२ ॥ अथर्व० १६ । ५५ । १ ॥

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् या विद्वान् ! जिस प्रकार (तिष्ठते) खड़े हुए (अश्वाय इव) घोड़े के लिये घास दाना बराबर दिया ही जाता है इसी प्रकार (ते) तेरे नाम से भी (सदम् इत्) सदा ही (विश्वाहा) सब दिनों हम मर्यादा रूप से (भरेम) दान करें और हम (रायस्पोषेण) धनों और पुष्टिकारी पदार्थों से और (इषा) अन्नों से (सम् मदन्तः) खूब हृष्ट पुष्ट होते हुए हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी बनकर, समीपतम रह कर ही (मा रिषाम) कभी क्लेशित न हों।

अर्थात् परमात्मा के नाम से या विद्वानों के निमित्त या नित्य अपने आय में से कुछ देना चाहिये और लोग उनके समीप रहकर प्रसन्न रहें।

इति तृतीयोऽनुवाकः।

---

(१६) नित्य प्रातः ईश्वरस्तुति का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः । बृहस्पत्यादयो नाना देवताः । १ आर्षी जगती । ४ भुरिक् पंक्तिः। २, ३, ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं ह॑वामहे ॥ १ ॥

यजु० ३४ । ३४ ॥ ऋ० ७ । ४१ । १ ॥

भा०—नित्य प्रातः ईश्वर-स्तुति का उपदेश । हम लोग (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निं) उस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की, (प्रातः) और प्रभातवेला में उस (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान्, परमेश्वर की ओर (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में (मित्रावरुणा) प्राण और उदान दोनों के समान सर्वस्नेही, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की और (प्रातः) प्रभातकाल में ही (अश्विना) गुरु और उपदेशक माता और पिता दोनों की (हवामहे) उपासना करें, आदर करें, व्यवस्थित करें और नमस्कार करें। (प्रातः) प्रभातकाल में ही (भगं) भजन करने योग्य, (पूषणम्) सबके पोषक, (ब्रह्मणस्पतिं) वेद और ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु की और (प्रातः) प्रभातकाल में ही उस (सोमं) अन्तर्यामी प्रेरक (उत रुद्रं) और पापियों को रुलाने हारे, सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हवामहे) उपासना करें।

प्रा॒त॒र्जितं॒ भग॑मु॒ग्रं ह॑वामहे व॒यं पु॒त्रमदि॑ते॒र्यो वि॑ध॒र्ता ।
आ॒ध्रश्चि॒द् यं मन्य॑मानस्तु॒रश्चि॒द् राजा॑ चि॒द् यं भगं॑ भ॒क्षीत्याह॑ ॥२॥

यजु० ३४ । ३५ ॥ ऋ० ७ । ४१ । २ ॥

भा०—(प्रातः) प्रातः पांच घड़ी रात्रि रहे तब (जितं) सदा जयशील, अथवा (प्रातर्जितं) प्रभातकाल में सबके हृदयों पर वश करने वाले (भगं) सबके सेवन करने योग्य (उग्रं) तेजस्वी, बलशाली, (अदितेः

२–'प्रातर्जितम्' इति पदपाठानुसार्येकम्पदम् । दयानन्दमते तु प्रातरित्येकम्पदं जितमित्येकम् ।

पुत्रं) इस आदित्य को भी गिरने से बचाने हारे, परमात्मा की हम (हवामहे) उपासना करते हैं (यः) जो (अदितेः) सूर्य आदि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा है और (आध्रः चित्) दरिद्र पुरुष भी और (तुरः चित्) बलशाली, वेगवान् पुरुष और (राजा चित्) समृद्ध राजा भी (यं भगं) जिस सेवन, भजन करने योग्य ईश्वर को (मन्यमानः) अपना इष्टदेव स्वीकार करता हुआ (भक्षि इति आह) मैं उसका भजन उपासना करूं इस प्रकार कहा करता है।

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः।
भग॒ प्र णो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम ॥ ३ ॥

ऋ० ७।४१।३ यजु० ३४।३६ ॥

भा०—हे (भग) सेवनीय, भजन करने योग्य ! हे (प्रणेतः) उत्तम मार्ग में ले जाने हारे, वा सबके रचने हारे सर्वोत्पादक ! हे (सत्यराधः) सत्य ज्ञानवन् ! सत्यधन ! हे (भग) परमेश्वर ! (धियं ददत्) धारणावती बुद्धि को प्रदान करते हुए आप (नः) हमें (उद् अव) उन्नति के मार्ग पर ले चलें। हे भग ! ऐश्वर्यसम्पन्न ! (नः) हमें (गोभिः) गौओं, ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वैः) अश्वों और कर्मेन्द्रियों से (प्र जनय) और भी अधिक उन्नत करें। हे (भग) सकल ऐश्वर्य के स्वामिन् ! हम (नृभिः) बहुत से नेता पुरुषों द्वारा (नृवन्तः) सम्पन्न, वीर जनता से युक्त होकर (स्याम) रहें।

उ॒तेदानीं॒ भग॑वन्तः स्यामो॒त प्र॑पि॒त्व उ॒त मध्ये॒ अह्ना॑म्।
उ॒तोदि॑तौ मघव॒न्त्सूर्य॑स्य व॒यं दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥ ४ ॥

यजु० ३४।३७। ऋ० ७।४१।४ ॥

भा०—हे (मघवन्) धन और ज्ञानसम्पन्न ईश्वर (उत) और (इदानीं) इस समय (भगवन्तः) सौभाग्यसम्पन्न (स्याम) हों (उत) और (प्रपित्वे) सायंकाल के समय (उत) और (अह्नाम्) दिनों के

(मध्ये) मध्यकाल में (उत) और (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदयकाल में भी (वयं) हम (देवानां) देव, विद्वान् जनों के (सुमतौ) शुभ मति, सद्विचारों में, उनके अनुकूल (स्याम) रहें।

भग॑ एव भग॑वाँ अस्तु देवस्तेना॑ वयं भग॑वन्तः स्याम।
तं त्वा॑ भग सर्व॒ इज्जो॑हवीमि स नो॑ भग पुरएता भ॑वेह ॥ ५॥
यजु० ३४। ३८॥ ऋ० ७। ४१। ५॥

भा०—हे (भग) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न ! (तं) उस (त्वां) आपकी (जोहवीमि) जिस प्रकार मैं उपासना करता हूँ उसी प्रकार (सर्वः इत्) सब प्राणी ही उपासना करते हैं। (सः) वह आप, हे (भग) ईश्वर! (इह पुरः-एता) हमारे इन सब कामों में प्रथम स्मरण करने योग्य (भव) हो। हे ईश्वर ! आप (भगः) 'भग' ऐश्वर्यस्वरूप इसीलिये हो क्योंकि आप (भगवान्) भगवान् अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न (देवः अस्तु) देव, दाता हो। (तेन) उस आपकी कृपा से (वयं) हम भी (भगवन्तः) ऐश्वर्य से सम्पन्न (स्याम) हो जांय।

सम॑ध्वरायो॒षसो॑ नमन्त दधि॒क्रावे॑व शुच॑ये प॒दाय॑।
अ॒र्वाची॒नं व॑सु॒विदं॒ भग॑ं मे रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॒ आ व॑हन्तु ॥६॥
ऋ० ७। ४१। ६॥

भा०—उषो देवता ! (उषसः) विशोका प्रज्ञाएं, प्रातःकाल की उषाओं के समान (अध्वराय) ब्रह्मयज्ञ के लिये उसी प्रकार (सम् नमन्त) प्रकट होती हैं जिस प्रकार (दधिक्रावा) निरन्त ध्यान धारणा करने हारा योगाभ्यासी (शुचये पदाय) शुद्ध, ज्योतिर्मय, परम पद ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये कटिबद्ध होता है। (रथमिव वाजिनः अश्वाः) जिस प्रकार वेगवान् अश्व रथ को ऐसे देश में ले जाते हैं जहां बहुत धन आदि प्राप्त हों, ठीक उसी प्रकार (वाजिनः) ज्ञानसम्पन्न उषाएं = पापदाहिका ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं (मे) मेरे मणिमादि योगशक्तियों से सम्पन्न (रथं)

ईश्वर में रत आत्मा को (अर्वाचीनं) साक्षात् (वसुविदं) आवासयोग्य, शरण के देने हारे (भगम्) परब्रह्म के प्रति (आवहन्तु) ले जांय ।

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥७॥

ऋ० ७ । ४१ । ७ ॥

भा०—उषो देवता । हे (उषासः) पूर्व में प्रभात प्रकाश के समान ज्योतिष्मती या दहन करने हारी उषारूप प्रज्ञाओ ! आप (अश्वावतीः) अश्व = आत्मा के बल से सम्पन्न एवं (गोमतीः) इन्द्रियों या प्राणों के बल से सम्पन्न [उषापक्ष में] या अश्व = सूर्य से सम्पन्न और गौ = किरणों से सम्पन्न (वीरवतीः) वीर = प्राणों से सम्पन्न (भद्राः) कल्याण, सुख-कारिणी होकर (सदम्) मेरे हृदय-प्रदेश को (उच्छन्तु) प्रकाशित करो । (घृतं) प्रकाशमय रूप आत्मा, सत्यज्ञान या आनन्द, अमृतरस को (दुहानाः) परिपूर्ण करती हुई, प्रकट हुई (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीताः) परिपुष्ट होकर (यूयं) आप (नः) हमारी (सदा) निरन्तर सब कालों में (पात) रक्षा करो ।

---

(१७) कृषि और अध्यात्म योग का उपदेश ।

विश्वामित्र ऋषिः । सीता देवता । १ आर्षी गायत्री, २,५, ६ त्रिष्टुभः । ३ पथ्या-पंक्तिः + ७ विराट् पुरोष्णिक् । ८ निचृत् । ३,४, ६ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सु॒म्न॒यौ ॥ १ ॥

ऋ० १० । १० । १४ ॥ यजु० १२ । ६७ ॥

भा०—कृषिविद्या और योग द्वारा ब्रह्मप्राप्ति का उपदेश । (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (सुम्नयौ) सुख के प्राप्त करने वाले आत्मारूप क्षेत्र में (कवयः) विद्वान् दूरदर्शी लोग (सीराः) प्राणरूप हलों को (युञ्जन्ति)

युक्त करते हैं और (धीराः) धीर बुद्धिमान् पुरुष (युगा) योग के अङ्गोंरूप जुओं को (पृथक्) पृथक् २ (वि तन्वते) प्राणरूप बैलों के कन्धों पर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक् २ अभ्यास करते हैं। उसी प्रकार हे पुरुषो! तुम भी करो।

महर्षि दयानन्द ने योग समाधिपक्ष में इस प्रकार लगाया है— (कवयः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, क्रान्तप्रज्ञ और (धीराः) ध्यान वाले योगी जन (पृथक्) अलग २ (सीराः) योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म की उपासना करने के लिये सीरा = नाड़ियों में अपने चित्त को लगाते हैं अर्थात् परमात्मा का ज्ञान करने का यत्न करते हैं और जो (युगा) योगयुक्त कर्मों को (वितन्वते) करते हैं वे (देवेषु) विद्वान् जनों में (सुम्नया) सुख से रह कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। (देखो ऋग्वेदादिभाष्य, उपासना-विषय) अथवा—जिस प्रकार किसान सीर अर्थात् हलों को जोतते और पृथक् पृथक् बैलों पर जुआ लगाते हैं, धीर लोग (सीराः) = प्राणों को योगाभ्यास से वश करते हैं और उन पर योग की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं और वे धीर = ध्यानी जन (देवेषु) इन्द्रिय गणों पर सुम्नयुः = सुख को प्राप्त कराने वाली सुषुम्ना नाड़ी में भी योगाभ्यास करते हैं।

शतपथ में इन मन्त्रों की अध्यात्म व्याख्या करते हुए यह विशे लिखा है—"स वा आत्मानमेव वि कृषति।........एतद्वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तात्प्राणान् अदधुः तथैवाऽस्मिन्नयमेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात्प्राणान् दधाति। लेखा भवन्ति लेखासु हि इमे प्राणाः।" फलतः—आत्मा ही क्षेत्र है उसमें प्राण ही लेखा है जो उनकी नान वृत्तियों द्वारा उसमें पृथक् २ वर्त्तमान है। ये जोड़े हैं, दो नाक, दो कान, दो आंख, प्राण-अपान, व्यान, उदान। इन सब देवों में सुम्नयु = सुख के संचारकरूप आत्मा में ही धीर पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्ति का निरोध अर्थात् योग करते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्कमा यवन् ॥२॥

यजु० १२ । ६८ ॥ ऋ० १० १०१ । ३ ॥

भा०—कृषि कर्म का उपदेश (सीरा युनक्त) हलों को जोत लो, (युगा) बैलों के जोड़ों को (वि तनोत) हल के जुओं में लगाओ और हल चलाओ और (योनौ) बीज-उत्पत्ति के स्थान, क्षेत्र के (कृते) योग्य हो जाने पर उसमें (बीजम्) बीज को (वपत) बोओ । (विराजः) और जब अन्न की (श्नुष्टिः) सीट्टा या बालें (सभराः) अन्न से पूर्ण (असत्) हो जांय तब (नेदीयः इत्) उसके कुछ काल बाद ही (पक्कं) पका अन्न (सृण्यः) दरांती, हंसुओं से काट कर (आ यवन्) प्राप्त करो । अन्नं वै विराट् । तै० ३।८।१०।४॥ यदा वा अन्नं पच्यतेऽथ ते सृण्या उपचरन्ति श० ७ । २ । २ । ५ ॥

महर्षि दयानन्द अध्यात्म पक्ष में-हे योगिगण ! (युनक्त) योगाभ्यास द्वारा परमात्मा के साथ अपने आत्मा को मिलाओ और आनन्द को प्राप्त करो । (वि तनुध्वम्) मोक्ष सुख को सदा विस्तार करो और युग = उपासना युक्त कर्मों को और (सीराः) प्राण आदि से युक्त नाड़ियों को (युनक्त) उपासना कर्म में लगाओ । इस प्रकार (कृते योनौ) अन्तःकरण के शुद्ध कर लेने पर उसमें योगोपासना से विज्ञान के बीज बोओ और (गिरा च) और परमविद्या, वेदवाणी से (युनक्त) युक्त होवो और (श्नुष्टिः) शीघ्र ही योग्य फल का (नः नेदीयः) हमारे अत्यन्त समीप (असत्) हो, परमेश्वर के अनुग्रह से (पक्कं) शुद्धानन्दस्वरूप सिद्ध, परिपक्क फल (एयात्) हमें सब ओर से प्राप्त हो, (इत् सृण्यः) और उपासनायुक्त योगवृत्तियां 'सृणी' अर्थात् हंसुओं के समान हैं जो सब क्लेशों को काट डालती हैं । वे वृत्तियां (सभराः) शान्ति और पुष्टि गुणों से सम्पन्न हों, इन वृत्तियों से परमात्म-योग को करो ।

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥३॥
यजु० १२ । ७१ ॥

भा०—कृषि से उत्पन्न पदार्थों का उपदेश । (पवीरवत्) सीता या फाली से युक्त या समृद्धि से युक्त (लाङ्गलम्) हल, (सुशीमम्) उत्तम सुख का उत्पादक और (सोमसत्-सरु) सोम-बीज रूप अन्न के स्थापन करने के लिये जो हल चलाया जाता है वह अर्थात् कृषि ही (गाम्) गौओं को, (अविम्) भेड़ों को और (प्रस्थावद्) दूर देश में प्रस्थान करने में समर्थ (रथ–वाहनम्) रथों और बैलों और घोड़ों को और (पीवरीम् च) हृष्ट पुष्ट शरीर वाली (प्रफर्व्यम्) स्त्रियों को भी (उद् वपतु इत्) उन्नत किया करता है ।

'सोमसत्-त्सरु' इति सायणसम्मतः पाठः । आर्षपदपाठस्तु 'सोम-सत्–सरु' । याजुषः पाठः 'सोमपित्सरु' । पदपाठस्तु 'सोमपि–त्सरु । उभयत्र उव्वट सायण महीधरैर्व्याकृतिबलाद् व्याचक्षाणैः 'यद्वेति' संदेहास्पदीकृतत । शतपथे 'सोमपित्सरु' इत्यन्नं वै सोमः । श० ७ । २ । २ । ११ ॥

आत्मपक्ष में 'पवी' चेतन या ध्यानवृत्ति से युक्त जो लाङ्गल = हल = प्राण है वही सुख का उत्पादक और 'सोमसत्' ब्रह्मास्वाद रस के आश्रय-स्थान ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाला है । वही (गाम्) ज्ञानेन्द्रिय और (अविं) आत्मा को (प्रस्थावद्) गति करने हारे, विनाशी, (रथवाहनं) इन्द्रियों सहित शरीर को और (पीवरीं) हृष्ट पुष्ट (प्रफर्व्यम्) चेतना शक्ति को भी (उद्वपति) उत्कृष्ट बनाता और उन्नत करता है ।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥
ऋ० ४ । ५७ । ७ ॥

भा०—अध्यात्म-कृषि का उपदेश करते हैं। (इन्द्रः) राजा जिस प्रकार (सीतां) कृषि से उत्पन्न हुए कर को स्वयं अपने लिये ग्रहण करता है और (तां पूषां अभिरक्षतु) और 'पूषा—भागदुह्' नामक अधिकारी उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार यह (इन्द्रः) आत्मा (सीतां) शरीर, मन, आत्मा तीनों को एक सूत्र में बांधने वाली प्राण शक्ति चेतना को (नि गृह्णातु) व्यवस्थित करे। (पूषा) पोषण स्वभाव वाला प्राण (तां रक्षतु) उसकी रक्षा करे। (सा) वह (पयस्वती) आनन्द रस की वर्षा करने हारी, ऋतम्भरा कामधेनु (उत्तरां उत्तराम् समाम्) प्रति वर्ष, उत्तरोत्तर अधिक फल देने वाली कृषि के समान (दुहाम्) ब्रह्मानन्द, योग-समाधिजन्य समता-रस को अधिकाधिक उत्पन्न करे।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥५॥

पूर्वार्धः पूर्वार्धेन समः ॥ ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥ यजु० १२ । ६६ ॥

भा०—अध्यात्म-योग के तत्व का, कृषि कर्म के दृष्टान्त से उपदेश है। (सुफालाः) उत्तम, तीक्ष्ण फालिएं, हल के नीचे लगीं लोहे की तीक्ष्ण हलिएं (शुनं) खूब तेजी से, सुखपूर्वक (भूमिं) भूमि को (वि तुदन्तु) खोदें और (कीनाशाः) किसान लोग (शुनं) सुखपूर्वक (वाहान्) हल को वाहने वाले बैलों के पीछे २ (अनुयन्तु) चलें। हे (शुनासीरा) हे शुन और सीर ! वायु और सूर्य तुम दोनों (हविषा) पृथिवीस्थ जल से (तोशमाना) पृथिवी को ही सेचन करते हुए (अस्मै) इस आत्मा या इस संसार के लिये या हमारे लिये (सुपिप्पलीः) उत्तम फलों से सम्पन्न (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (कर्तम्) उत्पन्न करो।

अध्यात्म पक्ष में—उत्तम फालियां प्राण ही इस भूमि, क्षेत्र या अन्तःकरण या अविद्या रूप क्षेत्र का विनाश करें, (कीनाशाः) अज्ञानों का नाश करने हारे विद्वान् प्राणों का आयमन करें। या प्राणगण इन्द्रियों के द्वारों में ठीक रीति से गमन करें। शुन-प्राण वायु और सीर-अपान

वायु दोनों 'हविः' अर्थात् कर्म योग से वशीभूत होकर इस आत्मा को उत्तम फलसम्पन्न और पापनाशक ज्ञान, ध्यान-वृत्तियों को उत्पन्न करें।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ४ ॥

भा०—(वाहाः) वाहन-बैल और घोड़े, (शुनं) सुखपूर्वक हल को खैंचे, (नरः) नेता, हांकने वाले किसान लोग (शुनं) सुखपूर्वक हल चलावें और (लाङ्गलम्) हल भी (शुनं कृषतु) सुखपूर्वक उत्तम रूप से खेत को खोदे। (वरत्राः) रस्सियां भी (शुनं) सुखपूर्वक, मजबूती से (बध्यन्ताम्) बांधी जायं और (शुनं) खूब सुख से (अष्ट्राम्) अष्ट्रा= चाबुक को (उद् इङ्गय) ऊपर उठा २ कर चलाओ।

अध्यात्म पक्ष में—(वाहाः) इन्द्रियगण-(नरः) प्राणगण (लाङ्गलं) आत्मा या मुख्य प्राण (वरत्राः) सबसे श्रेष्ठ वरण करने योग्य आत्मा के स्वरूप को त्राण करने हारी बुद्धियां या मनोवृत्तियां, (अष्ट्रा) देह में व्यापक चिति शक्ति, ये सब (शुनं) सुख परमानन्द को उत्पन्न करें।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ५ ॥

भा०—(इह) इस देह रूप क्षेत्र में हे (शुनासीरा) वायु और आदित्य के समान प्राण और उदान! (मे) मुझ आत्म-साधक योगी के (जुषेथाम्) अनुकूल, वशीभूत होकर रहो। (दिवि) द्यौलोक में स्थित (यत् पयः) जिस जल को जिस प्रकार सूर्य और वायु इस पृथ्वी पर बरसा देते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (यत्) जो (दिवि) मूर्धास्थान ब्रह्मरन्ध्र में समाहित हो जाने के कारण होने वाला समाधि से उत्पन्न (पयः) आनन्द रस है (तेन इमाम्) उससे इस चित्तभूमि को (उप सिञ्चतम्) आप्लावित कर दो।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

ऋ० ४ । ५७ । ६ ॥

भा०—हे (सीते) हल के अग्रभाग के समान समस्त देहरूप क्षेत्र को खनन करने एवं उपयोगी बनाने वाली चिति शक्ते ! (त्वा) तुझको (वन्दामहे) हम नमस्कार करते हैं, तेरे यथार्थ रूप का वर्णन करते हैं। हे (सुभगे) उत्तम पुष्टिकारक ! तू (अर्वाची) साक्षात् हमें प्रत्यक्ष (भव) हो (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये तू (सुमनाः) शोभन मनन, ज्ञान वाली (असः) हो और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे लिये सुफलाः) उत्तम मोक्ष सुखरूप फल से युक्त (भुवः) हो। जिस प्रकार हल की फाली से सब समृद्धि प्राप्त होती है और फसल भी उत्कृष्ट होती है उस प्रकार चिति शक्ति के साक्षात्कार से योगी को परम आनन्द प्राप्त होता है।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥९॥

यजु० १२ । ७० ॥

भा०—(सीता) हल में लगी फाली (घृतेन) घृत और (मधुना) मधु से (समक्ता) चुपड़ी गई और (मरुद्भिः) विद्वान् वैश्यगण और (विश्वैः देवैः) सभी विद्वत् जनों से (अनुमता) उपयोगी रूप से स्वीकृत है। हे सीते ! (सा) वह तु (ऊर्जस्वती) पुष्टिकारक अन्न देनेहारी और (घृतवत्) घी दूध आदि पदार्थों से (पिन्वमाना) सबको तृप्त और पुष्ट करती हुई (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और जल के सहित (नः अभि-आ-ववृत्स्व) हमारे पास विद्यमान रहे, हमारे क्षेत्र में सब तरफ फिरे, क्षेत्र को उत्पादक बनावे। (२) अध्यात्म में—भास्वर शुक्ला ज्योतिष्मती सीता = सिता है। वह तेज और बल से युक्त होकर इन्द्रियों और प्राण गणों द्वारा साक्षात् हो।

———

(१८) ब्रह्म-विद्या की विरोधिनी अविद्या के नाश का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। १–३, ५ अनुष्टुभः। ४ चतुष्पदा अनुष्टुप्-गर्भा उष्णिग्। १ उष्णिग्गर्भा पथ्यापंक्तिः। षडृचं सूक्तम्॥

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ १॥

ऋ० १०। १४५। २॥

भा०—इन्द्राणी ऋषिका। उपनिषत्सपत्नीबाधनं देवता। उपनिषद् ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या है। व्यावहारिक सपत्नी के विरोध के दृष्टान्त से उसको बाधने = विनाश करने का उपदेश। (इमां) इस (ओषधिं) पाप-दहन करने के सामर्थ्य वाली (वीरुधां) नाना प्रकार से या विशेष सामर्थ्य से अज्ञान की विरोधिनी, स्वतः उत्पन्न होने हारी (बलवत्तमाम्) अति वीर्यवती ओषधि के समान इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को (खनामि) खोदता हूँ, योगसाधनों से प्राप्त करता हूँ, (यया) जिससे (सपत्नीं) अपने पति, हृदयेश्वर, आत्मा पर अपना अधिकार जमाने वाली अविद्या को (बाधते) विनाश किया जाता है और (यया) जिसके बल पर (पतिं) पालक प्रभु, परमेश्वर को (सं-विन्दते) प्राप्त किया जाता है। दृष्टान्त में सर्वांग साम्य आवश्यक नहीं है। केवल जैसे सौत को सौत परे हटाती है उसी प्रकार अविद्या को विद्या परे हटावे यही साम्य है, ओषधि के प्रयोगांश में समानता नहीं, प्रत्युत बाधनांश में समानता है।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि॥ २॥

ऋ० १०। १४५। २॥

भा०—हे (उत्तानपर्णे) उत्तानपर्णा नामक (सुभगे) सौभाग्य देने हारी (देवजूते) विद्वानों से सेवित (सहस्वति) बलदायिके! (मे) मेरी ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या को (परा णुद) दूर भगा दे और (केवलं)

केवल स्वरूप ब्रह्म को ही (मे) मेरा (पतिं) पति, पालक (कृधि) बना दे। उत्तानपर्णः = उच्च हृदयों में ब्रह्मविद्या के पर्ण = प्रज्ञान, रहस्य खुलते हैं इसलिये उस ब्रह्म-विद्या को 'उत्तान-पर्ण' कहा गया है। देवयान से जाने हारे मुमुक्षु उसका सेवन करते हैं इससे वह 'देवजूता' है सहः = बल-स्वरूप प्रभु उसके आश्रय है इससे वह 'सहस्वती' है। 'के' आनन्दे वलनं स्वरूपावगतिर्यस्य स केवलः। वह 'आनन्द' मात्र प्रतीत होने हारा 'केवल' ब्रह्म है।

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४५ । ४ ॥

भा०—हे सपत्नि ! अविद्ये ! (ते नाम) तेरे नाम और स्वरूप को मैं ब्रह्म-विद्या (नहि जग्राह) कभी नहीं ग्रहण करती और तू (अस्मिन् पतौ) इस परिपालक ब्रह्म में कभी (नो रमसे) रमण भी नहीं करती और हम विद्यावान् पुरुष भी (सपत्नीम्) तुझ अविद्या को (पराम् एव परावतम्) दूर ही दूर (गमयामसि) हटाया करते हैं।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४५ । ३ ॥

भा०—हे उत्तरे ! उर्ध्व लोक में तराने वाली कर्म-विद्ये ! (अहम् उत्तरा) मैं तुझसे भी अधिक उत्कृष्ट लोक में पुरुष को तराती हूँ। (उत्तराभ्यः) ऊर्ध्वगति प्राप्त करानेहारी सभी विद्याओं, कर्मपद्धतियों की अपेक्षा मैं ब्रह्म-विद्या (उत्तरा इत्) उत्कृष्ट ही हूँ और (मम या सपत्नी) मेरी जो विरोधिनी अविद्या, अज्ञानरूपिणी हमसे (अधः) नीचे है (सा अधराभ्यः अधरा) नीचे ले जाने वाली अधम कर्मगतियों से भी नीचे गिराने वाली है।

अहम॑स्मि॒ सह॑माना॒थो॒ त्वम॑सि सास॒हिः।
उ॒भे सह॑स्वती भू॒त्वा स॒पत्नीं॑ मे सहावहै ॥ ५ ॥
ऋ० १० । १४५ । ५ ॥ अथर्व० १९ । ३२ । ५ ॥

भा०—हे कर्मविद्ये ! (अहम्) मैं ब्रह्म-विद्या (सहमाना) सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करती हूँ (अथो) और (त्वम् सासहिः असि) तू भी निरन्तर सब आलस्य आदि पर वश करती है। (उभे) हम दोनों (सहस्वती) सहनशील और विजयशील होकर एक हो जायं तो (मे सपत्नी) मेरी विरोधिनी अविद्या को हम दोनों (सहावहै) जीत लें।

अ॒भि ते॑धां॒ सह॑माना॒मुप॑ ते॒धां सही॑यसीम्।
मामनु॒ प्र ते॒ मनो॑ व॒त्सं गौरि॑व धावतु प॒था वारि॑व धावतु ॥६॥
ऋ० १० । १४५ । ६ ॥

भा०—हे अविद्ये ! (ते) तुझे दूर करने के लिये (सहमानां) तुझ अविद्या को विनाश करने वाली इस ब्रह्म-विद्या को (अभि अधाम्) सब प्रकार से धारण करूं और (ते) तुझे (सहीयसीम्) पराजित करनेहारी इस कर्म-विद्या को (उप अधाम्) गुरुओं के समीप जाकर अभ्यास करूं। हे शिष्य ! (ते मनः) तेरा मन अब अविचल भाव से (वत्सः गौः इव) गाय जिस प्रकार अपने बछड़े के पास आ जाती है और (पथा वाः (इव) जिस प्रकार खोद कर बनाई गई नहर के मार्ग से जल धारा दौड़ती है उसी प्रकार (ते मनः) तेरा मन (माम् अनु) मुझ ब्रह्मवित् पुरुष के अधीन होकर (धावतु) खिंचा आवे।

६–(प्र०) 'उप तेधां', (द्वि०) 'उपत्वाधां सहीयसा' इति ऋ०।

(१९) शत्रुओं पर विजय करने के लिये राष्ट्र शक्ति बढ़ाने का उपदेश।

वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा उत चन्द्रमा उतेन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । ३ भुरिग बृहती, त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुप् ककुम्मतीगर्भातिजगती । ७ विराडास्तारपंक्तिः । ८ पथ्यापंक्तिः । २, ४, ५ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

संशि॑तं म इ॒दं ब्रह्म॒ संशि॑तं वी॒र्यं॑ बल॑म् ।
संशि॑तं क्षत्रम॒जर॑मस्तु जि॒ष्णुर्येषा॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥ १ ॥

यजु० ११ । ८१ ॥

भा०—पर राष्ट्र की सेना और योग-विघातक अन्तराय, काम, क्रोधादि के विजय का उपदेश, राष्ट्र के पुरोहित के कर्त्तव्य बतलाये हैं। (मे) मुझ राष्ट्र के पुरोहित का (इदं) यह (ब्रह्म) वेद, विज्ञान, ब्रह्मचर्य और ब्राह्मणत्व, (संशितम् अस्तु) भली प्रकार बलवान् सामर्थ्यवान् रहे और (वीर्यं बलम्) मेरे राष्ट्र का वीर्य = वीरों के योग्य बल भी (संशितम् अस्तु) खूब प्रबल, तीक्ष्ण और असह्य हो और (येषां) जिन राष्ट्रवासी राजवंशों का मैं (जिष्णुः पुरोहितः) ऐहिक और पारलौकिक कार्यों में सदा विजयशील पुरोहित, आचार्य (अस्मि) हूँ उन क्षत्रियों का (क्षत्रम्) क्षात्रबल, सेनाबल और तेज भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, उग्र और (अजरम् अस्तु) कभी नष्ट न होने वाला रहे।

सम॒हमे॑षां रा॒ष्ट्रं स्या॑मि॒ समोजो॑ वी॒र्यं१॒॑ बल॑म् ।
वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम् ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० ६ । ४२ । २ ॥

---

[१९] १–यजुर्वेदे नाभानेदिष्ठ ऋषिः । 'जिष्णुः' इति लेखकप्रमादवश द्बहुत्र पाठः। 'जिष्णु' इति पञ्चम्यामपि ऋचि पठ्यते। (तृ०) 'जिष्णु' इति सायणाभिमतः पाठः । 'संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः' इति यजु० । (तृ०) 'क्षत्रं मे जिष्णु' इति पैप्प० सं० ।

भा०—(एषां) इन क्षत्रियों के (राष्ट्रम्) राज्य को (सं स्यामि) खूब सामर्थ्ययुक्त, तीक्ष्ण और प्रबल करता हूँ और (ओजः) ओज = जिस बल से शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा निवास करते हैं और विघ्न बाधा आने पर भी उस शरीर या राष्ट्र में रह कर विघ्न बाधा का मुकाबला किया जाता है उस बल को और (वीर्य) वीर्य, सामर्थ्य और (बलम्) बल, सेना-बल को भी (सं स्यामि) खूब तीक्ष्ण करता हूँ और (अनेन हविषा) इस प्रकार के पुष्टिकारक हवि = हवि अन्न से, जिससे राष्ट्रवासी, सेना-बल, देश के निमित्त अपना प्राण देने पर तैयार रहें,— उस हविः = उपाय से (शत्रूणां) शत्रु, राष्ट्र के विनाशक पुरुषों के (बाहून्) बाधा डालने वाले साधनों को (अहम्) मैं (वृश्चामि) काट डालता हूँ। सेना और राष्ट्र के सेवकों का उचित वेतन, पुरस्कार, अन्न और कृपा आदि सब सन्तुष्टिकारक पदार्थ और अन्यान्य उपाय सब 'हविः' शब्द से कहे गये हैं।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

उत्तरार्धः यजु० ११ । ८२ तृ० च० ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (सूरिं) ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग के उपदेशक, आज्ञापक पुरुष और (मघवानं) धनसम्पन्न पुरुष, राजा को (पृतन्यान्) विनाश करने के लिये बड़ी सेनाओं की योजना करें, वे (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) जा गिरें और वे (अधरे भवन्तु) हमारे नीचे, अधीन होकर रहें, (अहम्) मैं पुरोहित या राजा स्वयं (ब्रह्मणा) वेद के विज्ञान और ब्राह्मणों की सत् मन्त्रणा के बल से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) विनाश करूं और (स्वान्) अपने पक्ष के पुरुषों को (अहम् उत्-नयामि) मैं उन्नतिशील बनाऊं।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥

भा०—वे क्षत्रिय लोग (येषाम् पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं पुरोहित हूँ (परशोः तीक्ष्णीयांसः) फरसे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण स्वभाव वाले, शत्रुविनाशक और (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण, तेजस्वी और शत्रु को भस्म करने वाले, उग्र हों और (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्र के वज्र-विद्युत् से भी अधिक तीक्ष्ण, प्रबल प्रहार करने हारे हों।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

भा०—जिनका मैं पुरोहित हूँ (एषाम् आयुधा) उन राष्ट्रवासी वीरों के हथियारों को (सं स्यामि) खूब तीक्ष्ण, प्रबल सामर्थ्यवान् बनाऊं। (एषाम्) इनके (सुवीरम् राष्ट्रम्) उत्तम वीरों से परिपूर्ण राष्ट्र को (वर्धयामि) खूब उन्नत, परिपुष्ट करूं। जिससे (एषां क्षत्रम् अजरम्) इनका क्षात्रबल अजर, अविनाशी और (जिष्णु अस्तु) सदा विजयशील हो और (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब विद्वान्, विचारशील पुरुष और अधिकारी गण (एषां) इनके (चित्तम्) चित्त, हृदय की (अवन्तु) रक्षा करें, इनके दिल न टूटने दें। सदा सद्विचारों और उत्साह वृद्धि द्वारा उनके चित्तों को उत्साही, धीर और दृढ़ बना कर कभी विनाश न होने दें।

ऊर्ध्वन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥ ऋ० १०। १०।३।१०॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्य सम्पन्न ! राजन् ! (वाजिनानि) वेगवान् घोड़े (उद् हर्षन्ताम्) खूब हृष्ट होकर हिन-हिनावें (जयतां) विजयशील (वीराणां) वीर पुरुषों का (घोषः) सिंहनाद (उद एतु) ऊपर उठे, आकाश को गुंजावे। (केतुमन्तः) विजय-सूचक झण्डों सहित (उलुलवः घोषाः) विजयनाद प्रदर्शक नाना प्रकार की हर्षध्वनियां

(पृथक्) अलग २ समस्त राष्ट्र में (उत् ईरताम्) उठें। (इन्द्र-ज्येष्ठाः देवाः) इन्द्र = राजा को सब से मुख्य रखने वाले राष्ट्र के अधिकारी गण (मरुतः) और सेना के अध्यक्ष या वायु के समान तीव्रगति, शत्रुमारक सैनिक (सेनया) अपनी सेना सहित (यन्तु) मैदान में आवें।

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवो बलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १०३ । १३ (प्र० तृ०) ॥ यजु० १७ । ४६ ॥

भा०—हे (नरः) नेता लोगो ! (प्र इत) आगे बढ़ो, (जयत) विजय करो (वः) तुम्हारी (बाहवः) बाहुएं (उग्राः सन्तु) खूब बलशाली और शत्रुओं को विनाश करने में भयंकर हो उठें और आप लोग (तीक्ष्ण-इषवः, उग्र-आयुधाः) तीक्ष्ण धनुप, बाण और भयंकर २ हथियार धारण कर (उग्र-बाहवः) प्रचण्ड-बाहु होकर (अबल-धन्वनः) कच्चे निर्बल धनुप वाले (अबलान्) निर्बल शत्रुओं को (हत) विनाश करो।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

भा०—हे (ब्रह्म-संशिते शरव्ये) ब्रह्म = वेदज्ञान और विचार के अनुसार तीक्ष्ण, प्रबल और उग्र बनाये हुए बाण, (अवसृष्टा) धनुप से छूट कर (परा पत) दूर जा, अर्थात् हे क्षत्रिय ! धनुर्धारी ! तू ब्राह्मण गुरुओं से खूब शिक्षित होकर शत्रु पर जा पड़ और (अमित्रान् जय) शत्रुओं पर विजय कर, (प्र पद्यस्व) आगे बढ़ और उनमें घुस जा, (एषाम् वरम्-वरम्) इनमें से उत्तम उत्तम, प्रधान २ पुरुषों को (जहि) विनाश कर, (अमीषां कः चन मा मोचि) इनमें से कोई छूट न पावे।

(२०) ईश्वर से उत्तम ऐश्वर्य और सद्गुणों की प्रार्थना।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्वा मन्त्रोक्ता नाना देवताः । १–५ ७, ९, १० अनुष्टुभः । ६ पथ्या पंक्तिः । ८ विराड्जगती । दशर्चं सूक्तम् ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

ऋ० ३ । २१ । १० ॥ यजु ३ । १४ ॥

भा०—ऋग्वेदे विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । हे (अग्ने) ज्ञानवन् आत्मन् ! (ऋत्वियः योनिः) ऋतुकाल में जिस प्रकार उत्पादक अंग से शरीर देह को उत्पन्न करता है उसी प्रकार (ते) तेरा (अयं) यह परमात्मा वा आचार्य ही (ऋत्वियः) ऋतु अर्थात् काल और सत्य ज्ञान से उत्पन्न करने वाला (योनिः) उत्पत्ति स्थान है । अथवा, (ऋत्वियः योनिः) सर्व ऋतुओं में सुख देने वाले गृह के समान सर्वदा सुखप्रद शरण है । (यतः) जिससे (जातः) विद्यादि गुणों सहित प्रकट होकर तू (अरोचथाः) खूब प्रकाशित और तेज से प्रदीप्त होता है । हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! तू (तं जानन्) उस परमात्मा को जान कर ही (आरोह) आगे बढ़, (अध) और (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य की (वर्धय) वृद्धि कर ।

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

ऋ० १० । १४१ । १ ॥ यजु० ९ । २८ ॥

भा०—अग्निस्तापस ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । हे (अग्ने) परमात्मन् या विद्वन् ! (इह) इस संसार में (नः) हमें (अच्छा) उत्तम रीति से (वद) उपदेश कर और (नः) हमारे (प्रत्यङ्) प्रति आकर (सु-मनाः) शुभ-संकल्प होकर (भव) हो । हे (विशां-पते) समस्त प्रजाओं के पालक परमात्मन् ! (त्वं) तू (नः धनदा असि) हमें सब धन देने हारा है, अतः (नः प्रयच्छ) हमें ऐश्वर्य प्रदान करो ।

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १४१ । २ ॥ यजु० ९ । २९ ॥

भा०—(अर्यमा) प्रजाओं का नियन्ता न्यायकारी (नः रयिं प्र यच्छतु) हमें नियमन बल और समृद्धि दे । (भगः) सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर (प्र यच्छतु) हमें धन दे । (बृहस्पतिः) ज्ञानों का स्वामी या वेदवाणी का पति प्रभु हमें ((प्र यच्छतु) वेद का विज्ञान दे । (देवीः) दिव्यगुणों वाली प्रभु की शक्तियां हमें (प्र यच्छन्तु) दिव्य शक्तियों को प्रदान करें और (सूनृता देवी) शुभ, ऋत, सत्य वेदवाणी स्वयं (मे) हम में (रयि) सत्य ज्ञान (दधातु) धारण करावे ।

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥ यजु० ९ । २६ ॥ सोम० १ । ९१ ।

भा०—(अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) ज्ञान के प्रकाशक (सोमं) संसार के उत्पादक, प्रेरक (राजानम्) सबसे अधिक प्रकाशमान, राजा के समान शासक (आदित्यम्) सूर्य के समान सबको रस देने और सबके आकर्षण करने हारे (विष्णुम्) सर्वव्यापक (ब्रह्माणम् च) और सबसे बड़े (बृहस्पतिम्) और समस्त ब्रह्माण्ड और वेदादि विज्ञान के स्वामी प्रभु को (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (हवामहे) हम वर्णन और स्तुति करते हैं ।

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १४१ ॥ ६ ॥ यजु० ९ । २८ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् (त्वं) आप (नः) हमें और हमारे (ब्रह्म) वेद के जानने हारे विद्वान् ब्राह्मणों और (यज्ञं च) वैदिक उत्तम यज्ञ कर्म को (अग्निभिः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (वर्धय) बढ़ाओ । हे (देव)

परमात्मन् ! (नः) हमारे में से (दातवे) दानशील पुरुषों के प्रति (दानाय) और अधिक दान करने के लिये (रयिं) धनादि ऐश्वर्य (चोदय) प्रदान करो।

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत्
यजु० ३३ । ८६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र-वायू) सूर्य और वायो ! (उभौ) आप दोनों (इह) इस लोक में (सु-हवा) उत्तम रीति से अपनी शक्ति से दूसरे को जीवन और प्राणों का दान करते हो, अतः हम आप दोनों के (इह) इस कार्य में (हवामहे) गुणों का कीर्तन करते हैं (यथा) जिससे (नः) हम में (सर्व इत् जनः) सभी लोग (सं-गत्याम्) परस्पर के मेल-जोल में (सुमनाः) उत्तम चित्त वाले हों और (नः) हममें सब लोग (दानकामः च) दान देने की इच्छा वाले (भुवत्) हों ।

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥
ऋ० १० । १४१ । ५ यजु० ९ । २७ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! आप (अर्यमणम्) न्यायकारी प्रजा के नियन्ता को, (बृहस्पतिम्) वेद के परिपालक विद्वान् को और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील राजा को (दानाय) हमारे इष्ट धनादि सामर्थ्य दान करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर । इसी प्रकार (वातम्) सबके प्रेरक प्राणरूप वायु (विष्णुम्) यज्ञ, (सरस्वतीम्) सर्व रसमय ज्ञानमय वेद वाणी और (वाजिनम्) बल, ज्ञान और अन्न के दाता (सवितारम्) सूर्य को भी प्रेरित करे कि वे हमें अपनी शक्तियों से बलवान् करें ।

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥
यजु० ९ । २५ । २४ ॥

भा०—हम (वाजस्य प्रसवे) ज्ञान और बल के उत्पन्न करने में (सम् बभूविम) समर्थ हों और (इमा च विश्वा भुवनानि) और ये समस्त भुवन भूत, प्राणी भी (अन्तः) उसी समस्त ज्ञान-बलोत्पादक परमात्मा के भीतर ही उत्पन्न होकर समर्थ होते हैं। (उत) और हे परमात्मन्! आप (प्रजानन्) सर्वज्ञ, सब कुछ जानते हुए (अदित्सन्तम्) न दान करने वाले पुरुष से भी (दापयतु) दान करावें और (नः) हमें (सर्ववीरं) सब प्रकार के वीर, श्रेष्ठ बलवान् पुत्रों से युक्त धन सम्पत्ति को (नियच्छ) प्रदान करें।

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथा बलम्।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

भा०—(पञ्च प्रदिशः) पांचों मुख्य दिशाएं अथवा पांचों शिक्षक माता, पिता, गुरु, आचार्य, सुहृद् इस प्रकार का (बलम्) ज्ञान, बल प्रदान करें और (उर्वीः) उर्वी द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और ओषधि ये छहों महान् दिव्य शक्तियां (बलम् दुह्राम्) मुझे बल से परिपूर्ण करें (यथा) जिससे मैं (मनसा) अपने ज्ञान सामर्थ्य, मनन संकल्पों द्वारा (हृदयेन च) और हृदय से (सर्वाः) सब प्रकार की (आकूतीः) शुभ मतियों, ज्ञानों को (प्र आपेयम्) प्राप्त होऊं।

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

भा०—मैं (गोसनिं) गौ = वाणी, ज्ञान, आत्मा, परमेश्वर और वेद वाणी को भोजन करने हारी (वाचम्) वाणी का (उदेयं) उच्चारण करूं। हे परमात्मन्! (मा वर्चसा) मुझको ब्रह्म तेज से (अभि उत्-इहि) और भी उन्नत कर। (सर्वतः) सब प्रकार (वायुः) सब का विधारक परमात्मा (मे) मुझे (आ रुन्धाम्) सब बुरे मार्गों में जाने से बचावे। (त्वष्टा) सब पदार्थों का उत्पादक परमात्मा (मे) मेरा (पोषं दधातु) पोषण करे।

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

(२१) लोकोपकारक अग्नियों का वर्णन।

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । १ पुरोनुष्टुप् । २, ३, ८ भुरिजः । ५ जगती । ६ उपरिष्टाद्-विराड् बृहती । ७ विराड्गर्भा । ९ निचृदनुष्टुप् । १० अनुष्टुप् । दशर्चं सूक्तम् ॥

ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

भा०—ये (अग्नयः) जो अग्नियां (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर समुद्र में वाड़वाग्नि रूप में और जलों में उद्रजन के रूप में या विद्युत् रूप में हैं और (ये वृत्रे) जो अग्नियां वृत्र-आवरणकारी मेघ में भी विद्युत् रूप से हैं और (ये) जो (पुरुषे) पुरुषों में ज्ञानरूप से उत्साह, बल, पराक्रम और जठराग्नि रूप से या विद्वान् आत्मा और इन्द्रिय रूप से वर्त्तमान हैं (ये अश्मसु) और जो प्रस्तरों में और (ये) जो (ओषधीः) रोगनाशक वनस्पतियों में रस रूप से और (यः) जो (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में (आ-विवेश) प्रविष्ट हैं (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) सब अग्नियों का (एतत्) यह इस प्रकार (हुतम्) उचित प्रयोग (अस्तु) हो ।

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२॥

भा०—(यः) जो अग्नि (सोमे अन्तः) सोम के भीतर हर्षोत्पादक रस शक्ति रूप, (यः गोषु) जो गौओं में दुग्धरूप से (यः वयःसु) और जो पक्षियों में कालोत्पात-प्रदर्शक, (यः मृगेषु) सहन, बल और साहस रूप से, (यः) जो (द्वि-पदः) मनुष्यों और (चतुःपदः) चौपायों के भीतर वैश्वानर आत्मा, जीवन और चैतन्य रूप से (आ विवेश) आविष्ट है । (तेभ्यः सर्वेभ्यः एतत् हुतम् अस्तु) उन सबके लिये मेरा यह इस प्रकार का उचित अन्न दान या प्रयोग हो ।

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (वैश्वानरः) समस्त नरों में निवास करने वाला जीवात्मा, (देवः) देव, (इन्द्रेण) इन्द्र-प्राण या परमात्मा के साथ (सरथं) एक ही देह रूप रथ में (याति) उसके साथ मिलता है (उत) और वही (विश्वदाव्यः) समस्त जगत् में, वन में अग्नि के समान चेतना रूप के कर्म-बन्धन के दाहक रूप में विद्यमान है अथवा (यः देवः वैश्वानरः) जो सर्वव्यापक परमात्मदेव (इन्द्रेण सरथं याति) इन्द्र = इस आत्मा के साथ इस देह या विश्व में विद्यमान है (उत विश्वदाव्यः) और समस्त संसार को वन में लगी आग के समान प्रलयकाल में भस्म करने हारा 'कालाग्नि' स्वरूप है, (यः सासहिं) जिस सहनशील, सबके वशकर्त्ता ईश्वर को (पृतनासु) समस्त जीवों में (जोहवीमि) हम स्मरण करते हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन सब तेजस्वरूप आत्माओं को यह मेरा त्याग किया पदार्थ उपकारक हो।

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो० ॥ ४ ॥

भा०—(यः देवः) जो देव (विश्वाद्) समस्त संसार को प्रलयकाल में ग्रास कर जाता है। (यं उ कामम् आहुः) और जिसको समस्त संसार में व्यापक समष्टि इच्छा शक्ति का प्रतिरूप, 'काम' स्वरूप विद्वान् बतलाते हैं, (यं दातारं) और जिसको सबको सब पदार्थों का दाता होते हुए भी (प्रतिगृह्णन्तम् आहुः) सबका दिया भक्ति उपहार अथवा प्रलय-काल में सर्व संसार को अपने भीतर स्वीकार करता हुआ बतलाते हैं और (शक्रः) शक्तिसम्पन्न (धीरः) धारणा और ध्यान से सम्पन्न एवं सब का पालक पोषक और (अदाभ्यः) किसी से पराजित एवं हिंसित न होने वाला, अद्वितीय, (परिभूः) सब पर वशकर्त्ता, सर्वव्यापक है (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) इन सब गुण विशिष्ट अग्नि = परमात्मा की शक्तियों को मेरा स्मरण और त्याग प्राप्त हो। देखो कामसूक्त [अथर्व० का० ९० सू० २ ॥] विश्वात्—अत्ता चराचरग्रहणात् । वेदान्तसूत्रम् ।

परमात्मा का नाम 'अत्ता' है वह चराचर संसार को प्रलयकाल में खा जाता है। "कामोऽस्मि भरतर्षभ" और "प्रजनश्चास्मि कंदर्पः" इत्यादि गीता ।

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतम् ॥ ५ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (यं होतारं त्वा) सब विश्व को ग्रहण करने हारे एवं प्रलयाग्नि या अपने ही कालाग्नि स्वरूप में आहुतिरूप से सब विश्व की आहुति देने हारे तुझको विद्वान् लोग (मनसा) अपनी मनः-शक्ति, मानस योग से (अभि सं विदुः) साक्षात् जानते हैं। (त्रयोदश भौवनाः) तेरह भौवन संवत्सर के अवयव १३ मास और (पञ्च मानवाः) मानव जातिसम्बन्धी वसन्त आदि पांच ऋतुएं, जिस प्रकार अपने में व्यापक संवत्सर के साथ अर्थात् एक रूप होकर रहते हैं उसी प्रकार विश्वकर्मा आदि १४ भौवन सृष्टिकर्ता परमेश्वर की विशेष शक्तियां और पांच मानव अर्थात् शरीरगत प्राणों के समान समष्टि में पांच तत्व, जिसको अपने में व्यापक पाते हैं उस (वर्चोधसे) तेज प्रकाश को धारण करने हारे (यशसे) महान् यशःस्वरूप महामहिम, (सूनृतावते) वेद वाणी के स्वामी प्रभु के लिये (तेभ्यः अग्निभ्यः मम एतत् हुतम् अस्तु) और उसकी अग्निरूप अन्य शक्तियों को मेरा यह त्यक्त, आहुत पदार्थ प्राप्त हो।

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः ऋ० ८ । ४३ । ११ (प्र० द्वि) ॥

(द्वि०) 'प्रतिग्रहीतारमाहुः' मै० सं० । काठ० । (तृ०) 'धारेयः' इति मै० सं० । (प्र०) 'यमु कममाह' इति पैप्प० सं०

५–(द्वि०) 'भुवनाः पञ्च' इति पैप्प० स० ।

भा०—(उक्ष-अन्नाय) उक्षा = शरीर को एवं समष्टि रूप से समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले आत्मा को अपना अन्न अर्थात् प्राप्य विषय बनाने वाले भक्त योगीजन, (वशा-अन्नाय) वशा = सब संसार को समष्टि-व्यष्टिरूप से वश करने वाली चेतना शक्ति को अपना अन्न = मानस भोजन बनाने हारे और (वेधसे) संसार के पदार्थों की रचना करने वाले, (सोम-पृष्ठाय) आनन्दस्वरूप, आनन्द का आस्वादन करने वाले, (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) और वैश्वानर अर्थात् समस्त लोकों में व्यापक ब्रह्म जिनमें सब से श्रेष्ठ है (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् एतत्) उन जीवन्मुक्त, ज्येष्ठ ज्ञानी आत्माओं के लिये मेरा यह समस्त त्याग-आहुति समर्पित हो।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

भा०—और (ये दिवं) जो द्युलोक में, आदित्य और दिव्य विज्ञान के पीछे और (पृथिवीम्) पृथिवी और पार्थिव-लोक रचना सम्बन्धी विज्ञान के पीछे और जो (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष, वायु-विद्या के पीछे, और (ये विद्युतम्) जो विद्युत्-विद्या के पीछे २ (अनु सं चरन्ति) ज्ञान मार्ग से उनका अनुसरण करते, ज्ञान खोजते और उनका प्रयोग करते हैं और (ये दिक्षु अन्तः) जो दिशाओं के और (ये वाते) जो वात = प्रचण्ड वायु के ज्ञान में ही संलग्न हैं, (तेभ्यः अग्निभ्यः हुतम् अस्तु एतत्) उन ज्ञानमय विद्वान् रूप अग्नियों के लिये हमारी त्याग रूप आहुति प्राप्त हो।

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८॥

भा०—(हिरण्यपाणिं) सुवर्ण को हाथ में लिये धनाढ्य, (सवितारं) किरणों से सम्पन्न सूर्य के समान सबके प्रेरक, (बृहस्पतिं) वेद विद्या के विद्वान्, (वरुणं) सबसे श्रेष्ठ या पापियों के निवारक, (मित्रम्) जनता को मृत्यु से बचाने वाले, (अग्निम्) आगे २ मार्ग दिखाने वाले विद्वान्

और (अंगिरसः) अंग २ विद्याओं में पारंगत, या अंग = शरीर के भीतर व्यापक रसों के विज्ञान को जानने हारे आयुर्वेद के ज्ञाता, (विश्वान् देवान्) समस्त विद्वानों को (हवामहे) हम बुलाते, उनसे प्रार्थना करते हैं कि (इमम्) इस (क्रव्य अदम् अग्निम्) क्रव्याद् = नरदेह को खा जाने वाली मृत्यु या श्मशानाग्नि, एवं जनता में फैली हुई मृत्युकारी विपत्ति को (शमयन्तु) शान्त करें, राष्ट्र का ऐसा सुप्रबन्ध करें कि राष्ट्र में मौतें घट जायं और लोग सुखी और चिरायु रहें ।

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।

अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमन् ॥ ९ ॥

भा०—उपरोक्त इतना उपाय कर लेने पर (क्रव्यात् अग्निः शान्तः) मृत मनुष्यों के शरीरों को खा डालने वाली अग्नि, मृत्यु का रौद्र संहार जो (पुरुष-रेषणः) पुरुषों का विनाश करने हारा है वह (शान्तः) शान्त हो जाता है, (अथो) और जो (विश्व-दाव्यः) विश्व को वन-वह्नि के समान जलाने वाला क्रव्याद् 'अग्नि' है उसको हम (अशीशमन्) अपने प्रयत्न से शान्त कर दें ।

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

भा०—जन-मारक महाव्याधि और अकालिक मृत्यु के विनाश करने के उपाय—(ये पर्वताः) जो पर्वत (सोम-पृष्ठाः) सोम जैसी बहुवीर्य ओषधियों को अपनी पृष्ठ पर उत्पन्न करते हैं और जो (आपः) जल (उत्तान-शीवरीः) सर्वदा सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र, इन ज्योतियों में खुले रहते हैं वे हंसोदक अथवा 'उत्तान' = ऊंचे गण्डशैलों में स्थित हैं जिनमें रोगनाशक गुण हैं और (वातः) प्रचण्ड वायु जो झकोरों से ही हैजे आदि रोगों को उड़ा ले जाता है और (पर्जन्यः) मेघ जिसके बरसने से दुष्काल दूर हो जाता है और (अग्निः) अग्नि जिससे यज्ञ द्वारा गृह शुद्ध, नीरोग

हो जाते हैं (ते) ये वे उपाय हैं जो (क्रव्य-अदम्) क्रव्य = मानव के अवरिपक्व शरीरों को खाने वाले मृत्यु एवं श्मशानाग्नि को (अशीशमन्) शान्त करते हैं ।

---

(२२) तेजस्वी होने की प्रार्थना ।

वसिष्ठ ऋषिः । वर्चो देवता । बृहस्पतिरुत विश्वेदेवाः । १ विराट् त्रिष्टुप् । ३ त्रिपदा परानुष्टुप् विराड्जगती । ४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । २, ५, ६ अनुष्टुभः । षड्‌च सूक्तम् ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

भा०—(हस्ति-वर्चसं) हस्त = मारने के साधन हथियारों से सम्पन्न अथवा हस्ती के समान बलवान्, शस्त्र-योद्धा राजा और बलशाली सेनापति का 'वर्चः' तेज या हाथी के समान सर्वोपमर्दक बल या हाथियों की सेना का वैभव और (बृहत् यशः) बड़ा भारी यश (यत्) जो (अदितेः) न खंडित होने वाली अखण्ड और अदीन, स्वतन्त्र राष्ट्र प्रजा के (तन्वः) शरीर से (संबभूव) उत्पन्न हो वह (प्रथताम्) समस्त संसार में फैले । (सर्वे) सब ही (तत्) उस लोकयश और ख्याति को (मह्यम्) मुझ राष्ट्र-पालक के लिये (सम् अदुः) प्रदान करते हैं और (विश्वेदेवाः) सर्व राष्ट्र के शासक गण और (अदितिः) स्वतन्त्र, अखंडित अधिकार वाली राष्ट्र प्रजा भी (स-जोषाः) सप्रेम मुझे वह यश और मान प्रदान करते हैं । राजा किस प्रकार यश प्राप्त करे ? उत्तर में वेद कहता है कि स्वतन्त्र, स्वायत्त शासन और अधिकार प्राप्त प्रजा ही राजा के मान का कारण है । पराधीन पंगु प्रजा राजा के मान की वृद्धि नहीं कर सकती ।

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

साम० पू० २ । ६ । १० ॥

भा०—(मित्रः) मित्र, न्यायाधीश, (वरुणः) वरुण, पोलिस विभाग और गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष और (इन्द्रः) = सेनापति और (रुद्रः) दुष्टों का रुलाने वाला दण्ड-विभाग का अध्यक्ष इनमें से प्रत्येक (चेततु) सदा सावधान रहें। (विश्व-धायसः देवासः) समस्त राष्ट्र के पालक पोषक अधिकारीगण विद्वान् होकर (मा वर्चसा अञ्जन्तु) मुझको अपने बल और तेज से सम्पन्न करें। सभी सावधान होकर जब कार्य करते हैं तब उनका बल राजा का बल है और वही प्रतिष्ठा का कारण है।

येन॑ ह॒स्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये॑ष्व॒प्स्व॑१॒न्तः ।
येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॒ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॒साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ३

भा०—(येन वर्चसा) जिस तेज और बल, पराक्रम से (हस्ती) हस्ती जैसा महाकाय जन्तु (सं बभूव) सामर्थ्यवान् हो जाता है और (मनुष्येषु अप्सु) राष्ट्र में व्यापक मानुष प्रजाओं में (येन) जिस बल पराक्रम से (राजा संबभूव) राजा सामर्थ्यवान् होता है। (येन) और जिस बल पराक्रम से (देवाः) विद्वान् पुरुष या पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन आदि दिव्य पदार्थ (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ में (देवताम्) देवभाव को, सृष्टि-उत्पादक विशेष सामर्थ्य को प्राप्त हुए, हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (अद्य) इस जीवन में (माम्) मुझको (वर्चस्विनं) वर्चस्वी, तेजस्वी (कृणु) बनाओ।

यत् ते॒ वर्चो॑ जातवेदो बृ॒हद् भ॒वत्या॑हु॒तेः ।
याव॒त् सूर्य॑स्य॒ वर्च॑ आसु॒रस्य॑ च ह॒स्तिनः॑ ।
ताव॒न्मे अ॒श्विना॒ वर्च॒ आ ध॑त्तां॒ पुष्क॑रस्रजा ॥ ४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक प्रभो ! जिस प्रकार अग्नि में (आहुतेः) आहुति गिरने से उसका प्रकाश और ताप प्रचण्ड हो जाता है उसी प्रकार कालाग्नि स्वरूप आप में समस्त विश्व की महान् आहुति पड़ने से भी (यत् ते बृहद् वर्चः) आपका जो महान् तेज प्रकट

होता है और इसके अंश रूप साक्षात् (सूर्यस्य) सूर्य का (यावत् वर्चः) जो तेज और (आसुरस्य) असु अर्थात् प्राणों में रमण करने वाले बलवान् (हस्तिनः) सबको आघात करने या व्यापने वाले प्राण का जो तेज है हे (अश्विना) द्यौ और पृथिवी और अध्यात्म में प्राण और अपान और राजा और प्रजा तुम दोनों (पुष्कर-स्रजा) नक्षत्र रूप या लोकरूप पुष्करों की माला पहने या देहरूप पुरियों को माला रूप से धारण करने वाले, या पुष्टि करने हारे शासक, मुख्य पुरुषों के निर्माता या अपने में उनको माला रूप से धारने वाला होकर आप दोनों (तावत् वर्चः) उतना बल (मे आधत्ताम्) मेरे में धारण करावें।

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

भा०—(यावत् चतस्रः प्रदिशः) जितनी भर चारों दिशाएं हैं और यावत् चक्षुः (समश्नुते) और जितनी दूर तक हमारा चक्षु फैल सकता है, (तावत्) उतना (मयि) मुझ में (हस्ति-वर्चसं) हस्ती के समान या सूर्य के समान (इन्द्रियं) मेरे आत्मा में सामर्थ्य (सम् आ एतु) मुझ में समा जाय। मैं अनन्त तेजस्वी हो जाऊं।

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

भा०—(मृगाणां) पशुओं में से (हस्ती) हाथी (सुपदाम्) उत्तम सवारियों में से (अति-ष्ठावान्) अति अधिक स्थिर, निश्चल और सब से बढ़ कर युद्ध में निर्भय, टिकाऊ और प्रतिष्ठावान् (बभूव ह) है, इसी प्रकार आकाश-मण्डल में (सुषदां) सुस्थिर (मृगाणां) नक्षत्रों में से (हस्ती) सूर्य जिस प्रकार (अति-ष्ठावान्) अति अधिक तेजस्वी है उसके (भगेन) लक्ष्मी, सौभाग्य (वर्चसा) और तेज से (अहम्) मैं स्वयं अपने आपको अपने राजपद के योग्य बनाऊं।

---

(२३) उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की विधि।

ब्रह्मा ऋषिः । चन्द्रमा उत योनिर्देवता । ५ उपरिष्टाद-भुरिग्-बृहती। ६ स्कन्धोग्रीवी बृहती । १-४ अनुष्टुभः । षड्चं सूक्तम् ॥

येन॑ वे॒हद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

भा०—हे नारि ! (येन) जिस कारण से (वेहद्) तू बांझ या पुत्र को उत्पन्न करने में असमर्थ (बभूविथ) है (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम दूर करते हैं। (इदं) इस (तद्) उस अप्रत्यक्ष कारण को (त्वद् अन्यत्र अप नि दध्मसि) तुझसे दूर कर देते हैं।

आ ते॒ योनि॒ गर्भ॑ एतु पु॒मान् बाण॑ इवेषु॒धिम् ।
आ वी॒रोत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥

भा०—वन्ध्यापन के कारण को दूर कर देने पर (ते योनिं) हे स्त्रि ! तेरे बालक उत्पन्न करने के स्थान, गर्भाशय भाग से (गर्भः) रजः-कण से गर्भित हुआ (पुमान्) डिम्ब अर्थात् पुमान् वीर्य-कण (इषुधिम्) तर्कस में सुरक्षित (बाण-इव) बाण के समान (एतु) प्राप्त हो और फिर (अत्र) इस गर्भ में (वीरः) पूर्ण वीर्यवान् (पुत्रः) पुत्र (दश-मास्यः) दश मासों तक पुष्टि को प्राप्त होकर (जायतां) उत्पन्न हो।

पु॒मांसं॑ पु॒त्रं ज॑नय॒ तं पु॒मान॑नु जायताम् ।
भवा॑सि पु॒त्राणां॑ मा॒ता जा॒तानां॑ ज॒नया॑श्च॒ यान् ॥ ३ ॥

भा०—हे नारि ! तू (पुमांसम् पुत्रम् जनय) पुमान् पुत्र को उत्पन्न कर और (तम् अनु पुमान् जायताम्) उसके बाद भी पुनः पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो और (यान् जनयाः) जिन पुत्रों को तू उत्पन्न करे (जातानाम्) उत्पन्न हुए उन सब (पुत्राणाम्) पुत्रों की (माता भवासि) तू माता है।

---

[२३] २-(प्र०) 'गर्भो योनिम् एतु' 'आवीरो जा०' इति आ० गृ० सू० ।

यानि॑ भ॒द्राणि॒ बीजा॑न्यृष॒भा ज॒नय॑न्ति च ।
तैस्त्वं पु॒त्रं वि॑न्दस्व॒ सा प्र॒सूर्धे॒नु॑का भव ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाः) वीर्यसेचन में समर्थ, उत्तम पुरुष (यानि) जिन (भद्राणि) कल्याणकारी (बीजानि) बीजों को (जनयन्ति) अपने शरीर में उत्पन्न करें एवं गर्भ में आहित करें (तैः) उन (अमोघ) बीजों से (त्वं) तू (पुत्रं विन्दस्व) पुत्र प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः) उत्तम रीति से पुत्रों को उत्पन्न करके (धेनुका भव) दूध पिलाने वाली सच्ची माता बन।

कृणोमि॑ ते प्राजाप॒त्यमा योनिं॒ गर्भ॑ एतु ते ।
वि॒न्दस्व॒ त्वं पु॒त्रं ना॑रि॒ यस्तुभ्यं॒ शमस॒च्छमु॒ तस्मै॒ त्वं भ॑व ॥५॥

भा०—हे नारि ! (ते) तेरे लिये मैं (प्राजापत्यम्) प्रजापति का कार्य अर्थात् पुत्रोत्पत्ति या बीजवपन का कार्य (कृणोमि) करता हूँ। (योनिम्) योनिस्थान में (गर्भः) गर्भ, गर्भित डिम्ब (आ एतु) आवे। हे नारि ! (त्वम् पुत्रम् विन्दस्व) तू ऐसे पुत्र को प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यं) तुझे (शम् असत्) कल्याण और सुख का देने हारा हो। हे नारि ! (तस्मै) उस पुत्र के लिये (त्वं उ सम् भव) तू भी शान्तिदायक, कल्याणकारिणी और सुखकारी माता हो।

यासां॒ द्यौः पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता स॑मु॒द्रो मूलं॑ वी॒रुधां॑ ब॒भूव॑ ।
तास्त्वा॑ पुत्र॒विद्या॑य॒ दैवीः॒ प्राव॒न्त्वोष॑धयः ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० ८ । ७ । २ तृ० च० ॥

भा०—(यासां) जिन (वीरुधाम्) लताओं का (पिता) परिपालक (द्यौः) सूर्य और (माता पृथिवी) माता पृथिवी और (समुद्रः) जलधाराओं का बरसाने वाला मेघ (मूलं) मूल (बभूव) है (ताः) वे (देवीः) दिव्य ओषधियां हे नारि ! (ओषधयः) रस वीर्य विपाक को धारण करने वाली होकर (त्वा) तेरी और तेरे गर्भ की (पुत्र-विद्याय) पुत्र लाभ के लिये (प्र अवन्तु) रक्षा करें।

---

(२४) उत्तम धान्य और औषधियों के संग्रह का उपदेश ।

भृगुर्ऋषिः । वनस्पतिरुत प्रजापतिर्देवता । १, ३—७ अनुष्टुभः । २ निचृत्पथ्यापंक्तिः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

पय॑स्वतीरोष॑धयः पय॑स्वन्मामकं वचः ।
अथो पय॑स्वतीनामा भ॑रे॒हं स॑हस्र॒शः ॥ १ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ३६ ॥ पूर्वार्धः ऋ० १० । १७ । १४ प्र० द्वि० ॥

भा०—गर्भपालन के निमित्त धान्य और ओषधियों के संग्रह करने का उपदेश । (ओषधयः) धान्य आदि ओषधियां (पयस्वतीः) शरीर को पुष्ट करने में समर्थ, सार भाग से युक्त हों और (मामकं वचः) मेरा वचन भी (पयस्वत्) सार और रस से पूर्ण हो, (अथो) और (अहं) मैं (सहस्रशः) हजारों (पयस्वतीनाम्) सार युक्त वनस्पतियों को (आ भरे) अपने घर पर लाऊं ।

वेदाहं पय॑स्वन्तं चकार॑ धान्यं॑बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं ह॑वामहे योयो अय॑ज्वनो गृहे ॥२॥

भा०—(अहं) मैं उस (पयस्वन्तं) सबसे अधिक सारभूत तत्वों से सम्पन्न, रस-सागर मेघ को (वेद) भली प्रकार जानता हूँ जो (बहु धान्यं चकार) बहुत धान्य उत्पन्न करता है । (यः) जो (सम्भृत्वा नाम) सब स्थानों से रसों को संग्रह करने और (देवः) जल देने वाला है और (यः-यः) जो (अयज्वनः) यज्ञ न करने हारे, अदानशील पुरुष के (गृहे) घर में भी जल आदि का दान करता है (तं वयं हवामहे) उसकी हम स्तुति, यथार्थ वर्णन करते हैं ।

इमा याः पञ्च॑ प्रदिशो॑ मान॒वीः पञ्च॑ कृष्टयः ।
वृष्टे शापं॑ नदीरि॑वेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

भा०—(इमाः याः) ये जो (पञ्च प्र-दिशः) पांच उत्तम ज्ञान का उपदेश करने और उन्नति पथ को दिखाने हारे पञ्च गुरु या पांच

दिशाओं के वासी (पञ्च मानवीः कृष्टयः) पांच मननशील प्रजाएं हैं जो कृषि करके अपना अन्न उत्पन्न करती हैं वे (इह) इस लोक में (वृष्टे नदीः शापम् इव) वृष्टि होने पर जैसे नदियां प्रभूत जलपूर लाती हैं उसी प्रकार अन्नों से ये पांचों प्रजाएं भी (स्फातिम्) प्रतिष्ठा और समृद्धि को (सम्-आहवान्) प्राप्त करें।

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्सम्) जल का स्रोत (शत-धारम्) सैकड़ों धाराओं और (सहस्र-धारम्) हजारों धाराओं वाला (अक्षितम्) अक्षय होता है, (एवा) इसी प्रकार (अस्माकम् इदं) हमारी यह (धान्यम्) धान्य की फसल भी (सहस्रधारम्) सहस्रों धाराओं से युक्त होकर (अक्षितम्) अक्षय बनी रहे।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥

भा०—हे (शतहस्त) सैकड़ों हाथों—श्रमीजनों के स्वामिन्! और हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों—श्रमीजनों के स्वामिन्! (सं किर) खेत में एक ही समय सर्वत्र बीज बखेर और (कृतस्य) अपने किये (कार्यस्य) कृषि-कार्य की (इह) इस उपजाऊ क्षेत्र में (स्फातिं) हमारी फसल को (सम् आवह) प्राप्त कर।

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥

भा०—फसल को तैयार करने के लिये (गन्धर्वाणां) गौ पृथिवी को धारण करने वाले जमीदार कृषकों और जल वायु और सूर्य इनकी (तिस्रः मात्राः) तीन मात्राएं हैं, तीन अंश हैं। (गृह-पत्न्याः) गृह की पत्नी (पृथिवी) और घर की मालकिन की भी (चतस्रः मात्रा) चार मात्राएं हैं। चार अंश हैं। (तासां) उन सब विधियों में से जो (स्फाति-

मत्-तमा) सबसे अधिक अन्न को समृद्ध करने वाली है (तया) उस शैली से (त्वा अभि मृशामसि) तुझे बढ़ावें और उन्नत करें। वायु, जल और सूर्य इन तीन गन्धर्वों की तीन मात्राएं हैं, रसादान, प्राणानुप्राणन और तेजोभाग का देना। पृथिवी उनकी गृहपत्नी है इसलिये उसके चार अंश हैं। पार्थिव अंश से आश्रय देना, मूलारोपण, स्थापन, अभिवर्धन और बीजोद्गमन। इसी प्रकार अन्न को प्राप्त करने में किसान पुरुषों का कार्य है हलकर्षण, बीजवपन और सेचन, स्त्रियों के कार्य हैं धान्य रक्षण, काटना, झाड़ना, पिछोरना और संग्रह करना। इत्यादि।

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

भा०—हे प्रजापते ! प्रजा के स्वामिन् ! (उपोहः च) उपोह और (समूहः च) समूह ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे क्षत्ता = मन्त्री हैं (ते) वे दोनों (इह) इस लोक में (बहुम्) संख्या में अधिक और (भूमानम्) परिणाम में भी अधिक (अक्षितं) अक्षय (स्फातिम्) अन्न समृद्धि को (वहतां) प्राप्त करावें। धान्य फसल को खेत में प्राप्त कराने और पुनः उसका उत्तम रीति से संग्रह करने वाली शक्तियां उपोह और समूह, दो शब्दों से बतलाई गई हैं। राजा के पास दो शक्तियां हैं (१) धान्य के समान राष्ट्र को फटक २ साफ करना (२) सब क्षेत्रों से धन को एकत्र संग्रह करना।

---

(२५) कामशास्त्र और स्वयंवर का उपदेश।

जयकामो भृगुर्ऋषिः। मैत्रावरुणौ कामेषुश्च देवता। १-६ अनुष्टुभः। षडर्चं सूक्तम् ॥

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

भा०—काम शक्ति के रहस्य का उपदेश—हे स्त्री और पुरुषो ! (उत्-तुदः) जब उत्तम रूप से प्रेरणा करने वाला, उत्तेजक काम (त्वा

उत्-तुदतु) तुझे व्यथा देता है तब (शयने स्वे) अपने सेज पर (मा धृथाः) नहीं सो सकते। (कामस्य) पुत्रोत्पादन करने, पुत्रैषणा रूप काम का (या भीमा इषुः) जो भयंकर कामना रूप बाण है (तया त्वा हृदि) उससे मैं पुरुष तुम स्त्री के और स्त्री, पुरुष के हृदय को (विध्यामि) बींधती हूँ।

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम्।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

भा०—काम बाण से होने वाली पीड़ा और इस दशा में स्त्री-पुरुष की मानसिक दशा। हे प्रियतम! और हे प्रियतमे! (कामः) काम इच्छा, संकल्प (तां इषुम्) उस कामना रूप बाण को (आधीपर्णां) व्यथा रूप पंखों में सजाकर, (कामशल्याम) काम = परस्पर अभिलाषा या दृढ़ चाह का शल्य = फाला लगा कर, उनको (संकल्पकुल्मलाम्) नाना संकल्प विकल्पों की तेज लगा कर और (तां सुसन्नतां कृत्वा) उसको खूब उत्तम रीति से झुकाकर (कामः) स्मर देव (त्वा हृदि) तुझे हृदय में (विध्यतु) ताड़े ताकि तू मुझे ही एकमात्र चाहे।

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो (कामस्य) काम का (इषुः) इच्छा रूप बाण (सु-संनता) मानो खूब कमान झुकाकर छोड़ा जाता है अर्थात् जिसमें प्रेमी के प्रबल रूप से हृदय में लग जाता है वह (प्लीहानं) प्लीहा = पिलही तिल्ली तक को (शोषयति) सुखा डालता है। वही (प्राचीनपक्षः) सरल पक्षों से युक्त होकर भी (व्योषा) नाना प्रकार से हृदय को तड़पाता है। काम के हृदय में पीड़ा के पहुँचाने वाले संकल्पमय उस बाण से हे प्रियतम! मैं (त्वा हृदि विध्यामि) तुझे हृदय में प्रहार करूं।

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

भा०—परस्पर प्रेम भाव बंध जाने पर, वर का पतिंवरा कन्या के प्रति भाव प्रकाशन । हे प्रियतमे ! तू (व्योषया) नाना प्रकार से तपाने वाले (शुचा) शोक से (विद्धा) पीड़ित होकर (शुष्क-आस्या) वेदना से अन्न और जल छोड़ने के कारण मुरझाए, सूखे मुंह वाली होकर (केवली) एकमात्र तू ही (प्रिय-वादिनी) प्रिय वचनों को बोलती हुई सुमधुरभाषिणी और (अनुव्रता) मेरे मनोनुकूल सब गृह और गृहस्थव्रतों का पालन करती हुई (मृदुः) अति कोमल शरीर वाली, मृद्वंगी, शिरीष-कुसुम-कोमलाङ्गी (नि-मन्युः) हार्दिक क्रोध को परित्याग करके (मा अभि सर्प) मेरे समक्ष, सभा में उपस्थित हो ।

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

उत्तरार्ध अथर्व० ६ । ९ । २ ॥ १ । ३४ । २ ॥

भा०—(अजन्या त्वा) कुमारी रूप तुझ प्रियतमा के संग, मैं (मातुः परि आ) माता के समक्ष (अथो पितुः अजामि) और पिता के समक्ष विवाहित होने के निमित्त आऊं (यथा) जिससे तू (मम क्रतौ असः) मेरे संकल्प और गृहस्थ कार्य में सहायक हो और तू (मम चित्तम् उपायसि) मेरे चित्त को प्राप्त हो ।

व्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

भा०—कन्या के माता पिता से वर की प्रार्थना । हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! शोड़ष वर्ष तक संतान के पास हो जाने पर पुत्र के प्रति मित्र भाव से रहने वाले कन्या के पिता ! और हे सब में श्रेष्ठ रूप माता ! (अस्यै) इस कन्या के (हृदः) हृदय में से (चित्तानि) अन्य सम्बन्धी चित्तों के (वि अस्यतम्) विशेष रूप से दूर कर दो । अर्थात् अन्य सब प्रस्तुत वरों के प्रति उठे इसके विविध विचारों को दूर कर दो ।

और (एनाम्) इसको (अक्रतुम्) अन्य सब संकल्पों से रहित, निश्चिन्त (कृत्वा) करके (मम एव वशे) मेरे ही वश में (कृणुतम्) कर दो।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

---

(२६) प्रबल शक्तिधारी देव के छः रूप ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रः अग्न्यादयो वा बहवो देवताः । १–६ पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्म्या त्रिष्टुप् । १ त्रिष्टुप् । २, ५, ६ जगती । ३, ४ भुरिग् । षडर्चं सूक्तम् ॥

ये॒३॑ऽस्यां स्थ प्राच्यां॑ दि॒शि हे॒तयो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो अ॒ग्निरिष॑वः। ते नो॑ मृडत॒ ते नो॑ऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा ॥१॥

भा०—६ प्रकार के प्रबल शक्तिधारी देव । हे (देवाः) विद्वान् लोगो ! आप लोगों में से (ये) जो (अस्यां) इस (प्राच्यां) सम्मुख वाली मुख्य दिशा में (हेतयः नाम स्थ) उपद्रवकारी लोगों को शान्त रखने हारे होने के कारण 'हेति' नाम वाले हो (तेषां वः) उनमें से आप लोगों का (अग्निः इषवः) अग्नि के समान ज्ञान नाशक एवं पापी पुरुषों को भस्म कर देने हारा ज्ञानमय इषु अस्त्र है । (ते) वे आप लोग (नः मृडत) हमें सुखी रखें। (ते नः अधि ब्रूत) वे आप हम लोगों को उपदेश करें। (तेभ्यो वः नमः) उन आपके लिये हमारा नमस्कार है । (तेभ्यो वः स्वाहा) आप के लिये हमारी शुभवाणियां हैं ।

ये॒३॑ऽस्यां स्थ दक्षि॑णायां दि॒श्य॑वि॒ष्यवो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वः काम॒ इष॑वः । ते नो॑० ॥ २ ॥

भा०—(ये देवाः) जो देव विद्वान्गण (अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि) इस दक्षिण–बलसाध्य कार्य की दिशा में आप लोग हैं वे (अविष्यवः) समस्त संसार की रक्षा करने की इच्छा वाले हैं । इसलिये आप का नाम 'अविष्यु' या 'अवस्यु' है (तेषां वः काम इषवः) उन आप लोगों का (कामः) प्रबल संकल्प ही इषु = बाण है । (ते नो अवन्तु०) वे आप हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें, आप को हमारा नमस्कार और स्वागत है।

ये॒३॑ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ आप॒ इष॑वः। ते नो॑० ॥ ३ ॥

भा०—(अस्याम् प्रतीच्याम्) इस पश्चिम या पीठ पीछे की दिशा में (ये देवाः) जो देव हैं वे (वैराजाः नाम) 'वैराज' विशेष प्रकार से प्रकाशमान, विद्वान् हैं (तेषां वः आपः इषवः) उन आपकी (आपः) व्यापक प्रजाएं या ये जल, रस ही (इषवः) आघातकारी साधन हैं। वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें, आप को हमारा सादर नमस्कार है और आप का स्वागत है।

ये॒३॑ऽस्यां स्थोदी॑च्यां दिशि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ देवास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः। ते नो॑० ॥ ४ ॥

भा०—और (ये देवाः) जो देव (अस्याम् उदीच्याम् दिशि) इस उत्तर दिशा में या बायीं ओर हैं वे (प्रविध्यन्तः नाम) प्रबलता से ताड़ने वाले हैं (तेषां वः) उन आपका (वातः इषवः) वात, प्रचण्ड वायु के झंकोरे और प्राण ही बाण हैं। वे आप हमें सुखी करें और हमें उपदेश करें, आपका हम आदर करते और स्वागत करते हैं।

ये॒३॑ऽस्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दिशि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः। ते नो॑० ॥ ५ ॥

भा०—और (ये देवाः) जो देव गण (अस्यां ध्रुवायां दिशि) इस ध्रुवा, अविचल पृथिवी की ओर या नीचे की तरफ (देवाः) देव गण हैं (ते निलिम्पा नाम) वे निलिम्प = चिपटने हारे हैं। वे अपने मूल छोड़ कर पृथिवी के साथ चिपट जाते हैं, (तेषां वः ओषधीः इषवः) उन आप लोगों के (ओषधिगण) ही इषु हैं, आप उनसे रोगादि दूर करके हमें सुखी करें, हमें उपदेश करें और आपको हम नमस्कार करते और स्वागत करते हैं।

येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तषां वो बृहस्पतिरिषवः । ते नो मृडत ते नोधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—हे (देवाः) देवगण ! (ये देवाः) तुम जो देवगण (अस्यां (ऊर्ध्वायां स्थ) इस ऊर्ध्व दिशा में हो वे (अवस्वन्तः) बड़े भारी पालक हो । आप लोगों के (इषवः) प्रहार का साधन भी (बृहस्पतिः) महान् ब्रह्माण्ड का पालक है । वे आप हमारी रक्षा करें । हमें उपदेश करें और हमारा आपको नमस्कार है और आपका हम स्वागत करते हैं । इस सूक्त का रहस्य अगले सूक्त में स्पष्ट करेंगे ।

---

(२७) शक्तिधारी देव के छः रूप ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्रा अग्न्यादयश्च बहवो देवताः । १–६ पञ्चपदा ककुम्मतीगर्भा अष्टिः । २ अत्यष्टिः । ५ भुरिक् । षडर्चं सूक्तम् ॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

भा०—(प्राची दिक्) प्राची दिशा, उसमें (अग्निः अधिपतिः) अग्नि अधिपति है । (असितः रक्षिता) असित, रक्षा करने हारा है और उसके (आदित्याः इषवः) आदित्य इषु = बाणों के समान हैं । (तेभ्यः अधिपतिभ्य नमः) उन इन और अगले मन्त्र में कहे गये अधिपतियों को नमस्कार हो (रक्षितृभ्यः नमः) उन रक्षा करने वालों को नमस्कार हो (इषुभ्यः नमः) आदित्य आदि बाणों को नमस्कार हो । (एभ्यो नमः अस्तु) इन सबको नमस्कार हो । (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमें द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं वः जम्भे दध्मः) उसको हम आप लोगों के वश में रखते हैं ।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो० । ० ॥ २ ॥

भा०—(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः अधिपतिः) इन्द्र अधिपति और (तिरश्चिराजी रक्षिता) टेढ़ों पर राज्य करने वाला, उन्हें अपनी दण्ड शक्ति का प्रभुत्व दिखलाने वाला तिर्यग् जन्तुओं में भी विविध रूप से चमत्कारकारी प्रभु रक्षक है। (पितरः) पालक पितृगण उसके इषु=बाण रूप हैं। (तेभ्यः नमः इत्यादि पूर्व मंत्र में देखो)।

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो० । ० ॥ ३ ॥

भा०—(प्रतीची दिक्) प्रतीची, पश्चिम दिशा में (वरुणः अधिपतिः) सब पापों से रक्षक, सर्वश्रेष्ठ अधिपति-पालक है (पृदाकू रक्षिता) पृत्=समस्त मनुष्यों में वाणी का सञ्चार करने वाला प्रभु रक्षिता है और (अन्नम् इषवः) अन्न उसके बाण हैं। तेभ्यो नमः इत्यादि पूर्ववत्।

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो० । ० ॥ ४ ॥

भा०—(उदीची दिक्) उदीची-उत्तर की दिशा में (सोमः अधिपतिः) सोम सबका प्रेरक और उत्पादक प्रभु अधिपति है (स्वजः) स्वतः उत्पन्न, स्वयंभू, परमात्मा (रक्षिता) रक्षक है और (अशनिः इषवः) अशनि वज्र ही उसके बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो० । ० ॥ ५ ॥

भा०—(ध्रुवा दिक्) ध्रुवा, नीचे की पृथ्वीतल की दिशा में (विष्णुः अधिपतिः) व्यापक प्रभु अधिपति है और (कल्माषग्रीवः) हरे लाल नाना रंगों से सुशोभित वृक्ष लता आदि से चित्रित वनस्पति संसार जिसके ग्रीवा के समान हैं ऐसा प्रभु रक्षक है और (वीरुधः इषवः) लताएं उसके बाण हैं (तेभ्यो नमः०) इत्यादि पूर्ववत्।

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो
अस्तु । योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

भा०—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊर्ध्व, ऊपर, द्यौ लोक की दिशा में (बृहस्पतिः अधिपतिः) बृहत् ब्रह्माण्ड एवं वेदवाणी का पति अर्थात् स्वामी, अधिपति स्वामी है (श्वित्रः रक्षिता) प्रकाशस्वरूप प्रभु रक्षक है और (वर्षम् इषवः) वर्षाएं उसके बाण हैं । तेभ्यो नमः० इत्यादि पूर्ववत् ।

दिशा	देव	अधिपति	रक्षिता	इषु
प्राची	हेतयः	अग्निः	असितः	अग्निः आदित्याः
दक्षिणा	अविष्यवः	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	कामः, पितरः
प्रतीची	वैराजाः	वरुणः	पृदाकुः	आपः, अन्नम्
उदीची	विध्यन्तः	सोमः	स्वजः	वातः, अशनिः
ध्रुवा	निलिम्पाः	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	ओषधीः, वीरुधः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः	श्वित्रः	बृहस्पतिः, वर्षम्

इस नक्शे पर विचार करने और प्रथम और द्वितीय दोनों सूक्तों की तुलना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रथम सूक्त के इषु दूसरे सूक्त के अधिपति हैं और दूसरे सूक्तों के इषुओं के गुण और कर्म प्रथम सूक्त के 'देव' हैं । 'रक्षिता' अधिपति का स्वरूप है । जैसे (१) प्राची दिशा का

अधिपति अग्नि = सूर्य है उसका स्वरूप असितः = बन्धनरहित है, उसकी किरणों की गति कहीं सीमित नहीं है। उसके बाण अर्थात् वह शक्ति जिससे वह सबका स्वामी है। 'आदित्य' अर्थात् स्वतः किरणों का पुञ्ज सूर्य और उसकी किरण हैं। वे किरण ही उस प्रभु की इषु = वह शक्ति है जिससे वह जीवन के विघातक रोगों और अन्धकारों का नाश करता है। उन इषुओं का गुणवाचक और क्रियाप्रदर्शक नाम 'हेति' है, अर्थात् रोगजन्तु के नाशक और दूरगामी हैं। वे सूर्य से मानो फेंके जाते हैं। (२) दूसरी दिशा दक्षिण में 'पितर' इषु हैं। जीवों के पिता माता जीवों को उनके आघातों से बचाते हैं उनकी पुत्रैषणा = 'काम' है। उसका दूसरा रूप 'इन्द्र' है। समस्त कामनाओं का एकमात्र आश्रय आत्मा है। सब टेढ़े जनों में वह तदनुरूप होकर उनको रास्ते पर लाता है इस प्रकार उन सबकी रक्षा करता है। उनका कर्म है 'अविष्यु' अर्थात् बचा लेने की इच्छा ही उनका विशेष गुण है। (३) तीसरी दिशा प्रतीची के इषु = अर्थात् जीवों को मृत्यु से बचाने वाले साधन 'अन्न' और 'आपः' हैं। अन्नों का अधिपति मूलपालक वरुण है जो स्वतः जल है। 'वैराजाः' अन्न से उत्पन्न प्राण उस दिशा के देव हैं। समस्त प्राणी उसकी पुकार करते हैं 'अन्न अन्न' इसलिये अन्नदाता 'पृथकू' है। (४) उत्तर दिशा में 'अशनि' = विद्युत् ही इषु हैं। सोम = प्रेरक या उसका उत्पादक सोम = वात अधिपति है। क्योंकि वायु की रगड़ से या देह में प्राणबल (Metabolism) से विद्युत् शक्ति या (Personal Magnatism) उत्पन्न होता है। उसका गुण है प्रवेध, प्रबल आघात करना। उसका स्वरूप है 'स्वजः' स्वयं गति करना और आप से आप बहना या उत्पन्न होना। (५) 'ध्रुवा' नीची पृथ्वी की दिशा में ओषधियां, लताएं ही जीव को मृत्यु से बचाती हैं, वे इषु हैं। वे पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु उनका अधिपति है, नाना वर्ण के पुष्प पुत्रादि होने से 'कल्माषग्रीव' उनका रक्षक है, उनके लेपन आदि करने से

भूतलवासी सर्प आदि विषैले जन्तुओं का नाश होता है अतः उसके देव वैद्य 'निलिम्प' हैं, या गुण स्वतः देव हैं। (६) ऊर्ध्वा दिशा में वहां से आने वाले वर्षा-जल मृत्यु से बचाने वाले इषु हैं। बृहस्पति = मेघ अधिपति है। श्वित्र = सूर्य रक्षक है। जीवों के प्राणों की रक्षा करना ये दिव्य गुण हैं। इत्यादि विचारों की योजना करना उचित है। इति दिक्।

---

(२८) 'यमिनी' राजसभा और गृहिणी के कर्तव्य।

पशुपोषणकामो ब्रह्मा ऋषिः। यमिनी देवता। १ अतिशाक्करगर्भा चतुष्पदा अतिजगती, ४ यवमध्या विराट्-ककुप्, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः। २,३ अनुष्टुभौ। षडर्चं सूक्तम् ॥

एकैकया सृष्ट्या संबभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१॥

भा०—(एकैकया) एक एक ही (सृष्ट्या) सृष्टि = सर्जन-व्यवस्था, रचना के नियम से (एषा) यह जगत् की रचना (संबभूव) बनी है। (यत्र) जिसमें (भूतकृतः) प्राणियों को उत्पन्न करने वाली (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (गाः) गतियां आश्रयरूप भूमियां, शक्तियां (असृजन्त) बनी हैं। (यत्र) और जहां (यमिनी) वह नियमकारिणी, नियामक परमेश्वरी शक्ति, तत्स्थानीय राजशक्ति (अपर्तुः) विना नियत ऋतु अर्थात् उचित काल के (विजायते) विपरीत, एक दूसरे को विरोधी रूप में होने लगती है (सा) वह अव्यवस्था (पशून्) पशुओं को, जीवों को (रिफती) विनाश करती हुई, (रुशती) और मारती हुई कष्ट देती हुई (क्षिणाति) उनका विध्वंस कर देती है। अथवा, जिस प्रकार बिना ऋतु के, बेमौसम (यमिनी) जोड़ा जनने वाली गाय विपरीत नियम से जोड़े बच्चे पैदा

[२८] १—'रुषती', 'रुष्यती' इति ह्विटनिकामितः पाठः। (प्र०) 'एकैकयेषां', 'सृष्ट्वा' इति क्वचित्।

करती है वह पशुओं की विनाशसूचक होती है उसी प्रकार एक ही व्यवस्था जीवों को सुख देती, विरुद्ध या विपरीत अनवसर व्यवस्था जीवों का नाश करती है। (२) एक परमात्मा से संगत एक प्रकृतिरूप (सृष्टि) सर्जन शक्तिः = 'प्रधान' जब (सं बभूव) उचित रीति से व्यक्त रूप में प्रकट हुई तब (विश्वरूपाः) नाना रूप धारण करने वाली (भूतकृतः) पञ्च भूतों को पैदा करने वाली (गाः असृजन्त) नाना विकृतियां बनीं (यत्र) जब (यमिनी) प्रकृति (अपर्तुः) ऋतु-सत्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान या सत्यमय स्वभाव से शून्य होकर (विजायते) विपरीत—रजः तमः रूप में विकृत होती हैं तब (सा) वह (रिफती रुशती) राजस् और तमस भावों से गर्भस्थ बालकों का नाश करती हुई (पशून् क्षिणोति) जीवों के विनाश का कारण होती है। (३) (एकएकया एषा सृष्ट्या सं बभूव) यह समस्त लोक प्रजावर्ग एक पुरुष, एक नर, इस प्रकार एक के साथ एक सृष्टि = सर्जन शक्ति के संयोग से उत्पन्न हुआ। (यत्र) जिस लोक में (विश्वरूपा भूतकृतः गाः असृजन्त) नाना प्रकार की गौएं, भूमियां, योनियां, माताएं, स्त्रियां जीव गर्भ-धारक क्षेत्र बनाये गये हैं। (सा यमिनी) जोड़ा बनी, अपनी नरशक्ति से, संगत मादा प्रकृति नारी, यदि (अपर्तुः) ऋतुकाल के बिना ही (यमिनी) दूसरी उत्पादक नरशक्ति पुरुष से संगत होकर (विजायते) विरुद्ध प्रजा उत्पन्न करे तो (सा) वह स्त्री (रिफती रुशती) हिंसाशील, क्रोधपरायण होकर (पशून् क्षिणाति) उन बीजरूप जीवों का नाश करती है।

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

भा०—(एषा) वह अव्यवस्थापिका सभा, विपरीत जाने हारी शासन समिति (व्यद्वरी[1]) एक दूसरे को खा जाने वाली होने के कारण

१. 'वि अद्वरी' इति पदपाठः। 'व्यध्वरी' इति सायणः।

(क्रव्याद्) एक दूसरे के शरीर के मांस की लोलुप (भूत्वा) होकर (पशून्) पशुओं का, मूर्ख अनभिज्ञ साधारण प्रजाजनों का (सम् क्षिणोति) खूब परस्पर नाश कराती है। तब क्या उपाय करे (उत) तो फिर (एनां) इस दुर्व्यवस्था की बागडोर (ब्रह्मणे दद्यात्) ब्रह्म = वेद के जानने हारे परम विद्वान् पुरुष, व्यवस्थापक के हाथ में देवे (तथा) तभी वह (स्योना) सुखकारिणी और (शिवा) मंगलजनक (स्यात्) हो जाती है। (२) वह तामसी और राजसी प्रकृति एक दूसरे की विनाशिका होने से मनुष्य के शरीर की विनाशक हो जाती है और जीवों को नष्ट करती है इसलिये जीवों को चाहिये कि उस प्रकृति को ब्रह्म-अर्थात् सत्व के अधीन करे जिससे वह सुख कल्याणकारी हो जाय। (३) यदि वह नारी केवल (व्यद्वरी) भोगप्रिया होकर (क्रव्याद्) कच्चे जीवों की नाशिका होकर और बीजभूत जीवों का विनाश करे तो भी उसको (ब्रह्मणे) विद्वान् वैद्य के पास ले जाय जिससे पुनः गृहस्थसुख को देने वाली हो जाय।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

भा०—हे यमिनि ! राज्यव्यवस्थापिके ! (पुरुषेभ्यः शिवा भव) तू राष्ट्र के पुरुषों के लिये कल्याणकारी हो और (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और अश्व आदि पशुओं के लिये कल्याणकारी हो। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा भव) इस समस्त क्षेत्र = राष्ट्र के लिये कल्याण, सुखकारी हो और (नः) हमें (शिवा इह) कल्याण = सुख की देने हारी होकर यहां (एधि) विराजमान रह। (२) नारी के पक्ष में भी स्पष्ट है। वह ऋतुकाल से अतिरिक्त भोग न करके यमिनी = गृहस्थ व्यवस्था में अपने पति से संगत रह कर, गृह के पुरुषों और पशुओं के लिये सुखकर हो, अपने क्षेत्र के लिये भी सुखदायिनी होकर घर में रहे।

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहिता नारि ! हे व्यावस्थापिकासभे ! (इह) इस गृह और राष्ट्र में (पुष्टिः) पोषदायक पदार्थों से परिपोषण हो, (इह रसः) यहां जल और रसदायक पदार्थों की वृद्धि हो और तू (इह सहस्रसातमा भव) यहां सहस्रों प्रकार के पदार्थों को देने वाली हो, (पशून् पोषय) तू राष्ट्र पशुओं और अनभिज्ञ प्रजाजनों को पुष्ट कर । इसी प्रकार गृहिणी पशुओं को और बालक-जीवों को पुष्ट करे ।

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्वः॒ स्वायाः॑ ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त् पुरु॑षान् प॒शूँश्च॑ ॥५॥

पूर्वार्ध० अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

भा०—हे (यमिनि) विवाहित नारी अथवा नियमव्यवस्था या ब्रह्मचर्य व्रत की पालिके ! (यत्र) जहां (सुहार्दः) उत्तम हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा सदाचारी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर के (रोगं) रोग को (विहाय) परित्याग करके, सदा नीरोग होकर (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हैं, हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि ! (तं लोकं) तू उस लोक = देश में जाकर (अभि संबभूव) अपना गृहस्थ बनाकर रह । वह (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च) पुरुषों और पशुओं को (मा हिंसीत्) विनाश न करे । अर्थात् वह दुराचारिणी होकर कलह का कारण न हो । (२) व्यवस्थापिका सभा के पक्ष में—जहां उत्तम चित्त वाले, पुण्यात्मा, नीरोग शरीर से प्रसन्न रहते हैं वहां वह समिति अपनी उत्तम व्यवस्था करती है । वहां वह पुरुषों और पशुओं का नाश नहीं होने देती ।

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहो॒त्रहु॒तां यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त् पुरु॑षान् प॒शूँश्च॑ ॥६॥

भा०—हे (यमिनि) ब्रह्मचारिणि ! (यत्र) जिस देश में (सुहार्दां) उत्तम चित्त वाले (सुकृतां) पुण्याचारी, सदाचारी, (अग्निहोत्रहुतां) नित्य यज्ञ हवन का सम्पादन करने वाले पुरुषों का (लोकः) निवास है । (तं

लोकं) उस लोक में (अभि संबभूव) तू विवाहित हो जिससे बुरे लोगों की संगति में पड़कर तू (नः) हमारे (पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) पुरुषों और पशुओं का कलह और लोभ के कारण नाश न करे । पूर्वोक्त प्रकार से व्यवस्थापिका राजसभा के पक्ष में भी लगा लेना ।

---

(२९) राजसभा के सदस्यों का कर्तव्य ।

उद्दालक ऋषिः । शितिपादोऽविर्देवता । ७ कामो देवता । ८ भूमिर्देवता । १, ३ पथ्यापंक्तिः, ७ त्र्यवसाना षट्पदा उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककुम्मतीगर्भा विराड् जगती । ८ उपरिष्टाद् बृहती । २, ४, ६ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यद् राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्त्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑ । अवि॒स्तस्मा॒त् प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑ति॒पात् स्व॒धा ॥ १ ॥

भा०—राजसभा के सभासदों के कर्त्तव्यों का उपदेश—(यमस्य) सब राष्ट्र के नियामक राजा के (अमी) ये (सभासदः) सभा में विराजमान, शिष्टों के पालन और दुष्टों के दमन में नियुक्त (राजानः) तेजस्वी राजा लोग (इष्टापूर्त्तस्य) परस्पर की संगति से होने वाले नाना शिल्पकार्यों, देवोपासनाओं और यज्ञों के, आपूर्त्त = कूप, उद्यान, तडाग, सेतु आदि लोकोपकारक कार्यों के फल के (षोडशं) सोलहवें हिस्से को (यद्) क्योंकि (विभजन्ते) विभाग करके स्वयं लेते हैं । (तस्मात्) इस कारण से (अविः) राजा, सूर्य के समान (शितिपात्) श्वेतचरण, श्वेताश्व या शुक्र, उज्ज्वल रूप वा तीक्ष्णप्रकृति सेना का पालक होकर (स्वधा) स्वयं राष्ट्र का पालन करता हुआ (दत्तः) उचित रूप से करादि प्राप्त करके (प्रमुञ्चति) राष्ट्र को अन्य बन्धनों से मुक्त कर देता है । अध्यात्म पक्ष में—यम के सभासद् इस तपस्वी शरीर के भीतर व्यापक प्राण इस शरीर के इष्टापूर्त्त को सोलहों कला का विभाग किये बैठे हैं । जो इस शरीर का आत्मा है (दत्तः) स्वयं इनका बल प्राप्त करके, उज्ज्वल ज्ञानी

होकर स्वयं सबका धारण करने वाला (प्र मुञ्चति) मुक्त हो जाता है। १६ कलाएं देखो प्रश्नोपनिषद् में—

'इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडश कलाः प्रभवन्ति ॥ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं। मनोऽन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति। भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः। अरा इव रथनाभौ कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः।" इति (प्रश्न उप० प्र० ६)

इसी शरीर में सोलह कलाएं हैं—प्राण, श्रद्धा, खं, वायु, ज्योति, आपः, पृथिवी, इन्द्रिय, मन. अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम, ये सब उस परिद्रष्टा आत्मा की सोलह कलाएं उसके आश्रय पर हैं। उसी में लीन हो जाती हैं, वह मुक्त हो जाता है और बाद को मृत्यु नहीं सताती।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन्।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

भा०—राजपक्ष में—(शितिपाद्) तीक्ष्ण सेना का पालन करने वाला राजा, (अविः) राष्ट्र का पालक (दत्तः) करादि प्राप्त करके (सर्वान् कामान् पूरयति) राष्ट्र की सब अभिलाषाओं, आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है। (आभवन्) सब प्रकार से सामर्थ्यवान् (प्रभवन्) प्रभुता सम्पन्न (भवन्) होकर भी (आकूतिप्रः) प्रजा के समस्त शुभ संकल्पों को पूर्ण करने वाला होकर (न उपदस्यति) राष्ट्र का विनाश नहीं करता। (२) अध्यात्म पक्ष में—अवि यह आत्मा शितिपाद् ज्ञान का प्रकाश या पालक होकर (दत्तः) ब्रह्म में अर्पित होकर, सर्वाप्तकाम, सर्वसामर्थ्य होकर सर्वकामनाओं को पूर्ण करके फिर विनाश को प्राप्त नहीं होता। "इह चेदवेदथ सत्यमस्ति न चेहावेदीन् महती विनष्टिः।" उपनि०।

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥३॥

भा०—(यः) जो (शितिपाद) ज्ञानस्वरूप (लोकेन संमितं) इहलोक और परलोक या लोक अर्थात् योनिरूप में समान रूप से जाने गये (अविं) आत्मा को (ददाति) परब्रह्म में समर्पित कर देता है (स नाकम् अभि-आरोहति) वह उस मोक्षाख्य स्वर्ग अर्थात् सुखमय लोक को प्राप्त होता है (यत्र) जहां (अबलेन) निर्बल बलहीन पुरुष (बलीयसे) बलवान् पुरुष को (शुल्कः न क्रियते) शुल्क अर्थात् कर नहीं देता । राजपक्ष में जो शितिपाद-तीक्ष्ण सेनापालक राष्ट्र के समान माननीय राजा को समस्त राष्ट्रभार सौंप देता है वह प्रजाजन स्वर्ग के समान राज्यसुख का भोग करता है जिससे बलवान् निबलों पर अन्यायपूर्वक कोई कर नहीं ले सकता।

दुःखेन अन्न भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलापोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् । स्फुटम् ॥

दुःख से मिला न हो और बाद में भी कष्ट न हो और इच्छानुसार सुख हो, वही स्वर्ग है ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

भा०—(पञ्च अपूपम्) पांच अपूप, मालपूओं अर्थात् पांच विषय भोगों से युक्त भोक्ता, (शितिपादम्) ज्ञानस्वरूप चेतन, (अविं) अपने अंगों के रक्षक, लोक से लोकान्तर में गति करने वाले, (लोकसंमितम्) तथा लोक के समान जाने गये उस आत्मा को (प्रदाता) परब्रह्म में समर्पित करने हारा (पितृणाम् लोके) पितरों अर्थात् वयस, ज्ञानादि से वृद्ध पालक लोगों के लोक अर्थात् समाज में (अक्षितम्) अक्षय (जीवति) कीर्त्तिमय जीवन का भोग करता है । राजपक्ष में—जो प्रजाजन ऐसे राष्ट्रपति को राष्ट्र की रक्षा के लिये नियुक्त कर देता है वह अन्य शासकों के रहते हुए भी नष्ट नहीं होता ।

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

भा०—(लोकेन संमितम्) 'लोक' के समान जाने गये (शिति-पादम् अविं) ज्ञानवान्, चेतनावान् (अञ्च-अपूपम्) पांचों ज्ञानों के कर्त्ता आत्मा को जो परमेश्वर में (प्रदाता) समर्पित करता है वह (सूर्या मासयोः) सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों लोकों के समान दिन रात (अक्षितम् जीवती) अक्षय जीवन प्राप्त करता है ।

इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् ।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

भा०—(इरा इव) भूमि या अन्न की न्याईं तथा (महत् पयः समुद्र इव) महान् जलराशि समुद्र के समान (न उपदस्यति) वह नष्ट नहीं होता, (सवासिनौ देवौ इव) एक निवासस्थान आकाश में रहने वाले सूर्य और चन्द्र के समान (शितिपाद्) वह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा (न उपदस्यति) नष्ट नहीं होता ।

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ ७ ॥

यजु० ७ । ४८ ॥

भा०—पूर्व मन्त्रों में 'शितिपाद्' का वर्णन है । इसमें इस का निर्णय करते हैं कि कौन किस को क्या देता है । (कः इदं कस्मै अदात्) कौन किस 'अवि' आत्मा को किस के प्रति समर्पित करता है । पूर्वोक्त मन्त्रों में इसका निर्णय नहीं किया, उसका रहस्य भी बतलाते हैं ।

७–'कामः समुद्रमाविश' इति तै० आ० । को अदात् कस्मा अदात् । कामोदात कामायादात् । 'कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते' इति यजु० ।

(कामः अदात्) काम—कामना करने हारे जीव ने अपने आत्मा को (कामाय अदात्) सब के अभिलाषा करने योग्य, कमनीय परब्रह्म के प्रति अर्पित किया। (कामः दाता, कामः प्रति-ग्रहिता) काम ही दान करता है—काम ही प्रतिग्रह अर्थात् स्वीकार करने वाला है। अर्थात् (कामः) काम = कामना करने वाला जीव स्वयं (समुद्रं) उस महान् रस के सागर में (आविवेश) प्रवेश करता है। इसलिये हे जीव ! (त्वा) तुझ को मैं परमात्मा (कामेन) तेरे काम अभिलाषा से ही तुझको (प्रति गृह्णामि) स्वयं अपने में आश्रय देता हूँ (काम एतत् ते) हे काम ! यह तेरा स्वरूप काम = कामनाय ही है। अर्थात् जिस कामना में जीव रहता है तदनुरूप ही लोक उसे प्राप्त होता है। इसलिये आत्मा को कामनावश ही (लोकेन संमितः) लोक के समान कहा है।

इसी प्रकार परस्पर-अभिलाषा में मग्न स्त्री पुरुष भी परस्पर एक दूसरे को समर्पण करते हुए कहते हैं। प्र०—(कः इदं कस्मै अदात्) किसने किसको सौंपा ?

उत्तर—(कामः कामाय अदात्) कामः = परस्पर की अभिलाषा ने ही उस अभिलाषा के निमित्त एक दूसरे को सौंप दिया। अर्थात् (कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता) सौंपने वाला भी अभिलाषुक है और लेने वाला भी उसी प्रकार का इच्छुक है। लेने वाला मैं पति (कामेन त्वा-प्रति-गृह्णामि) अभिलाषा से प्रेरित होकर ही तुझ को स्वीकार करता हूँ। (काम) हे काम ! अभिलाषुक (ते एतत्) यही तेरी अभिलाषा पूर्ण हो।

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भा०—दान ग्रहण करने वाला ग्रहण करते हुए सदा विचार करे कि (त्वा भूमिः प्रतिगृह्णातु) हे समर्पित द्रव्य ! तुझे यह भूमि स्वीकार करे और (इदं महत् अन्तरिक्षम्) यह बड़ा भारी अन्तरिक्ष भी आश्रय दे। (अहं) मैं समर्पक (प्राणेन मा) प्राण से कोई अपराध न करूं,

(मा आत्मना) आत्मा, चित्त और देह से कोई अपराध न करूं और (प्रति-गृह्य) स्वीकार करके (प्रजया) अपनी प्रजा से भी (मा विराधिषि) कभी अपराध न करूं।

---

(३०) परस्पर मिलकर एकचित्त होकर रहने का उपदेश।

अथर्वा ऋषिः। चन्द्रमाः सामनस्यञ्च देवता। १–४ अनुष्टुभः। ५ विराड्जगती। ६ प्रस्तार पंक्तिः। ७ त्रिष्टुप्। सप्तर्चं सूक्तम्॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥

भा०—मिल कर एकचित्त होकर परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश। मैं प्रभु (वः) तुम सबको (सहृदयं) एक हृदय वाला (सांमनस्यं) एक चित्त वाला, (अविद्वेषं) परस्पर द्वेष से रहित (कृणोमि) करता हूँ। (जातं वत्सं अघ्न्या इव) जिस प्रकार उत्पन्न हुए बच्छे के प्रति प्रेम से खिंचकर गाय दौड़ी हुई आती है उस प्रकार (अन्यः अन्यम् अभि हर्यत) एक दूसरे के पास मिलने के लिये प्रेम से खिंचकर जाओ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ २॥

भा०—(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) अज्ञाकारी हो और (मात्रा) माता के साथ (सं मना) अनुकूल और सद्-हृदय वाला होकर (भवतु) रहे और (जाया) स्त्री अपने (पत्ये) पति के लिये सदा (मधुमतीम्) मधुर (शन्तिवाम् वाचम्) शान्तियुक्त, सुखप्रद, कल्याण वाणी को (वदतु) बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

भा०—(भ्राता भ्रातरं स्वसारम् मा द्विक्षत्) भाई भाई से और

बहिन से द्वेष न करे, (उत) और (स्वसा स्वसारं भ्रातरं मा) बहिन अपनी बहिन से और भाई से द्वेष न करे। हे प्रजाजनो ! सब (सम्यञ्चः) एकत्र होकर (सव्रताः) एक दूसरे के अनुकूल, एकचित्त और एक ही उद्देश्य में होकर (भद्रया) कल्याण और सुखप्रद रीति से (वाचं वदत) एक दूसरे के प्रति वाणी बोला करो।

येन॑ दे॒वा न वि॒ यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः।
तत्कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥ ४ ॥

भा०—(येन) जिस वेद ज्ञान को प्राप्त करके (देवाः) देवगण, विद्वान् लोग (न वि-यन्ति) एक दूसरे का विरोध नहीं करते और (मिथः नो च विद्विषते) परस्पर भी द्वेष नहीं करते (पुरुषेभ्यः) समस्त पुरुषों को (सं ज्ञानं) उत्तम ज्ञान प्राप्त कराने वाले (तत्) (ब्रह्म) ब्रह्म अर्थात् वेदविज्ञान के उपदेश को (वः गृहे) आप लोगों के घर में (कृण्मः) करते हैं।

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः सधु॑रा॒श्चर॑न्तः।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्री॒चीना॑न् वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! आप लोग (ज्यायस्वन्तः) एक दूसरे से बड़े और श्रेष्ठ गुण सम्पन्न होकर भी (चित्तिनः) समानचित्त होकर (संराधयन्तः) समान कार्य का साधन करते हुए (सधुराः) एक ही प्रकार के भार उठाते हुए, अथवा समान रूप से एक ही धुरा = केन्द्र में बद्ध होकर विचरण करते हुए (मा वियौष्ट) कभी एक दूसरे से जुदा मत होओ और (अन्यः अन्यस्मै) एक दूसरे के प्रति (वल्गु वदन्तः) मनोहर वचनों का प्रयोग करते हुए (एत) एक दूसरे से मिलो और आओ (सध्रीचीनान्) समान रूप से एक ही स्थान पर एकत्र हुए (वः) तुम लोगों को मैं (संमनसः) एक ही चित्त और मन वाला (कृणोमि) बनाता हूँ।

स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि।
स॒म्यञ्चो॒ऽग्निं स॑पर्यता॒रा नाभि॑मिवा॒भितः॑ ॥ ६ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (समानी प्रपा) आप लोगों की एक ही पानी-यशाला हो जहां से सब समान रूप से जल पी सकें। (वः सह अन्न-भागः) तुम लोगों का परस्पर प्रेम से एक साथ ही अन्न का भोजन हो इसी कारण (वः) तुम लोगों को मैं (समाने योक्त्रे) एक ही बन्धन में (युनज्मि) बांधता हूँ, जोड़ता हूँ और (सम्यञ्चः) उत्तम रीति से एक फल को प्राप्त करने की अभिलाषा से एकत्र होकर ही (नाभिम् इव अभितः अराः) केन्द्र के चारों ओर अरों के समान (अग्निं) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर और विद्वान्, गुरु और यज्ञाग्नि की (सपर्यत) उपासना करो।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

भा०—(अध्रीचीनान्) एक कार्य में उद्योग करने वाले एवं एक स्थान पर एकत्र होने वाले (वः सर्वान्) आप सब लोगों को (संवननेन) एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करके और आप लोगों को समान द्रव्यभाग देकर (एकश्नुष्टीन्) एक जैसा भोजन करने और (संमनसः) समान चित्त वाले (कृणोमि) करता हूँ। आप सब लोग (अमृतं) अमृत = सत्य आत्मा की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (देवा इव) इन इन्द्रिय गणों के समान रहो और (वः) आप लोगों का (सायं-प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (सौमनसः) उत्तम हृदय परस्पर आदर प्रेमयुक्त चित्त (अस्तु) रहे।

---

(३१) पाप से मुक्त होने का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः। पाप्महा देवता। १—३, ६—११ अनुष्टुभः। ७ भुरिग्। ५ विराट् प्रस्तार पंक्तिः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

भा०—हे (देवाः) इन्द्रियगणो ! और विद्वान् पुरुषो ! (जरसा वि अवृतन्) शरीर की आयु का नाश करने वाले बुढ़ापे से दूर रहो, हे (अग्ने) विद्वान् या परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अरात्या) कंजूस शत्रु से (वि) हमें दूर रख, (अहम्) और मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप = मानसिक बुराइयों से (वि) स्वयं दूर रहूँ और हे शिष्य ! तुझे भी दूर रक्खूं। (यक्ष्मेण वि) रोग से भी तुझे दूर रक्खूं और स्वयं भी दूर रहूँ और (आयुषा सम्) तुझे आयु से संयुक्त करूं और स्वयं आयु से सम्पन्न होऊं।

व्यार्त्या पर्वमानो वि शुक्रः पापकृत्यया ।
व्यहं० ॥ २ ॥

भा०—(पवमानः) सबको पवित्र करने वाला सूर्य और उसके समान परमात्मा और वायु (आर्त्या वि) सब प्रकार की पीड़ा से दूर रखे और (शक्रः) शक्तिमान् परमात्मा (पापकृत्यया वि) सब पापकर्म, बुरे आचरणों से (वि) परे रक्खे। (अहं सर्वेण पाप्मना वि०) पूर्ववत् ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्यहं० ॥ ३ ॥

भा०—(ग्राम्याः पशवः) ग्राम में रहने वाले गौ, भैंस आदि पशु जिस प्रकार (आरण्यैः) जंगल के निवासी व्याघ्र, सिंह आदि से भयभीत होकर (वि असरन्) परे भागते हैं और जिस प्रकार (तृष्णया) प्यास से (आपः) जल परे रहते हैं। उसी प्रकार (अहं) मैं (सर्वेण पाप्मना वि) सब पापों से परे रहूँ। (यक्ष्मणा वि) और मैं सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूँ।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्यहं० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये दोनों आकाश और पृथिवी पृथक् २ हुए हुए हैं और जिस प्रकार (पन्थानः) बहुत से

मार्ग (दिशं-दिशम् वि यन्ति) भिन्न २ दिशाओं में चले जाते हैं उस प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं स्वयं सब पापों से परे रहूँ और (यक्ष्मेण वि) सब रोगों से मुक्त और (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न रहूँ और हे शिष्य ! तुझे भी ऐसा ही करूं।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्यहं० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार (त्वष्टा) पिता (दुहित्रे) अपनी कन्या के लिये (वहतुं) विदाई के अवसर पर जमाता के घर भेजने के लिये रथ को (युनक्ति) जोड़ता और उस पर बैठा कर दूर भेज देता है और जिस प्रकार (इदं विश्वं भुवनं) यह समस्त ब्रह्माण्ड (वि याति) एक एक से अलग २ रहता है उसी प्रकार इच्छापूर्वक (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सम्) मैं स्वयं अपने आपको सब पापों से दूर रक्खूं, सब रोगों से दूर रक्खूं और उत्तम आयु से सम्पन्न रहूँ।

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्यहं० ॥ ६ ॥

भा०—जिस प्रकार (अग्निः) अन्न का खाने वाला जाठर अग्नि (प्राणान्) शरीर के सब प्राणों का (सं दधाति) उत्तम रूप से पालन पोषण करता है और (चन्द्रः) चाद (प्राणेन संहितः) प्राणशक्ति के साथ सम्बद्ध है, अर्थात् जिस प्रकार चन्द्र प्राण-शक्ति का देने वाला है उसी प्रकार (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से मुक्त रह कर आयु से सम्पन्न होऊं।

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्यहं० ॥ ७ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग जिस प्रकार (विश्वतःवीर्यम्) सब प्रकार के बीर्य = सामर्थ्य से युक्त सूर्य को (प्राणेन) प्राणों के साथ (समैरयन्) संगत करते हैं और जिस प्रकार देव = इन्द्रियगण प्राणों के साथ

प्रेरक आत्मा को संगत करके रखते हैं उसी प्रकार हे पुरुषो ! तुम भी अपने प्राण के साथ उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को मिलाये रक्खो और मैं भी (अहं सर्वेण पाप्मना वि, यक्ष्मेण वि, आयुषा सं) सब पापों और रोगों से परे रह कर आयु से सम्पन्न होऊं ।

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।

व्यहं ॥ ८ ॥

भा०—हे जीव ! (आयुष्मताम्) दीर्घ आयु वाले और (आयुष्कृताम्) दीर्घ आयु को बनाने वाले देवों, विद्वानों और दिव्य गुण वाले पदार्थों के (प्राणेन) ज्ञान और शक्ति रूप सामर्थ्य से तू (मा मृथाः) मृत्यु का ग्रास मत बन । (वि अहं०) इत्यादि पूर्ववत् ।

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।

व्यहं० ॥ ९ ॥

भा०—हे जीव ! हे प्राण ! (प्राणतां) प्राण लेने वाले प्राणियों के (प्राणेन) प्राण सामर्थ्य से ही तू भी (प्राण) यहां प्राण ले और (इह एव भव) यहां ही विद्यमान रह और (मा मृथाः) देह त्याग करके मृत्यु का ग्रास मत बन (वि अहं सर्वेण०) इत्यादि पूर्ववत् ।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।

व्यहं० ॥ १० ॥

भा०—(आयुषा) दीर्घ आयु से हम (उत् अस्थाम) उन्नत दशा को प्राप्त करें । (आयुषा सम्) आयु से सम्पन्न होकर इस लोक में विराजमान रहें और यदि रोग आवे तो (ओषधीनां रसेन) ओषधियों के रसों से (उद्) मृत्यु को दबा कर हम बने रहें । (वि अहं सर्वेण पाप्मना०) इत्यादि पूर्ववत् ।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

भा०—(वयम्) हम (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वर्षा से (आ उद् अस्थाम) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जायँ, मृत्यु को प्राप्त न हों (वि अहं० इत्यादि पूर्ववत्)

इति षष्ठोनुवाकः ।

इति तृतीयं काण्डं समाप्तम् ।

तत्रानुवाकाः षट् चैकत्रिंशत् सूक्तान्यथो ऋचाम् ।
त्रिंशत् शतद्वयश्चैतत् तृतीयं काण्डमिष्यते ॥

अथ चतुर्थं काण्डम्

---

(१) परमेश्वर की उत्पादक और धारक शक्ति का वर्णन ।

वेन ऋषिः । बृहस्पतिरुत आदित्यो देवता । १, ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुभः । २, ५ भुरिजः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

यजु० १३ । ३ ॥ साम० १ । ६२१ ॥ अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(प्रथमं) सबसे श्रेष्ठ (ब्रह्म) परमात्मा महान् शक्ति (पुरस्तात्) सबसे पूर्व (जज्ञानं) प्रकट हुआ, (वेनः) प्रकाशमान् तेजस्वरूप महान् परमेश्वर (सीमतः) इन समस्त लोकों के बीच में व्यापक होकर (सुरुचः) सब प्रकाशमान् लोकों को (वि आवः) प्रकाशित करता है जिस प्रकार सूर्य ग्रहों को प्रकाशित करता है और (सः) वह परमेश्वर (अस्य) इस संसार के (बुध्न्याः) आधारभूत आकाश में प्रकट होने वाली (विष्ठाः)

---

[१] १–अवत्सारऋषिर्यजुर्वेदे ।

सब लोकों को विशेष रूप से स्थिति देने वाली, (उपमाः) सबकी रचना की कारणभूत प्रकृति के उत्पन्न विकृतिरूप महत्तत्व सूक्ष्म और स्थूलभूत आदि सामग्रियों को भी (वि वः) विशेष रूप से उत्पन्न करता है और वह परमेश्वर (सतः च) 'सत्' व्यक्त जगत् के मूल कारण और (असतः च योनिम्) असत् = अव्यक्त, जगत् के अप्रकट मूलकारण को भी (वि वः) प्रकट करता है।

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥

भा०—(पित्र्या) पिता आदि से ज्ञान रूप में प्राप्त, (राष्ट्री) संसार-राष्ट्र की स्वामिनी परमात्म-शक्ति (प्रथमाय जनुषे) विस्तृत या प्राथमिक संसारोत्पत्ति के लिये (अग्रे एतु) आरम्भ में प्रकट होती है। (भुवनेष्ठाः) वह समग्र भुवनों में स्थित है। (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) धारण-पोषण करने वाले उस अनादि पुरुष के लिये, (सुरुचम्) रुचिकर खूब कान्ति युक्त (ह्वारम्) आह्वान के साधनभूत या तप्त (अह्यं घर्मम्) दैनिक घृत को, (श्रीणन्तु) तुम लोग तपा कर शुद्ध करो। उसी प्रकार उसके लिये अपने आत्मा को तप द्वारा प्रकाशित करो।

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥३॥

भा०—(यः) जो (अस्य) इस संसार का (बन्धुः) बांधने, स्थिर करने हारा, प्रिय बन्धु है वह (विद्वान् प्रजज्ञे) समस्त संसार के तत्वों को उत्पन्न करता और जानता है। वही (देवानां) प्रकृति के विकारभूत महत् आदि ३३ देवों के (विश्वा जनिमा) उत्पत्ति के सब प्रकारों को (विवक्ति) वेद द्वारा उपदेश करता है। (ब्रह्मणः) उस महान् जगदुत्पादक पर—ब्रह्म से (ब्रह्म) यह सत्य ज्ञानमय वेद (उत् जभार) उत्पन्न होता है। उस महान् सच्चिदानन्द ब्रह्म से यह ब्रह्माण्ड मय त्रिविध ब्रह्म तीन लोक

उत्पन्न हुए और इसी कारण (स्वधाः) वह स्वयं ही अपने को धारण किये हुए (नीचैः उच्चैः) नीचे और ऊंचे (अभि प्र तस्थौ) सर्वत्र स्थित है।

स हि दिवः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत्।
म॒हान् म॒ही अ॑स्कभा॒यद् वि जा॒तो द्यां स॑द्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥४॥

भा०—(हि) निश्चय से (सः) वह (दिवः) द्यौ लोक, समस्त प्रकाशमान आदित्य के (ऋतस्थाः) सत् कारण में आधार रूप से बैठा है और वही (पृथिव्याः) पृथिवी का भी (ऋतस्थाः) सत्य कारण रूप स्थित है। वही (मही रोदसी) बड़े भारी इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकों को (क्षेमं) इन्हें कुशल बनाये रखते हुए सुखपूर्वक (अस्कभायत्) थामे हुए है। वह स्वयं (महान्) सबसे बड़ा है इसलिये उसने (मही) इन दोनों विशाल लोकों को भी (अस्कभायत्) थाम रखा है और स्वयं ही (वि जातः) नाना शक्तियों से प्रादुर्भूत है। इस कारण (पार्थिवं) सब प्राणियों के आश्रयभूत इस पार्थिव लोक को और (रजः) उन प्रकाशमान सूर्य लोक और (द्यां) द्यौ लोक को भी (सद्म) स्तम्भ जिस प्रकार मकान को थामे रहते हैं, उस प्रकार थामता है।

स बु॒ध्न्या॑दा॑ष्ट्र ज॒नुषो॒ऽभ्यग्रं॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वता॒ तस्य॑ स॒म्राट्।
अह॒र्यच्छु॒क्रं ज्योति॑षो॒ जनि॒ष्टाथ॑ द्यु॒मन्तो॒ वि व॑सन्तु॒ विप्राः॑ ॥५॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर ही (देवता) सबका प्रकाशक और प्रकाशस्वरूप (तस्य) उस जगत् का (सम्राट्) स्वतः प्रकाशक, सबसे बड़ा अधिष्ठाता, महाराज है। वही (जनुषः) उत्पन्न होने हारे इस सृष्टि के (बुध्न्यात्) मूल से लेकर (अभि अग्रम्) चोटी तक (आष्ट्र) व्यापक है। (यत्) जब (ज्योतिषः) प्रकाशमान सूर्य के प्रकाश से (अहः) दिन भी (शुक्रं) प्रकाशमान् (जनिष्ट) उत्पन्न होता है, (अथ) और (विप्राः) मेधावी बुद्धिमान् लोग और ये इन्द्रिय और समस्त लोक भी (द्युमन्तः) प्रकाशयुक्त और ज्ञानवान् होकर (वि वसन्तु) रहते हैं। अगर उसका प्रकाश न होता तो सब अन्धकारमय हो जाता।

नूनं तद॑स्य काव्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑।
ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभि॑ः सा॒कमि॒त्था पूर्वे॑ अ॒र्धे विषि॑ते स॒सन् नु ॥ ६ ॥

भा०—(काव्यः) उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु का बनाया यह काव्य =वेदमय ज्ञानसागर और संसार (नूनं) निश्चय से (अस्य) इस (पूर्व्यस्य) सबसे पूर्व विद्यमान, कारण रूप (देवस्य) देव के (महः धाम) बड़ भारी यश का (हिनोति) वर्णन करता है। (एषः) यह सूर्य या ब्रह्माण्ड भी (बहुभिः) बहुत से और सूर्यों और ब्रह्माण्डों के (साकं) साथ (जज्ञे) उत्पन्न है और यह (पूर्वे) पहले (विपिते अर्धे) अप्रबद्ध रूप में (नु) ही (ससन्) होता है। अर्थात् यह सूर्य और ब्रह्माण्ड पहले अपने 'विषित रूप' रहता है। जिसमें यह पृथक् २ पिण्ड और लोकों में नहीं बंटा उस समय उसका 'केयास' (Choas) का अव्यक्त रूप होता है। उसी को वेद ने 'विपित अर्ध' कहा है।

यो॑ऽथ॒र्वाणं॑ पि॒तरं॑ दे॒वब॑न्धुं बृह॒स्पतिं॒ नम॒साव॑ च॒ गच्छा॑त्।
त्वं विश्वे॑षां ज॒नि॒ता यथास॑ः क॒विर्दे॒वो न दभा॑यत् स्व॒धावा॑न्॥७॥

भा०—(यः) जो (अथर्वाणम्) अथर्वा, अहिंसक सबके परिपालक (पितरम्) सबके उत्पादक, पालक, (देवबन्धुम्) समस्त दिव्य लोकों को बांधने हारे, (बृहस्पतिम्) बड़े २ लोकों के स्वामी प्रभु को (नमसा) आदर अर्थात् भक्ति भाव से या सबके प्राणद अन्न या आश्रयभूत प्राणों के प्राणरूप से (अव गच्छात्) जान लेता है और समझ लेता है कि (त्वं) तू ही हे प्रभो ! (विश्वेषां) सब लोकों का (जनिता) उत्पादक (असः) है, (स्वधावान्) वह स्वधा अर्थात् अमृत को प्राप्त कर स्वयं सबका पोषण करनेहारा, (कविः) लोगों को सत् मार्ग का उपदेश करने वाला होकर, (देवः) स्वयं विद्वान् होकर कभी (न दभायत्) विनष्ट नहीं होता, वह परम सुख को प्राप्त होता है।

---

(२) ईश्वर की महिमा ।

वेन ऋषिः । आत्मा देवता । १–५ त्रिष्टुभः । १ पुरोऽनुष्टुप् । ८ उपरिष्टाज्ज्योतिः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

पूर्वार्धः १० । १२१।२ ॥ उत्तरार्धः १० । १२१ । ३ ॥ यजु० २५।१३।११॥

भा०—प्रभु का वर्णन—(यः) जो (आत्मदा) सब शरीरों में जीवों को प्राण देने वाला, (बलदा) और बल का देने वाला है, (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) सर्वोच्च शासन, आज्ञा की (विश्वे) समस्त लोक (उपासते) उपासना करते हैं और जिसके शासन को (देवाः) देव, प्रकाशमान सूर्य आदि ३३ देव भी पालन करते हैं, (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दो चरण वाले मनुष्य संसार और (यः) जो इस (चतुष्पदः) पशु-संसार का भी (ईशे) प्रभु है, उस (कस्मै) सुखस्वरूप प्रजापति, (देवाय) परम देव के लिये हम (हविषा) नित्य की प्रार्थना उपासना से (विधेम) पूजा अर्चना करें। अथवा (कस्मै) सबके प्रश्न द्वारा ज्ञान करने योग्य, 'सं-प्रश्न' स्वरूप परमेश्वर की हम उपासना करें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

पूर्वार्धः १० । १२१ । ३ ॥ उत्तरार्धः १० । १२१ । २ ॥
यजुषि च ऋग्वेदवत् पाठः । यजु० अ० २५ । ११ । १३ ॥

भा०—(यः) जो (प्राणतः) प्राण लेने वाले अर्थात् स्थावर चेतन का और (निमिषतः) चक्षु आदि इन्द्रियों को खोलने तथा बन्द करने वाले जंगम चेतन का, (जगतः) तथा समग्र जगत् का (महित्वा) अपनी महिमा, बड़ी शक्ति और ऐश्वर्य के कारण ही (राजा बभूव) एकमात्र अधिपति, राजा है। (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ग्रहण करना ही

(अमृतं) मोक्ष है और (यस्य) जिससे परे होना (मृत्युः) मृत्यु, विनाश है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप, आनन्दघन, प्रजापति को हम भक्ति भाव से स्मरण कर उपासना करें।

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै० ॥ ३ ॥

पूर्वार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । ६ ॥
उत्तरार्धः यजु० ३२ । ६ । ऋ० १० । १२१ । २ ॥

भा०—(यं) जिसका आश्रय पाकर उसके (अवतः) रक्षणसामर्थ्य से (क्रन्दसी) समस्त प्राणियों के सुख दुःख के कारणभूत द्यौ और पृथिवी (चस्कभाने) एक दूसरे का आश्रय लिये खड़ी हैं और (यं) जिसको (रोदसी) समस्त द्यौ और पृथ्वी (भियसाने) भय से कम्पमान होकर (अह्वयेथाम्) अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं और (यस्य) जिसके आश्रय पर (असौ) वह परम दूर (पन्थाः) आकाशमार्ग है, और जो (रजसः) समस्त नक्षत्र आदि लोकों का (विमानः) विशेष रूप से उत्पादक है उस (कस्मै) सुखरूप प्रजापति (देवाय हविषा विधेम) देव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै० ॥ ४ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२१ । ५ ॥ यजु० ३२ । ६ ॥
उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ६ । यजु० ३२ । ७ ॥

भा०—(यस्य महित्वा) जिसकी महिमा, विशाल शक्ति से (उर्वी द्यौः) विशाल द्यौलोक, आकाश और (मही पृथिवी) बड़ी भारी पृथिवी और (यस्य) जिसकी विशाल शक्ति से (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष, द्यौ और पृथिवी का मध्य भाग, (विततः) फैला हुआ, स्थिर है और (यस्य महित्वा) जिसकी विशाल शक्ति से (असौ सूरः विततः)

वह सूर्य भी विशेष रूप से व्यवस्थित है (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस परमानन्द रूप, प्रजापति परमदेव की हम भक्ति से उपासना करें।

यस्य॒ विश्वे॑ हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा स॑मु॒द्रे यस्य॑ र॒साामि॒दाहुः।
इ॒माश्च॑ प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १२१ । ४ ॥ यजु० २५ । १२ ॥

भा०—(यस्य महित्वा) जिसकी विशाल महिमा = शक्ति से (विश्वं) समस्त (हिमवन्तः) हिमावृत पर्वत स्थिर हैं और विद्वान् लोग (यस्य) जिसकी महिमा से (समुद्रे) विशाल समुद्र में (रसाम्) नदी को जाता बतलाते हैं, वा जिसकी शक्ति से (समुद्रे) समुद्र या आकाश से घिरी (रसाम्) जलमय पृथिवी को स्थित बतलाते हैं और (इमाः च प्रदिशः) ये लम्बी चौड़ी दिशाएं और उपदिशाएं (यस्य बाहू) जिसकी भुजाओं के समान व्यापक हैं और सबको थामे हैं, (कस्मै० इत्यादि) उस प्रभु की हम भक्ति से उपासना करें।

आपो॑ अग्रे॒ विश्व॑माव॒न् गर्भं॒ दधा॑ना अ॒मृता॑ ऋत॒ज्ञाः।
यासु॑ दे॒वीष्वधि॑ दे॒व आसी॑त् कस्मै॰ ॥ ६ ॥

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२६ । ८ ॥ यजु० २७ । २५ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२१ । ८ ॥ यजु० २७ । २६ ॥

भा०—(अमृताः आपः) न नाश होने वाले अर्थात् अनश्वर 'आपः' अर्थात् प्रकृति सूक्ष्म परमाणु जो (ऋतज्ञाः) इस ऋत = समस्त विश्व का चराचर के उत्पत्तिस्थान हैं वे (गर्भं दधानाः) समस्त जीवन के बीजों को अपने भीतर धारण करते हुए (अग्रे) सृष्टि के पूर्व में अर्थात् प्रलय-काल में भी (विश्वम्) इस समस्त चराचर संसार को (आवन्) अपने भीतर सुरक्षित रखते हैं और (यासु देवीषु) जिन 'आपः' अर्थात् प्रकृति रूप दिव्य शक्ति पर (देवः) परम प्रभु, देव (अधि आसीत्) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है (कस्मै०) इत्यादि पूर्ववत्।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै० ॥ ७ ॥

ऋ० १०।१२१।१॥ यजु० २५।१०॥ अथर्व० २३।३॥

भा०—(हिरण्यगर्भः) गतिमान् एवं प्रकाशमान, स्वर्ण के समान जाज्वल्यमान सूर्यों और आत्माओं को अपने भीतर आश्रय देने वाला, (भूतस्य) इस उत्पन्न विश्व के (अग्रे) आगे (सम् अवर्तत) विद्यमान रहा। वही (एकः पतिः) एकमात्र परिपालक स्वामी (जातः) था, (आसीत्) रहा और रहेगा और (सः) वही (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्यां दाधार) द्यौलोक को भी धारण करता है, (कस्मै०) उस सुखरूप परमानन्द प्रभु की भक्ति से हम उपासना करें ।

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्व आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥ ऋ० १०।१२७।७॥ यजु० २७।२५॥

भा०—वे पूर्वोक्त (आपः) जगत् की मूल, तेजोमय 'आपः' व्यापक, प्रकृति तत्व (वत्सं) हिरण्यगर्भ रूप महान् तेजोमय अण्ड को (जनयन्तीः) उत्पादन करती, बनाती हुई (अग्रे) इस व्यवस्थित सृष्टि के प्रकट होने के पूर्व, (गर्भम्) तेजोमय अण्ड के बीज को (सम् ऐरयन्) प्रेरित करती हैं (उत) और (तस्य जायमानस्य) जब वह हिरण्यगर्भ बनता है तब भी उसका (उल्वः) बाहरी आवरण, उसका घेरने वाला पदार्थ भी (हिरण्ययः) तेजोमय पदार्थ का होता है । यह सब उस प्रभु की महिमा है । (कस्मै०) उस आनन्दघन परम प्रभु की हम भक्ति से उपासना करें।

---

(३) हिंसक जन्तुओं से बचने और उनको वश करने का उपाय ।

अथर्वा ऋषिः । रुद्र उत व्याघ्रो देवता । १ पथ्यापंक्तिः, २, ४-६ अनुष्टुभः, ३ गायत्री, ७ ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद् बृहती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उदितस्त्रयो॑ अक्रमन् व्याघ्रः पुरु॑षो वृक॑: ।
हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग्दे॒वो वन॒स्पति॒र्हिरु॑ङ् नमन्तु॒ शत्र॑वः॥१॥

भा०—व्याघ्र, चोर, सर्प और गोह आदि हिंसक पुरुषों, पशुओं और जानवरों से बचने और उनको वश करने का उपदेश। (इतः) हमारे निवासस्थान और मार्ग से (त्रयः) ये तीनों (व्याघ्रः) व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक मांसभक्षी जीव (पुरुषः) हिंसक, चोर पुरुष और (वृकः) भेड़िया के समान छुप कर आक्रमण करने वाला हिंसक जन्तु (उत् अक्रमन्) परे भाग जायं। (सिन्धवः) नदियां जो ग्रामों को बहा ले जाती हैं वे भी (हिरुक् हि यन्तु) शान्त रूप में प्रवाहित हों, वे उमड़ कर घरों, मकानों और खेतों को न तोड़ें, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) पीपल आदि वृक्ष भी (हिरुक्) भूमि के नीचे ही अपनी जड़ें छोड़ें, वह घर, मन्दिर आदि का विनाश न करें। (शत्रवः हिरुक् भवन्तु) और शत्रुगण भी हम से छुप कर, दबकर, शान्त स्वभाव से रहें।

परे॑णैतु प॒था वृक॑: पर॒मेणो॒त तस्क॑रः ।
परे॑ण द॒त्वती॒ रज्जु॒: परे॑णाघा॒युर॑र्षतु ॥ २ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १९ । ४७ । ८ । प्र० द्वि० ॥

भा०—(वृकः परेण पथा एतु) छुपकर घात करने वाला भेड़िया आदि परले दूर के मार्ग से चला जाय और (तस्करः) चोर आदमी (परमेण एतु) उससे भी परे मार्ग से जावे। (दत्वती रज्जुः परेण) दांतों वाली रस्सी के समान सर्प भी परे ही से जावे और (अघायुः) पापी पुरुष जो हम पर अपना पाप, घात कार्य करना चाहता है ऐसा डाकू भी (परेण पथा अर्षतु) दूर के मार्ग से ही जावे। ये बस्ती में न आने पावें।

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

भा०—व्याघ्र मुकाबले पर ही आ जाय तो उसका कैसे नाश करें। हे (व्याघ्र) व्याघ्र ! (ते च अक्ष्यौ) तेरी आंखों को और (ते च मुखम्) तेरे मुख को (जम्भयामसि) विनाश करें और (आत्) उसके अनन्तर (सर्वान् विंशतिम् नखान्) सब बीसों नखों का भी विनाश करें। अर्थात् पहले व्याघ्र की आंख पर बाण मार कर नाश करे, फिर मुंह पर काबू करे और इसके बाद उसके नखों को काट डाले या उसके आंखों पर और मुंह पर चमड़े का खोपा लगा कर उसके नखों को भी बांध रक्खे या काट दे। इस प्रकार व्याघ्र वश में रह सकता है।

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदुं ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥

भा०—(दत्वतां प्रथमं) दांतों के हथियारों से युक्त पशुओं में सबसे प्रथम = प्रबल (व्याघ्रं) सिंह या बाघ को (जम्भयामसि) हम वश करें (आत्) और उससे उतर कर (यातुधानम्) पीड़ादायक (अहिं) सर्प को (अथो) और भेड़ियों को भी वश करें।

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥

प्रथमार्धः अथर्व० १९ । ४९ । ९ । प्र० १० । च० ॥

भा०—(अद्य) आज जो (स्तेनः) चोर रूप से (आयात) आता है (सः) वह (सं पिष्टः) खूब दण्डित किया जाय तो (अप आयति) वह अपने बुरे मार्ग से हट जाता है। यदि वह (पथाम्) मार्गों में जो (अपध्वंसेन) विनाशकारी बुरे, टूटे खण्डहरों में भी (एतु) जाये तो वहां भी (इन्द्रः) राजा (तम्) उस चोर को पकड़ २ कर (हन्तु) विनाश करे।

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः ।
निम्रुक् ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

भा०—(मृगस्य) हिंसक जीव के (दन्ताः) दांत (मूर्णाः भवन्तु) तोड़ डाले जायं और (पृष्टयः) पसलियां भी (अपि शीर्णाः) खूब तोड़ डालनी चाहियें। हे पुरुष ! तेरे आगे (गोधा) गोह भी (निम्रुक्) नीचे ही नीचे (भवतु) सरके और (शशयुः) सोया हुआ (मृगः) मृग, सिंह, भी (नीचा अयत्) नीचे अर्थात् अधीन हो ।

यत् संयमो न वियमो वियमो यन्न संयमः ।
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

भा०—(यत् संयमः) जिसको एक बार अच्छी प्रकार बांध लिया जाय तो (न वियमः) फिर उसे छोड़ा न जाय और (यत् वियमः) यदि वह छूट गया तो (न संयमः) वह बंधा नहीं, संयम तथा बांधने के दो प्रकार हैं एक तो (इन्द्रजाः) इन्द्र से उत्पन्न अर्थात् शक्तिपूर्वक किसी को वश करें और दूसरा (सोमजाः) सोम = अन्न के आधार पर उसको वश करें। इनमें से (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्र को वश करने का यह प्रकार है कि (आथर्वणम् असि) इसमें जीव का घात न करके उसके बल को तोड़ दिया जाता है ।

---

(४) नपुंसकता को दूर करने के लिये वृष्य ओषधि का प्रयोग।

अथर्वा ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १-३, ८ अनुष्टुभः । ४ पुरोष्णिक् । ६, ७ भुरिजौ । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

भा०—वृष्य ओषधि के प्रयोग का उपदेश । हे ओषधे ! (यां त्वा) जिस तुझ ओषधि को (गन्धर्वः) विद्यावान्, वाचस्पति, कविराज, वैद्य (मृतभ्रजे) नष्टवीर्य, नष्टतेजस् (वरुणाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये (अखनद्) खोद कर प्राप्त करता है (तां त्वा) उस तुझ (शेपहर्षणीं) प्रजनन इन्द्रिय

में हर्ष, पुष्टि उत्पन्न करने वाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खोद कर प्राप्त करें। अध्यात्म में—शेप = ज्ञानवान् आत्मा। वरुण = आत्मा। गन्धर्वः = ब्रह्मवित् ओषधि = कर्मदाहक ज्ञान वल्ली।

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

भा०—(उषाः) प्रातःकाल (उद् एजतु) शरीर के अंगों में उत्तेजना उत्पन्न करता है। (सूर्यः उत्) सूर्य भी शरीर में वीर्य की वृद्धि करता है, (इदं) यह (मामकं वचः) मेरा बलपूर्वक कहा गया वचन भी शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करता है, (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करने वाली (वृषा) वीर्य सेचन में समर्थ, ओषधि विशेष (वाजिना) बलकारक (शुष्मेण) अपने रस से (उद् एजतु) शरीर में वीर्य की उत्तेजना उत्पन्न करे। 'वृषा' शब्द से वृषमेधा, मुस्ता, ऋषभ, एन्द्री, दधिपुष्पी, वासा, मूसाकानी या आखुपर्णी, धान्यामाष, विदारिका, बलिका, आमलकी आदि ओषधियां ली जाती हैं। ये सब वृष्य, वीर्योत्पादक ओषधियां हैं।

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति ।
ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥

भा०—(विरोहतः ते) विशेष प्रकार से पुष्ट शरीर होने वाले तेरे शरीर में (यथा) जिस प्रकार (अभितप्तम् इव) काम प्रवृत्ति से अभितप्त के समान (अनति स्म) चेष्टा करने लग जाय (इयं ओषधिः) यह ओषधि (ते) तेरे शरीर को (ततः) उससे (शुष्मवत्-तरम्) और भी अधिक बलयुक्त करे। ओषधि सेवन से शरीर में वीर्य के उत्पन्न हो जाने पर उसे नष्ट न करें, प्रत्युत और अधिक ओषधि सेवन से और अधिक पुष्ट करें।

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम् ।
सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

भा०—(ऋषभाणाम्) ऋषभ आदि वृष्यगण की (ओषधीनां)

ओषधियों में से यह (शुष्मा) बलकारी औषध बला, (सारा) सबसे अधिक सार वाली, बलप्रद है। हे इन्द्र ! वैद्य ! अथवा हे (तनू-वशिन्) शरीर को अपने वश करने हारे, सदाचारिन् ! (अस्मिन्) इस निर्वीर्य पुरुषों में भी (पुंसां वृष्ण्यम्) पुमान्, वीर्यवान् पुरुषों का सा बल (सं धेहि) धारण करा। औषध की चिकित्सा के साथ २ सदाचार बल भी प्राप्त करना आवश्यक है, नहीं तो प्राप्त हुआ बल सब व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (अपां) जलों, 'अपः' मूल कारणभूत व्यापक तत्वों का (प्रथमः रसः) सबसे श्रेष्ठ रस है, (अथो) और तू (वनस्पतीनां) बनस्पतियों का सार है। (उत) और (सोमस्य) शरीर में उत्पन्न होने वाले वीर्य का (भ्राता) पोषक है, (उत) और (आर्शम्) शूरता के उत्पादक और (वृष्ण्यम्) बलकारी वीर्य सेचन के सामर्थ्य का उत्पादक है।

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अथर्व० का० ६। १०१। ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! आचार्य, हे (सवितः) उत्पादक पिता ! हे (सरस्वती देवि) विद्ये ! हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के विद्वान् पुरुष या परमात्मन् ! (अद्य) आज, अब (अस्य) इस पुरुष के, औषध, सदुपदेश और ब्रह्मचर्य द्वारा (पसः) प्रजननाङ्ग को (धनुः इव) लक्ष्यभेदक धनुष के समान (आ तनय) सामर्थ्य वाला बना दो जिससे यह भी सन्तान प्राप्त करने में समर्थ हो।

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

भा०—(अहं) मैं, सद्वैद्य (ते पसम्) तेरे प्रजनन अङ्ग को ओषधि उपचार से (धन्वनि अधि ज्याम् इव) धनुष पर तनी डोरी के समान

(आ तनोमि) प्रबल, वीर्यसेचन में समर्थ करता हूँ। (ऋश:-इव) जिस प्रकार धनुर्धर हिंसक, वा शिकारी, जीव (रोहितम्) रोहित नामक मृग पर, प्रसन्न होकर वेग से जा पड़ता है उसी प्रकार हे पुरुष ! तू भी (सदा) निरन्तर (अनवग्लायता) ग्लानि रहित, प्रसन्न चित्त से (क्रमस्व) पत्नी के पास जा।

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।

अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

भा०—हे (तनू-वशिन्) शरीर को वश करने में समर्थ ! सद्वैद्य ! (अश्वस्य) अश्व के, (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (पेत्वस्य च) और मेढे के (अथ ऋषभस्य) और बैल के (ये) जो (वाजा:) बल, सामर्थ्य हैं (तान्) उनको (अस्मिन्) इस पुरुष में (धेहि) धारण करा। अथवा अश्व, अश्वतर, अज, पेत्व = मेष, ऋषभ आदि ओषधियों का बल इसमें प्रवेश करा।

---

(५) निद्रा विज्ञान ।

ब्रह्मा ऋषिः । स्वप्नः ऋषभो वा देवता । १, ३—६ अनुष्टुभः । २ भुरिक् । ७ पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।

तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ७ ॥

भा०—आत्मा और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध और सोने जागने का रहस्य। (य:) जो (सहस्रशृङ्ग) सहस्रों, अनन्त किरणों वाला (वृषभ:) जीवन शक्ति का या वर्षा का हेतु सूर्य (समुद्राद्) अन्तरिक्ष या समुद्र से (उद् आचरत्) ऊपर से उठता होता है वह पुनः समुद्र में ही अस्त होता है। (तेन) उस (सहस्येन) शक्तिमय पिण्ड सूर्य के दृष्टान्त से हम

भी (जनान्) मनुष्यों को (नि स्वापयामसि) उसी प्रकार से जागता और सोता पाते हैं। अर्थात् जैसे प्रति दिन प्रातः सूर्य उदित होता है सायंकाल अस्त होता है उसी प्रकार मनुष्य प्रातः उठते हैं रात्रि को सो जाते हैं और जिस प्रकार प्रातः सूर्य में से किरणें सर्वत्र फैलती प्रतीत होती हैं और सायं समय अस्त होते हुए सूर्य बिम्ब में किरणें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा में से ये ज्ञान और कर्म इन्द्रियां प्रादुर्भूत होती हैं और सोते समय पुनः उसमें ही लीन हो जाती हैं। देखो छान्दोग्य और प्रश्न उपनिषदों में 'प्राण-प्रकरण'।

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन ।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥

भा०—सोने के लिये अनुकूल स्थिति। (वातः भूमिं न अति वाति) प्रचण्ड वायु भूमि पर प्रबल वेग से बह कर घर में वेग से प्रवेश न करे और (कः चन) कोई पुरुष (न अति पश्यति) खिड़कियों से न झांके। ऐसे स्थान पर हे इन्द्र ! गृह और राष्ट्र के स्वामिन् ! राजन् ! (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों को (स्वापय) सुलाओ (शुनः च) और कुत्तों को बाहर घर की रक्षा करने के लिये और (इन्द्रसखा) राजा का मित्र पहरेदार सिपाही बराबर (चरन्) पहरा देता हुआ विचरण करे। पहरेदार चोरों का मित्र न हो। अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रसखा = आत्मा का मित्र प्राण (चरन्) बराबर विचरण करता है और सब (स्त्रियः) ज्ञानेन्द्रियों और (शुनः) सब कर्मेन्द्रियों को सुला देता है। (वातः) प्राण भी (भूमिम्) सुषुप्ति दशा को नहीं तोड़ता और कोई भी इन्द्रिय उस समय देख नहीं सकती।

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः ।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥
ऋ० ७ । ५५ । ८ ॥

भा०—शयन काल में इन्द्रियों का शयन । जो स्त्रियां (प्रोष्ठे-शयाः) झूले में सोने की अभ्यासी हैं, जो (तल्पेशयाः) सेज पर सोने वाली हैं और (याः नारीः) जो स्त्रियां (वह्य-शेवरीः) गमन के साधन, पालकी आदि में सोने वाली हैं और (याः स्त्रियः) जो स्त्रियां (पुण्य-गन्धयः) पुण्य, पवित्र गन्ध वाली हैं (ताः सर्वाः) हम उन सबको (स्वापयामसि) रात्रि के काल में सुला दें। अध्यात्म पक्ष में—इन्द्रियों के चार भेद हैं १ प्रोष्ठेशया नाड़ी, जैसे—मुख भाग में रहने वाली वाणी, २ तल्पेशया नाड़ी, जो सोते समय बिस्तर से सट जाती है जैसे त्वचा, पीठ आदि, ३ वह्यशीवरी, जो पैरों में विद्यमान है, ४ पुण्यगन्धि = ज्ञानेन्द्रियां। ये सब उस आत्मा के बल पर उसी में आश्रित होकर सो जाती हैं। नारी-नाड़ियां हैं ।

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

भा०—स्वापकाल में आत्मा की दशा। (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरे) शर्वर—पूर्व भाग के गुजर जाने पर इन्द्र रूप आत्मा मैं—स्वयं (एजत्-एजत्) इस शरीर में जो जो भाग गतिमान् है उस सबको (अजग्रभम्) ग्रस लेता हूँ, अर्थात् मैं उसकी शक्ति को अपने में लीन कर लेता हूँ। (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय को और (प्राणम्) प्राण को भी मैं (अजग्रभम्) अपने में ले लेता हूँ और (सर्वा अंगानि) समस्त अंगों को ही मैं (अजग्रभम्) ले लेता हूँ।

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ६ ॥

भा०—सोने के समय शरीर की महल के समान दशा। (यथा इदं) जिस प्रकार यह शरीर है (तथा हर्म्यम्) उसी प्रकार हर्म्य, महल होता है। अर्थात् (यः आस्ते) जो चलता है, (यः च तिष्ठन्) और जो

खड़ा है, (वि-पश्यति) नाना और विविध रूप देखता है (तेषां अक्षाणि) उन सब की आंखों को (सं दध्मः) सोने के समय हम लगा हुआ पाते हैं। अर्थात् वे सब सो रहे होते हैं। उसी प्रकार शरीर में जो बैठा है जैसे कान, जो चलता है जैसे मन, हाथ, पैर, जो खड़ा है जैसे जिह्वा, नाक आदि, जो देखता है जैसे आंख, उन सब (अक्षीणि) ज्ञान, क्रिया-शक्तियों को (सं दध्मः) एक प्राण में ही हम एकत्र धारण करते हैं।

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ५५ । ५ ॥

भा०—चिति शक्ति, या चेतना की इस देह में दशा। जिस प्रकार माता, पिता, घर का कुत्ता, गृहपति और अन्य सम्बन्धी और अड़ोस पड़ोस के सभी सो जाते हैं और वह गृहिणी पति की सेवा में रत रहकर जागती है उसी प्रकार यह चेतना भी जागती रहती है, इसकी (माता) पार्थिव देह वा ज्ञान इन्द्रियां, (स्वप्तु) सो जायं, (पिता) इसका पालक मस्तिष्क भी (स्वप्तु) सो जाय, (श्वा स्वप्तु) कर्म भी सो जाय, (विश्पतिः) सब इन्द्रिय प्रजाओं का स्वामी मन भी (स्वप्तु) सुषुप्ति दशा में मग्न हो जाय (अस्यै ज्ञातयः) इसके ज्ञाति = जानने हारे, भीतरी प्राण भी (स्वपन्तु) निश्चेष्ट होकर सो जांय और (अभितः स्वप्तु) इसके अड़ोस पड़ोस के शेष अंग भी सो जायं तो भी मुख्य चेतना = श्वास प्रश्वास करती हुई चेती रहती है।

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

भा०—कब तक सोवें ? हे (स्वप्न) हे निद्रावृत्ते! (स्वप्नाभिकरणेन) निद्रा वृत्ति को अभिमुख करके (सर्वं जनम्) समस्त अन्य उत्पन्न होने वाले जनों या इन्द्रिय-वृत्तियों को (नि स्वापय) सर्वथा सुला दो और

(स्वापय) तब तक सुलाओ (आ उत् सूर्यम्) जब तक सूर्य उदित हो उषाकाल तक और तब (अहं) मैं आत्मा (इन्द्रः इव) इन्द्र, ऐश्वर्यशील राजा के समान (अक्षितः) अविनाशी (अरिष्टः) किसी से भी पीड़ित न होकर (जागृताद्) जागूं। मनुष्य को सूर्योदय के पूर्व ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ जाना चाहिये।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

---

(६) विष चिकित्सा ।

गरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १-८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम्

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

भा०—विष चिकित्सा। (ब्राह्मणः) 'ब्राह्मण' नामक ओषधि (प्रथमः) सब ओषधियों में सबसे श्रेष्ठ (जज्ञे) उत्पन्न होता है जो (दश-शीर्षः) दश प्रकार के रोगों का नाशक, (दश आस्यः) दशों अंगों की पीड़ा को बाहर फेंकने वाला है, क्योंकि (सः) वह (प्रथमः) सबसे श्रेष्ठ होने के कारण (सोमं) सोम रस, अमृत की रक्षा करता है (सः) वह (विषं) विष को भी (अरसं) अरस, वीर्यरहित (चकार) कर देता है। ब्राह्मण कन्द 'गृष्टि' नाम ओषधि है जो 'विषपित्त-कफापहा' विषपित्त और कफ रोगों का नाशक है। इसके ही विश्वक्सेना, वाराही, कौमारी, ब्रह्मपत्री, त्रिनेत्रा, अमृत आदि नाम हैं। इसके गुण हैं—

वाराही तिक्तकटुका विषपित्तकफापहा ।
कुष्ठमेहकृमिहरा वृष्या बल्या रसायनी ॥ राजनिघण्टु ॥

इसके अतिरिक्त 'सोम' नाम से कही जाने वाली सोमवल्ली, वाकुची, ब्राह्मी, गुडूची; रीठाकरञ्ज, सौम्या, शठी, भार्गी आदि ओषधियां नाना

प्रकार के विषनाशक हैं, रीठाकरञ्ज और बाकुची विशेष रूप से त्वग्दोष, विष, कण्डू और खर्जू के नाशक हैं।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

प्रथमार्धः यजु० ३८ । २६ । प्र० द्वि० ॥

भा०—वाणी द्वारा विष के प्रभाव को दूर करना। (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (वरिम्णा) विस्तार से (यावती) जितनी बड़ी हैं और (सप्त सिन्धव) सातों समुद्र (यावत्) जितनी दूर तक (वि-तस्थिरे) फैले हैं, उतने विस्तार तक (विषस्य दूषणीम्) विष के विनाश करने वाली, प्रबल (तां वाचम्) उस वाणी को मैं (इतः) इस मुख से (निर अवादिषम्) बोलूं। सर्प के विष को दूर करने की वाणी नाशक प्रयोग से दूर करने की अनेक घटनाएं सुनी जाती हैं ।

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विषं प्रथममावयत्।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

भा०—(गरुत्मान्) पक्षी (सुपर्णः) सुपर्ण = गरुड़ (त्वा) तुझको हे विष ! (प्रथमम्) सबसे पूर्व (आवयत्) खा लेता है। हे विष ! (न अमीमदः) तु उसको नशा और मूर्छा भी उत्पन्न नहीं करता, (न अरूरुपः) और न उसकी चेतना का लोप करता है। (उत) बल्कि (अस्मै) इसके लिये (पितुः) अन्न ही (अभवः) हो जाता है। इसी प्रकार जो पुरुष प्रथम से विष को अपना अन्न का भाग बना लेते हैं उन पर बाद में विष का असर नहीं होता, प्रत्युत विष ही उनका पोषक हो जाता है।

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

भा०—विष से बुझे शस्त्र के घाव की चिकित्सा। हे पुरुष ! यदि (पञ्चांगुरिः) पांचों अंगुलियां जोड़ कर मारने वाले किसी शिकारी या बधिक ने भी (वक्रात् धन्वनः) खूब तान कर गोल किये धनुष से भी

(ते) तेरे शरीर में (विषम्) विष को (आस्यत्) प्रवेश करा दिया है तो भी (अपस्कम्भस्य) 'अपस्कम्भ' नामक ओषधि के (शल्यात्) पत्र से उस विष को (अहं) मैं (निर् अवोचम्) सर्वथा निर्बल करने का उपदेश करता हूँ। 'अपस्कम्भ' ओषधि क्रमुक या लोध्र है। इसका भिल्लतरु, शम्बर, लोध्र रोध्र आदि नाम हैं। इसके गुण—

लोध्रः शीतः कषायश्च हन्ति तृष्णामरोचकम् ।
विषविध्वंसनः प्रोक्तो रूक्षो ग्राही कफापहः ॥ (ध० रा०)

इसका एक भेद 'क्रमुक' है। वह भी गुणों में "चक्षुष्यं विषहृत्" कहा गया है।

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

भा०—विष दूर करने के उपाय—(शल्याद्) शल्य = पत्र या सेहे के कांटे से ही मैं (विषं निरवोचम्) विष को दूर कर सकता हूँ और या (पर्णधेः) पर्णधि नाम लोध्र वृक्ष के (प्र-अञ्जनात्) प्रलेप से (उत) भी विष को दूर करता हूँ। या (अपाष्ठात् शृंगात्) दूर से लाये 'शृंग' अजशृंगी नामक, ओषधि से या (कुल्मलात्) 'कुल्मल' नाम 'पद्म' ओषधि से (अहं) मैं (विषम्) विष को (निर् अवोचम्) दूर करता हूँ। अथवा—(शल्यात्) बाण से, (अपाष्ठात् शृंगात्) टूटे हुए सींग से, (कुल्मलात्) प्राणी के मल से उत्पन्न, (पर्णधेः) विषैले सरकण्डे से और (प्रांजनात्) या विषैले लेप से उत्पन्न हुए विष को भी मैं दूर करता हूँ (सायण)।

अरसस्तं इषो शल्योथो ते अरसं विषम् ।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

भा०—हे (इषो) बाण। (ते शल्यः) तेरा फाला (अरसः) विष रहित हो और (विषम्) तेरा विष भी (अरसम्) विष रहित रहे, (उत) और हे (अरस) निर्विष पदार्थ! (अरसस्य) निर्विष वृक्ष का (ते धनुः)

तेरा धनुष भी (अरसम्) निर्विष ही हो। मनुष्यों को चाहिये अपने बाणों के फले और धनुष निर्विष वस्तुओं के बनावें।

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

भा०—(ये) जो (अपीषन्) विष के पदार्थों को पीसें (ये अदिहन्) जो उसका प्रलेप करें, (य आस्यन्) जो विषमय पदार्थ फेंकें, (ये अवासृजन्) जो विषैले पदार्थ उत्पन्न करें, (सर्वे ते) वे सब (वध्रयः कृताः) राजशासन द्वारा दण्ड के योग्य हों और (विषगिरिः) विष की खानें, संखिया आदि की खानें भी (वध्रिः) राजशासन के प्रबन्ध में (कृतः) किया जाय। इन सबको राजा अपने प्रबन्ध में रक्खे और स्वतन्त्र किसी को न करने दे।

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योपधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते खनितारः वध्रयः) वे विषैले पदार्थों को खोदने वाले पुरुष भी बिना राजाज्ञा के दण्ड के योग्य हों और हे (ओषधे त्वम् वध्रिः असि) विष की ओषधियो ! तुम भी बन्द, सुरक्षित स्थान पर रहो। (सः पर्वतः) वह पहाड़ का भाग (यतः) जिससे (इदं विषं) यह विष (जातम्) उत्पन्न होता है वह भी (वध्रिः) राज्य के कड़े प्रबन्ध में रहे।

---

(७) विष-चिकित्सा का उपदेश।

गरुत्मान् ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। १–३, ५–७ अनुष्टुभः, ४ स्वराट्।

सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

भा०—विष-चिकित्सा। (वरणावत्याम् अधि) वरणा नाम वाली ओषधि से युक्त धारा में बहने वाला (इदं वाः) यह जल है। (तत्र) इस

में (अमृतस्य) अमृत, विष के विनाशक बल का रस (आसिक्तं) सिंचा हुआ रहता है। (तेन) उससे (ते विषम् पारयामि) तेरे विष को दूर करता हूँ।

वरणा नाम ओषधि धन्वन्तरि, राजनिघण्टु के अनुसार 'वरा' ओषधि है। पाठा, वन्ध्या कर्कोटकी, विडङ्ग, हरिद्रा, काकमाची और उसके दोनों भेद काकजंघा और चूडामणि और अरणी ये ओषधियां भी 'वरा' कहाती हैं। ये सब विषनाशक हैं। इनके अंश से युक्त जल से विष का नाश करना चाहिये। इसके अतिरिक्त पृथिवी 'वरा' कहाती है। मिट्टी के प्रलेप से भी सर्प, वृश्चिक, ततैया आदि के विष दूर होते हैं।

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम्।
अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥

भा०—(प्राच्यं विषम्) प्राची दिशा के देशों के जन्तु और ओषधियों के नाना प्रकार के विष और (यद् उदीच्यं) जो उत्तर दिशा के विष हैं वे भी (अरसं) निर्बल हो जाते हैं (अथ) और (इदम्) यह (अधराच्यम्) नीचे भूमि में सरकने वाले कीट पतंगों का विष भी (अरसं) निर्बल हो जाता है परन्तु यह सब (करम्भेण विकल्पते) विष को शान्त करने की ओषधियों का लेप और मिश्रण और पान करने योग्य द्रव्यों की मात्रा और बलाबल के भेद से भिन्न २ बल का विष शान्त होता है। अथवा, शरीर में आड़ा फैलने वाला विष जो उस स्थान पर सूजन कर दे 'प्राच्य' है, ऊपर सिर की ओर फैलने वाला विष 'उदीच्य' और पैरों की ओर नीचे जाने जाने वाला विष 'अधराच्य' है। अथवा 'प्राच्य' बहुत तीव्र, 'उदीच्य' मध्यम और 'अधराच्य' न्यून बल है। अथवा वातोल्वण विष 'प्राच्य' और पित्तोल्वण 'उदीच्य' तथा कफोल्वण विष 'अधराच्य' है।

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदाराथिम्।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥ ३ ॥

भा०—हे (दुःतनो) बुरी तरह से शरीर में फैलने वाले या शरीर को विकृत करके दुःख देने वाले विष ! यदि (पीवः-पाकम्) मेद तक को पका डालने और (उद्-आरथिम्) शरीर को सुजा डालने वाले या बहुत अधिक पीड़ा के जनक (त्वा) तुझ विष को कोई पुरुष (क्षुधा) भूख से प्रेरित होकर, पेट भर कर भी खा जाय तो भी (तिर्य) धान या चावलों का (करम्भम्) मिश्रण (कृत्वा) करके (जक्षिवान्) खाले तो (सः न रूरुपः) वह मूर्छित न हो। 'करम्भ ओषधे भव पीवोवृक्क उदारथिः। वातापे पीव इद्भव' इति ऋग्वेदे। पैप्पलादशाखा के पाठ के अनुसार— "करम्भं कृत्वा निर्पं पीवस्पाकमुदाहृतम्।" निरय' नामक धान्य का चावल बना हुआ 'पीवस्पाक' मेद बढ़ाने वाला पुष्टिकर कहा है। (दुष्टनो क्षुधा किल त्वा जक्षिवान्) हे दुस्तनो धान्य ! तुझको जो भूख से पेट भर के खा लेता है (सः न रूरुपः) वह विष से दूषित नहीं होता। 'निरप' नामक शालि के गुण—

"निरपो मधुरः स्निग्धः शीतलो दाहपित्तजित्।
त्रिदोषशमनो रुच्यः पथ्यः सर्वामयापनुत्।"

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

भा०—मदकारिणी ओषधियों के विषों का उपचार। हे (मदावति) मदकारी ओषधे ! (ते मदम्) तेरे मद को (शरम् इव) बाण के समान (पातयामसि) दूर करते हैं और हे विष ! (चरम् इव) दूत गुप्तचर के समान (येषन्तम्) अङ्ग २ में फैलने वाले (त्वा) तुझको (वचसा) वाणी से (प्र स्थापयामः) दूर भेज देते हैं। अर्थात् जैसे डोरी की टकार से बाण दूर चला जाता है और जिस प्रकार स्वामी की आज्ञा सुनकर गुप्तचर दूर देश में चला जाता है उसी प्रकार हमारी वाणी के प्रयोग से मद उतर जाय। अथवा =(येषन्तं चरम् इव) जिस प्रकार उबलती हुई

हंडिया में शीतल पानी डाल कर या आग से उतार कर रख देने से वह उबलना बन्द कर देती है उसी प्रकार शरीर में तीव्रता से उफनते हुए विष को हम अपने तीव्र वचन-प्रयोग से (प्र स्थापयामसि) थाम लें।

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

भा०—(ग्रामम् परि) ग्राम भर में (आचितं) फैले हुए अराजकता या दंगे को जिस प्रकार राजा अपने शासन से एक ही बार रोक देता है उसी प्रकार हम विषवैद्य तुझ विष को, (वचसा स्थापयामसि) अपनी प्रभावजनक वाणी द्वारा स्थित कर दें, शरीर में फैले हुए विष को घातक प्रभाव करने से रोकें। हे पुरुष ! तु (अभ्रि-खाते) कुदाले से खोदे हुए (स्थाम्नि) गढ़े में (वृक्ष इव) दरख्त के समान (तिष्ठ) गढ़ कर खड़ा हो जा, (न रूरुपाः) इससे तू मूछित न होगा। शब्द का प्रभाव विष उतारने, उसको रोकने आदि में प्रायः देखा गया है। पृथिवी में गढ़ा खोदकर उसमें गले तक गाढ देने से भी पृथिवी विष चूस जाती है। देखो डा० जुस्ट की मिट्टी-चिकित्सा।

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

भा०—हे (अभ्रिखाते) कुदाल से खोदी गई ओषधि (त्वा) तुझको (पवस्तैः) वस्त्रों या छालों और (दूर्शेभिः) ऋक्ष या व्याघ्रछालाओं (उत) और (अजिनैः) मृगछालाओं के बदले में (पर्यक्रीणन्) परस्पर बेचते खरीदते हैं। इसलिये तेरा नाम (प्रक्रीः) 'प्रक्री' भी है। तेरे प्रयोग से भी (न रूरुपः) विषार्त रोगी मूर्छा को प्राप्त नहीं होता। 'प्रक्री' ओषधि का धन्वन्तरि राजनिघण्टु में, 'प्रकीर्य' नाम है। इसके पांच भेद हैं करञ्ज, उदकीर्य, अंगारवल्ली, गुच्छकरंज, रीठाकरंज। ये भी विषनाशक एवं कुष्ठ, कण्डू और स्फोट तथा त्वग्दोष के नाशक हैं।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥ ७ ॥

अथर्व० ५ । ६ । २ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (ये) जो (वः) तुम लोगों में से (अनाप्ताः) अनाप्त अर्थात् विद्या-पारंगत नहीं हैं वे, (यानि) जो (प्रथमा) प्रथम २ प्रारम्भिक वा मुख्य (कर्माणि) चिकित्सा कर्म, (चक्रिरे) करते हैं वे (अत्र) इस चिकित्सा कार्य में (नः) हमारे (वीरान्) पुत्रों, पुत्रों को (मा दभन्) कष्ट न पहुँचावें ।

---

(८) राज्याभिषेक योग्य राजा का वर्णन ।

अथर्वाङ्गिराः ऋषिः । राज्याभिषेकम् । चन्द्रमाः आपो वा देवताः । १, ८ भुरिक्-त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् । ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । २, ४, ६ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥१॥

भा०—राजसूय यज्ञ द्वारा राज्य शासन । (भूतः) जो पुरुष स्वयं सामर्थ्यवान् होकर (भूतेषु) अन्य समृद्ध, समर्थ पुरुषों पर भी (पयः) अपना वीर्य, पराक्रम (आ दधाति) स्थापन करता है (सः) वह ही (भूतानाम्) प्राणियों का (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) होता है । (तस्य) उसके (राज-सूयं) राजसूय, राजाओं पर जमने वाले शासन, प्रभुत्व को (मृत्युः) मृत्यु दण्ड देने का सामर्थ्य ही स्वयं (चरति) सम्पन्न करता है । (सः) वह (राजा) राजा, प्रजा के मनों का अनुरंजक होकर (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) स्वीकार करे ।

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

अथर्व० २ । ७ । १६ ॥

भा०—हे राजन्! (अभि प्रेहि) तू सबके समक्ष अग्रासन पर आ। (मा अप वेनः) तू तुच्छ कामना से अपनी शोभा कम मत कर, अपनी शान मत बिगाड़। तू स्वयं (उग्रः) सदा उद्यत दण्ड होकर (चेत्ता) राष्ट्र कार्यों के समस्त विभागों को जानने हारा, विद्वान् बन कर (सपत्न-हा) शत्रुओं का नाशक हो। हे (मित्र-वर्धन) अपने मित्र राजाओं की संख्या बढ़ाने हारे राजन्! (आ तिष्ठ) सिंहासन पर विराजमान हो। (तुभ्यं) तेरे लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अधि ब्रुवन्) उत्तम राजनैतिक उपदेश, उत्तम मन्त्रणा दें।

आ तिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ् छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥३॥
ऋ० ३। ३८। ४॥ यजु० ३३। २२॥

भा०—हे राजन्! (आ-तिष्ठन्तं) राज्य सिंहासन पर बैठे हुए तुझ को, (विश्वे) समस्त विद्वान् प्रजागण (परि अभूषन्) चारों ओर से घेर कर सभा में विराजमान हों और तू (स्व-रोचिः) स्वयं प्रकाश, सूर्य के समान (श्रियं वसानः) राजलक्ष्मी को धारण करता हुआ (चरति) सर्वत्र विचरण कर या राज्य भोग। (वृष्णः) प्रजा पर नाना सुखों के वर्षक और (असुरस्य) शत्रु नाशक बलवान् राजा का ही (तत् महत् नाम) वह बड़ा यश, बल है कि (विश्व-रूपः) राष्ट्र के समग्र अधिकारियों में नाना रूप होकर वह (अमृतानि) अमर नामों, पदों और यशों को (आतस्थौ) प्राप्त करता है।

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥

भा०—हे राजन्! (वैयाघ्रे) व्याघ्र के स्वभाव वाले पुरुष पर (व्याघ्रः) बाघ बन कर तू (वि-क्रमस्व) चढ़ाई कर और इसी प्रकार (महीः दिशः) विशाल दिशाओं में अपना चतुर्दिगन्त (वि क्रमस्व) विजय

कर। (त्वा) तुझे (सर्वाः विशः) समस्त प्रजाएं जो नगर में आकर बसी हैं (पयस्वतीः) अन्न और पशु, दुग्ध और अमृत को प्राप्त करने वाली, हृष्ट पुष्ट (दिव्याः आपः) और द्यौलोक आकाश से आने वाली वर्षा के समान उपकारी, आप्त प्रजाएं भी तुझे अपना राज्य स्वीकार करें। मेघ तेरे राष्ट्र में वृष्टि करे, अकाल, दुर्भिक्ष न हों, प्रजाएं हृष्ट पुष्ट हों।

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम्।
तासां॑ त्वा॒ सर्वा॑साम॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा॥ ५॥

भा०—(याः) जो (दिव्याः) दिव्य गुण वाली (आपः) जलधाराएं या आप्त प्रजाएं, (पयसा) अपने पुष्टि, आरोग्यकारक जल और बल से, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उत वा) अथवा (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (मदन्ति) प्राणियों को हृष्ट पुष्ट करती और स्वयं प्रसन्न रहती हैं, (तासां सर्वासां) उन सबके (वर्चसा) तेज से (त्वा) तुझे (अभि षिञ्चामि) राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त करता हूँ। सब तीर्थों के और सब प्रकार के जलों से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को स्नान कराया जाता है।

अ॒भि त्वा॒ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः।
यथासो॑ मि॒त्रवर्ध॑न॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत्॥ ६॥

भा०—हे राजन्! (त्वा) तुझे (पयस्वतीः) पुष्टिदायक सार पदार्थों से युक्त, (दिव्याः) दिव्य-गुणसम्पन्न (आपः) जलों और आप्तजनों ने (वर्चसा) अपने तेज से जो (अभि असिचन्) सब प्रकार से या सबके समक्ष स्नान कराया है इसका तात्पर्य यही है कि तू (यथा) जिस प्रकार से हो सके (मित्रवर्धनः असः) स्नेह करने वाले राजा और प्रजा, सामन्तों और अधिकारियों की वृद्धि करे (सविता) सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक पिता परमात्मा (तथा) उस प्रकार वा (त्वा करत्) तुझे बनावे।

ए॒ना व्या॒घ्रं प॑रिषस्वजा॒नाः सिं॒हं हि॑न्वन्ति मह॒ते सौभ॑गाय।
स॒मु॒द्रं न सु॒भुव॑स्तस्थि॒वांसं॑ मर्मृ॒ज्यन्ते॑ द्वी॒पिन॑म॒प्स्व॒न्तः॥ ७॥

भा०—(एनाः) ये समस्त प्रजाएं जिनकी प्रतिनिधि ये समस्त जल-धाराएं या 'आपः' हैं वे (व्याघ्रम्) बाघ के समान पराक्रमी और (सिंहम्) सिंह के समान शूरवीर को (परिषस्वजाना) आश्रय करती हुई (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, राजसिंहासन पर बैठ कर शासन कार्य के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करती या जिस प्रकार (तस्थिवांसम्) स्थिर, गम्भीर (समुद्रम्) समुद्र को समस्त नदी आदि जल से पूर्ण करते हैं, उसी प्रकार (सु-भुवः) उत्तम भूमियां (द्वीपिनं) शार्दूल के समान पराक्रमी और (अप्सु अन्तः तस्थिवांसं) अभिषेक जलों के समान उत्तम प्रजाओं के बीच खड़े हुए राजा को (मर्मृज्यन्ते) अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्नान कराती हैं और छत्र, चामर आदि से सुशोभित करती हैं।

---

(९) अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन।

भृगुर्ऋषिः। त्रैककुदमञ्जनं देवता। १, ४-१० अनुष्टुभः। ककुम्मती। ३ पथ्यापंक्तिः दशर्चं सूक्तम् ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

भा०—अञ्जन के दृष्टान्त से ज्ञान का वर्णन। जिस प्रकार अञ्जन (अस्य पर्वतस्य) इस पर्वत का विकार होकर (अक्ष्यम्) चक्षुओं के लिये हितकारक है और उसी प्रकार हे सर्व प्रकाशक विवेकरूप ज्ञानाञ्जन! तू (जीवं त्रायमाण) इस जीव के आत्मा की या प्राणियों की रक्षा करता हुआ (अस्य) इस (पर्वतस्य) परम पूर्ण, सबके परिपालक परमात्मा से प्राप्त होकर, जीव के लिये (अक्ष्यम् असि) इस अन्धकारमय संसार में हितकर है और (विश्वेभिः) समस्त (देवैः) विद्वानों ने (दत्तं) उपदेश किया है और वस्तुतः (जीवनाय) जीवन भर के लिये (परिधिः) परकोट के समान प्राण-रक्षक है।

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

भा०—हे ज्ञानरूप अञ्जन ! सब पदार्थों के प्रकाशक ! तू (पुरुषाणाम्) मनुष्यों का रक्षक और (गवाम्) गौओं, पशुओं, ज्ञान-इन्द्रियों का भी (परिपाणम्) रक्षक (असि) है और (अर्वतां) इधर उधर चलने फिरने हारे अश्वों और उनके सदृश प्राणेन्द्रियों के भी (परिपाणाय) रक्षा के लिये तू सदा (तस्थिषे) उद्यत रहता है ।

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्था थो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥३॥

भा०—हे (आञ्जन) अञ्जन के समान चक्षु को अज्ञान रूप तामस रोग से विनिवृत्त करने हारे, सर्व-प्रकाशक ज्ञानाञ्जन ! (उत) और (यातुजम्भनम्) समस्त मानस और शारीरिक पीड़ाओं को रोक कर उनसे तू (परिपाणम्) रक्षा करने हारा (असि) है। (उत) और (त्वं) तू (अमृतस्य वेत्ता असि) मोक्ष-सुख का ज्ञापक वा मोक्ष कराने वाला है। (अथो) और सत्य बात तो यह है कि (जीव भोजनम्) जीवों के लिये भोजन के समान पुष्टिकारक, प्राणाधार और आत्मा का अभ्यन्तर मानस-भोजन. समस्त भोगप्रद (असि) है। (अथो) और तू ही (हरित-भेषजम्) नये लाये ताजे रस वाले वा पीतिमा रोग के नाशक औषध के समान सब भवरोगों वा भ्रमात्मक ज्ञानों की चिकित्सा कर देता है।

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥
ऋ० १० । ९७ । १२ । यजु० १२ । ८६ ॥

भा०—हे अज्ञान-नाशक ज्ञानाञ्जन ! स्वयंप्रकाश ! (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अंग २ में और (परुः परुः) पोरू २ में तू (प्र-सर्पसि) औषध की न्यांईं व्याप जाता है वहां २ से (यक्ष्मं वि बाधसे) पीड़ा-

जनक अज्ञान रोग को नष्ट कर देता है । तू सचमुच (मध्यमशीः-इव) अन्तरिक्ष में व्यापक वायु एवं शरीर में व्यापक प्राण अथवा मध्यम राजा के समान (उग्रः) बड़ा बलवान् है । इस कारण जीवन के प्रत्येक भाग में से भव-बन्धनों को काट डालता है और सब प्रकार से सुखी कर देता है ।

नैनं॑ प्राप्नोति श॒पथो॑ न कृ॒त्या ना॑भि॒शोच॑नम् ।
नैनं॒ विष्क॑न्धमश्नुते॒ यस्त्वा॒ बिभ॑र्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! प्रकाशस्वरूप ! (यः त्वा बिभर्त्ति) जो तुझे धारण करता है (एनं शपथः न प्राप्नोति) उसको किसी का दुर्वचन नहीं लगता । (न कृत्या) उसको किसी की बुरी चाल नहीं सताती । (न अभि-शोचनम्) उसको किसी का कोसना नहीं लगता । (एनं वि-स्कन्धं न अश्नुते) उसको किसी का षड्यन्त्र या सेनाबल भी पीड़ा नहीं देता ।

अ॒सन्म॒न्त्राद् दु॒ष्वप्न्या॑द् दु॒ष्कृता॒च्छम॑लादु॒त ।
दु॒र्हार्द॒श्चक्षु॑षो घो॒रात् तस्मा॑न्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! तू (नः) हमें (असत्-मन्त्रात्) दुष्ट पुरुषों की दुष्ट सलाहों और कुचोदनाओं, दुर्विचारों, दुर्मन्त्रणाओं से, (दुः-स्वप्न्याद्) बुरे २ स्वप्नों से, (दुष्कृतात्) दुराचारों से, (उत) और (शमलाद्) पाप कर्म से और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले पुरुष की (घोरात्) पापमय, भयंकर (चक्षुषः) आंखों से भी (पाहि) बचा; हमारी रक्षा कर ।

इ॒दं वि॒द्वाना॑ञ्जन स॒त्यं व॑क्ष्यामि॒ नानृ॑तम् ।
स॒नेय॒मश्वं॒ गाम॒हमा॒त्मानं॒ तव॑ पूरुष ॥ ७ ॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । ९७ । ४ (प्र० द्वि०) ॥ यजु० १२ । ९८ प्र० द्वि० ॥

भा०—हे (आ-अञ्जन) अञ्जन के समान भीतरी आंख खोल देने वाले ज्ञान ! (इदं विद्वान्) इस सब बात को जानता हुआ मैं (सत्यं वक्ष्यामि) सत्य ही बोलूं, (न अनृतम्) झूठ न बोलूं । हे (पुरुष)

ज्ञानमय आत्मन् ! विद्वन् ! (तव) तेरे लिये (अश्वं गाम्) अश्व और गौ और (आत्मानं) अपने को भी (अहं) मैं (सनेयम्) समर्पित कर दूं पर तेरी अवश्य रक्षा करूं ।

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

भा०—(आ-अञ्जनस्य) इस ज्ञानरूप अञ्जन के (त्रयः दासाः) तीन दास अर्थात् विनाश करने योग्य पदार्थ हैं, प्रथम (तक्मा) कष्टमय जीवन और दुःखमय जीवन, (बलासः) आत्मा का बलनाशक निराशावाद और (आत् अहिः) उससे उतर का सर्प के समान तप और यशः-शरीर पर आघात करने वाला, विषय-वासनामय काम इन तीनों का ज्ञानरूप वज्र विनाशक है, लोक में अञ्जन के द्वारा ज्वर, अतीसार और विषविकार नष्ट होते हैं। हे ज्ञानरूप अञ्जन ! (ते पिता) तेरा पिता पालक (पर्वतानां) पर्वतों में से, पालना करने में समर्थों में से (वर्षिष्ठः) ज्ञान-जल का वर्षाने वाला, सबसे अधिक वृद्ध और सबसे अधिक समर्थ (त्रिककुद्) त्रिककुत्, तीनों लोकों में श्रेष्ठ, त्रिनेत्र रूप, त्रिअम्बक सूर्य और 'भूः भुवः स्वः' स्वरूप वेदत्रयी प्रसिद्ध है। वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिगुणं त्रिपुरं वपुः। शि० पु०।

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वाञ् जम्भयत्सर्वांश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

भा०—(हिमवतः परि) हिम के समान शुद्धकर्म तथा शुद्धाचारी पुरुष से भी ऊपर (त्रैककुदम्) जो वेदत्रयी है, उससे (जातम्) उत्पन्न (यद्) जो (आञ्जनं) ज्ञानमय अञ्जन है वह (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ादायक विषयों और (सर्वांश्च यातुधान्यः) सब योग-विघ्नकारिणी दुर्वृत्तियों को (जम्भयाते) विनाश कर देता है।

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

भा०—हे ज्ञानाञ्जन ! (यदि वा त्रैककुदम् असि) चाहे तेरा नाम 'त्रैककुद' अर्थात् तीनों वेदों से उत्पन्न ज्ञान रूप है। (यदि वा यामुनम् उच्यसे) और चाहे तू 'यामुन' यम, नियम साधना से योगजरूप में उत्पन्न होकर 'यामुन' कहाता है। (ते) तेरे (उभे) वे दोनों (भद्रे) कल्याण और सुखकर उत्तम (नाम्नी) स्वरूप हैं, (ताभ्यां) उन दोनों से (नः) हमें (पाहि) पालन कर। यहां लोक में प्रसिद्ध दो प्रकार के अञ्जनों का भी उपदेश कर दिया।

---

(१०) शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः। शंखमणिशुक्रयो देवताः। १-५ अनुष्टुभः, ६ पथ्यापंक्तिः, ७ पञ्चपदा परानुष्टुप् शक्वरी। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—शंख के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन। (वातात् जातः) प्राण-बायु से शरीर में प्रकट हुआ, (अन्तरिक्षात् जातः) अन्तरिक्ष = हृदयाकाश में प्रकट, (विद्युतः ज्योतिषः परि) विद्युत् की ज्योति के स्वरूप में योगाभ्यास द्वारा साक्षात् किया गया, वह (कृशनः) मुक्ता के समान अति सूक्ष्म, उज्ज्वल, सब दुःखों का विनाशक, (हिरण्यजाः) सबसे रमण करने योग्य आत्मरूप में प्रकट हुआ (शंखः) शान्तिमय कल्याण मार्ग को स्वयं खोजने और प्राप्त करने वाला आत्मा ही (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे।

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार समुद्र से शंख उत्पन्न होता है और उसका नाद बजा कर योद्धा राक्षसों शत्रुओं पर विजय पाता है उसी प्रकार (यः) जो

(रोचनानां) कान्तिमान् इन्द्रियों के (अग्रतः) पूर्व, सर्वश्रेष्ठ (समुद्राद्) सब आनन्द रसों के सागर, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म परमात्मा से ही (अधि जज्ञिषे) ज्ञान प्राप्त करता है उस (शंखेन) आत्मा रूप शंख से (रक्षांसि) विघ्नों, या व्युत्थानकारी मानस विक्षोभों को और (अत्रिणः) आत्मा की विभूतियों के विनाशक विषयों या विषमभोगी इन्द्रियों को (वि सहामहे) नाना प्रकार से वश करते हैं। आत्मा के ज्ञानमय, अनाहत शंखनाद से विषय वासना नष्ट होती है और अन्तर्वृत्ति होकर इन्द्रियां वश में होती हैं।

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

भा०—(शंखेन) शंख = सुख के अभिलाषी या कल्याणस्वरूप उस आत्मा के स्वरूपज्ञान से हम (अमीवाम्) सब रोगों को और (अमतिं) अज्ञान को और उसी (शंखेन) कल्याणमय सुख रूप आत्मा से (सदान्वाः सदा कष्टदायिनी दुष्ट पीड़ाओं को भी वश कर लेते हैं। वही (शंखः) शंख, आत्मा (नः) हमारे (विश्वभेषजः) सब रोग पीड़ाओं की एकमात्र ओषधि है। वह (कृशनः) सब दुःखों का नाशक, सूक्ष्मतम आत्मा (नः) हमें (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे।

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

भा०—(समुद्र-जः) उस परब्रह्म रूप आनन्दसागर से अपना आनन्दांश लेने वाला, (सिन्धुतः परि आ-भृतः) उस दया, आनन्द, चेतना और ज्ञान के सिन्धु से सब प्रकार से पालित पोषित, (हिरण्य-जाः) अभिराम, उस परम सीमा के आश्रय पर जीवित वह (शंखः) कल्याणरूप आत्मा (मणिः) ज्ञानवान् होकर, मणि के समान स्वयंप्रकाश होकर (आयुः-प्रतरणः) इस आयु या जीवन में पार उतार देता है, भवसागर से तरा देता है।

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

भा०—वह शंख रूप आत्मा (मणिः) प्रकाशस्वरूप होकर भी (समुद्रात्) समुद्र से उत्पन्न मणि के समान उस ज्ञान और ज्योति के परम सागर से (जातः) ज्ञान और ज्योति को प्राप्त करता है और (वृत्रात् जातः दिवाकरः) जिस प्रकार मेघ के आवरण से मुक्त होकर सूर्य अपने तापकारी किरणों से चमकने लगता है उसी प्रकार अज्ञान के आवरण से मुक्त होकर आदित्य रूप होकर वह आत्मा चमकने लगता है। वह आदित्य रूप ज्ञानवान् आत्मा (देवासुरेभ्यः) देवों = ज्ञानइन्द्रियगण और असुर = प्राणेन्द्रियों से हमें अपने (हेत्या) विषयवासनाओं को मार गिराने वाले ज्ञानवज्र द्वारा (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

हिरण्यानामेकोसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

भा०—हे (दर्शत) दर्शनीय ! योग समाधि द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य एकमात्र दर्शनीय आत्मन् ! तू (हिरण्यानाम्) अभिराम, रमणीय एवं कान्तिमान् या चेतनावान् इन्द्रियगणों में, ताराओं में सूर्य के समान उनका भी प्रकाशक (एकः, असि) एक अद्वितीय है। (सोमात्) सबके उत्पादक एवं प्रेरक, ज्ञानमय, चेतनामय और आनन्दमय परब्रह्म से (अधि जज्ञिषे) आनन्द प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है। (रथे) इस देहमय रथ में विराजमान होकर (दर्शतः त्वम् असि) तू दर्शनीय है और (इषु-धौ) इषु = मनः-कामनाओं के धारण करने हारे मन पर भी वश करके (रोचनः) उससे अधिक कान्तिमान् होकर (त्वं) तू (नः आयूंषि) हमारे आयुओं, जीवनों को (तारिषत्) तरा देता है, सफल कर देता है।

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय।
शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

भा०—हे शिष्य ! वह आत्मा (कृशनं) अति सूक्ष्म होकर भी (देवानाम् अस्थि) देव अर्थात् इन्द्रियगणों का प्रेरक (बभूव) है। (तत्) वही आत्मा (आत्मन्वत्) अपने अधीन इस देह में और (अन्तः, अप्सु) सर्वविचारों में और क्रियाओं में (चरति) विचरा करता है। उस आत्म-रूप मणि को मैं आचार्य, हे शिष्य ! (ते) तेरे (आयुषे) दीर्घ जीवन, (वर्चसे) ब्रह्मचर्य और (बलाय) बल सम्पादन के लिये और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष दीर्घ जीवन के लिये (बध्नामि) बांधता हूँ। उपनयन के समय उसका तुझे उपदेश करता हूँ। वह (कर्शनः) सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सब कष्टों का विनाशक आत्मा (त्वा अभिरक्षतु) तेरी सब प्रकार से रक्षा करे।

'आत्मा' से परमात्मा का भी साथ २ वर्णन हो गया है। जैसे आत्मा का यह देह है, वैसे ही ब्रह्म का ब्रह्माण्ड देह है इस देह के देव इन्द्रिय गण और उसके लोक लोकान्तर इत्यादि, विराट् रूपक जानना चाहिये। आत्म-ज्ञान के साथ २ परमात्मा का दर्शन भी होता है अतः मर्मज्ञ ऋषियों की वाणी में आत्मा परमात्मा का समान वर्णन होता है।

इति द्वितीयोऽनुवाकः।

---

(११) जगदाधार परमेश्वर का वर्णन।

भृग्वंगिराः ऋषिः। अनड्वान् देवता। १, ४ जगत्यौ, २ भुरिग, ७ व्यवसाना षट्पदानुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जगती। निचृच्छक्वरी, ८–१२ अनुष्टुभः।

द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्व१न्तरिक्षम्।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥१॥

भा०—विश्व के धारक परमेश्वर का वर्णन। (अनड्वान्) अनः—ब्रह्माण्डरूप यज्ञ को धारण करने वाला या विश्वमय शकट को उठाने

वाला वह परमेश्वर (पृथिवीम्) इस पृथिवी को (उत) और (द्याम्) द्यौलोक को (दाधार) धारण करता है और वही (अनड्वान्) ब्रह्माण्ड रूप शकट को धारण करने वाला, (उरु) महान्, विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (दाधार) धारण कर रहा है। (अनड्वान्) वह सर्वशक्तिमान्, ब्रह्माण्ड का स्वामी (षट्) छहों (उर्वीः) विशाल (प्रदिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर की दिशाओं को भी (दाधार) धारण कर रहा है। (अनड्वान्) वही विश्वधारक प्रभु (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) इस उत्पन्न जगत् में आ (आ विवेश) व्यापक है।

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

भा०—पूर्वोक्त 'अनड्वान्' का इन्द्र रूप से वर्णन। वह (अनड्वान्) विश्व के धारण करने हारा (इन्द्रः) सकल ऐश्वर्यसम्पन्न, सूर्यवत् स्वयंप्रकाश, (पशुभ्यः) समस्त जीवों के हित के लिये (विचष्टे) प्रकाशित होता है। वही (शक्रः) सर्व शक्तिमान् (त्रयान् अध्वनः) तीनों लोकों को, वा अविच्छिन्न रूप से जीवों के कर्मफल भोगने के सात्विक, तामस और राजस तीन प्रकार के मार्गों को (वि मिमीते) निर्माण करता है और वही (भूतं) भूत-काल और (भविष्यत्) भविष्यत्काल में उत्पन्न होने वाले (भुवना) समस्त लोकों को (दुहानः) पूर्ण करता हुआ (देवानां) विद्वानों के समस्त कार्यों को (चरति) सम्पादित कर रहा है।

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनुडुहो विजानन् ॥ ३ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (मनुष्येषु अन्तः) मननशील, ज्ञानी पुरुषों के भीतर, हृदय में (जातः) प्रकट होता है। वह (तप्तः) संतप्त (घर्मः) प्रकाशमान सूर्य के समान (शोशुचानः) निरन्तर देदीप्यमान होकर

(चरति) सर्वत्र व्यापक है। (वि-जानन्) ऐसा जानता हुआ इस विश्व में रह कर (न अश्नीयात्) जो पुरुष विषयों का भोग नहीं करता वह (सुप्रजाः सन्) उत्तम प्रजा से युक्त होकर (उद-अरे) देहत्याग के अनन्तर (न) नहीं (सर्दत्) भटकता, संसार में सरण नहीं करता।

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक एनं प्याययति पवमानः पुरस्तात्।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥४॥

भा०—(सु-कृतस्य लोके) पुण्य के लोक में (अनड्वान् दुहे) वह विश्वधारक प्रभु ही सब कामनाएं पूर्ण करता है। वही प्रभु (पवमानः) सर्वव्यापक, सबका परम पावन, (पुरस्तात्) सबसे प्रथम (एनं) इस जीव को अपने आनन्द रस से (आप्याययति) परिपुष्ट करता है। वह प्रभु, कैसे इस जीव लोक का पालन करता है कि (अस्य) उस प्रभु की (पर्जन्यः) मेघ ही साक्षात् (धारा) पोषणकारी, रस बहाने वाली धारा है। (मरुतः) ये वायु जो मेघों को उड़ा कर लाते हैं वह (ऊधः) दूध को उठाने वाले गाय के 'थान' के समान जल को ऊपर उठाये रहते हैं। उसका (पयः) बरसा हुआ जल ही (यज्ञः) लोकोपकार के लिये प्रभु का दान है और (अस्य) इसकी (दक्षिणा) यज्ञ के लिये निमित्त दान दी गई दक्षिणा, अन्न ही (दोहः) साक्षात् दोहन से प्राप्त दुग्धवत् पुष्टिकारक पदार्थ है। यहां वृष्टि के जल की आहुति का पृथिवी रूप अग्नि में पड़ना यह यज्ञ है और पुनः जीवों के लिये दक्षिणा अर्थात् अन्न का उत्पन्न होना दक्षिणा प्राप्त होना है। "पृथिवी वाव गोतमाग्निः..........तस्मिन्नग्नौ देवाः वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति" (छान्दोग्य उप० ५।६)।

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता।
यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥५॥

भा०—(अस्य) जिस परमेश्वर को (यज्ञ=पतिः) यज्ञों का पालक यजमान भी (न ईशे) अपने वश नहीं करता और जिसको (यज्ञः न ईशे)

यज्ञ भी अपने वश नहीं कर सकता, (अस्य) इस पर (दाता न ईशे) कोई दानी महापुरुष भी प्रभुता नहीं करता, (न प्रति-ग्रहीता) और दान लेने वाला कोई योग्य ब्राह्मण भी इसे वश नहीं कर सकता । (यः) जो प्रभु स्वयं (विश्व-जित्) सब विश्व को विजय करने वाला, (विश्व-भृद्) समस्त विश्व का पालक पोषक, (विश्वकर्मा) सब विश्व का रचयिता है, हे विद्वान् पुरुषो ! उस सब रसों के बरसाने वाले और तेजःस्वरूप प्रभु का (नः ब्रूत) हमें उपदेश करो । (यतमः) जो (चतुष्पाद्) चार पाद वाला है । ब्रह्म के चतुष्पादों का वर्णन देखो 'छान्दोग्य उपनिषद्' उपकोशल का जाबाल सत्यकाम को उपदेश ।

येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म् ।
तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस परम प्रभु की उपासना से (देवाः) विद्वान् गण (अमृतस्य) अमृत आत्मा के (नाभिम्) बांधने वाले (शरीरम्) शरीर को (हित्वा) त्याग करके (स्वः) सुखमय मोक्ष-लोक को (आ रुरुहुः) प्राप्त होते हैं । हम भी (तपसा) तप से (यशस्यवः) यश = यश परब्रह्म की प्राप्ति के इच्छुक होकर (घर्मस्य) तेजोमय आदित्य के (व्रतेन) व्रत को धारण करके (तेन) उस प्रभु के द्वारा ही (सुकृतस्य लोकं) पुण्य के लोक, मोक्ष को (गेष्म) प्राप्त करें ।

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः परमे॒ष्ठी वि॒राट् ।
वि॒श्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत ।
सो॑ऽदृंहयत॒ सो॑ऽधारयत ॥ ७ ॥

भा०—वह विश्वधारक 'अनड्वान्' प्रभु (रूपेण) उज्ज्वल रूप में स्वयं (इन्द्रः) साक्षात् इन्द्र ऐश्वर्यसम्पन्न है और (वहेन) सब पदार्थों को धारण करने और स्थान से स्थानान्तर में भेजने, गति कराने की शक्ति से (अग्निः) अग्नि है । वही (प्रजापतिः) समस्त स्थावर, जंगम प्रजा का

पालक, (परमेष्ठी) परम मोक्षधाम, सत्य लोक, आनन्दमय रूप में विराजमान, (विराट्) सबसे अधिक, एवं विविध प्रकार से प्रकाशमान एवं स्थूलप्रपञ्च का कर्त्ता है। वही परमात्मा (विश्वानरे अक्रमत) समस्त नर, आत्माओं में प्रविष्ट है। वही (वैश्वानरे) सब शरीरों में विद्यमान जाठर अग्नि और भौतिक अग्नि के भीतर भी विद्यमान है और वही (अनडुहि अक्रमत) समस्त संसार रूप अनस्=महान् विश्व यज्ञ के धारक में भी व्यापक है। (सः) वही परमेश्वर (अदृंहयत) इस संसार को स्थूलरूप देकर तेजो-वाष्पमय रूप से दृढ़ बनाता है और महान् संसार को (सः अधारयत) वही धारण करता है, उनको टकराने और गिरने न देकर थाम रहा है। पांच कार्य हैं (१) रूप = तेजोमय प्रकाश, (२) वहन = गति देना, (३) प्रजापालन, (४) परम आनन्दरूपता, (५) विशालता। इन पांच कार्यों से उसके पांच नाम हैं—इन्द्र, अग्नि, प्रजापति परमेष्ठी, विराट्। इनसे पांच विशाल सर्गों में प्रविष्ट है। वह विश्वानर जीवात्मा रूप में इन्द्र, वैश्वानर रूप में अग्नि, अनुडुह् रूप में प्रजापति, दृंहण रूप में परमेष्ठी और धारक रूप में विराट् है।

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ्क्समाहितः॥ ८॥

भा०—समस्त विश्व को धारण करने हारे (अनुडुह) अनुड्वान् रूप प्रभु का (एतत्) यह (मध्यम्) मध्य भाग है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) 'वह' रूप विश्वभार (आहितः) स्थापित है। (एतावत्) इतना ही (अस्य) इसका (प्राचीनम्) अगला भाग है (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) पिछला भाग (समाहितः) है। अर्थात् जिस प्रकार बैल की पीठ पर भार रक्खा जाता है तब पीठ का जितना अगला भाग है उतना ही पीठ का पिछला भाग होता है उसी प्रकार इस विश्व का भार परमात्मा के वहन करने हारी शक्ति पर है। उसका अगला विश्व की

उत्पत्ति शक्ति का जितना भाग है उतना ही उसकी संहारशक्ति का भाग भी है । जितना उसका भूत है उतना भविष्यत् भी है ।

यो वेदा॑नडुहो॒ दोहा॑न् स॒प्तानु॑पदस्वतः ।
प्र॒जां च॑ लो॒कं चा॒प्नोति॒ तथा॑ स॒प्तऋ॒षयो॑ वि॒दुः ॥ ९ ॥

भा०—(यः) जो विद्वान् पुरुष (अनडुहः) उस विश्वधारक ईश्वर के दिये (अनुपदस्वतः) कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे (सप्त) सात (दोहान्) शरीर और उदरपूर्त्ति करने हारे अन्नों को (वेद) जानता है अथवा (सप्त) सर्पण स्वभाव वाले गतिमान् (दोहान्) अन्नप्रदाता जीवन के पूरक सूर्य, पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, वायु आदि को जानता है वह (प्रजाम् च) उत्तम प्रजा को और (लोकं च) उत्तम लोक को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है (सप्त ऋषयः) सातों ऋषिगण भी (तथा) उसी प्रकार उस अनुडुह् रूप विश्वधारक आत्मा को (विदुः) जानते हैं । विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गोतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ये सात ऋषि हैं । ये सातों ऋषि अध्यात्म में शिरोभाग में हैं, दो कान दोनों भरद्वाज हैं, दोनों आंखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, दोनों नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, वाक् अत्रि है । (बृहदारण्यक उप० अ० २ । २) । सात अन्न निम्नलिखित हैं—१ अन्न, हुत और प्रहुत, दुग्ध, मन, वाणी और प्राण । 'अन्न' साधारण है, 'हुत', 'प्रहुत' दोनों देवों के लिये और 'दुग्ध' पशु और मनुष्यों के लिये, 'मन', 'वाणी' और 'प्राण' ये तीनों आत्मा के लिये हैं (बृहदा० उप० अ० १ । ब्रा० ५) अथवा उक्त सातों द्वारों के ग्राह्य विषय सात अन्न समझने चाहिये ।

प॒द्भिः सेदि॑मव॒क्राम॒न्निरां॒ जङ्घा॑भिरुत्खि॒दन् ।
श्रमे॑णान॒ड्वान् की॒लालं॒ की॒नाश॑श्चा॒भि ग॑च्छतः ॥ १० ॥

भा०—वह प्रजापतिरूप अनड्वान्-परमात्मा भी एक चतुष्पाद बैल के समान है । वह (पद्भिः) अपने चरणों से (सेदिं) क्षेत्र, भूमि को (अवक्रामन्) पार करता हुआ (श्रमेण) श्रम से (कीलालं) अन्न को

(उत्खिदन्) उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान्) विश्व शकट का वाहक जगदाधार और (कीनाशः च) कीनाश = यह जीवात्मा, किसान के समान अपने कर्म-फलों का काटने हारा है दोनों (अभि गच्छतः) एक दूसरे साथ चलते हैं। 'सेदि' यह लोक है। 'इरा' वह अमृतमय मोक्ष है। 'कीलाल' ब्रह्मानन्द रस है, 'कीनाश' जीव है।

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

भा०—(प्रजापतेः) प्रजापति की (एताः) ये (द्वादश) बारह (व्रत्याः रात्रीः आहुः) व्रत करने योग्य, उत्तम कर्म करने योग्य रात्रियां बतलाते हैं। (तत्र) उनमें (यः) जो (ब्रह्म) प्रजापति रूप ब्रह्म और वेद का (वेद) ज्ञान कर लेता है (तद् वा अनडुहो व्रतम्) वही उस विश्व-धारक प्रभु का व्रत है। द्वादश रात्रि, द्वादशाह कर्म हैं जो १२ मास और १२ वर्ष का प्रतिनिधि है। उन १२ वर्षों में एक वेद का स्वाध्याय करे। १२ वर्ष ब्रह्मचर्य करे, एक वर्ष तक प्रजापति-व्रत करे।

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

भा०—प्रजापति रूप वृषभ की उपासना का फल बतलाये हैं। मैं (सायं दुहे) सायंकाल में उसका आनन्द-रस प्राप्त करता हूँ। (प्रातः दुहे) प्रातःकाल में उसका आनन्द रस योग-समाधि द्वारा प्राप्त करता हूँ और (मध्यंदिनं परि दुहे) मध्य दिवस, मध्याह्न काल में भी उस ही का ध्यान करता हूँ। (ये) जो पुरुष (अस्य) इस प्रभु के (दोहाः) इन रसों को (संयन्ति) फलस्वरूप से प्राप्त करते हैं हम (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अविनाशी अमर हुआ (विद्म) जानते हैं। जीवन में भी तीन भाग हैं ब्रह्मचर्य काल-२४. वर्ष तक, ४४ वर्ष तक और ४८ वर्ष तक। जो तीनों का पालन करते हैं वे अमृत को प्राप्त करते हैं। देखो छान्दोग्य उपनिषद्

(अ० ३ । ६) देखो सत्यार्थप्रकाश (समु० ३)। इस आलंकारिक अनड्वान् को देखकर मुसलमानों की यह कल्पना है कि बैल के सींग पर पृथ्वी खड़ी है । इस प्रजापति व्रत के उपलक्ष्य में उसका प्रतिनिधि बड़ा सांड छोड़ा जाता है । इसी अनड्वान् का वर्णन अध्यात्म-प्रकरण में लगता है ॥

---

(१२) कटे फटे अगों की चिकित्सा ।

ऋभुर्ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १ त्रिपदा गायत्री । ६ त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री ।
७ भुरिक् । २, ५ अनुष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

रोह॑ण्यसि॒ रोह॑ण्य॒स्थ्नश्छि॒न्नस्य॒ रोह॑णी ।
रो॒हये॒दम॑रुन्धति ॥ १ ॥

भा०—कटे फटे और टूटे फूटे अंगों की चिकित्सा । हे (रोहिणी) रोहिणी नाम ओषधे ! तू (अस्थ्नः) हड्डी को भी (रोहिणी असि) रोपण देने वाली है और (छिन्नस्य) कटे, क्षत घाव को भी (रोहणी) पूर देने, चंगा कर देने वाली है । हे (अरुन्धति) अरुष्=घाव को पूरने वाली ओषधे ! तू (इदम्) इस घाव को रोहय भर दे, पूर दे, अच्छा कर दे ॥

यत् ते॒ रि॒ष्टं यत् ते॑ द्यु॒त्तमस्ति॒ पेष्ट्रं॑ त आ॒त्मनि॑ ।
धा॒ता तद् भ॒द्रया॒ पुनः॒ सं द॑धत् परु॑षा॒ परुः॑ ॥ २ ॥

भा०—हे चोट खाये हुए पुरुष ! (यत्) जो तेरा अंग (रिष्टम्) चोट खाया हुआ है, (यत् ते द्युत्तम् अस्ति) और जो तेरा अंग जल गया हो और (ते आत्मनि) तेरे देह में जो भाग (पेष्ट्रं) पिस कुचल गया हो, (धाता) पोषक वैद्य (तत्) उस अंग को (भद्रया) अति कल्याणकारी, सुखकारी रीति से (परुषा परुः) पोरु से पोरु मिला कर (सं दधत्) जोड़ दे ।

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑ ।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते मज्जा) तेरी मज्जा धातु (मज्ज्ञा) मज्जा के साथ मिल कर (सं रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो, (परुषा परुः सं रोहतु) पोरु से पोरु मिलकर अच्छा हो जाय। (मांसस्य) और मांस का (विस्रस्तं) विनाश को प्राप्त हुआ भाग भी (सं रोहतु) उचित रीति से रुप कर ठीक हो जाय और (अस्थि अपि) हड्डी भी टूटी हुई हो तो वह भी (सं रोहतु) ठीक २ मिलकर जुड़ जावे।

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥

भा०—(मज्ज्ञा मज्जा) मज्जा धातु के साथ मज्जा को (संधीयताम्) मिला दिया जाय और (चर्मणा चर्म) चर्म से चर्म को मिला दिया जाय तब घाव शीघ्र ही (रोहतु) भर जाना सम्भव है। इसी प्रकार (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हड्डी भी (रोहतु) जुड़ कर ठीक हो। इसी प्रकार (मांसं मांसेन रोहतु) मांस को मांस के साथ मिला देने से वह भी मिल कर एक होकर पुष्ट हो।

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे ॥ ५ ॥

भा०—हे वैद्य ! (लोम लोम्ना) लोमों को लोमों से (संकल्पय) ठीक प्रकार से जोड़कर मिला दो और (त्वचा त्वचम्) त्वचा खाल से खाल को (सं कल्पय) मिला कर रख दो, इसी प्रकार हे रोगिन् ! (अस्थि) हड्डी और (ते असृक्) तेरा रुधिर (रोहतु) वृद्धि को प्राप्त हो। हे ओषधे ! तू इस प्रकार (छिन्नं) कटे फटे स्थान को (सं धेहि) मिलाकर एक कर दे।

स उत् तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

भा०—इस प्रकार रोगी का घाव अच्छा हो जाने पर वैद्य उसको आज्ञा दे कि (सः) वह तू (उत्-तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रेहि) चल, आजा

(प्र द्रव) फिर अच्छी प्रकार आय, अब तेरा शरीर (सुचक्रः) उत्तम चक्रों से युक्त (सुपविः) उत्तम हाल, लोह-पट्टो से जड़े हुए (सुनाभिः) सुन्दर नाभि वाले (रथः) रथ के समान ठीक हो गया है। (प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः) ऊपर उठ खड़ा हो।

यदि कुर्तं पतित्वा संशुश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान॑ ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

भा०—क्षतचिकित्सा का गुण। (यदि) यदि शरीर पर (कर्तम्) काटने वाला गंडासा या तलवार भी (पतित्वा) गिर कर (संशश्रे) घाव कर जाय, (यदि वा) या (अश्मा) शिला (प्रहृतः) फेंका हुआ आकर (जघान) शरीर पर आघात करे तो भी वैद्यः (परुषः परुः) पोरु से पोरु मिला कर इस प्रकार (सं दधत्) जोड़ दे जैसे (ऋभुः) विद्वान् शिल्पी (रथस्य) रथ के (अङ्गानि इव) टुकड़ों २ को जोड़ कर खड़ा कर देता है।

---

(१३) पतितोद्धार, शुद्धि और रोगनाशन।

शंतातिर्ऋषिः। चन्द्रमा उत विश्वे देवा देवताः। १-७ अनुष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

उत दे॑वा अव॑हितं देवा उन्न॑यथा पुन॑ः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुन॑ः ॥ १ ॥

ऋ० १० । १३७ । १ ॥

भा०—(उत) और हे (देवाः) विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त पुरुषो! इस पुरुष को या बालक को (अवहितं) सावधन, प्रमादरहित करो और हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (पुनः) पुनः २ अपराध करने एवं नीच भावों में जा पड़ने पर भी उसे उत्तम उपदेशों और सद्व्रतों के आचरणों द्वारा (उत् नयथ) बार २ उन्नत करो। (उत) और (आगः चक्रुषं) पापाचरण करने पर भी इस पुरुष या बालक को (देवाः पुनः उन्नयथ) हे विद्वानो! बार २ उन्नत करो। हे (देवाः) देव समान सदाचारी पुरुषो! यदि

आत्मा पापाचरण द्वारा सर्वथा मर चुका हो और उसे पाप पुण्य और भले बुरे का ज्ञान भी न रहे तो भी (पुनः) बार बार (जीवयथ) उसे जीवित करो, उसके आत्मा की चेतना को पुनः जगाओ जिससे वह पाप को पाप और धर्म को धर्म समझे ।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः ॥ २ ॥

ऋ० १० । १३७ । २ ॥

भा०—पृथ्वी पर ये दो वायुएं बहती हैं जो सिन्धु से चल कर दूर दूर तक के स्थानों तक पहुँच जाती हैं, उनमें एक तो जल बरसा कर प्रजा के लिये अन्न उत्पन्न करती हैं और दूसरी हानिकारक रोग और आम की मलिन वस्तुओं को आंधी बन कर उड़ा ले जाती है, इसी प्रकार हे पुरुष ! तेरे शरीर में भी (इमौ) ये (द्वौ वातौ) दो वायु हैं प्राण और अपान । ये दोनों (आ सिन्धोः) सिन्धु देश अर्थात् रुधिर के एकत्र होने का हृदय और फुफ्फुसों का वह प्रदेश जहां से नाड़ियों द्वारा रक्त बह कर सारे शरीर में फैलता और सारे शरीर से नीला मलिन रक्त बहकर हृदय में पुनः आ जाता है उस सिन्धु रूप हृदय और फुफ्फुस प्रदेश से (आ परावतः) शरीर के दूर से दूर स्थान तक (वातः) गति करते हैं, पहुँचते हैं। (अन्यः) इनमें से एक (ते) तेरे लिये (दक्षं) बल को (आ वातु) प्राप्त कराता है और (अन्यः) दूसरा (यद् रपः) जो मलिन अंश है उसको (वि वातु) बाहर करे । शरीर में प्राण की दो गति हैं भीतर से वायु को बाहर फेंकना और बाहर से भीतर लेना । शरीर में भी दो क्रिया हैं। एक रक्त का शुद्ध स्वच्छ वायु पाकर शुद्ध हो जाना और शरीर का पुनः हरा भरा हो जाना, दूसरा मलिन अंश का रक्त से पृथक् होकर प्रश्वास, मूत्र और प्रस्वेद के मार्ग से बाहर हो जाना । प्राण और अपान में प्राण रक्त को स्वच्छ करता और अपान रक्त के मलिन अंस को प्रश्वास,

प्रस्वेद और मल मूत्र द्वारा शरीर से बाहर कर देता है, उसी का यहां उपदेश किया है।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥ ३॥

ऋ० १०। १३७। ३॥

भा०—हे (वात) प्राणवायो! (भेषजं) रोगविनाशक रस को (आवाहि) शरीर में, फैला। हे (वात) अपान वायो! (यद् रपः) जो मलिन, व्याधिजनक अंश है उसको (वि वाहि) बाहिर कर। हे (विश्व-भेषज) समस्त प्राणियों के समस्त रोगों की चिकित्सा करने हारे! (त्वं) तू (हि) निश्चय से (देवानां) देव = विद्वानों एवं इन्द्रियों के लिये (दूतः) दूत के समान सर्वत्र गति करने या उनको ताप (उष्णता) देकर नीरोग करने वाला होकर (ईयसे) उनमें विचरण करता है।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ४॥

ऋ० १३७। ५॥

भा०—(इमं) इस पुरुष को (देवाः) देव, बिद्वान्‌गण और दिव्यगुण युक्त पदार्थ (त्रायन्ताम्) बचावें और (मरुतां गणाः) वायुओं के नाना रूप, शरीर के नाना प्राण और प्रजागण (त्रायन्ताम्) इसकी रक्षा करें। (विश्वा भूतानि) समस्त प्राणी और पांचों भूत भी (त्रायन्तां) इसकी रक्षा करें, (यथा) जिससे (अयम्) यह (अरपाः) पाप और रोग से रहित (असत्) हो जाय।

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ५॥

भा०—मैं आचार्य और वैद्य, विद्वान् (शन्तातिभिः) शान्ति देने वाले, (अथो) और (अरिष्टतातिभिः) आरोग्यकारी ज्ञान और कर्ममय उपायों से, (त्वा) तेरे समीप (आ गमम्) आता हूँ। (ते) तेरे शरीर में (उग्रं)

उग्र, अधिक बल युक्त (दक्षं) बल और अन्न को (आभारिषं) लाता हूँ और उससे (ते) तेरे (यक्ष्मं) रोगजनक कारण को (परा सुवामि) दूर करता हूँ ।

अ॒यं मे॒ हस्तो॒ भग॑वान॒यं मे॒ भग॑वत्तरः ।
अ॒यं मे॑ वि॒श्वभे॑षजो॒ऽयं शि॒वाभि॑मर्शनः ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ६० । १२ ॥

भा०—अमृतपाणि वैद्य की भावना । हे रोगी ! (अयं मे हस्तः) यह यह मेरा हाथ (भगवान्) ऐश्वर्य से युक्त है और (अयं मे भगवत्-तरः) यह दूसरा हाथ उससे भी अधिक विभूतिमान् है । (अयं मे) यह मेरा हाथ (विश्व-भेषजः) सब प्रकार के रोगों की चिकित्सा करता है । (अयम्) और इसका (शिव-अभिमर्शनः) स्पर्श करना भी शान्ति और आनन्ददायक है ।

हस्ता॑भ्यां॒ दश॑शाखाभ्यां जि॒ह्वा वा॒चः पु॑रोग॒वी ।
अ॒ना॒म॒यि॒त्नुभ्या॑ं हस्ता॑भ्यां॒ ताभ्यां॑ त्वा॒भि मृ॑शामसि ॥ ७ ॥

भा०—मानस और स्पर्श-चिकित्सा का उपदेश करते हैं । (दश-शाखाभ्यां) दश अंगुली रूप शाखाओं से युक्त इन (हस्ताभ्यां) दो हाथों के साथ (जिह्वा) यह जीभ (वाचः) वाणी का (पुरोगवी) प्रथम उच्चारण करने हारी होती है । (अनामयित्नुभ्यां) आमय अर्थात् रोग से रहित इन (हस्ताभ्यां) हाथों से (त्वा) तुझे, तेरे शरीर को हम वैद्य लोग और बालक के आचार्य लोग (अभि मृशामसि) स्पर्श करते हैं । नीरोग, रोगजन्तुओं से रहित स्वच्छ हाथों से वैद्य रोगी के शरीर का स्पर्श करे और मानस बल द्वारा चिकित्सा करने के लिये हाथों की अंगुलियों को फैलाकर वाणी के शब्दोच्चारण सहित उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ।

---

(१४) 'अज' प्रजापति का स्वरूप वर्णन ।

भृगुर्ऋषिः । आज्यमग्निर्वा देवता । १, ५, ६ । त्रिष्टुभः । २, ४ अनुष्टुभौ, ६ प्रस्तार पांक्तिः । ७, ६ जगत्यौ । ८ पञ्चपदा अतिशक्करी । नवर्चं सूक्तम् ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

यजु० १३ । ५१ ॥

भा०—'अजौदन सव' के दृष्टान्त से अध्यात्म योग मार्ग का उपदेश । (अजः) यह न उत्पन्न होने वाला आत्मा, जीव (अग्नेः) सबके प्रकाशक, सबके नेता ज्ञानस्वरूप परमात्मा के (शोकात्) ज्ञानमय तेज से (अजनिष्ट) भूतिमान् होता है और (सः) वह आत्मा (अग्रे) सबसे पूर्व विद्यमान (जनितारम्) उत्पादक प्रभु को (अपश्यत्) देखता है। (तेन) उस विधि द्वारा ही (देवाः) विद्वान् लोग, अध्यात्म में इन्द्रिय गण, (अग्रे) पहले (देवताम्) देवभाव को (आयन्) प्राप्त होते हैं और (तेन) उस द्वारा ही (मेध्यासः) अत्यन्त मेध्य, मेधायुक्त, पवित्र ज्ञानसम्पन्न मेधावी होकर (रोहान्) उच्च लोकों को, उच्च पदों को (रुरुहुः) प्राप्त होते हैं ।

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

यजु० १७ । ६५ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (अग्निना) ज्ञानस्वरूप आत्मा वा परम-आत्मा के प्रदर्शित प्रकाश से युक्त होकर (उख्यान्) आत्मिक ज्ञान आदि साधनों को (हस्तेषु बिभ्रतः) हस्तगत करते हुए (दिवस्पृष्ठम्) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के परम उन्नत भाग, मोक्षप्रद अर्थात् (स्वः) परम ज्योति को (गत्वा) पहुँच कर (देवेभिः) मुक्त जीवों के सहित, (मिश्राः) मिल कर (आध्वम्) आनन्दमग्न रहो ।

पृष्ठात् पृ॑थि॒व्या अ॒हम॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑हम॒न्तरि॑क्षा॒द् दिव॒मारु॑हम्।
दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥ ३ ॥

यजु १७। ६७ ॥

भा०—(पृथिव्याः पृष्ठात्) पृथिवी की पीठ से (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं और (अन्तरिक्षाद्) अन्तरिक्ष लोक से (दिवम्) द्यौलोक को (आरुहम्) चढ़ जाऊं। (दिवः) प्रकाशस्वरूप (नाकस्य) उस सुखमय लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैं (स्वः ज्योतिः) सुख, प्रकाश आनन्दमय उस ज्योति = परम प्रकाश को (अगाम्) प्राप्त हो जाऊं।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव और स्वः ये चार योग की उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भूमियां हैं। "विक्षिप्त" चित्त भूमि पृथिवी है, "सम्प्रज्ञात" अन्तरिक्ष, "असम्प्रज्ञात" दिव् और "कैवल्यपद" स्वः है।

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्यां रो॑हन्ति॒ रोद॑सी।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारं॒ सुवि॑द्वांसो वितेनि॒रे ॥ ४ ॥

यजु० १७। ६८ ॥

भा०—(स्वः यन्तः) 'स्व' सुखधाम मोक्ष को जाते हुए मुक्त जन, (न अपेक्षन्ते) इस लोक के सुख की कुछ भी परवाह नहीं करते, (रोदसी) द्यौ और पृथिवी इन दोनों लोकों को पार करके (आ द्यां) जब तक वे प्रकाशमय लोक को प्राप्त न हो जायं तब तक (रोहन्ति) बराबर चढ़ते ही जाते, उन्नति करते हैं। (ये) जो मुमुक्षु जन (सु-विद्वांसः) उत्तम विद्वान् होकर (विश्वतः-धारं) सब प्रकार से धारण करने में समर्थ एवं सब प्रकार से आनन्द धारा का वर्षण और वेदमय, सर्व पक्षों में लगने वाली विश्व भर के हितकर वेद वाणी को धारण करने वाले (यज्ञं) यज्ञ = आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को (वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं, उसका ज्ञान कर लेते हैं।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

यजु० १७। ६९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! आप (देवतानां) समस्त दिव्य गुण वाले, महत् आदि विशाल वैकारिक पदार्थों और विद्वानों से (प्रथमः) पूर्व विद्यमान, सबसे श्रेष्ठ हैं। आप (प्रेहि) हमारे हृदय में प्रकट होइये। आप (देवानाम्) देवों और विद्वानों के (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों के (चक्षुः) यथार्थ प्रकाशक हैं। (यजमानाः) यज्ञ करने हारे, पुण्यात्मा लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले या परिपक्व ज्ञान सम्पन्न, वेद के विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) यज्ञों का सम्पादन करते हुए (सजोषाः) परस्पर समान भाव से प्रीतिपूर्वक रहते हुए (स्वस्ति) अपने कल्याण के लिये (स्वः यन्तु) स्वर्ग, सुख का भोग करें।

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥६॥

भा०—मैं (दिव्यं) दिव्य, (सुवर्णं) इन्द्रिय आदि के उत्तम पालक, (बृहन्तम्) महान् (पयसं) देह के सब अवयवादि के परिपोषक, (अजं) उस अज, आत्मा, जीवात्मा को (पयसा) ज्ञान और (घृतेन) दिव्य तेज से (अनज्मि) युक्त करता हूँ (तेन) उस ज्ञानसम्पन्न तथा तेजःसम्पन्न आत्मा के बल से हम (उत्तमम् नाकम्) उत्तम सुखमय (स्वः) सुख-धाम को (आ-रोहन्तः) जाते हुए (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकं) लोक अर्थात् ब्रह्मलोक को भी (गेष्म) प्राप्त हों।

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

भा०—(पञ्चौदनम्) पांच प्रकार के विषयों का ज्ञान-जिसके ५ प्रकार के भोग हैं, (पंचभिरंगुलीभिः) और जो पांच अंगुलियों के समान पांच कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न है, उसके (पंचधा एतं ओदनम्) पांच प्रकार के इस ज्ञानमय भोग को (दर्व्या) अज्ञान-विदारक आत्मविज्ञान रूप साधन द्वारा (उद्धर) उस जीवात्मा से निकाल दे। मृत्यु होने पर तब पुनर्जन्म न लेने अर्थात् मुक्त होने वालों के (शिरः) सिर को, (प्राच्यां दिशि धेहि) पूर्व दिशा में रखना चाहिये, (दक्षिणं पार्श्वम्) और दाहिने पार्श्व को (दक्षिणायां दिशि धेहि) दक्षिण दिशा में रखना चाहिये।

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्-
न्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

भा०—(उत्तरं पार्श्वम्) और बाएं पार्श्व को (उत्तरस्यां दिशि धेहि) उत्तर दिशा में रखना चाहिये, (अस्य भसदम्) और इसके चूतड़ के भाग को (प्रतीच्यां दिशि धेहि) पश्चिम दिशा में स्थापित करना चाहिये, (अनूकम्) और इसकी पीठ को (ऊर्ध्वायां दिशि धेहि) आकाश की ओर रखना चाहिये, (पाजस्यम्) और सामने के भाग को (ध्रुवायां दिशि) पृथिवी के ऊपर रखना चाहिये, (मध्यम्) और इसका मध्य भाग अर्थात् पीठ और पेट को स्तनों के मध्य का भाग (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष अर्थात् बीच में रहना चाहिये। इस प्रकार उसका दाह-कर्म करना चाहिये।

शृतमज शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम्।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥९॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे विद्वन् ! (सर्वैः अंगैः संभृतम्) सब अंगों से सम्पन्न (विश्वरूपम्) अनेक जन्मजन्मान्तरों एवं नाना योनियों में

नाना रूप धारण करने में समर्थ (शृतम्) परिपक्व वासना वाले, वा तप से तप्त (अजम्) अजन्मा, नित्य आत्मा को (शृतया) तपस्या से दृढ़ वासना द्वारा परिपक्व से (त्वचा) त्वचा, आवरणकारी, देह से (प्रोर्णुहि) तू आच्छादित कर, (सः) हे जीव ! यह तू जीव (इतः) इस लोक से (उत्तम नाकम् अभि) उत्तम सुखमय लोक, प्राप्य देह को लक्ष्य करके (दिक्षु) अनेक दिशाओं में (चतुर्भिः पद्भिः) चारों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ के इन चारों चरणों से (प्रतितिष्ठ) विचरण करे।

साधारण समस्त जीवन में भी यही उपदेश है कि जीव शरीर धारण करके भी अपने (अज) आत्मा को, तपस्या से तप्त अपने आत्मा को, तपस्या से तप्त देह से आच्छादन करे अर्थात् कायिक तपस्या के साथ अध्यात्म तपस्या भी करे। चारों पुरुषार्थों से उत्तम सुखमय लोक ब्रह्ममय धाम को प्राप्त करे।

---

(१५) वृष्टि की प्रार्थना।

अथर्वा ऋषिः । मरुतः पर्जन्यश्च देवताः । १, २, ५ विराड जगत्यः । ४ विराट् पुरस्ताद् बृहती । ७, ८, १३, १४ अनुष्टुभः । ९ पथ्यापंक्तिः । १० भुरिजः । १२ पञ्चपदा अनुष्टुप्गर्भा भुरिक् । १५ शङ्कुमती अनुष्टुप् । ३, ६, ११, १६ त्रिष्टुभः । षोडशर्चं सूक्तम् ॥

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥१॥

भा०—वर्षा के रहस्य का उपदेश। (नभस्वतीः) मेघों से घिरी (प्रदिशः) महादिशाएं (सम् उत्-पतन्तु) उमड़ आवें, चारों दिशाओं में मेघ ही मेघ घिर जावें और (वातजूतानि) वायु से प्रेरित (अभ्राणि) जल से भरे बादल (सं यन्तु) खूब आवें तब (महा ऋषभस्य) महान् जल-वर्षक (नदतः) गर्जना करते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित मेघ की

(वाश्राः) छम छम करती हुई (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) इस पृथिवी को परितृप्त करें।

अध्यात्मज्ञानी लोग इस वर्षण सुख को तब लेते हैं जब ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय हो जाने पर धर्ममेघ समाधि में हृदयाकाश में अन्तरात्मा की चमकती ज्योतियों की विद्युत् लताओं से घिरे महान् आत्मरूप पर्जन्य से बरसती आनन्द-धाराओं को चित्त भूमि में बरसता पाते हैं। इति दिक्।

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२

भा०—(तविषाः) महान् (सुदानवः) उत्तम जलों का दान करने वाले मेघ (समीक्षन्तु) हमें उत्तम रीति से जलधाराओं के दर्शन करावें या बरस कर दिखावें और (अपां रसाः) जलों की धाराएं (ओषधीभिः) अन्नादि ओषधियों को (सचन्ताम्) प्राप्त हों। (वर्षस्य सर्गाः) वर्षाकाल की नाना वनस्पति और जीवसृष्टियां या जलधाराएं (भूमिं) इस भूमि को (महयन्तु) सुशोभित करें और (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (ओषधयः) ओषधियां (पृथक्) नाना स्थानों पर नाना जातियों में (जायन्ताम्) उत्पन्न हों।

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥३॥

भा०—हे मरुद्गण ! आप लोग (गायतः) आनन्द में गमन करते हुए प्रजाजनों को (नभांसि) मेघों का (समीक्षस्व) दर्शन कराओ। (अपां वेगासः) जलों के वेगवान् प्रवाह (पृथक्) नाना स्थानों पर (उद् विजन्ताम्) उत्तरंगित हो २ कर उमड़ आवें। (वर्षस्य सर्गाः) वर्षा की नाना सृष्टियां या जलधाराएं (भूमिं महयन्तु) भूमि को सुशोभित करें। (विश्वरूपाः वीरुधः) नाना प्रकार की लताएं (पृथक् जायन्तां) नाना स्थानों पर उत्पन्न हों।

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) रसों के प्रदाता पर्जन्य देव ! (घोषिणः) वेद का घोष करने हारे विद्वान् पुरुषों के समान (मारुताः गणाः) वायुएं (त्वा उप गायन्तु) तेरी स्तुति करें। (वर्षतः) बरसते हुए (वर्षस्य) मेघ की (सर्गाः) जलधाराएं (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) वर्षा करें।

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥

भा०—हे (मरुतः) वायुओ ! (समुद्रतः) समुद्र के मध्य से (उद्-ईरयत) ऊपर उठ २ कर आओ और मेघों को उड़ा लाओ, (त्वेषः) तेज चमकता हुआ (अर्कः) सूर्य (नभः) मेघ को (उत् पातयाथ) ऊपर उड़ाए। (नदतः) गर्जते हुए (नभस्वतः) वायु से प्रेरित (मह-ऋषभस्य) बड़े वर्षक, मेघ की (वाश्राः) छम छम करती (आपः) जलधाराएं (पृथिवीम् तर्पयन्तु) बरस २ कर पृथिवी को तृप्त कर दें।

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥ ६ ॥

भा०—हे (पर्जन्य) मेघ ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) बिजली कड़का, (उदधिं) जल को धारने वाले अपने स्वरूप को (अर्दय) पीड़ित कर, जिससे खूब जल बरसे और (पयसा) अपने जल से (भूमिं समङ्धि) भूमि को सींच डाल। (त्वया सृष्टं वर्षं) तेरे से बरसाया गया जल (बहुलं) बहुत सारा (एतु) नीचे आवे। (आशारैषी) आशार = चारों तरफ से जल प्रपात की इच्छा करने वाला (कृशगुः) दुबले बैलों वाला, अथवा गौ = भूमि को कर्षण करने अर्थात् हल बाहने वाला किसान अपनी भूमि को हलबाह कर (अस्तं एतु) निश्चिन्त होकर अपने घर पर आ जाय।

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥

भा०—हे मनुष्यो! (वः) आप लोगों को (सुदानवः) कल्याणमय जल का प्रदान करने वाले, (उत अजगराः) और अजगर के समान स्थूल अथवा अज—सूर्य को निगल जाने वाले, मेघ (उत्साः) जल के महास्रोत, जल-धाराएं (वः) आप लोगों की (अवन्तु) रक्षा करें और (मरुद्भिः) वायुओं द्वारा (प्र-युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघगण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (वर्षन्तु) रक्षा करें।

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥

भा०—(आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा में (वि द्योततां) बिजलियां चमकें, (दिशः-दिशः) दिशा दिशा में (वाताः वान्तु) वायुएं बहें। (मरुद्भिः) वायुओं से (प्र-च्युताः) प्रेरित (मेघाः) मेघ गण (पृथिवीम् अनु) पृथिवी की ओर (सं यन्तु) उत्तम रीति से जावें।

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥

भा०—(आपः) जल, (विद्युत्) बिजली, (वर्षं) वर्षा और (अजगराः) अजगर के समान आकार वाले (उत्साः) जलों के पर्वतीय सोते (उत) भी (वः) तुम प्रजाओं की (सं अवन्तु) उत्तम रीति से रक्षा करें। (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीम् अनु प्र-अवन्तु) वायुओं से प्रेरित मेघ पृथिवी की ओर खूब जोर से उमड़ कर आवें।

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥१०॥

भा०—(अपाम्) मेघ में स्थित जलों की (अग्निः) प्रकाशस्वरूप विद्युत् (तनूभिः) जलों के शरीरभूत मेघों से (सं विदानः) मिल कर रहती

है । (यः) जो कि (ओषधीनां) वनस्पतियों का (अधिपाः) स्वामी, पालक (बभूव) है । (स जातवेदाः) वह समस्त पदार्थों में व्यापक अग्नि (नः) हमारे लिये (वर्षं) वृष्टि को और (दिवः परि) आकाश से (अमृतं) बरसते अमृत रूप जल को और (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओं के लिये प्राण (वनुतां) देवे । वायु के संघर्ष से मेघों में बिजली उत्पन्न होती है वह ऋण और धन या पोजिटिव और नेगिटिव रूप में प्रकट होकर पुनः परस्पर मिलती है और कड़कती है । उससे जलों में विशेष प्राणशक्ति और मेघ के जलों की वृद्धि भी होती है । ओषधियां अधिक जल पातीं और प्रजाएं सुखी होती हैं।

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥११॥

उत्तरार्धः ५ । ८३ । ६ । द्वि तृ० ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजाओं का पालक परमेश्वर सूर्य द्वारा (सलिलात् समुद्रात्) जलमय समुद्र से (आपः) व्यापनशील वाष्परूप जलों को (आ ईरयन्) सर्वत्र वातावरण में फैलाता हुआ (उदधिम्) ऊपर उठने वाले जल को धारण करने वाले वातावरण को (अर्दयति) पुनः अपनी किरणों से पीड़ित करता है, विक्षुब्ध करता है । इससे क्या होता है कि (वृष्णः) वर्षा करने वाले (अश्वस्य) व्यापक मेघ का (रेतः) नीचे आने वाला जल (प्र प्यायताम्) खूब अधिक बढ़ जाता है और (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) ध्वनि करने वाले विद्युत् के साथ ही हे पर्जन्य ! तू (अर्वाङ् एहि) नीचे की ओर भी आ जाता है ।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज । वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२॥

भा०—(असुरः) सब जन्तुओं को प्राण देने हारा सूर्य वा मेघ (अपः) जलों को (निषिञ्चन्) निरन्तर सींचा करता है । वास्तव में इसलिये वही (नः) हम समस्त जीवों का (पिता) पालक है । हे वरुण !

सर्वश्रेष्ठ ! परमात्मन् (अपां गर्गराः) जलों के निगलने वाले, अजगर के समान पृथिवी पर लोटने वाले, या गड़ २ शब्द करने वाले मेघ वा भूमि के बरसाती नाले (श्वसन्तु) पुनः श्वास लें, या भर २ कर बहें या जल के आधार पर जीने वाले अजगर वर्षा से पुनः प्रसन्न होकर लम्बे २ सांस खींचें। हे प्रभो ! (अपः) जलों को (नीचीः) नीचे की ओर (अवसृज) प्रवाहित कर, मेघों को बरसा, जिससे (पृश्निबाहवः) पीले, चितकबरे रंग की बाहुओं वाले (मण्डूकाः) मेंढक (हरिणा अनु) बिना घास की भूमियों या जलाशयों में आकर (वदन्तु) खूब बोलें।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥
ऋ० ६ । १०३ । १ ॥

भा०—वर्षाकाल के वर्णन में विद्वान् ब्राह्मणों की उपमा से मण्डूकों का वर्णन—(व्रतचारिणः) व्रत का आचरण करने वाले (ब्राह्मणाः) विद्वान्, वेदज्ञ ब्राह्मण लोग जिस प्रकार वेद का पाठ करते और ऋतु को मनोहर बनाते हैं उसी प्रकार (संवत्सरं) एक वर्ष तक (शशयानाः) बिलों में सोते हुए (मण्डूकाः) मेंढक (पर्जन्यजिन्वितां) मानो मेघ की स्तुति करने वाली (वाचं) वाणी को (प्र अवादिषुः) उत्तम रीति से बोलते हैं। दादुरध्वनि चंहु ओर सुहाई । वेद पढ़त जिमि बटु समुदाई ॥ तुलसी० ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के पक्ष में—(मण्डूका) ब्रह्मानन्द रस में मग्न होने वाले (व्रतचारिणः) ब्रह्मचर्य के पालक (ब्राह्मणः) वेद के विद्वान् या ब्रह्म के ज्ञाता (संवत्सरं) एक वर्ष को (शशयानाः) बिता कर (पर्जन्य-जिन्वितां) उस आनन्द-रस-प्रदाता प्रभु को प्रसन्न करने वाली (वाचं) वेदवाणी को (प्र अवादिषुः) उच्चारण करते हैं।

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥

भा०—हे (मण्डूकि) मेंडकी ! हे (तादुरि !) तदुर = मेंढक की बच्ची ! तू (वर्षम् उप-वद, आ वद) वर्षा को देख कर खूब बोल और सब तरफ से बोल और (चतुरः पदः) चारों पैर (विगृह्य) फैला कर (ह्रदस्य मध्ये) तालाब के बीच में (प्लवस्व) तैर । अध्यात्म में—उस आनन्दमय 'धर्ममेघ' के वर्षण को लक्ष्य करके उसका वर्णन । हे (मण्डूकि) आनन्द-रस में निमग्न चित्तवृत्ते ! (तादुरि) तद्-उर = उस परब्रह्म की तरफ जाने वाले, उसमें लीन आत्मा की पुत्री स्वरूप तू (आ वद) उसी का सर्वत्र गान कर और (चतुरः पदः) अन्तःकरण चतुष्टय रूप चारों चरणों को फैला कर (ह्रदस्य) उस आह्लादजनक हृदयरूप मानस-सरोवर में (प्लवस्व) आनन्द से तर, सब सुखों को पार कर ।

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

भा०—हे (खण्वखे) खण्वखा और हे (खैमखे) खैमखा और हे (तदुरि) तदुरी नामक तीनों प्रकार की मण्डूक जातियो ! तुम (मध्ये) तालाब के बीच में (वर्षं) वर्षा का (वनुध्वं) आनन्द प्राप्त करो । हे (पितरः) पालन करने हारे प्रजापालक जनो ! आप लोग (मरुतां) बहने वाले वायुओं का (मनः) वास्तविक मनन योग्य ज्ञान (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो ।

अध्यात्म में—हे (खण्वखे) इड़ा नाड़ि ! हे (खैमखे) पिङ्गला नाड़ि ! और हे (तदुरि) ब्रह्म तक पहुँचने वाली (मध्ये) मध्य में वर्तमान सुषुम्ना नाड़ि ! तुम तीनों (वर्षं वनुध्वं) आनन्द रस के प्रवाह का प्रदान करो और हे (पितरः) इन्द्रियगणो ! तुम लोग (मरुतां) इन भीतरी प्राणों के (मनः) मानस-बल को (इच्छत) प्राप्त करने का यत्न करो । अर्थात् उस समय ये इन्द्रियां प्राणों सहित मन में विलीन हो जाती हैं ।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

'खण्वखा'—कण्वं-आत्मानं खनति इति कण्वखाः छान्दसः खवारः। आत्मा को खोद लेने, पता लगा लेने वाली अथवा—खण्वे छिद्रे खञ्जति गच्छति सा खण्वखा ब्रह्मरन्ध्रगामिनी। 'खैमखा'—खै स्थैर्ये, खदने (भ्वादिः) हिंसायां चेति शब्दकल्पद्रुमः। ततो मन् प्रत्ययः। खैम स्थैर्य खनति पुनः २ स्थिरीकरोति इति खैमखा पिङ्गला। 'तदुरि'—तत् ब्रह्म इयर्ति इति तदुरिः सुषुम्ना, सा च मध्ये इडापिङ्गलयोर्वर्त्तमाना भवति।

महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

भा०—हे परमात्मन्! (महान्तं) बड़े भारी (कोशं) जल के खजाने रूप मेघ को (उद् अच) ऊपर उठा और (अभि षिञ्च) समस्त संसार में जल का सेचन कर और वह (सविद्युतं) विद्युत् के साथ (भवतु) हो और (वातः) पवन (वातु) बहे। (यज्ञं तन्वतां) हे पुरुषो! तुम लोग पुण्य कार्य, यज्ञ को करो और (बहुधा विसृष्टाः) नाना प्रकार से विविध रूपों से वर्षी हुई धाराएं (यज्ञं) इस महान् जीवन यज्ञ को (तन्वतां) सम्पादन करें और (आनन्दिनीः) आनन्ददायक (ओषधयः) ओषधियां (भवन्तु) उत्पन्न हों अथवा ओषधियां आनन्ददायक हों।

इति तृतीयोऽनुवाकः।

---

(१६) राजा और ईश्वर का वर्णन।

ब्रह्मा ऋषिः। सत्यानृतान्वीक्षणसूक्तम्। वरुणो देवता। १ अनुष्टुप्, ५ भुरिक्। ७ जगती। ८ त्रिपदामहाबृहती। ९ विराट् नाम त्रिपाद् गायत्री, २, ४, ६ त्रिष्टुभः। नवर्चं सूक्तम् ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

भा०—राजा के गुप्तचर-विभाग का वर्णन और परमेश्वर के राज्य

का उपदेश । (एषां) इन देवों का (अधिष्ठाता) अधिपति शासक (बृहन्) बहुत बड़ा है, जो सबको (अन्तिकात् इव पश्यति) ऐसे देख रहा है मानो उनके पास ही खड़ा है । तथा उस पुरुष को भी वह देख रहा है (यः) जो पुरुष (स्तायन्) अपने को गुप्त रूप से छुपकर (चरन्) विचरता हुआ, (मन्यते) जानता है, (इदं) यह सब बात (देवाः) देव अर्थात् राष्ट्र के अधिकारीगण जिस प्रकार जानते हैं उसी प्रकार समस्त विद्वान्‌गण भी (इदं सर्वं) इस सब सत्य को (विदुः) जानते हैं ।

यस्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लाय॒ं चर॑ति॒ यः प्रत॒ङ्क॑म् ।
द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते राजा॒ तद् वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीयः॑ ॥ २ ॥

भा०—वरुण राजा की गुप्त विज्ञता और सर्वव्यापकता । (यः) जो (तिष्ठति) खड़ा है, (यः चरति) और जो चलता है, (यः च वञ्चति) और जो दूसरे को ठगता है, (यः निलायं चरति) जो छुप २ कर कहीं जाता है, (यः प्रतङ्कं चरति) जो दूसरे को भारी पीड़ा देने आदि अत्याचारों को करता है और (यत्) जो कुछ (द्वौ) दो पुरुष भी (संनिषद्य) एक साथ मिल कर, बैठ कर (मन्त्रयेते) गुप्त विचार करते हैं, (राजा वरुणः) सबका शासक वरुण परमात्मा (तृतीयः) उन दोनों के साथ तीसरा होकर (वेद) उनकी गुप्त बातों को जानता है । राजा भी अपने गुप्तचर विभाग को ऐसा ही स्थापित करे कि प्रजा और शत्रु के कार्यों को भली भांति जाने ।

उ॒तेयं भूमि॒र्वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ उ॒तासौ द्यौर्बृ॑ह॒ती दू॒रेअ॑न्ता ।
उ॒तो स॑मु॒द्रौ वरु॑णस्य कु॒क्षी उ॒तास्मि॒न्नल्प॑ उद॒के निली॑नः ॥ ३ ॥

भा०—(उत) और (इयं भूमिः) यह भूमि (राज्ञः वरुणस्य) राजा वरुण सबके परिपालक, रक्षक, उस प्रभु की है, (उत) और (दूरे-अन्ता) दूर और समीप, सर्वत्र व्यापक, (बृहती) इतनी विशाल (द्यौः) द्यौः = आकाश उसी प्रभु के वश में है । (उत उ) और (समुद्रौ) पूर्व और

पश्चिम समुद्र अथवा जलसमुद्र और आकाश समुद्र दोनों (अस्य) इस राजा वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं। (उत) और सबसे आश्चर्य यह कि, वही वरुण (अस्मिन् अल्पे उदके) इस छोटे से पानी के बूंद में (नि-लीनः) व्यापक है। इसी प्रकार राजा को अपने और पराये राष्ट्र का तिल तिल भी जानना चाहिये।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

भा०—राजा वरुण का दुष्टदमन करने का सामर्थ्य। (यः उत) जो भी कोई जीव (द्याम् अति) द्यौ लोक, महान् आकाश को भी पार करके (परस्तात् सर्पात्) और भी दूर चला जाय (सः) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) राजा वरुण, परमात्मा के शासन से (न मुच्यातै) मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) उस वरुण के (स्पशः) गुप्त-चर, स्पाई (Spy) के समान ज्ञानदर्शक किरण और उत्तमजन (इदं) इस संसार में (प्रचरन्ति) खूब घूम रहे हैं, जो (सहस्र-अक्षाः) हजारों आखों वाले चौकन्ने होकर (भूमिम्) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) खूब देखते हैं। राजा को अपने गुप्तचर सिपाही भी इसी प्रकार के नियुक्त करना चाहिये। उनकी हजारों आंखों से ही वह 'सहस्राक्ष' है। इसी प्रकार सभा में कार्याकार्य-विवेचन के लिये रक्खे आलोचक सभासद् भी राजा की आंखों के समान हैं उनसे वह 'सहस्राक्ष' इन्द्र है। मन्त्राधिकार में कौटल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है—

"इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्।
तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षमपि सहस्राक्षमाहुः॥"

इन्द्र की मन्त्रिसभा में हजार ऋषि उसकी आंख हैं। इसलिये दो आंख होते हुए भी उसको सहस्राक्ष कहा जाता है।

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि ५

भा०—राजा वरुण की सर्वदर्शिता। (राजा वरुणः) राजा, सबका शासक परमात्मा (तत् सर्वम्) वह सब (यत् रोदसी अन्तरा) जो इन दोनों लोकों के बीच में और (यत् परस्तात्) जो इनसे परे भी है वह सब कुछ (विचष्टे) विशेष रूप से देखता है। (अस्य) इसने (जनानां) मनुष्यों और प्राणियों के (निमिषः) पलकों की झपकों तक को (संख्याताः) गिन रक्खा है। क्योंकि (श्वघ्नी) जुआरी जिस प्रकार अपने (अक्षान्) पासों को (निमिनोति) खूब नाप जोख कर रहता है उसी प्रकार वह भी इन सब लोकों को नाप २ कर रखता, जोखता और रचता रहता है।

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥

भा०—वरुण के पाश। हे वरुण! परमात्मन्! (ये ते) आपके जो वे (पाशाः) पाश (सप्त सप्त त्रेधा) सात २ करके तीन प्रकार से (विषिताः) बंधे हैं वे पाश (सर्वे) सब, (अनृतं वदन्तं) झूठ बोलने वाले पुरुष को (रुशन्तः) मारते, पीड़ा देते हुए, (छिनन्तु) हिंसित कर डालते हैं और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तं) उसको (अति सृजन्तु) मुक्त कर देते हैं। राजा भी इसी प्रकार दण्ड-व्यवस्थाएं और जेल आदि का प्रबन्ध करे जिससे असत्यवादी पकड़े जायं और सत्यवादी मुक्त रहें।

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥

भा०—असत्यवादी के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था। हे (वरुण) राजन्! हे (नृचक्षः) सब मनुष्यों को व्यवहार चक्षु से देखने वाले! (अनृत वाक्) जो असत्य बोलता है वह (मा ते मोचि) तेरी दण्ड-व्यवस्था से छूट न जाय। (एनं) इसको तो (शतेन पाशैः) सौ पाशों से (अभि-धेहि) बांध और (जाल्मः) जालिम, अत्याचारी, आततायी पुरुष (उदरं) अपने पेट, मध्य भाग को (श्रंशयित्वा) भूमि पर गिरा कर

(अबन्धः) बिना बंधे (कोष इव) म्यान के समान (परिकृत्यमानः आस्तां) तड़पता रहे ।

यः स॑मा॒म्यो॒३ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒३ यः सं॑दे॒श्यो॒३ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्यः॑ ।
यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः ॥ ८ ॥

भा०—(वरुणः) वह वरुण है (यः) जो (सामाम्यः) सबके प्रति समान भाव से रहता है । (वरुणः) वरुण ही ऐसा है (यः व्याम्यः) जो प्रत्येक के प्रति विशेष रूप से भी रहता है । वह वरुण ही है (यः संदेश्यः) सब देश में सर्वत्र सम भाव से रहता है और (यः विदेश्यः) जो सब देश में विशेष रूप से रहता है । (वरुणः) वह वरुण ही है (यः दैवः) जो देव, विद्वानों में और (यः च मानुषः) जो मनुष्यों में भी सम रूप है । अर्थात् वरुण-राजा का और प्रभु का सबसे समान रूप से और विशेष रूप से भी सम्बन्ध रहना उचित है ।

तैस्त्वा॒ सर्वै॑र॒भि ष्या॑मि॒ पाशै॑रसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु॑ ते॒ सर्वा॑ननु॒संदि॑शामि ॥ ९ ॥

भा०—राजा दण्ड देने के समय अपराधी का नाम, माता और पिता के नाम सहित लिख कर दण्ड दे और दण्ड की आज्ञा इस प्रकार दे–हे (अमुष्याः पुत्र) अमुक माता के पुत्र ! और हे (आमुष्यायण) अमुक गोत्र और वंश के उत्पन्न पुरुष ! (त्वां) तुझको तेरे अपराध के निमित्त (तैः) उन २ (सर्वैः) सब (पाशैः) दण्डों बन्धन-व्यवस्थाओं अर्थात् धाराओं से (अभि-स्यामि) सबके समक्ष दण्डित करता हूँ और (तान्) उन (सर्वान्) सब अधिकारियों या दण्डधरों को (अनु सं-दिशामि) तदनुकूल दण्ड देने की मैं आज्ञा देता हूँ ।

अर्थात् अपराधी की दण्डाज्ञा पर अपराधी के माता पिता का नाम, बाप दादों के वंश या गोत्र का नाम और दण्डधाराओं का उल्लेख हो और जिन अफसरों को वह दण्डार्थ सौंपा जाय उनका भी उल्लेख होना उचित है ।

———

(१७) अपामार्ग ओषधि और अपामार्ग विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । १—८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ईशा॑नां त्वा भेष॒जाना॒मुज्जे॑ष॒ आ र॑भामहे ।
च॒क्रे स॒हस्र॑वीर्यं॒ सर्व॑स्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

भा०—ओषधि को सहस्रगुण वीर्यवान् करने का उपदेश करते हैं । हे ओषधे ! (त्वा) तुझको (सर्वस्मै) सब प्रकार के रोगों के लिये मैं (सहस्रवीर्यं) सहस्रगुण शक्ति वाला करता हूँ और (भेषजानाम्) सब रोगहारक औषधों में से (ईशानां) सबसे अधिक सामर्थ्य वाली (त्वा) तुझको (उत्-जेषे) रोग पीड़ाओं पर विजय और वश करने के लिये (आरभामहे) हम तुझे तैयार करते हैं । ओषधि के सहस्रगुण करने के लिये उस वनस्पति को 'ओषधि' बना लेना चाहिये । ओष–धि = टिंक्चर, उसके सहस्रवीर्य करने का उपाय 'होमियोपैथी' चिकित्सा में बतलाया जाता है ।

स॒त्य॒जितं॑ शपथ॒याव॑नीं॒ सह॑मानां पुनः॒स॒राम् ।
सर्वा॒ः सम॒ह्व्योष॑धीरि॒तो न॑ः पारया॒दिति॑ ॥ २ ॥

भा०—मैं (सत्यजितं) अपने यथार्थ बल से रोग पर वश करने वाली (शपथयावनीम्) शपथ = [अं] शपथ = सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम अंशों द्वारा शरीर में प्रवेश करने अथवा रोगी के आक्रोश, कष्ट, चीत्कारों को दूर करने (सहमानाम्) और रोग का अधिकाधिक नाश करने वाली, (पुनः सराम्) बार २ रोगी के मल मूत्र को अधिक मात्रा में बाहर करने वाली विरेचक या बार २ शरीर में प्रवेश करने वाली, मात्रा में कई बार दी जाने योग्य का मैं प्रयोग करूं और इसी प्रकार (सर्वाः ओषधीः) सब ओषधियों को मैं (समह्वि) एकत्र करूं जिससे वे (इतः) इन रोगों से (नः) हमें (पारयात्) मुक्त करें ।

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

अथर्व० १ । २८ । ३ ॥

भा०—विषम व्याधि का स्वरूप। (या) जो व्याधि (शपनेन) कुवचनों से (शशाप) रोगी को अधिक २ कुवचन कहलाती है और (या) जो (मूरं) मूर्छाकारी (अघं) न दबने वाले विकार को (आदधे) धारण करती है, (या) जो (रसस्य हरणाय) शरीर का बल नाश करने के लिये (जातम् आरेभे) उत्पन्न बालक को पकड़ लेती है, सम्भव है (सा) वह (तोकम्) तोक, अल्प बल बच्चे को (अत्तु) खा जाय नाश करती है। (२) अथवा जो ओषधि पुरुष को बहुत बुलवावे, मूर्छा करे, बलनाशक रोग को उत्पन्न करे वही (तोकम्) कष्टदायी रोग को नाश करे। जो विष जिस प्रकार के रोग उत्पन्न करता है वही उसको सूक्ष्म, तीव्र यात्रा में दूर भी करता है।

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥ ४ ॥

अथर्व० ५ । ३१ । १ ॥

भा०—रसवती ओषधि के घातक-प्रयोग करने का दण्ड–हे राजन्! (यां) जिस विषम औषध-प्रयोग को (ते) वे औषध तैयार करने वाले लोग (आमे पात्रे) कच्चे मिट्टी के बर्तन में (चक्रुः) तैयार करते हैं और (यां) जिसको (नीललोहिते) नीले और लाल अर्थात् अधपके पात्र में बनाते हैं और (यां कृत्यां) जिस घातक प्रयोग को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस अर्थात् ओषधि के गुद्दे में या रोगी के उस कच्चे मांस में जिसमें ओषधि का वीर्य सहन करने की सामर्थ्य न हो (चक्रुः) प्रयोग करते हैं। हे राजन्! (तया) उस रीति से (तू) उन (कृत्याकृतः) विघातक ओषधि प्रयोग करने वालों को (जहि) मार, उनको दण्ड दे। पारद आदि रस

भस्मों के तैयार करने के लिये कच्चा, अधकच्चा पात्र नहीं चाहिये, पक्का पात्र होना उचित है, नहीं तो पुष्ट आदि देने का समय उसका टूट फूट कर हानि पहुँचाना सम्भव है। इसी प्रकार ओषधि तैयार करने के लिये ओषधि का परिपक्व भाग लेना चाहिये। मांस शब्द से गूदा कहा गया है। कच्चा ओषधि का गूदा नीरस एवं पूर्णवीर्य न होने से अनर्थकारी हो सकता है या रोगी का वह मांस जो ओषधि का बल न सह सके उसमें पिचकारी द्वारा प्रवेश कराने से रोगी की मृत्यु होना सम्भव है।

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥
अथर्व० ७ । २३ । १ ॥

भा०—रस, ओषधियों से व्याधियों का नाश। हे पुरुष! (दौःस्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों के आने, (दौर्जीवित्यम्) दुःख से जीने, फेंफड़ों में सांस लेने के समय पीड़ा होने आदि रोग को, (रक्षः) विघ्नकारी (अभ्वम्) निर्बलताकारी (अराय्यः) देह की कान्ति के विनाशक (दुर्णाम्नीः) बुरे रूप रंग वाली व्याधियों को और (दुर्वाचः) बदनाम करने वाली पाप व्याधियों का दुःखजनक चीत्कार, बड़बड़ाहट पैदा करने वाली बीमारियों को, (अस्मत्) हम अपने से (नाशयामसि) दूर करें।

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ६ ॥

भा०—महाव्याधिनाशक ओषधियों के गुण—(क्षुधामारम्) भूख के कारण मारने वाली मृत्यु = भस्मकरोग को, (तृष्णा-मारम्) तृष्णा के कारण मारने वाले, रोग, पित्तदाह को, (अगोताम्) गौ = इन्द्रियों के भीतर शिथिलता प्राप्त कराने वाले और (अनपत्यताम्) बालक आदि का जन्म न होने देने वाले बन्ध्यात्व, नपुंसकत्व आदि (सर्वं तद्) समस्त रोगों को, हे (अपामार्ग) रोगविनाशक ओषधे! (त्वया) तेरे बल से (वयं अपमृज्महे) हम दूर करते हैं। नाना रोगहारी ओषधियों का

'अपामार्ग' यह पारिभाषिक नाम प्रतीत होता है। "अपमृज्यते रोगो येन सोऽपामार्गः, अथवा अपमार्ष्टि दोषान् इति अपामार्गः।"

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥

भा०—उसी बात को पुनः दृढ़ करते हैं—हे (अपामार्ग) रोगों को दूर करने वाली ओषधे! (त्वया) तेरे बल से (वयं) हम (तृष्णा-मारं) प्यास के रोग को, (क्षुधा-मारं) भूख के रोग को और (अक्ष-पराजयम्) इन्द्रिय-नाशक रोग को तथा (तत् सर्वं) उसी प्रकार अन्य सब रोगों को, (अप मृज्महे) विनाश करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

भा०—(अपामार्गः) रोगनिवारक ओषधि (सर्वासां ओषधीनाम्) सब ओषधियों में से (एक इत्) एक ही सबसे अधिक (वशी) रोगों पर वश करने हारी है, (तेन) उससे हे रोगिन्! (ते) तेरे (आस्थितं) शरीर में बैठे रोग को (मृज्मः) दूर करें और (त्वम् अगदः चर) तू नीरोग होकर विचर, जीवन यापन कर। प्रधान और गौण ओषधि विचार चरक, कल्पस्थान में देखें।

---

(१८) 'अपामार्ग' विधान का वर्णन।

शुक्र ऋषिः। अपामार्गो वनस्पतिर्देवता। १—५, ७, ८ अनुष्टुभः। ६ बृहतीगर्भा अनुष्टुप्। अष्टर्चं सूक्तम् ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

भा०—आयुर्वेद दिन रात के समान एक सत्य विद्या। जैसे (सूर्येण समं ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश सूर्य के साथ रहता है और (रात्री) रात्रि

(अह्वा) दिन के (समावती) साथ सदा सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार यह सत्य है उसी प्रकार के (सत्यं) सत्य को मैं (ऊतये) प्राणियों की रक्षा के लिये (कृणोमि) प्रकट करता हूँ। जिससे (कृत्वरीः) सब विनाशकारी विधियां (अरसाः सन्तु) विषैली, घातक न हों, वे निर्बल हो जायं। सूर्य के प्रकाश की सत्य के साथ उपमा हो।

यो दे॑वाः कृ॒त्यां कृ॒त्वा हरा॒दवि॑दुषो गृ॒हम्।
व॒त्सो धा॒रुरि॑व मा॒तरं॒ तं प्र॒त्यगुप॑ पद्यताम् ॥ २ ॥

भा०—वैद्यों के लिये राजनियम का उपदेश। हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (यः) जो पुरुष (कृत्यां कृत्वा) अपने ओषधि के विषम प्रयोग करके (अविदुषः) अनजान पुरुष के (गृहम्) घर, देह को (हरात्) हर ले, विनाश कर दे तो जिस प्रकार (धारुः वत्सः) दूध पीने वाला बालक (मातरम् इव) अपनी माता के पास पहुँच जाता है उसी प्रकार उस विषम ओषधि का प्रयोग भी (प्रत्यक्) फिर से लौट कर (तं उपपद्यताम्) उसको ही प्राप्त हो। अर्थात् जो भोले लोगों को जान विषैली ओषधियां धोके से देकर ले ले उसको राजा उसी तरह के विष खिलाकर मरवावे।

अ॒मा कृ॒त्वा पा॒प्मानं॒ यस्तेना॒न्यं जिघां॑सति।
अश्मा॑न॒स्तस्यां॑ द॒ग्धायां॑ बहु॒लाः फट् क॑रिक्रति ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कोई पुरुष (पाप्मानं कृत्वा) पाप, घातक या विस्फोटक प्रयोग (अमा) किसी के साथ या कच्चे पात्र में करके (तेन) उससे ही (अन्यं) दूसरे पुरुष को (जिघांसति) मार देना चाहता है (तस्यां) उस घातक प्रयोग के (दग्धायां) नष्ट या ज्वलित हो जाने पर (बहुलाः अश्मानः) बहुत से पत्थर या शस्त्रास्त्र (फट् करिक्रति) फट कर उसका स्वयं विनाश करते हैं। पाप कर्मों के करने वाले अथवा दूसरों की जान लेने वालों को पत्थरों से मार मार कर प्राणदण्ड हो। अथवा

(बहुला: अश्मानः) बहुत से शिला के समान कठोर जल्लाद उसकी (फट् परिक्रति) ताड़ना करें ।

पं० ग्रिफिथ के मत में—(अमा कृत्वा पाप्मानं) कच्चे मट्टी के बर्तन में 'पाप्मा' विस्फोटक पदार्थ रखकर (यः तेन अन्यं जिघांसति) जो उससे अन्य को मारना चाहता है (तस्यां दग्धायां अश्मानः बहुला फट् करिक्रति) उसके जलाने पर बहुत से पत्थर के टुकड़े 'फट्' आवाज करके फूटते हैं। इस प्रकार विस्फोट 'बम्ब' या डिनामाइट् रचने की विधि प्रतीत होती है। वास्तव में यह दृष्टान्त है। अर्थात् जिस प्रकार कोई कच्चे बर्त्तन में बारूद रखकर दूसरे पर चलाना चाहे तो वह बारूद आग लगते ही स्वयं फट कर उसको लगती है उसी प्रकार दूसरे के ऊपर प्रयोग करने वाले को उसका पाप स्वयं फूटकर उस पर दण्डकारी होता है।

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ् छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

भा०—हे (सहस्र-धामन्) अनन्तकीर्ति, राजन् ! (त्वं) तू (वि-शिखान्) विषम प्रयोगों के करने वाले पुरुषों को (वि-ग्रीवान्) ग्रीवा-रहित करके (शायय) सुला दे, शान्त कर दे और (कृत्यां) जो विषम प्रयोग को (प्रति चक्रुषे) बदला लेने के भाव से करे (प्रियावते प्रियम् इव) प्रियतम जैसे प्रियतमा के पास पहुँच जाता है उसी प्रकार तू उसकी वह अनर्थकारी हरकत उसके पास ही (हर) पहुँचा। उसी से उसको दण्डित कर।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

भा०—(अनया) इस प्रकार की इस (ओषध्या) दुष्टों की दुष्टता को जलाने वाली रीति से मैं (सर्वाः कृत्याः) सब प्रकार की उन अनर्थकारी घातक क्रियाओं को (अदूदुषम्) विनाश करूं। (यां) जिनको लोग

(क्षेत्रे) खेतों में (गोषु) गौओं में (यां वा ते) या जिनको तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) दुष्ट लोग प्रयोग करते हैं।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

अथर्व० ५। ३१। ११ ॥

भा०—(यः चकार) जो बुरा काम करने का यत्न करता है परन्तु (न कर्तुं शशाक) कर न सके (अंगुरिम्, पादं) वह अपने ही अंगुलियों या हाथ पैर को (शश्रे) तोड़ लेता है। इस प्रकार वह (अस्मभ्यं) हमारे लिये तो (भद्रं चकार) ठीक ही करता है कि कर न सका, पर तो भी (सः) वह (आत्मने) अपने लिये (तपनं चकार) पीड़ा प्राप्त करने या पछताने का ही कार्य करता है।

अपामार्गोप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (क्षेत्रियं) माता पिता के देह से उत्पन्न या राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली व्याधि और भय को और (यः च) जो (शपथः) परस्पर निन्दा कलह को (अपमार्ष्टु) दूर कर दे वही उपाय (अपामार्गः) 'अपामार्ग' है, क्योंकि वह (सर्वाः) सब प्रकार के (यातुधानीः) पीड़ाकारिणी और (अराय्यः) राष्ट्र की लक्ष्मी नामक चालों, को (अपाह) दूर कर देता है।

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

भा०—हे (अपामार्ग) राष्ट्र के संकटदायक, कण्टक, विघ्नकारियों को दूर करने हारे अपामार्ग नामक विभाग ! (त्वया) तुझ द्वारा (वयं) हम (सर्वं तद्) वह सब कुछ (अप मृज्महे) दूर करते हैं और (यातुधानान्) पीड़ाकारी पुरुषों को (अपमृज्य) दूर करें और (सर्वाः अराय्यः)

सब प्रकार की अलक्ष्मी या इल्लतों बलाओं, राष्ट्र के साथ चिपटी कलङ्कप्रद रीतियों को (अप) दूर करें ।

वेद के अपामार्ग विधान को अर्थशास्त्र का 'कण्टकशोधन' प्रकरण समझना चाहिये ।

---

(१९) अपामार्ग-विधान का वर्णन ।

शुक्र ऋषिः । अपामार्गो वनस्पतिर्देवता । २ पथ्यापंक्तिः, १, ३–८ अनुष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि जामिकृत् ।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥ १ ॥

भा०—अपामार्ग विधान । हे अपामार्ग ! राष्ट्र के अपकारियों के नाशकारी विधान ! (उत) और तू (अबन्धुकृत्) दुष्ट पुरुषों को राजा का अबन्धु = शत्रु बनाने वाला है और (उतो नु जामि-कृत् असि) उनको राजा का मित्र भी बना देता है, अथवा (उतो अबन्धुकृत् असि) हे अपामार्ग ! तू शत्रुओं का नाशक है और (उतो नु जामि-कृत् असि) तू सहज शत्रुओं का भी विनाशक है । (उतो) और (कृत्या-कृतः) गुप्त रूप से घात करने हारे पुरुष की (प्र-जाम्) आगे जाने वाली सन्तति को (वार्षिकम् नडम्-इव) वर्षा-काल में पैदा हुए नड़ = तृण के समान (आ च्छिन्धि) काट ही डालता है । कण्टकशोधन करने पर बहुत से राजा के शत्रु हो जाते हैं और उसके प्रयोग से और क्षणिक अनर्थकारी लोगों के षड्यन्त्र बन्द हो जाते हैं ।

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥२॥

भा०—अपामार्ग विधान की उत्पत्ति । हे अपामार्ग विधान रूप ओषधे ! अनर्थकारियों के संतापकारक उपाय ! (नार्षदेन = नार-सदेन)

नर अर्थात् नेता लोगों की परिषद् में बैठने वाले (कण्वेन) विद्वान् मेधावी (ब्राह्मणेन) ब्रह्मवेत्ता पुरुष ने (परिउक्ता असि) तेरा सब प्रकार से प्रवचन या प्रयोग किया है। इसलिये तू (त्विषी-मती) बलवती, कान्तिमती, तेजस्विनी (सेना-इव) सेना के समान (एषि) राष्ट्र में आता है और (यत्र प्र- प्राप्नोषि) जहां प्राप्त होता है (तत्र भयम् न अस्ति) वहां भय नहीं रहता। यह वह हथियार-बन्द पुलिस का बिभाग है जो दङ्गों को, बलबैयों और लुटेरों-चोरों-डाकुओं को नाश करने के लिये नियत किया जाता है। उस विधान का, राजसभा के विद्वान् लोग सब पहलुओं से विचार करके, प्रयोग करें। बनस्पतियों के पक्ष में—अपमार्ग का प्रयोग, ब्राह्मण, यष्टि, कण्व और नार्षद नामक औषध के साथ करने से गुणकारी होता है।

अग्रमे॒ष्योष॑धीनां॒ ज्योति॑षेवाभिदी॒पय॑न् ।
उ॒त त्रा॒ता॑सि॒ पाक॒स्याथो॑ ह॒न्ता॑सि॒ र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

भा०—(ज्योतिषा) तेज से (अभिदीपयन्) प्रकाशमान् सूर्य जिस प्रकार सब तेजस्वी पिण्डों में सबसे अधिक तेजस्वी है, उसी प्रकार यह अपामार्ग विधान भी सब (औषधीनां) शत्रु संतापदायक उपायों में (अग्रम्) सबसे श्रेष्ठ (एषि) होता है। (उत) और (पाकस्य त्रातासि) पाक = परिपक्क करने योग्य, निर्बलों की रक्षा करने और (रक्षसः) विघ्न करने वाले का (हन्ता असि) विनाश करने वाला है। ओषधि पक्ष में— ओषधि जठर में अपक्क अन्न को पचाता और पाचन अग्नि की रक्षा करता और बलनाशक रोगों का नाशक है।

यद॒दो दे॒वा असु॑रां॒स्त्वया॒ग्रे नि॒रकु॑र्वत ।
तत॒स्त्वमध्यो॑षधेपामा॒र्गो अ॑जायथाः ॥ ४ ॥

भा०—हे अपामार्ग ! (यत्) क्योंकि (अदः) उस उत्तम राष्ट्र में (देवाः) विद्वान् पुरुष (अग्रे) पूर्वकाल में (त्वया) तेरे बल से ही (असुरान्) असुर लोकों को (निः-अकुर्वत) पराजित करते हैं। (ततः)

इस कारण ही हे ओषधे ! हे तापकारिन् (त्वम्) तू (अपामार्गः) 'अपामार्ग' नाम से (अपि अजायथाः) सर्वोपरि है ।

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥ ५ ॥

भा०—शत्रु के नाश के लिये 'अपामार्ग-विधान' में 'भेद' उपाय का निरूपण करते हैं—हे अपामार्ग नाम विधान ! तू (शतशाखा) सैकड़ों शाखा वाला होकर (विभिन्दती) शत्रुओं में फोड़ डाला करता है, इसलिये (ते पिता) तेरा परिपालक राजा स्वयं (विभिन्दन्) शत्रु पक्ष में फूट डालने हारा होने से 'भेद' कारी है । अतः (त्वं) तू भी (तं) उसको (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) दास बनाता या प्रत्यक्ष विरोध से नाश करता है उसको (प्रत्यक्) प्रबलता से (वि भिन्धि) नाना प्रकार से फोड़ डाल ।

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

भा०—(असत्) दुष्ट कार्य (भूम्याः समभवत्) भूमि से उत्पन्न होकर (महद् व्यचः) और वह बड़े रूप में फैल कर (तद् द्याम् एति) चाहे आकाश तक ऊंचा हो जाये (तत् वै) तो भी वह निश्चय से (ततः) से (कर्त्तारम् विधूपायत्) करने वाले कर्त्ता को ही नाना सन्ताप देता हुआ (प्रत्यक् ऋच्छतु) फिर उसी पर आ पड़ता है । अर्थात् कोई बुरा काम कहीं से भी उठे, वह एक न एक समय राज-दण्ड या ईश्वरीय दण्ड द्वारा पुनः उसी पर दण्ड रूप में आता है ।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ मनु० ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥ ७ ॥
अथर्व० ७ । ६५ । १ ॥

भा०—'अपामार्ग-विधान' की 'अपामार्ग' ओषधि से तुलना। जिस प्रकार अपामार्ग के फल उसकी दण्डी पर उलटे लगे रहते हैं उसी प्रकार हे अपामार्ग विधान! (त्वं प्रतीचीनफलः) तू प्रतिचीन उलटे फलों वाला है अर्थात् प्रथम दुःखकर और फिर फल में सुख-कर ही होता है। क्योंकि तू (प्रत्यङ् सम्बभूविथ) जिन पर अपामार्ग विधान का प्रयोग किया जाता है उनके प्रति प्रत्यङ् = प्रतिकूल होकर प्रयुक्त होता है इस कारण (सर्वान्) सब (मत् शपथान्) मेरे प्रति उठने वाले निन्दा वचनों और निन्दकों को (यवय) विनाश कर और (वरीयः) अधिक से अधिक उठने वाले (वधम्) हथियारों वा हत्या प्रयोग को भी (अधि यवय) दबा कर नष्ट कर दे। अपामार्ग-विधान से राजा अपने निन्दकों और हत्या-कारी प्राणघाती विरोधियों को भी दबावे।

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

भा०—हे (वीरुधां पते) नाना प्रकार से शत्रुओं को रोकने वाली सेनाओं और दण्डधाराओं के परिपालक पूर्वोक्त 'अपामार्ग' अर्थात् कण्टक-शोधन में समर्थ दण्ड-विधान! तू (उग्रः) उग्रस्वभाव होकर (ते) तेरे (ओज्मानम्) ओजः, तेज, रोब, प्रजाओं पर विशेष दबदबे को (इन्द्रः) राजा (आदधत्) धारण करता है और तू (मां) मुझ राष्ट्र को (शतेन) सौ प्रकार से, सैकड़ों प्रकारों से (परि पाहि) परिपालन कर और (सहस्रेण) सहस्रों उपायों से (मा अभि रक्ष) मुझे सुरक्षित रख। प्रजा के भीतरी प्रमाद और निर्बलताओं से और बाहर के आक्रमणों और दुर्घटनाओं से राजा अपने कानूनी बल से समर्थ होकर राष्ट्र की रक्षा करे।

---

(२०) दर्शनशक्ति का वर्णन ।

मातृनामा ऋषिः । मातृनामा देवताः । १ स्वराट् । २-८ अनुष्टुभः । ९ भुरिक् ।
नवर्चं सूक्तम् ॥

आ पंश्यति प्रतिं पश्यति परां पश्यति पश्यति ।
दिवमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यति ॥ १ ॥

भा०—दृक् शक्ति का वर्णन । हे देवि ! हे दृक्-शक्ति ! तेरे सामर्थ्य से (आ पश्यति) पुरुष सब ओर देखता है (प्रति-पश्यति) और प्रत्येक पदार्थ को देखता है (परा पश्यति) दूर के पदार्थों को भी देखता है । (दिवम्) द्यौः, सूर्य (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, वायुस्थान, (आत्) और उससे उतर कर (भूमिम्) इस भूमि, स्थूल, पदार्थ (तत् सर्वं) उन सबका (पश्यति) दर्शन करता है । ज्ञानी दृक् शक्ति द्वारा समीप और दूर के सब पदार्थों पृथिवी, वायु, आकाश और पांचों तत्वों को जान कर पुनः ब्रह्म का भी ज्ञान कर लेता है । दृक्शक्ति रूप आत्मा का वर्णन देखो योग-दर्शन अ० २ । सू० २७ ॥

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(तिस्रः दिवः) तीन द्यौः, प्रकाशमय ऊर्ध्वगति रूप दिव्य लोकों को और (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों-भूमियों को और (षट् च) छः (इमाः प्र-दिशः) इन प्रदिशाओं को और (सर्वा भूतानि) समस्त प्राणियों को हे (देवि ओषधे) दिव्य तेज को धारण करने हारी (त्वया) तेरे सामर्थ्य से (अहं) मैं (पश्यानि) देखूं ।

दिव्यस्यं सुपर्णस्य तस्यं हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥

भा०—दृक्शक्ति की शरीर और अन्तः-करण में स्थिति । हे देवि ! दृक्शक्ति ! तू (तस्य) उस (दिव्यस्य) प्रकाशस्वरूप, दिव्य गुणों से युक्त

ज्ञानी (सुवर्णस्य) उत्तम पालन, एवं ज्ञानों से युक्त आत्मा की (कनीनिका) प्रकाशकारिणी शक्ति (ह असि) निश्चय से है, (सा) वह तू दृक्शक्ति (भूमिम्) उस आत्म-भूमि अर्थात् आत्मा रूप भूमि पर (रुरोहिथ) इस प्रकार चढ़ी रहती है जिस प्रकार कि (वधूः इव) नववधू (श्रान्ता) थक कर (वह्यं) रथ वा पालकी पर बैठती है ।

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

भा०—(सहस्र-अक्षः) सहस्र चक्षुओं वाले (देवः) परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक, सर्वद्रष्टा (तां) उस दृक्-शक्ति चेतना को (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ में (आदधत्) रखता है । (तया) उसके सामर्थ्य से (अहं) मैं (सर्वं) सबको (पश्यामि) देखता हूँ (यः च) चाहे कोई (शूद्रः) शूद्र, भृत्य हो (उत आर्यः) या उच्च कोटि का स्वामी, पुरुष हो ।

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

भा०—हे देवि ! दृक् शक्ते ! चेतने ! तू (रूपाणि) नाना प्रकार के रूपों को (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर (आत्मानम्) अपने को (मा अपगूहथाः) मत छिपा । (अथो) और हे (सहस्रचक्षो) सहस्रों शक्ति-रूप नयनों से युक्त ! (त्वं) तू (किमीदिनः) अब क्या, अब क्या इस प्रकार भूखी प्यासी विषयलोलुप इन्द्रियों वा लोगों और मन, वासनाओं का (प्रति पश्याः) निरीक्षण कर ।

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

भा०—हे देवि ! दृक्-शक्ते ! ओषधे ! (मा) मुझको (यातुधानान् दर्शय) अन्तरात्मा में पीड़ा पहुँचाने वाले काम, क्रोध, लोभ आदि दुष्ट भावों का ज्ञान करा और (यातु-धान्यः) पीड़ादायक मानस दुष्प्रवृत्तियों

का भी (दर्शय) साक्षात् करा। (सर्वान् पिशाचान्) और शारीरिक शक्तियों को भस्मीभूत करने वाले अन्य दुष्ट विषयों के भी वास्तविक स्वरूप का साक्षात् (दर्शय) परिचय करा (इति) इसी प्रयोजन से हे (ओषधे) दुःख, पापों से दाह करने और ज्ञान को धारण करने वाली विवेक-ख्याते ! (त्वा) तेरा (आ रभे) मैं अवलम्ब लेता हूँ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

भा०—हे देवि ! दृक् शक्ते ! (कश्यपस्य) कश्यप अर्थात् ज्ञान का पान करने हारे, तत्वद्रष्टा, ज्ञानी, योगी की तू (चक्षुः असि) आंख है। (च) और (चतुर-अक्ष्याः) चार आंख वाली-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों या चार वेदों से दर्शन करने वाली (शुन्याः) शुनी, सुखमयी प्रमा या वेद वाणी या चितिशक्ति की भी तू आंख है। (वीध्रे) आकाश में (सर्पन्तं) गति करते हुए (सूर्यम्-इव) सूर्य की न्यांई उसी प्रकार (वीध्रे सर्पन्तं) स्वभावतः शुद्ध आत्माकाश में स्वच्छन्द गति करने हारे (मा पिशाचं) मेरे पिशाच भावों को तू (तिरः करः) तिरस्कृत कर दे। वौ धिन्धेरित्यौणादिकोरक् (उणा० २। २६) विशेषेणेन्धते दीप्यते तद्वीध्रम्। स्वभावशुद्धः। इति दयानन्दः औणादिव्याख्यायाम्। विविधम् इन्धते।

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम्।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥

भा०—(किमीदिनं) अब क्या भोग करूं, अब क्या भोग करूं इस प्रकार विषयलोलुप (यातुधानं) परिणाम में विषम फल, कष्ट पीड़ा उत्पन्न करने हारे विषयाभिलाषी चित्त को मैं (परि-पाणाद्) रक्षा के निमित्त (उद्-अग्रभम्) निगृहीत करता हूँ, उसको विषयों में जाने से रोकता हूँ। तब (तेन) उस संयत, विषयों से निरुद्ध, एकाग्र चित्त द्वारा (आर्यम्) चाहे वह उच्च गुणों से युक्त पुरुष हो (उत) और चाहे

(शूद्रम्) सेवा करने वाला गुणहीन पुरुष हो उसको भी (पश्यामि) समदृष्टि से देखता हूँ ।

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।

भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो पिशाच भाव (अन्तरिक्षेण पतति) हृदयाकाश में विचरता है, (यश्च दिवं अति सर्पति) और जो मस्तिष्क अर्थात् विचार में गति करता है (भूमिं यः मन्यते नाथम्) और जो पिशाच कर्म शरीर-भूमि में आश्रय पाये हुए हैं (तं पिशाचं प्रदर्शय) उस पिशाचभाव का प्रदर्शन करा। अथवा 'पिश' अर्थात् रूप अवयववान् पदार्थों में भी व्यापक सूक्ष्म आत्मा है उसका दृक्शक्ति दर्शन करावे ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

---

(२१) गो-कीर्त्तन ।

ब्रह्मा ऋषिः । गौर्देवता: । २–४ जगत्यः, १, ५–७ त्रिष्टुभः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।

प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥ १ ॥

ऋ० ७ । २८ । १ ॥

भा०—गौओं और इन्द्र के दृष्टान्त से इन्द्रियों और आत्मा के रहस्य का उपदेश । (गावः) गौएं जिस प्रकार आती हैं, सुख देती हैं, गोशाला में रहती हैं, प्रजाएं उत्पन्न करती हैं और स्वामी के लिये प्रतिदिन प्रातः-काल दूध देती हैं उसी प्रकार (गावः) ये ज्ञान इन्द्रियां (अग्मन्) ज्ञान योग्य विषयों तक जाकर पुनः आत्मा के प्रति लौट आती हैं (उत) और (भद्रम्) सुख को (अक्रन्) उत्पन्न करती हैं । वे (गोष्ठे) गोशाला के समान इन्द्रियों के निवासस्थान इस देह में (सीदन्तु) विराजमान हों और (अस्मे) हमें (रणयन्तु) आनन्दित करें। जिस प्रकार (प्रजावतीः)

बछड़ों आदि प्रजाओं से रहित (पुरुरूपाः) नाना प्रकार की गौएं गोशाला में वृद्धि पाती हैं उसी प्रकार ये (पुरु-रूपाः) ज्ञान को पूरण करने वाली ज्ञान-इन्द्रियां (प्रजावतीः) प्रकृष्ट ज्ञानोत्पादक होकर (इह) इस देह में (पूर्वीः उपसः) जीवन के उपःकाल, प्राथमिक जीवन ब्रह्मचर्याश्रम काल में (इन्द्राय) समृद्ध, ऐश्वर्यशील आत्मा के लिये (दुहाना) ज्ञान रस का दोहन करने वाली (स्युः) रहें।

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥२॥

ऋ० ६ । २८ । २ ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (यज्वने) यज्ञ और देवार्चन करने और (गृणते) देव की यथार्थ स्तुति करने और ज्ञानोपदेश करने वाले पुरुष को (शिक्षते) उत्तम २ ज्ञानों का उपदेश करता है और (उप ददाति इत्) उसे बहुत दान करता है (स्वं) और उसके निज 'स्व' धन या स्वरूप को भी (न मुषायति) नहीं करता। प्रत्युत (अस्य) इस आत्मा के (रयिम्) वीर्य, बल सामर्थ्य को (भूयः-भूयः) अधिकाधिक (वर्धयत् इत्) बढ़ाता हुआ ही उस (देव-युम्) परमेश्वर की कामना करने हारे, ईश्वरभक्त, पुरुष को, (अभिन्ने) अपने से अभिन्न (खिल्ये) रूप अर्थात् आनन्दमय, जहां काम क्रोध से आत्मा को पीड़ा न पहुँच सके ऐसे अभय रूप में (नि दधाति) स्थिर करता है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १ । २)।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह॥३

ऋ० ७ । २८ । ३ ॥

भा०—दीर्घ जीवन का उपदेश। (ताः) उसकी गोरूप वे इन्द्रियां (न नशन्ति) नहीं नष्ट होतीं, (तस्करः) अपहरण करने वाला चोर, मृत्यु

भी (न दभाति) योगज बल से युक्त उन इन्द्रिय सामर्थ्यों को पीड़ित नहीं करता। (आसाम् अमित्रः) इनको पीड़ा देने वाला शत्रु रूप (व्यथिः) व्यथादायी रोग भी (न आदधर्षति) उन पर अपना जोर नहीं दिखाता। (याभिः) जिन इन्द्रियों के सामर्थ्यों से (देवान्) देवों, इन्द्रियों के दिव्य सामर्थ्यों की साधना या संगति करता और (ददाति च) सत्पात्र में दान करता है वह (गोपतिः) गो अर्थात् इन्द्रियों का परिपालक जितेन्द्रिय पुरुष (ताभिः सह) उनके साथ ही (सचते) सदा बना रहता है। अर्थात् जिन इन्द्रियों अर्थात् आत्मा की शक्तियों से योगी साधना करता है वे शक्तियां मोक्ष में भी बनी रहती हैं, उनका नाश नहीं होता, वहां जरा, मृत्यु भी नहीं और न रोग है।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
(क० उप० १ । १२)

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥४॥
ऋ० ७ । २८ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार गौवों को (अर्वा) हिंसक (रेणुककाटः) पैरों से धूल उछलाने वाला, हिंसक जीव लकड़बग्घा या कसाई (न अश्नुते) खा नहीं सकता और (ताः) वे (संस्कृतत्रम् न उप अभि अभियन्ति) मांस पाचक पुरुष के पास भी नहीं पहुँचती, प्रत्युत (यज्वनः मर्तस्य) यज्ञशील मनुष्य के (उरुगायम्) विशाल (अभयम् अनु विचरन्ति) निर्भय शरण में विचरती हैं। उसी प्रकार (यज्वनः मर्तस्य तस्य) प्राणापानमय यज्ञ करने हारे साधक पुरुष की (ताः) उन इन्द्रिय शक्तियों पर (रेणुककाटः) समस्त संसार को तोड़ फोड़ कर रजोरूप में बदल देने वाला प्रलयकारी काल भी (न अश्नुते) प्रभुत्व नहीं जमा सकता और (ताः) वे शक्तियां (संस्कृतत्रम् उप) इस रचना-संस्कार को प्राप्त, संसार का पालन करने

वाले या सब संसार का परिपालक करने वाले के समीप भी (न उप-यन्ति) नहीं जातीं, प्रत्युत (तस्य) उस परम परमेश्वर के (उरु गायम्) समस्त, विश्वव्यापी, महान् (अभयन् अनु) निर्भय शरण में प्राप्त होकर (वि चरन्ति) कामनानुसार विचरण करती हैं। यह जीवनमुक्त दशा का वर्णन है।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥५॥
ऋ० ७ । ५८ । ५ ॥

भा०—गौओं के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन। जिस प्रकार लोक में गौएं ही ऐश्वर्य हैं उसी प्रकार (गावः) विषयों तक पहुँचने वाली इन्द्रियां ही (भगः) उस आत्मा की ऐश्वर्य हैं, (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् प्रभु परमात्मा (मे) मुझे (गावः) इन्द्रियां (इच्छात्) इच्छापूर्वक देता है। (गावः) गौओं के गोरस जिस प्रकार सोम में मिलाने लायक द्रव्य हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के ये रस (प्रथमस्य सोमस्य) श्रेष्ठ सोम = शम दम आदि गुण सम्पन्न आत्मा के (भक्षः) भोग्य पदार्थ हैं। हे (जनासः) मनुष्यो! (इमाः याः गावः) ये जो इन्द्रियों की सामर्थ्य, शक्ति हैं (सः इन्द्रः) वही इन्द्र = आत्मा है। (हृदा) हृदय से और (मनसा) मननशील बुद्धि से भी उसी (इन्द्रम् चित्) पूज्य इन्द्र = आत्मा को मैं (इच्छामि) प्राप्त करना चाहता हूँ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

भा०—गौओं के दूध के गुणों का उपदेश। हे (गावः) गौओ! (यूयं) तुम (कृशं) कृश निर्बल, दुपले पतले आदमी को (मेदयथ) मोटा कर देती हो और (अश्रीरं चित्) कुरूप, शोभा रहित पुरुष को (सुप्रतीकं) सुन्दर, दर्शनीय (कृणुथ) कर देती हो। हे (भद्रवाचः) कल्याण और सुखदायी वाणी को बोलने वाली गृह देवियों के समान

गौओ ! तुम लोग (गृहं) घर को भी (भद्रं कृणुत) सुखकारी बनाती हो। (वः) तुम्हारी (वयः) क्षीर, दधि आदि अन्न, भोज्य पदार्थ की प्रशंसा (सभासु) सभाओं में (उच्यते) की जाती है।

उसी प्रकार ये इन्द्रियां सूक्ष्म अणु आत्मा को स्थूल करती हैं, अरूप को सरूप करती और भद्रवाणियां उच्चारण करती हुई स्त्रियों के तुल्य इस गृहरूप देह को सुखकारी बनातीं और इनके ग्राह्य विषयों का सभाओं में नाना प्रकार से वर्णन किया जाता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वं स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

भा०—(सुयवसे) उत्तम तृण आदि चारे से युक्त देश में (रुशन्तीः) शोभा देती हुईं, तृणादि खाती हुईं (प्रजा-वतीः) प्रजा, उत्तम सन्तति से युक्त (सु-प्रपाणे) उत्तम जल-पान करने के स्थान में (शुद्धाः अपः) शुद्ध जलों को (पिबन्तीः) पान करती हुईं (वः) तुम गौओं को (स्तेनः) चोर (मा ईशत) न चुरा ले और (अघशंसः) पापकर्मा, पापी पुरुष भी तुम पर वश न करे। (रुद्रस्य हेतिः) रुद्र, परमेश्वर का या पशुपालक का (हेतिः) आयुध, वज्र (वः) तुम्हें (परि वृणक्तु) छोड़ दे। अर्थात् रौद्र-जन का शस्त्र तुम पर न गिरे।

अध्यात्म पक्ष में—सुयवस = भोग्य विषय में विचरती एवं आनन्द स्थलों में शुद्ध रसों को प्राप्त करती हुई, इन सन्तानयुक्त इन्द्रियों और घर में स्त्रियों पर स्तेन = चोर, काम, अघशंस = क्रोध वश न करे। रुद्ररूप परमेश्वर की दण्ड-व्यवस्था से भय खाकर वे पापवृत्तियों से सदा दूर रहें।

---

(२२) राजा का स्थापन।

वासिष्ठोऽथर्वा वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १—७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥१॥

भा०—राजधर्मों का उपदेश। हे (इन्द्र) सेनापते ! (मे) मेरे (इमम्) इस (क्षत्रियम्) क्षात्र-धर्म से युक्त पुरुष को (वर्धय) और बढ़ा, पुष्ट कर और (इमं) इसको (विशाम्) प्रजाओं में (एकवृषं) एकमात्र सबसे श्रेष्ठ, सभापति रूप में (त्वं) तू (कृणु) बना और (अस्य) इसके (सर्वान्) समस्त (अमित्रान्) शत्रुओं को (निर् अक्षणुहि) प्रभाव-रहित कर और (तान् सर्वान्) उन सबको (अहम् उत्तरेषु अस्मै रन्धय) "मैं बड़ा मैं बड़ा" इस प्रकार के परस्पर के संघर्षों में इसके अधीन कर।

एमं भ॑ज ग्राम॒ अश्वे॑षु गोषु॒ निष्टं भ॑ज॒ यो अ॒मित्रो॑ अ॒स्य।
वर्ष्म॑ क्ष॒त्राणा॑म॒यम॑स्तु॒ राजे॑न्द्र॒ शत्रुं॑ रन्धय॒ सर्व॑म॒स्मै ॥ २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (इमं) इस राजा होने योग्य क्षत्रिय को (ग्रामे) ग्राम में, जनसमूह में (आ भज) सबका प्रिय बना दे और (अश्वेषु गोषु) अश्वों और गौओं में अर्थात् घुड़सवारों और गोपालकों में भी प्रिय बना, (यः अस्य अमित्रः) जो इसका शत्रु है (तं निर्भज) उसको ग्राम आदि पदार्थों से पृथक् कर दे। (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों के (वर्ष्म) साम्राज्य, देह में (अयम्) यह (राजा अस्तु) सबका राजा, सबके चित्त का अनु-रंजन करने वाला हो और (अस्मै) इसके (सर्वं) सब (शत्रुं) शत्रुओं को (रन्धय) इसके अधीन कर।

अ॒यम॑स्तु॒ धन॑पति॒र्धना॑नाम॒यं वि॒शां वि॒श्पति॑रस्तु॒ राजा॑।
अ॒स्मिन्नि॑न्द्र॒ महि॒ वर्चां॑सि धेह्यव॒र्चसं॑ कृणुहि॒ शत्रु॑मस्य ॥ ३ ॥

भा०—(अयम्) यह क्षत्रिय (धनानाम्) नाना प्रकार के सुवर्ण, रजत, मुक्ता, मणि, प्रवाल आदि धनों का (धन-पतिः) स्वामी (अस्तु) हो और (अयम् राजा) यह सबका अनुरंजन करने हारा, सबमें अधिक प्रकाशमान् होकर (विशाम्) प्रजाओं का (विश्पतिः) प्रजापति, स्वामी (अस्तु) हो। हे (इन्द्र) सेनापते ! बलपते ! ऐश्वर्यवन् ! (अस्मिन्) इसमें (महि वर्चांसि) बड़े २ तेज, बल, पराक्रमों का (धेहि) आधान

स्थापन कर और (अस्य शत्रुम्) इसके शत्रु को (अवर्चसम्) निस्तेज, निर्बल (कृणुहि) कर ।

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥४॥

भा०—(घर्मदुघे) गोरस प्रदान करने वाली (धेनू इव) कामधेनु गौओं के समान (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि दोनों अपनी २ सम्पत्तियों अर्थात् वर्षा और अन्न से (भूरि वामं) बहुत सी धन सम्पत्ति को (दुहाथाम्) उत्पन्न करें। (अयं राजा) यह राजा (इन्द्रस्य) सेनापति और परमात्मा का भी (प्रियः) प्यारा (भूयात्) हो और (गवाम्) गौओं का और (ओषधीनां) ओषधियों और (पशूनां) पशुओं का भी (प्रियः) प्यारा हो ।

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥५॥

भा०—सेनापति और राजा को परस्पर मित्र रहने का उपदेश करते हैं। हे राजन् ! (ते) तुझसे (उत्तर-वन्तम्) अधिक सामर्थ्य से युक्त, बलवान् इस (इन्द्रं) सेनापति को (युनज्मि) तेरे अधीन तेरे कार्य में नियुक्त करता हूँ (येन) जिसके सामर्थ्य और आज्ञा से प्रेरित होकर सेना के वीर पुरुष (जयन्ति) शत्रु पर विजय पाते हैं (न परा जयन्ते) और कभी पराजित नहीं होते हैं और (यः) जो सेनापति (त्वा) तुझ राजा को (जनानाम्) समस्त जनों में (एक-वृषं) एकमात्र सबसे श्रेष्ठ और (मानवानां) मनुष्यों, (राज्ञाम्) और राजाओं में से भी सबसे (उत्तमम्) उत्तम (करत्) बना देता है ।

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥

भा०—हे (राजन्) प्रजा को अनुरञ्जन करने हारे राजन् ! (त्वम्

उत्तरः) तू अपने शत्रुओं से सदा ऊंचा होकर रह और (ते सपत्नाः) तेरे बराबरी का दावा करने वाले (प्रतिशत्रवः) तेरे प्रति शत्रुता दर्शाने वाले (ये के च) जो कोई भी हों वे (ते अधरे) तेरे से नीचे ही रहें। तू (एकवृषः) एकमात्र सबसे श्रेष्ठ (इन्द्रसखा) सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयतां जिगीवान्) शत्रुओं पर विजय करता हुआ (भोजनानि आभर) अपने राष्ट्र के रक्षा साधनों और खाद्य पदार्थों को प्राप्त कर।

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥७॥

भा०—हे राजन्! तू (सिंहप्रतीकः) सिंह के समान शूरवीर होकर (सर्वाः) समस्त (विशः) प्रजाओं और राष्ट्रों का (अद्धि) भोग कर और (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र के समान बलवान् होकर (शत्रून्) सब शत्रुओं को (अवबाधस्व) पीड़ित कर, अपने नीचे दबा। (एकवृषः इन्द्रसखा) तू एकमात्र सबसे श्रेष्ठ होकर तथा सेनापति का मित्र होकर (शत्रूयताम् जिगीवान्) शत्रुओं का विजय करता हुआ (भोजनानि आ खिद) उनके खाद्य पदार्थों को छीन ले आ।

---

(२३) पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। इतः परं सप्त मृगारसंज्ञानि सूक्तानि तत्र नाना देवताः। ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती। ४ अनुष्टुप्। ६ प्रस्तार पंक्तिः। १-२, ७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—ईश्वर से पापमोचन करने की प्रार्थना—(यम्) जिसको (बहुधा) ज्ञानी लोग बहुत प्रकारों से और बहुत वार (इन्धते) हृदयवेदि में एवं तदनुरूप यज्ञवेदि में भी प्रदीप्त करते हैं उस (पाञ्चजन्यस्य) पांचों जन, पांचों इन्द्रिय, पांचों भूतों में समान रूप से उपासनीय, (प्र-चेतसः)

उत्कृष्ट ज्ञानवान् (प्रथमस्य) सबके आदिभूत सर्वश्रेष्ठ (अग्नेः) सबके प्रकाशक परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ और समस्त प्रजाओं में (प्रविशिवांसम्) उत्तम रूप से या प्रेरक रूप से सर्वव्यापक होने के कारण अन्तः प्रविष्ट हुए उससे ही हम (ईमहे) यह याचना करते हैं कि (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, मानव समाज के ये विभाग पञ्चजन हैं।

यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पय॑सि प्रजा॒नन् ।
ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ २ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों में व्यापक, सब पदार्थों के ज्ञाता प्रभो ! (यथा) जिस प्रकार से तु (हव्यं वहसि) देने और स्वीकार करने योग्य पदार्थ को नाना जीवों और पञ्चभूतों में एक दूसरे के पास ले जाता और समर्पित करता है और (प्र-जानन्) अच्छी प्रकार सब विधि, नियम जानता हुआ (यथा) जिस प्रकार से (यज्ञं) परस्पर संगत, सृष्टिरूप यज्ञ को (कल्पयसि) रचता है, (एवा) उसी प्रकार (नः) हमारे (देवेभ्यः) विद्वानों, ज्ञानी पुरुषों, इन्द्रियों और दिव्य पदार्थों में भी (सु-मतिम्) उत्तम मति को (आ वह) प्राप्त करा। (सः) वह प्रभु (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे।

याम॑न्याम॒न्नुप॑युक्तं॒ वहि॑ष्ठं॒ कर्म॑न्कर्म॒न्नाभ॑गम् ।
अ॒ग्निमी॑डे रक्षो॒हणं॑ यज्ञ॒वृधं॑ घृ॒ताहु॑तं॒ स नो॰ ॥ ३ ॥

भा०—जिस प्रकार प्रतिदिन यज्ञ और पाक के अवसर में अग्नि का उपयोग यन्त्रों में ही भारी २ गाड़ियों को ढो ले जाता है, हरेक काम में उसका आश्रय लेना पड़ता है वह शत्रु का नाश करता है, सब यज्ञों को बढ़ाता और उसमें घृत की आहुति दी जाती है उसी प्रकार या उससे भी अधिक (यामन् यामन्) प्रत्येक याम = दिन (उपयुक्तं) समीपतम होकर समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य, (वहिष्ठं) समस्त संसार को वहन करने में सबसे बड़ी शक्ति रूप, (कर्मन् कर्मन्) प्रत्येक कार्य में (आभ-

गम्) सब प्रकार से भजने योग्य, (रक्षोहणं) विघ्नों और विघ्नकर्त्ताओं के विनाशक, (यज्ञवृधं) देवपूजा, दान, संगतिकरण आदि शुभ कार्यों के प्रवर्तक, (घृताहुतं) घृत = तेज = दीप्ति से सर्वत्र प्रकाशित उस (अग्नि) अग्नि की (ईडे) स्तुति करता हूँ, (सः नः मुञ्चतु अंहसः) वह ईश्वर हमें पाप से मुक्त करे।

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्।
हव्यवाहं हवामहे स० ॥ ४ ॥

भा०—(सु-जातं) सब पदार्थों में उत्तम रूप, शोभन रूप में प्रकट होने वाले (जातवेदसं) सब पदार्थों में व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वस्वामी, (विभुम्) सर्वव्यापक, अनन्त (वैश्वानरं) समस्त प्राणियों में प्रवर्तक रूप से विद्यमान, (हव्यवाहं) सबको अन्न प्राप्त कराने हारे उस (अग्नि) अग्नि की (हवामहे) हम स्तुति और उपासना करते हैं। (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे।

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स० ॥ ५ ॥

भा०—जिस प्रकार इस अग्नि की सहायता से बल या शक्ति को पदार्थविज्ञानवेत्ता उत्पन्न कर लेते और नाना प्रकार के बल सामर्थ्य के अद्भुत चमत्कारी कार्य करते हैं और दुष्टों का विनाश करते हैं उसी प्रकार (येन) जिस परमात्मा के (युजा) सहायक होने से (ऋषयः) विज्ञान के सत्य तत्वों को गहराई पर भी देख लेने वाले (बलम्) अपने परम आत्मसामर्थ्य को (अद्योतयन्) प्रकाशित करते हैं और (येन) जिसकी सहायता से (असुराणाम्) प्राणों में रमण करने वाली इन्द्रियों की (मायाः) ज्ञान और कर्मवृत्तियों को (अयुवन्त) पृथक् २ करके उनको वश करते हैं। अथवा 'असुर' बलवान् प्राणों के वेगों को वश करते हैं और (येन) जिस (अग्निना) अग्नि के बल पर (इन्द्रः) जीव (पणीन्)

व्यवहार कुशल इन्द्रियों को (जिगाय) वश करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

येन॑ दे॒वा अ॒मृत॑म॒न्ववि॑न्द॒न् येनौष॑धी॒र्मधु॑मती॒रकृ॑ण्वन् ।
येन॑ दे॒वाः स्व॒ऽराभ॑र॒न्त्स० ॥ ६ ॥

भा०—(येन) जिस सूर्यवत् तेजस्वी परमेश्वर की सहायता से (देवाः) विद्वान् लोग (अमृतम्) मोक्षसुख को (अनु-अविन्दन्) तप के अनुष्ठान से प्राप्त करते हैं और (येन) जिससे (ओषधीः) ओषधियों को और मानस वृत्तियों को (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त और आनन्द-प्रद (अकृण्वन्) बना लेते हैं और (देवाः) विद्वान् ज्ञानी गण (येन) जिससे (स्वः) उस सुखमय लोक को (आभरन्) प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पाप से मुक्त करे ।

यस्ये॒दं प्र॒दिशि॒ यद् वि॒रोच॑ते॒ यज्जा॒तं ज॑नित॒व्यं॑ च॒ केव॑लम् ।
स्तौम्य॒ग्निं ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

भा०—(इदं) यह समस्त जगत् (यद् विरोचते) जो नाना प्रकार से शोभा दे रहा है (यत् जातं) जो उत्पन्न हुआ और (जनितव्यं च) जो उत्पन्न होगा वह सब, (केवलम्) बिना किसी अन्य की अपेक्षा किये, एकमात्र (यस्य प्रदिशि) जिसके उत्कृष्ट शासन में है । (नाथितः) पापों के फल रूप दुःखों से संतप्त होकर मैं जीव उस (अग्निं) अग्निस्वरूप, पाप प्रदाहक, तेजोमय देव की (स्तौमि) स्तुति करता हूँ और (जोहवीमि) बार २ पुकार करता हूँ । (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें हमारे पापों से मुक्त करे ।

---

(२४) पापमोचन की प्रार्थना ।

द्वितीयं मृगारसूक्तम् । १ शाकरगर्भा पुरःशकरी । २—७ त्रिष्टुभः ।
सप्तर्चं सूक्तम् ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः ।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील परमेश्वर का (मन्महे) हम मनन करते हैं । (अस्य इद्) इस परमेश्वर का ही हम (शश्वत्) अनादिकाल से बराबर (मन्महे) विचार करते चले आये हैं । (वृत्र-घ्नः) सब विघ्नों और तामस आवरणों को विनाश करने वाले उस ज्योतिःस्वरूप की (स्तोमाः) स्तुतियां या यथार्थ गुण वर्णन ही (इमे) ये सब (मा) मुझे (उप आगुः) प्राप्त होते हैं, प्रकट होते, सत्य प्रतीत होते हैं । (यः) जो परमेश्वर (दाशुशः) दानशील, आत्मसमर्पक (सु-कृतः) शुभ कर्मकर्त्ता पुरुष की (हवम्) पुकार को सुन कर (एति) उसका सहायक होकर उसको प्राप्त होता है (सः नः) वह हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावे ।

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स० ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (उग्र-बाहुः) बलशाली भुजा वाला सर्व शक्तिमान् सब विघ्न बाधाओं का बाधक होकर (उग्रीणां) उग्र शक्तियों को (ययुः) परस्पर संगत करके एक साथ चलाने वाला है और (यः) जो (दानवानां) छेदन भेदन करने वाले या परस्पर को एक दूसरे में समर्पित कर देने वाले, दानव अर्थात् पञ्चभूतों के (बलं) बल सामर्थ्यों शत्रुओं की सेना बल के समान (आ-रुरोज) शिथिल करता, तोड़ डालता है और (येन) जिसने (सिन्धवः) बहने वाली नदियों को भी (जिताः) वश कर लिया है और (येन) जिसने (गावः) गौओं, पृथिवियों, सूर्यों एवं

गतिमान पिण्डों को भी वश में किया है (सः नः) वह परमेश्वर हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे ।

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणि-प्रः) मनुष्यों को चूर्ण करने वाला (वृषभः), सब सुखों का वर्षक, (स्वः-विद्) और सुख, आनन्द, मोक्ष, प्रकाश का प्राप्त कराने वाला है । (यस्मै) जिसके (ग्रावाणः) ज्ञानी, स्तुतिकर्त्ता विद्वान् लोग (नृम्णम्) ऐश्वर्य का (प्र-वदन्ति) वर्णन किया करते हैं । (यस्य) जिसका (अध्वरः) कभी नष्ट न होने वाला संसारमय चक्र (सप्त-होता) सात होताओं द्वारा सम्पादित होता है । (सः) वह (मदिष्ठः) सबसे अधिक आनन्द देने हारा परमेश्वर (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे ।

यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे ।
यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स० ॥ ४ ॥

भा०—(अस्य) जिसके (उक्षाणः) वीर्य सेचन और जल सेचन में समर्थ बैल और मेघ और (ऋषभासः) तथा ऋषभ अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष भी (वशासः) वश में हैं । (यस्मै) जिस (स्वः-विदे) स्व अर्थात् विशाल प्रकाश या तेजोमय लोक में व्यापक परमात्मा के लिये (स्वरवः) समस्त सूर्य (मीयन्ते) गति कर रहे हैं और (यस्मै) जिसके निमित्त (ब्रह्म-शुम्भितः) ब्रह्म अर्थात् स्वतः परमात्मा द्वारा वा वेद ज्ञान द्वारा (शुक्रः) शुद्ध, स्वच्छ आत्मा या शीघ्रगामी वायु (पवते) बह रहा है वह हमें पाप से मुक्त करे ।

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स० ॥ ५ ॥

भा०—(सोमिनः) आत्मवान्, ज्ञानी, सोम रस का आस्वादन करने वाले विद्वान् (यस्य) जिसके (जुष्टिं) प्रेम, कृपा की (कामयन्ते)

आकांक्षा करते हैं, (यं) जिस (इषुमन्तं) सर्वकामनामय या सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की (गविष्टौ) गो अर्थात् वेदवाणियों या ज्ञानरश्मियों के प्राप्त करने पर (हवन्ते) स्तुति करते हैं। (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) तेजः-स्वरूप महान् सूर्य (शिश्रिये) आश्रय लेता है और जिसमें (ओजः) सब बल और कान्ति विद्यमान हैं, (सः नः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स० ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो इन्द्र, परमेश्वर (प्रथमः) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ (कर्म-कृत्याय) इन संसार की रचना करने के लिये (जज्ञे) सबसे प्रथम प्रादुर्भूत होता है एवं मूलकारण रूप में विद्यमान रहता है और (यस्य) जिस (प्रथमस्य) आदि कारण का (वीर्यं) बल, शक्ति, सामर्थ्य (अनु-बुद्धम्) संसार को देख लेने के बाद विद्वान् जानते हैं (येन उद्यतः) जिससे उठाया गया (वज्रः) वज्र अर्थात् दण्ड (अहिं) सर्प के समान कुटिल पुरुषों पर (अभि-आयत) आकर गिरता है। (सः) वह हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

यः सङ्ग्रामान् नयति संयुधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि ।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (वशी) सब पर वश करने हारा, स्वतः, स्वतन्त्र होकर, सेनाओं को जैसे सेनापति (युधे) युद्ध करने के लिये (सं नयति) उचित मार्ग से ले जाता है वैसे ही जो ईश्वर (सम् ग्रामान्) जनसमूहों को अपने जीवन संग्राम में आगे बढ़ने का रास्ता दिखाता है और (यः) जो (द्वयानि) दो दो के जोड़ों को (पुष्टानि) हृष्ट पुष्ट करके सन्तानोत्पन्न करने के लिये (सं-सृजति) तैयार करता, परस्पर मिलाता है, उस (इन्द्रं) परमेश्वर को मैं (नाथितः) दुःखों से पीड़ित होकर (स्तौमि) स्तुति करता

हूँ और (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ (सः नः) वह भी हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से मुक्त करे।

(२५) पापमोचन की प्रार्थना।

तृतीयं मृगारसूक्तम्। ३ अतिशाक्करगर्भा जगती। ७ पथ्याबृहती। १, २, ४—६ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

भा०—ईश्वर की वायु और सविता रूप से स्तुति। (वायोः) वायु के समान जगत् के आधारभूत, जगत् के प्राण, प्रेरक (सवितुः) और सूर्य के समान उत्पादक परमेश्वर के (विदथानि) ज्ञान करने योग्य, परमात्मा के ज्ञापक गुणों का (मन्महे) हम मनन करते हैं। (यौ) परमात्मा के जो दोनों उत्पादक और प्रेरक रूप (आत्मन्वद्) आत्मा से युक्त अर्थात् चेतन, जंगम जगत् में (विशथः) प्राण रूप होकर प्रविष्ट रहते हैं (च) और (रक्षत) उसको विनाश होने से रक्षा करते एवं बचाते हैं इस प्रकार के तुम हे दोनों गुणो! तुम दोनों (विश्वस्य) समस्त विश्व में (परिभू) सर्वत्र व्यापक (बभूवथुः) होकर रहते हो। (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे तुम दोनों हमें पास से मुक्त करो। परमात्मा सबका उत्पादक और प्रेरक है, वह प्राण और वीर्य रूप में समस्त चेतन शरीर में विद्यमान है, यह विचार कर मनुष्य अपने प्राणों के समान अन्य के प्राणों पर अत्याचार न करे और अपने वीर्य को दिव्यांश जानकर कामांगों से पाप न करे।

ययोः सङ्ख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ० ॥ २॥

भा०—जिस प्रकार वायु और सूर्य पृथिवी पर बड़े २ कार्यों को करते हैं और जिस प्रकार दोनों मिलकर अन्तरिक्ष में रजः = वर्षाजलों

और धूलिपटलों को ऊपर उठा लेते हैं और इनकी उच्चगति को कोई अन्य पदार्थ नहीं प्राप्त कर सकता उसी प्रकार ईश्वर की भी वे दो शक्तियां हैं वात और सविता, (ययोः) जिनके आश्रय में (पार्थिवानि) पृथिवी पर होने वाले (वरिमानि) बड़े २ काम (सं-ख्याता) कहे जाते हैं। (याभ्यां) जिन दोनों शक्तियों के द्वारा (अन्तरिक्षे) इस पोल रूप आकाश में (रजः) जलमय मेघ, ज्योतिर्मय सूर्यादि लोक और नीहारिका रूप आकाश-गंगा आदि पदार्थ (युपितम्) निःशंक खड़े हैं और (ययोः) जिनसे ही (प्रायं) ऊंची स्थिति को तथा (कश्चन) और कोई भी (न) नहीं (अनुआनशे) प्राप्त कर सकता (तौ) वे दोनों सामर्थ्य (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें।

तव॑ व्र॒ते नि वि॑शन्ते॒ जना॑स॒स्त्वय्यु॒दि॑ते॒ प्रेर॑ते चित्रभानो ।
यु॒वं वा॑यो सवि॒ता च॒ भुव॑नानि रक्षथ॒स्तौ० ॥ ३ ॥

भा०—हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभा से युक्त, सूर्य के समान दीप्तिमान् परमेश्वर ! (तव व्रते) तेरे व्रत, नियमव्यवस्था में रहकर (जनासः) समस्त जन (नि विशन्ते) नियम से व्यवस्थित होकर रहते हैं और (त्वयि उदिते) हृदय में तेरे उदय होने, अर्थात् ज्ञान से प्रकाशित होने पर (प्रेरते) उत्कृष्ट पथ में गति करते हैं। हे (वायो) सबके प्रेरक ! सर्वाधार ! (सविता च) तेरा सर्वोत्पादक रूप इस प्रकार तेरे दोनों रूप (भुवनानि रक्षतः) समस्त लोकों की रक्षा करते हैं। (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां (नः) हमें (अंहसः मुञ्चताम्) पाप से मुक्त करें।

अपे॒तो वा॑यो सवि॒ता च॑ दु॒ष्कृ॒त॒मप॒ रक्षां॑सि॒ शिमि॑दां॒ च॒ सेधतम् । सं ह्यू॒॒र्जया॑ सृ॒जथः॒ सं बले॑न॒ तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (वायो) हे सर्वप्रेरक और (सविता च) सर्वोत्पादक शक्तियो ! तुम दोनों (दुष्कृतम् अपेतः) बुरे किये कामों को दूर कर देते हो जैसे प्रबल वायु वेग से मल और रोगकारी वायुओं को दूर कर देता

है और जैसे सूर्य तीव्र किरणों से मल आदि पदार्थों को शुष्क कर हर लेता है और ये दोनों शक्तियां (रक्षांसि) सब विघ्नों और (शिमिदाम् च) पीड़ा को (अप सेधतम्) दूर करती और तुम दोनों (ऊर्जया) अन्न रस से पूर्ण, पुष्टि और प्राण सामर्थ्य से (सं सृजथः) युक्त करते हो अर्थात् जीवन देते हो और (बलेन सं) बल से सम्पन्न करते हो। (तौ) वे दोनों शक्तियां (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें।

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—(सविता) सूर्य (उत वायुः) और वायु = जिस प्रकार (मे) मेरे शरीर में (रयिं) वीर्य और (पोषं) पुष्टि प्रदान करते हैं और वे दोनों (मे तनू) मेरे शरीर में (दक्षं) बल को उत्पन्न करते हैं और (अयक्ष्मतातिं) यक्ष्म = रोग जन्तु से उत्पन्न राजरोगों से मुक्त करने वाले तेज को धारण कराते हैं उसी प्रकार ईश्वर के उक्त दोनों सामर्थ्य (मे तनू रयिं पोषं) मेरे शरीर में वीर्य और पुष्टि प्रदान करें और (सु-शेवं) उत्तम सुखदायक (दक्षं) बल और ज्ञान (आ सुवतां) उत्पन्न करें। (इह) यहां, इस लोक में (अयक्ष्मतातिम् महः) रोगरहित तेज या कान्ति प्रदान करें (तौ) वे दोनों ईश्वरीय शक्तियां प्रादुर्भूत होकर (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें।

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे सवितः ! हे वायो ! आप दोनों ईश्वरीय शक्तियां (ऊतये) हमारी रक्षा के निमित्त (सु-मतिं) उत्तम बुद्धि, शक्ति (प्रयच्छतं) प्रदान करो। आप दोनों (महस्वन्तं) तेज से युक्त (मत्सरं) आनन्ददायक आत्मा को (मादयाथः) परितृप्त करते हो। (प्र-वतः) प्रकर्ष गति से जाने हारे (वामस्य) इस सुन्दर जीव को (अर्वाक्) साक्षात् सब उत्कृष्ट सुखों को

(नियच्छतं) प्रदान करो। (तौ) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें।

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।

स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

भा०—(नः) हमारी (श्रेष्ठाः आ-शिषः) ये उत्कृष्ट और शुभ प्रार्थनाएं, कामनाएं और (देवयोः) उत्तम दोनों दिव्य, दानशील देवों के (धामन्) धारण करने हारे, परम तेजःस्वरूप परमेश्वर में ही (उप अस्थिरन्) पहुँचती हैं। (सवितारं) सविता = सबके उत्पादकस्वरूप परमात्मा और (वायुं च देवं) सबके प्रेरक देव प्रभु की ही मैं (स्तौमि) स्तुति करता हूँ। (तौ) वे दोनों ही (नः) हमें (अंहस मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें। इस सूक्त में सूर्य और वायु के गुण भी स्पष्ट किये गये हैं। दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्त में ईश्वर के गुण भी स्पष्ट हैं। इससे सूर्य और वायु के समान, प्रजापति के अन्य युगल रूपों का भी वर्णन हुआ जानना चाहिये।

---

(२६) पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। तृतीयं मृगारसूक्तम्। १ पुरोष्टिर्जगती। शाक्वरगर्भातिमध्येज्योतिः। २—७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि। प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) परमात्मा की पितृशक्ति तथा मातृशक्ति ! (वां) तुम दोनों का मैं (मन्वे) मनन करता हूँ। तुम दोनों (सु-भोजसौ) उत्तम रीति से समस्त संसार को पालने वा नाना भोग देने हारी, (स-चेतसौ) तथा मानो एक समान चित्त वाली हो। (ये) जो तुम दोनों (अमिता) अपरिमित योजनों, दूरी तक (अप्रथेथाम्) विस्तृत हो। तुम दोनों (वसूनां) वास करने वाले प्राणियों और सूर्य आदि लोकों को

(प्रतिष्ठे) प्रतिष्ठा, आश्रय (हि अभवतम्) ही हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो । संसार में दो शक्तियां हैं । एक नियामक पितृशक्ति, द्यौ और दूसरी प्रेममयी मातृशक्ति, पृथिवी । परमात्मा की ये दोनों शक्तियां मानो एकचित्त होकर संसार का कार्य निर्वाह कर रही हैं इन शक्तियों का सर्वत्र प्रसार है । इन्हीं दो शक्तियों के आधार पर सब संसार और प्राणी स्थित हैं । परमात्मा की इन दो शक्तियों पर ध्यान तथा विचार करके विचारक पापों से छूट जाते हैं । पिता का नियामक रूप और माता के प्रेममय हाथ दोनों ही पापों के हटाने में शक्त हैं । इसी प्रकार का भाव अगले मन्त्रों में भी जानना चाहिये ।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते० ॥ २ ॥

भा०—हे सूर्य पृथिवी के तुल्य पितृशक्ति और मातृशक्ति ! तुम दोनों (वसूनां प्रतिष्ठे हि अभवतम्) वास करने वाले लोकों और प्राणियों के आश्रण-स्थान हो । तुम दोनों (प्रवृद्धे) बहुत बड़ी मात्रा में हो, (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्य देने वाले हो, तथा (उरूची) सर्वत्र विद्यमान हो । हे (द्यावा-पृथिवी) पितृशक्ति और मातृशक्ति ! तुम दोनों मेरे लिये (स्योने) सुखकारी (भवतं) हो और (ते) वे दोनों (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतम्) पाप से मुक्त करें ।

असन्तापे सुतपसौ हुवेहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावा० ॥ ३ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) हे पितृशक्ति और मातृशक्ति ! तुम दोनों (असम्-तापे) संताप न देने वाली हो, (सु-तपसौ) उत्तम तप से प्राप्त होने योग्य (उर्वी) विशाल (गम्भीरे) गम्भीर और (कविभिः) विद्वानों तत्वज्ञानियों द्वारा (नमस्ये) नमस्कार के योग्य हो । (मे स्योने अभवम्) तुम दोनों मेरे लिये सुखकारी हो (ते नः अंहसः मुञ्चताम्) तुम वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

ये अ॒मृतं॑ विभृ॒थो ये ह॒वींषि॒ स्रोत्या॑ विभृ॒थो ये म॑नु॒ष्या॑न् ।
द्या० ॥ ४ ॥

भा०—(ये) जो पितृशक्ति और मातृशक्ति (अमृतं बिभृथः) अमृत अर्थात् मनुष्यों के लिये अविनाशी पद धारण करती हैं (ये स्रोत्या हवींषि) और जो स्रोतों, नदी तटों पर उत्पन्न होने वाले अन्नों की पुष्टि करती हैं, (ये मनुष्यान्) जो मनुष्यों का पालन पोषण करती हैं वे (द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं) पितृशक्ति और मातृशक्ति मेरे लिये सुखकारी हों। (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे हमें पाप से मुक्त करें।

ये उ॒स्रिया॑ विभृ॒थो ये वन॒स्पती॒न् ययो॑र्वां॒ विश्वा॒ भुव॑नान्य॒न्तः ।
द्या० ॥ ५ ॥

(ये) जो तुम दोनों पितृशक्ति और मातृशक्ति (उस्त्रियाः बिभृथः) गौओं का पालन करती हो, (ये वनस्पतीन्) जो तुम दोनों सब वृक्ष वनस्पतियों का पालन करती हो, (ययोः अन्तः) जिन दोनों के बीच में (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन विद्यमान हैं वे सूर्य और पृथिवी के तुल्य पितृशक्ति और मातृशक्ति (मे स्योने भवतम्) मुझे सुखकारी हों, (ते नः अंहसः मुञ्चताम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

ये की॒लाले॑न त॒र्पय॑थो॒ ये घृ॒तेन॒ याभ्या॑मृ॒ते न किं च॒न श॑क्नु॒वन्ति॑ ।
द्यावा॑पृथि॒वी भव॑तं मे स्यो॒ने ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे पितृशक्ति और मातृशक्ति ! तुम (ये) जो दोनों (कीलालेन) अन्न से समस्त संसार को (तर्पयथः) तृप्त करती हो, (ये घृतेन) और जो तुम दोनों घृत = तेज, ज्ञान तथा जल और खाद्य पदार्थों द्वारा समस्त विश्व को पूरित करती हो, (याभ्याम् ऋते) जिनके बिना (किंचन) कुछ भी (न शक्नुवन्ति) नहीं कर सकते, (मे स्योने भवतं) वे तुम दोनों मुझे सुखकारी होओ, (ते नः अंहसः मुञ्चतम्) वे तुम दोनों हमें पाप से मुक्त करो।

यन्मेदमभि शोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—(यत्) जो (मा) मुझको (इदम्) यह मेरा किया कर्म (अभि-शोचति) हर तरफ से संताप देता है और (येन येन वा) जिस जिस कारण से प्रेरित होकर (कृतम्) किया हुआ कर्म मुझे सताता है, जो कर्म (पौरुषेयात्) पुरुष = आत्मा वा पुरुषों के लिये संकल्प से उत्पन्न सन्ताप देता है, (न दैवात्) जो देव अर्थात् ईश्वरीय काम नहीं है, उनसे (नाथितः) पीड़ित होकर मैं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी इनके समान परिपालक गुण वाली, मां बाप के तुल्य दोनों ईश्वरीय शक्तियों की (स्तौमि) स्तुति करता हूँ और (जोहवीमि) उनको पुकारता हूँ कि (ते नः अंहसः मुञ्चताम्) वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें ।

---

(२७) पापमोचन की प्रार्थना ।

मृगार ऋषिः । नाना देवताः । पञ्चमं मृगारसूक्तम् । १—७ त्रिष्टुभः सप्तर्चं सूक्तम् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

भा०—पाप से मुक्त होने के लिये विद्वानों, रक्षकों और प्राणरूप मरुतों का वर्णन । (मरुतां) मरुतों, वायुओं और उन विद्वानों के विषय में मैं (मन्वे) मनन करता हूँ । वे (मे अधि ब्रवन्तु) मुझे उपदेश करें (वाजसाते) ज्ञानप्रदान काल में या संग्राम में (इमम् वाजम्) इस ज्ञान और बल को अन्न के साथ (प्र अवन्तु) अच्छी प्रकार सुरक्षित रक्खें । मैं ऐसे विद्वानों को (सुयमान् आशून् इव) उत्तम रीति से वश करने योग्य, वेगवान् घोड़ों के समान (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) बुलाता हूँ । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से मुक्त करें । 'मरुतः = प्राणाः, भटाः, विद्वांसः' ।

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते० ॥ २ ॥

भा०—मैं (पृश्नि-मातॄन्) पृश्नि = वाणी, माता, सरस्वती या ज्ञान सूर्य या पृथिवी माता की गोद में उत्पन्न हुए (मरुतः) वायुओं के समान सर्वोपकारक विद्वानों को (पुनः) साक्षात् (दधे) आदर से हृदय में धारता हूँ, (ये) जो विद्वान् गण (अक्षितं) अविनाशी (वत्सं) ज्ञान-प्रवाह को (वि-अचन्ति) विस्तारित करते हैं और (सदा) निरन्तर (ये) जो लोग (ओषधीषु) ओषधियों में से (रसं) रस निकाल कर (आ-सिञ्चन्ति) जनों को पिलाते हैं अथवा ओषधियों में नाना रसों को प्रवेश कराते हैं (ते नः०) वे हमें पाप से मुक्त करें। वायुओं के पक्ष में—जो वायुगण मेघ से अक्षय (वत्स) जल को फैलाते हैं और वनस्पतियों में रसों को बरसाते हैं ऐसे (पृश्निमातॄन्) मध्यमिका वाक् = विद्युत् माता से उत्पन्न, या आकाश में व्यापक इन तत्वों को मैं साक्षात् अपने वश करता हूँ। दोनों पक्षों में विशेषणों का श्लेष है।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते० ॥ ३ ॥

भा०—वे आप (मरुतः) विद्वद्गण या रक्षकजन (शग्मा) शक्तिमान् होकर (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुखकारी हों, जो (धेनूनां) गौओं के (पयः) दूध को, (ओषधीनां रसम्) ओषधियों के रस को और (अर्वताम्) घोड़ों के (जवम्) वेग को (कवयः) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञानी होकर (इन्वथ) स्वयं प्राप्त करते, वश करते, एवं उपयोग करते हैं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से बचावें। वायुपक्ष में—जो वस्तुएं (धेनूनां पयः) गौओं और सूर्य-रश्मियों में दूध और जल को लातीं, (ओषधीनां रसम्) ओषधियों में रस उत्पन्न करतीं, (अर्वतां जवम्) अश्व आदि पशुओं में वेग और स्वस्थता को उत्पन्न करतीं हैं वे हमें

सुखकारी हों, वे हमें कष्ट से बचावें। अध्यात्म में—धेनु = ज्ञानेन्द्रिय, ओषधि = केशलोम, अर्वन्तः = कर्मेन्द्रियां और मरुतः = प्राणगण।

अपः संमुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
य अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते० ॥ ४ ॥

भा०—जिस प्रकार मरुत्गण (समुद्राद्) समुद्र से (अपः) जलों को (दिवम्) आकाश में (उद् वहन्ति) उठा ले जाते हैं और 'मानसून' या वर्षाओं में भरे बादलों द्वारा (दिवः) द्यौलोक आकाश से (पृथिवीम्) इस पृथिवी पर (ये) जो (अपः अभि सृजन्ति) जलों को बरसाते हैं और (अद्भि ईशानाः) जलों के द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (चरन्ति) गति करते हैं उसी प्रकार (ये) जो विद्वान् गण, ज्ञान के समुद्र से ज्ञानों को प्राप्त करके मोक्ष तक पहुँचते हैं मोक्ष से पुनः पृथिवी पर आकर ज्ञानों का उपदेश करते और उन ज्ञान सामर्थ्यों से ऐश्वर्यवान् होकर सर्वत्र विचरते हैं वे जीवन-मुक्त पुरुष हैं। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से बचावें।

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते० ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो मरुद्गण (कीलालेन) अन्न से (तर्पयन्ति) प्राणियों को तृप्त करते हैं (ये) और जो (मेदसा) पुष्टिकारक पदार्थ से (वा) ही (वयः) दीर्घ आयु को (सं-सृजन्ति) उत्पन्न करते हैं और (ये मरुतः) जो मरुद्गण (अद्भिः) जलों से (ईशानाः) शक्तिसम्पन्न होकर (वर्षयन्ति) जलों की वर्षा करते हैं (ते नः०) वे हमें सुखी करें और कष्टों से मुक्त करें। (२) जो विद्वान् कीलाल = अमृतरस से, (घृतेन) तेजोमय ज्ञान से और पुष्टिकारक पदार्थों से सबको तृप्त और पुष्ट करते और दीर्घायु होने का उपदेश करते हैं वे हमें पाप से मुक्त करें। प्राणों के पक्ष में स्पष्ट है।

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार।
युयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गणो, विद्वानो! (यदि) यदि (इदं) यह पापमय कष्ट (मारुतेन) वायुओं द्वारा या हमारे प्राणों के उपद्रवों से उत्पन्न है और हे (देवाः) विद्वान् लोगो! (ईदग्) ऐसा कष्टमय पाप यदि (दैव्येन) आधिदैविक आपत्ति के रूप में (आर) हमें प्राप्त हुआ है तो भी हे (वसवः) सबों को सुखपूर्वक बसाने हारे, सबके प्राणरक्षको! (तस्य निः-कृतेः) उसके दूर करने में (यूयम्) तुम लोग ही (ईशिध्वे) समर्थ हो। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे आप लोग हमें पापमय दुःख से मुक्त करो।

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७॥

भा०—(मारुतम्) मरुत्गण की न्याईं विद्वद्गण या रक्षकगण का बल (अनीकम्) सैनिकबल की न्याईं (तिग्मम्) तीक्ष्ण और (सहस्वत्) सहनशील, विजयकारी (विदितम्) सबों को ज्ञात है। जिस प्रकार (पृतनासु) सेनाओं में (मारुतम्) सेनापतियों का (उग्रम् शर्धः) भयंकर बल सर्वविदित है। इस कारण (नाथितः) मैं दुखी पुरुष, विद्वद्गण या रक्षकों के (स्तौमि) गुणों की स्तुति करता हूँ और (जोहवीमि) उनका स्मरण करता हूँ। (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमें पाप से मुक्त करें।

---

(२८) पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। षष्ठं मृगारसूक्तम्। नाना देवताः। १ द्व्यतिजगतगर्भा भुरिक्। २–७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

भा०—ईश्वर के दो स्वरूप एक भव = जगत् का उत्पादक और दूसरा शर्व = समस्त जगत् संहारक। ईश्वर के इन दो स्वरूपों का वर्णन।

हे (भवाशार्वौ) सर्व जगदुत्पादक शक्ते ! और सर्व-संहारक शक्ते ! (वां) तुम दोनों शक्तियों के विषय में (मन्वे) मैं विचार करता हूँ। (यद् इदं विरोचते) जो यह संसार नाना प्रकार से दिखलाई देता है वह (ययोः वाम्) जिन आप दोनों शक्तियों के (प्र-दिशि) शासन में है । (यौ) और जो तुम दोनों शक्तियां (अस्य) इस संसार पर (ईशाथे) वश कर रही हो और (यौ) जो तुम दोनों (द्वि-पदः) दोपाये, मनुष्यों और (चतुः-पदः) पशुओं पर भी वश कर रही हो (तौ) तुम दोनों (नः अंहसः) हमें पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो । संसार में उत्पत्ति तथा संहार और जन्म तथा मरण को देखता हुआ मनुष्य समझ लेता है कि शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है वह नित्य आत्मा का विचार कर अनित्य की अधिक परवाह नहीं करता । इस प्रकार उसके पाप कम होते जाते हैं, क्योंकि अनित्य ऐश्वर्य मोह से ही प्रायः पाप हुआ करते हैं।

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ ।
याव० ॥ २ ॥

भा०—(अभि-अध्वे) समीप के पदार्थ (उत) और (यद् दूरे) जो दूर के पदार्थ सब (ययोः) जिनके शासन में हैं और (यौ चिद्) जो दोनों (इषु-भृताम्) इषु = बाण, प्रेरक शक्ति को धारण करने वालों में (असिष्ठौ) सबसे अधिक वेगवान्, समस्त लोक लोकान्तरों के प्रेरक, उनको इधर उधर फेंकने वाले होते हैं। (यौ अस्य०) जिनका वश इन सब मनुष्यों और पशुओं पर भी है वे दोनों शक्तियां हमें पाप से मुक्त करें।

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
याव० ॥ ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (सहस्र-अक्षौ) सहस्रों चक्षुओं वाले, सर्वद्रष्टा, (वृत्र-हना) विघ्नों के विनाशक (दूरे-गव्यूती) गौ-इन्द्रियों के संचार या पहुँच से परे वर्त्तमान उन दोनों उत्पादक और संहारक शक्तियों का (हुवे) आह्वान करता हूँ, मन में ध्यान करता हूँ। (उग्रौ) और उन

उग्र सामर्थ्यशाली शक्तियों के (स्तुवन्) गुणों का यथार्थ वर्णन करता हुआ मैं परमात्मा तक (एमि) पहुँचता हूँ। (यौ अस्य ईशाथे०) जो इस संसार पर, सब मनुष्यों और पशुओं पर वश कर रही हैं वे दोनों शक्तियां हमें पाप से मुक्त करें।

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्टमभिभां जनेषु।
याव० ॥ ४ ॥

भा०—हे भव और शर्व दोनों शक्तियो! आप दोनों (अग्रे) सृष्टि के प्रारम्भ-काल में (बहु) बहुत से पदार्थ समूहों को (साकं) एक साथ ही (आ-रेभाथे) उत्पन्न, प्रकट करती हैं (च) और (जनेषु) जनों में अर्थात् मनुष्यों में (अभि-भास्) ज्ञान दीप्ति को भी (प्र अस्राष्टम्) पूर्व ही उत्पन्न करती हो और इस प्रकार संयोग विभाग से समस्त संसार को रच कर तुम दोनों शक्तियां (यौ ईशाथे०) समस्त संसार पर वश करती हो। वे तुम दोनों हमें पाप से मुक्त करो।

ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु।
याव० ॥ ५ ॥

भा०—(ययोः) जिन दोनों की (वधात्) आघात शक्ति या मार से अर्थात् जन्म-मृत्यु, सृष्टि-संहार रूप वज्र से, (देवेषु) देवों, संसार की प्राकृतिक रचनाओं और (मानुषेषु) मनुष्यों में से (कः चन) कोई भी (न अप-पद्यते) नहीं बच पाता, जो (यौ अस्य ईशाथे) दोनों इस संसार पर वश करती हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

यः कृत्याकृन् मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ० ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (कृत्या-कृत्) घातक क्रिया करे और (यः) जो (यातु-धानः) पीड़ा देने वाला (मूल-कृत्) अपनी जड़ का अपने आप काटने वाला है (तस्मिन्) उस पर आप दोनों भव और शर्व (उग्रौ)

भयंकर रूप से बलवान् होकर (वज्रम् निधत्तम्) उसको दुष्ट कार्यों से रोकने वाले शस्त्र या दण्ड का प्रयोग करो। (यौ अस्य ईशाथे०) जो इस संसार, मनुष्यों और चौपायों पर वश करते हैं वे दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

अधि॑ नो ब्रूतं पृत॑नासूग्रौ सं वज्रे॑ण सृजतं यः कि॑मी॒दी ।
स्तौमि॑ भवाशर्वौ ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥७॥

भा०—हे (उग्रौ) उग्रस्वरूप बलवान् भव और शर्व! आप दोनों (नः) हमें (अधिब्रूतं) उत्तम रीति से उपदेश करो और (पृतनासु) मनुष्यों में (यः) जो (किमीदी) संशयात्मा, अस्थिर चित्त या प्रत्येक पदार्थ और जीव को तुच्छ देख कर उसे नष्ट कर डालने वाला, अत्याचारी, क्षुद्रवृत्ति है उसको (वज्रेण) तुच्छ कार्य से रोकने वाले आयुध से (संसृजतम्) दण्डित करो। हे (भवाशर्वौ) भव और शर्व मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आपके गुण वर्णन करता हूँ और (जोहवीमि) पुकारता हूँ कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हमें पाप से मुक्त करें।

---

(२९) पापमोचन की प्रार्थना।

मृगार ऋषिः। सप्तमं मृगारसूक्तम्। नाना देवताः। १–६ त्रिष्टुभः। ७ शक्करीगर्भा जगती। सप्तर्चं सूक्तम्॥

म॒न्वे वां॑ मित्रावरुणावृतावृधौ॒ सचे॑तसौ॒ द्रुह्व॑णो॒ यौ नु॒देथे॑ ।
प्र स॒त्यावा॑न॒मव॑थो॒ भरे॑षु॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ १ ॥

भा०—मित्र और वरुण इन दोनों का व्याख्यान करते हैं। हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण! (वां मन्वे) मैं आप दोनों के विषय में मनन करता हूँ। आप दोनों (ऋता-वृधौ) ऋत अर्थात् सत्य, वेदज्ञान एवं इस प्राकृतिक जगत् को बढ़ाने वाले, (स-चेतसौ) समान चित्त हैं (यौ) जो (द्रुह्वणः) द्रोह करने वालों को (नुदेथे) ताड़ना करते हैं और

(सत्यावानम्) सत्य के पक्षपाती पुरुष को (भरेषु) संग्रामों या विवाद-स्थलों में (प्र-अवथः) अच्छी प्रकार रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे आप दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप से मुक्त करो।

ईश्वर के दो रूप हैं, एक सत्य-वादियों से प्रेम करने वाला और दूसरा पापियों का दमन करने वाला। इसी प्रकार राज्य व्यवस्था में दो पद सब पर मित्र दृष्टि, न्यायाधीश सत्य का पक्षपाती है, दूसरा दण्डाधीश, पापी पुरुष को दण्ड देता है। वे दोनों वेद में मित्र और वरुण नाम कहे हैं। 'अध्यात्म में—मित्र-वरुण = प्राण, अपान, सत्यावान् = आत्मा। द्रुह्वणः = काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीतरी शत्रुगण।

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ० ॥ २ ॥

भा०—आप दोनों (स-चेतसौ) समान चित्त और समा नरूप से ज्ञानवान् होकर (यौ) जो (द्रुह्वणः) सत्य और राज्य शासन के द्रोहकारी पुरुषों को (नुदेथे) ताड़ना करते हो और (भरेषु) संग्रामों यज्ञों और विवादस्थलों, व्यवहारों में (सत्य-वानं प्र अवथः) सत्यवादी पुरुष की रक्षा करते हो और (नृ-चक्षसौ) सब मनुष्यों को समान रूप से देखते हुए (यौ) जो आप दोनों (बभ्रुणा) पालन पोषण करने हारे राष्ट्र के पोषक राजा के द्वारा (सुतं) बनाये हुए राष्ट्र या पुत्र–समान प्रजा के पास (गच्छथ) आते हो। अथवा (बभ्रुणा सुतं गच्छथः) बभ्रु = पुष्ट प्रमाण से सुत = निष्कर्ष अन्तिम निर्णय पर पहुँचते हो। वे दोनों आप (नः अंहसः मुञ्चतम्) हमें पाप से मुक्त करो।

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ० ॥ ३ ॥

भा०—(यौ) जो तुम दोनों (अङ्गिरसम् अवथः) अङ्गिराः अर्थात् ज्ञानवान्, राष्ट्र के अंग २ में रस अर्थात् बल रूप से विराजमान विद्वान्

की रक्षा करते हो, (यौ अगस्तिं) और जो अगस्ति = पाप नाशक, धर्मोपदेक आचार्य पुरुष की रक्षा करते हो, हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण तुम दोनों (जमदग्निम्) जो प्रज्वलिताग्नि, तपस्वी, आहिताग्नि गृहस्थ की रक्षा करते हो और (अत्रिम्) जो अत्रि अर्थात् सर्वत्र निवास करने वाले, अन्नभोजी, अज्ञान-नाशक पुरुष की रक्षा करते हो, (यौ कश्यपं अवथः) जो कश्यप अर्थात् ज्ञान का पान करने वाले शिष्य, विद्यार्थिगण की रक्षा करते हो और (यौ वसिष्ठं) जो वसिष्ठ अर्थात् आश्रमवासी जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चतम्) वे तुम दोनों हम राष्ट्रवासियों को पाप-कर्म से मुक्त करो। अध्यात्मपक्ष को सातवें मन्त्र में स्पष्ट करेंगे।

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ० ॥ ४ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (यौ) जो आप दोनों (श्याव-अश्वम् अवथः) ज्ञान में सिद्ध अश्व अर्थात् इन्द्रियों वाले, कुशल पुरुष की रक्षा करते हो और जो (वध्रि-अश्वं) जितेन्द्रिय की रक्षा करते हो, जो (पुरु-मीढम्) बहुत धनसम्पन्न, धनाढ्य वैश्यों की रक्षा करते हो और (अत्रिणम्) धन का उपभोग करने वाले वेतनभोगी पदाधिकारी की रक्षा करते हो। (यौ विमदम् अवथः) और जो तुम दोनों मद रहित अप्रमादी पुरुष की रक्षा करते हो और (सप्त-वध्रिम्) सप्त = सर्पणशील हैं अश्व जिसके, ऐसे योद्धा, रथी पुरुष की या सात घोड़े अर्थात् इन्द्रियों के वशी, अविकलांग, स्वस्थ, नीरोग पुरुष की रक्षा करते हो, वे आप दोनों हमारे राष्ट्रवासी लोगों को (अंहसः) पाप और पाप से होने वाले कष्ट से मुक्त करो।

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ० ॥ ५ ॥

भा०—हे वरुण ! और हे मित्र ! आप जो (भरत-वाजम् अवथः) अन्न का संग्रह करने हारे उत्तम वैश्य की रक्षा करते हो, (यौ गविष्ठिरं) और जो आप गौओं पर स्थिर रहने वाले या भूमि पर स्थिर रहने वाले कृषक, गोपालक और वनस्पतियों की रक्षा करते हो और (विश्वामित्रं कुत्सम्) सबके मित्र उपदेशक और कुत्स = संशय काटने वाले और सबको मिलाये रखने वाले सज्जन, नेता पुरुष की रक्षा करते हो, (उत) और (कण्वं प्र अवथः) मेधावी, उपदेशक, गुरु अथवा कण कण से आहार करके अपना जीवन पालने वाले, उञ्छ, शिलवृत्ति करने वाले तपस्वी, व्रतधारी, ज्ञानी पुरुष की रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चताम्) वे तुम दोनों हमें पाप कर्म से मुक्त करो ।

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ० ॥ ६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (यौ) जो दोनों आप (मेधा-अतिथिम् अवथः) मेधातिथि मेधा = धारणावती बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष की रक्षा करते हो, (यौ त्रि शोकम्) जो तुम दोनों तीन शोक अर्थात् कान्तियों से युक्त, ज्ञान, वचन, कर्मवान् या कायिक, मानस और वाचिक पापों को ज्ञानाग्नि से भस्म करने वाले, शुद्ध पवित्र योगी की रक्षा करते हो, (यौ काव्यं उशनां) कवि, क्रान्तदर्शी विद्वानों के संग से उत्पन्न ज्ञान के इच्छुक जिज्ञासु की रक्षा करते हो, (यौ गोतमम् अवथः) जो तुम दोनों गोतम = आत्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा करते हो, (उत मुद्गलं प्र अवथः) और मुद्गल आनन्दमय दशा में लीन होने वाले जीवन्मुक्त पुरुष की रक्षा करते हो वे आप दोनों हमें पाप-कर्म से मुक्त करो ।

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (ययोः) जिन आप दोनों का (सत्य-वर्मा) सत्य मार्ग पर जाने वाला (ऋजुरश्मिः) सरल रश्मियों वाला या सरल आचाररूप रस्सियों से बंधा, (रथः) स्वरूप या गतिशील व्यवहार है वह (मिथुना चरन्तम्) मिथ्या आचरण करने वाले पुरुष को (दूषयन्) अपराध में पकड़ता हुआ (अभियाति) उस पर आक्रमण करता है। मैं (नाथितः) संतापित होकर (स्तौमि) आपके गुणों का यथार्थ वर्णन करता हूँ और (जोहवीमि) प्रार्थना करता हूँ कि (तौ) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः मुञ्चताम्) पाप से मुक्त करें।

राष्ट्र पक्ष में स्पष्ट है। अध्यात्मपक्ष में—प्राण और अपान योगी की निरन्तर रक्षा करते हैं। आंगरिस, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, श्यावाश्व आदि सब आत्मा की प्राण-शक्ति हैं जिनके कार्य और गुण भेद से ये नाम हैं, जैसे बृहदारण्यक में कहा है—"प्राणानेतदाह—तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे इति, प्राणा वा ऋषयः। इमावेव गोतमभरद्वाजौ (कर्णौ) इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी (चक्षुषी) इमौ वसिष्ठ (नासिके) वागेवात्रिरित्यादि। बृहदाण्यक उप० २।२। ३-४॥ दायां बायां कान गोतम और भरद्वाज हैं, दायीं बायीं आंख विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। दायीं बायीं नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप हैं, वाणी अत्रि है। इसी प्रकार श्यावाश्व = मन, वध्र्यश्व-आत्मा, पुरुमीढ = अति सम्पत्तिमान् भोक्ता आत्मा, विमद = प्रज्ञानघनरूप आत्मा, सप्तवध्रि = सप्तप्राण आत्मा, भारद्वाज = ज्ञानमय अन्नाद आत्मा, गविष्ठिर = इन्द्रियाधिष्ठित आत्मा, कुत्स = ब्रह्मयोगी आत्मा, कक्षीवान् प्राणाभ्यासी, कण्व = ज्ञानवान्, मेधातिथि = ऋतम्भरा प्रज्ञासिद्ध आत्मा, त्रिशोक = तापत्रय का नाशकारी विदेह मुक्त आत्मा, काव्य उशना—वाक्सिद्ध आप्तकाम योगी, गोतम—आत्मसाक्षात्कारी, मुद्गल = आनन्दघन योगी इत्यादि जितने ये नाम हैं सब योग की विशेष दशा में पहुँचे हुए योगीजनों के ही हैं।

---

(३०) परमेश्वरी सर्वशासक शक्ति का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । वाग्दैवत्यम्, १–५, ७, ८ त्रिष्टुभः । ६ जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
ऋ० १० । १२५ । १ ॥

भा०—ऋग्वेदे राष्ट्री देवता । वागम्भृणी ऋषिः । वागम्भृणी देवता । परमेश्वरी शक्ति का आत्म वर्णन । (अहं) मैं (रुद्रेभि) रुद्रों और (वसुभिः) वसुओं के साथ सर्वत्र विश्वरूप राष्ट्र में और (विश्वदेवैः) विश्वेदेव, समस्त विद्वानों के साथ (चरामि) शक्ति रूप में विचर रही हूँ । (अहम्) मैं (मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण (उभा) दोनों को (बिभर्मि) धारण करती हूँ, (अहम् इन्द्राग्नी) मैं इन्द्र और अग्नि को और (अहम् उभा अश्विना) मैं ही दोनों अश्वियों सूर्य, पृथिवी, दिन रात्रि को भी धारण पोषण करती हूँ । माता जिस प्रकार बच्चों को चलना सिखाने के लिये स्वयं उनके साथ २ चलती है ताकि बच्चा कहीं गिर न जाय इसी प्रकार, परमात्मा-माता भी रुद्रादि वस्तुओं के साथ स्वयं मानो गति रही है और उन्हें अपने २ मार्गों में चला रही है।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥
ऋ० १० । १२५ । ३ ॥

भा०—(अहं) मैं (राष्ट्री) सब संसार पर राज्य करने वाली ईश्वरी शक्ति हूँ । मैं (वसूनां) सब वास कराने हारे लोकों में (संगमनी) संगमन, समतोलन उत्पन्न करने वाली, सबको मिलाने वाली (चिकितुषी) सबका ज्ञान करने और सबको ज्ञान कराने वाली, (यज्ञियानां प्रथमा) सब यज्ञयोग्य पूजा योग्य देवों में सबसे प्रथम, उत्कृष्ट हूँ । (तां) उस (भूरि-स्थात्रां) नाना पदार्थों में स्थित होकर उनकी रक्षा करने वाली (मां)

मुझको (देवाः) विद्वान् लोग (भूरि) बहु मात्रा में (आवेशयन्तः) अपने हृदयों में प्रवेश करते हुए (वि-अदधुः) मेरा विविध रूप से या विशेष रूप से ध्यान करते हैं।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥
ऋ० १० । १२५ । ५ ॥

भा०—(अहम्) मैं परमेश्वर (एव) ही (देवानां जुष्टं) देवों, विद्वानों के उनको प्रिय लगने योग्य (उत) और (मानुषाणां) मनुष्यों, मननशील जीवों के हितकारी (इदं) इस अनुभव योग्य साक्षात्, आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान को वेद रूप में (स्वयं) अपने आप (वदामि) उपदेश करता हूँ और (यं कामये) जिसको मैं उसके कर्मानुसार उचित समझता हूँ (तं तं) उस २ को (उग्रं) सबसे अधिक बलवान् (तं) और उस २ को (ब्रह्माणम्) ब्रह्म (तं ऋषिं) उस २ को ऋषि और (तं) उस २ को (सुमेधाम्) उत्तम बुद्धि से सम्पन्न (कृणोमि) करता हूँ ।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणाति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥
ऋ० १० । १२५ । ४ ॥

भा०—(सः) वह पुरुष (मया अन्नम् अत्ति) मेरी ईश्वरीय शक्ति से ही अन्न को खाता है, (यः विपश्यति) जो देखता है वह भी मेरी शक्ति से देखता है, (यः प्राणाति) जो प्राण लेता है वह मेरी शक्तिसे ही प्राण लेता है। (यः ईम् उक्तं श्रृणोतु) और जो कहा हुआ वचन सुनता है वह मेरी शक्ति से ही सुनता है । (मां अमन्तवः) मुझको न मानने और न जानने वाले (ते) वे बहुत से लोग (उप क्षियन्ति) विनाश को प्राप्त हो जाते हैं । हे (श्रुत) श्रवण करने हारे विद्वन् ! (श्रुधि) मैं अन्तर्यामी जो कहती हूँ उसका श्रवण कर । मैं (ते) तेरे लिये (श्रद्धेयं) सत्यरूप से धारण करने योग्य उपदेश (वदामि) कहती हूँ ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥
ऋ० १० । १२५ । ६ ॥

भा०—(ब्रह्म-द्विषे) ब्रह्म = वेद-ज्ञान से द्वेष करने वाले, (शरवे) हिंसक (रुद्राय) और कष्ट पहुँचाने वाले को (हन्तवा) मारने के लिये (उ) भी (अहम्) मैं ईश्वर (धनुः) धनुष् (आतनोमि) तानता हूँ। (अहं) मैं ईश्वर ही (जनाय) जन्तुओं के लिये (समुद्रं) सामूहिक प्रमोद को (कृणोमि) उत्पन्न करता हूँ। (अहं) मैं ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों में (आविवेश) व्यापक हूँ ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥६॥
ऋ० १० । १२५ । २ ॥

भा०—(अहं) मैं (आहनसं) गतिशील या अन्धकार के विनाशक (सोमं) सोम अर्थात् चन्द्र को (बिभर्मि) धारण करता हूँ और मैं ही (त्वष्टारं) सूर्य को और (पूषणं) सबके पोषक वायु को और (भगं) समस्त ऐश्वर्य को धारण करता हूँ। (अहं) मैं (हविष्मते) हवि द्वारा यज्ञ करने वाले (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (यजमानाय) यजमान को (सु-प्र-अव्या) सुखप्रद (द्रविणा) अनेक धन (दधामि) प्रदान करता हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥
ऋ० १० । १२५ । ७ ॥

भा०—(अहं) मैं ईश्वरी शक्ति (अस्य) इस सौर मण्डल के (मूर्धन्) शिर-स्थान में (पितरम्) इसके पिता, पालक सूर्य को (सुवे) उत्पन्न करती हूँ। (समुद्रे) समस्त भूतों और प्राणियों के उद्‌गम स्थान (अप्सु) जगत् प्रपञ्च में व्यापक महत्-रूप कारण परमाणुओं (अन्तः) में (मम)

मुझ ईश्वरी शक्ति का (योनिः) आवासस्थान है। (ततः) जिस मूल कारण प्रकृति में संसार प्रपञ्च का मैंने बीज वपन किया, वहां से ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वि तिष्ठे) व्यवस्थित करती हूँ, उनकी रचना करती हूँ और (अमूम् द्याम्) उस दूरस्थ आकाश में व्यापक दिव्य, लोकमयी सृष्टि को (वर्ष्मणा) अपने स्वरूप से (उप स्पृशामि) आच्छादित करती हूँ। अर्थात् मैंने विशाल आकाश को भी ढका है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

गीता० अ० १४ । ३, ४ ॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवो पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२५ । ८ ॥

भा०—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों, देहों को (आरभमाणा) निर्माण करती हुई (वात-इव) देहों में प्राण के समान और संसार में वायु के समान (प्र वामि) सर्वत्र विशेष रूप से, व्याप रही हूँ और मैं ही (दिवः) सूर्यादि लोकों से (परः) परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथिवी से भी परे अर्थात् इन विकार पदार्थों से भी पूर्व विद्यमान रह कर (महिम्ना) अपने बड़े सामर्थ्य से (एतावती) इतने विशाल रूप में जगत् का रूप बना कर (सं बभूव) पूर्ण रीति से प्रकट होती हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥ ३० ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥
गीता० अ० १० ॥

गीता के १० वें और १५ वें अध्याय में इस सूक्त का पूर्ण व्याख्यान है। पाठक वहां ही देखें।

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

---

(३१) मन्यु, सेनानायक, आत्मा ।

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः । मन्युर्देवता । १, ३ त्रिष्टुभौ । २, ४ भुरिजौ । ५–७ जगत्यः । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥
ऋ० १० । ८४ । १ ॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः । मन्युर्देवता । हे मन्यो ! सेनानायक ! तथा हे (मरुत्वन्) योद्धाओं समेत ! (त्वया) तुझ सहायक के साथ (स-रथम्) रथ सहित शत्रु को (आ-रुजन्तः) पीड़ित एवं भग्न, विनष्ट करते हुए (हर्षमाणाः) हर्ष प्रकट करते हुए (हृषितासः) स्वयं प्रसन्न होकर (आयुधा सं-शिशानाः) हथियारों को तीखा करते हुए (तिग्म-इषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले (अग्निरूपाः) आग के समान जाज्वल्यमान (नरः) नेता, भट-गण (उप प्र यन्तु) शत्रु तक पहुँचें।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो = ज्ञानवान्, मरुत्वन् = सर्व प्राणों के स्वामिन् ! परमेश्वर ! तुझ सहायक के होते हुए अग्नि रूप ज्ञानी जीव शम दमादि तीव्र साधनों को करते हुए तीक्ष्ण इषु अर्थात् कामना, प्रबल इच्छा वाले होकर (हर्षमाणः हृषितासः) स्वयं प्रसन्न आनन्दमग्न होकर रथ रूप देह सहित इस बन्धन को तोड़ कर, मुक्त होकर तुझे

प्राप्त करें। अध्यात्म युद्ध का वर्णन भक्तों की वाणियों में बहुत है, जैसे कबीर कहते हैं:—

एक शमशेर, इकसार चलती रहे, खेल कोई सूरमा सन्त झेलै।
कामदल जीत करि, क्रोध पैमाल, परम सुखधाम तहं सुरत मेलै॥
शील से नेह करि, ज्ञान को खड्ग लै, आप चौगान में खेल खेलै।
कहे कबीर, सोई संतजन सूरमा, सीस को सौंपकरि करम ठेलै॥
रेखता २६॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व॥२
ऋ० १०। ८४। २॥

भा०—हे मन्यो! अर्थात् सेनानायक! तू (अग्निः, इव) अग्नि के समान (त्विषितः) कान्तिमान् होकर (सहस्व) शत्रुओं को पराजित कर और तू हे (सहुरे) सहनशील! (हूतः) हमसे पुकारा जाकर (नः सेनानीः) हमारा सेना-नायक (एधि) बन। (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओं को मार कर (वेदः) धन को (विभजस्व) बांट दे और (ओजः) अपने प्रताप को (मिमानः) बराबर बनाये रख कर (मृधः) शत्रुगण को (वि नुदस्व) दूर कर।

अध्यात्म पक्ष में—हे मन्यो! ज्ञानी योगिन्! आत्मन्! अग्नि के समान देदीप्यमान होकर क्रोध आदि पर वश कर और हे सहुरे=आत्मन्! तू पुकारा जाकर हमारा सेनानायक बन। काम क्रोध आदि, का नाश कर, आत्मविभूतियों को अन्य इन्द्रियों में बांट दे और विषयरूप शत्रुओं का विनाश कर।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयसा एकज त्वम्॥ ३॥
ऋ० १०। ८४। ३॥

भा०—हे मन्यो ! अर्थात् हे सेनानायक ! (अस्मै) इस राजा के (अभिमातिन्) शत्रु को (सहस्व) पराजित कर और (शत्रून्) शत्रुओं को (रुजन्) तोड़ता फोड़ता, (मृडन्, प्र-मृडन्) रोंदता पीसता हुआ उन तक (प्रेहि) जा पहुँच, उन पर चढ़ाई कर। (ननु) क्या वे (ते उग्रं पाजः) तेरे उग्र, प्रचण्ड बल को (आ रुरुध्रे) रोक सकते हैं ? नहीं, क्योंकि हे (एक-ज) अद्वितीय ! (त्वम्) तू (वशी) सब पर वश करने हारा होकर उन सबको (वशं नयासै) अपने वश में ले आता है। (२) अध्यात्म-पक्ष में—मन्यो ज्ञानवान् ! आत्मन् ! अभिमान-अहंकार को वश कर। काम, क्रोध आदि शत्रुओं के बल को बार २ तोड़, उनको दबा, पीस और आगे बढ़, तेरे प्रचण्ड बल को ये नहीं सह सकते। तू उन पर एकला वश कर लेता है।

कबीर सोई सूरमा जाके पांचों हाथ।
जाके पांचों बस नहीं तेहि गुरु संग न जाय ॥
—सूरमा का अङ्ग ५४ ॥

एकों बहूनामसि मन्य ईळिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥
ऋ० १० । ८४ । ४ ॥

भा०—हे मन्यो ! क्रोधयुक्त सेनानायक ! (ईडिता) हम द्वारा स्तुत हुआ २ तू इन (बहूनाम्) बहुत से शत्रुओं में (एकः) अकेला ही पर्याप्त है। तू (विशं-विशं) प्रत्येक प्रजा जन को (युद्धाय) युद्ध करने के लिये (सं शिशाधि) सम्यक् रूप से शिक्षा दे। हे (अकृत्तरुक्) अच्छिन्नकान्ते ! अटूट यश वाले सेनानायक ! (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (वयं) हम (द्युमन्तं) दीप्तियुक्त, तेजःसम्पन्न होकर, (घोषं) सिंहनाद (विजयाय) इस विजय के लिये (कृण्मसि) करते हैं। अध्यात्म में ब्रह्म-विषयक प्रकरण देखो, केनोपनिषद् (ख० ३, ४)

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ८४ । ५ ॥

भा०—हे मन्यो ! सेनानायक ! (इन्द्रः इव) राजा के समान (विजेषकृत्) विजयशील होता हुआ (अ-न-ब्रवः) सनातन से युद्ध मार्गों का उपदेष्टा है । तू (इह) इस राष्ट्र में (अस्माकम्) हमारा (अधि-पाः) रक्षक (भव) हो । हे (सहुरे) सहनशील ! शत्रु का पराजय करने हारे ! (ते प्रियं नाम) तेरे प्रति प्रिय वचनों का हम निश्चय से (गृणीमसि) उच्चारण करते हैं । (तम्) उस (उत्सं) उत्पत्ति स्थान को (विद्म) हम जानते हैं (यतः) जहां से तू भी (आ-बभूथ) उत्पन्न हुआ है, अर्थात् तू भी उसी राष्ट्र का है जिस राष्ट्र की कि हम प्रजा हैं ।

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

भा०—हे क्रोधवन् ! हे वज्रसम भयंकर ! हे (सायक) शत्रु के अन्त करने वाले ! हे (सहभूते) विभूति सम्पन्न ! सेनानायक ! (आभूत्या) विभूति के साथ (सह-जाः) स्वभाव से सम्बद्ध वा सहायकों के साथ प्रकट होने वाले ! तू (उत्तरं सहः) सबसे अधिक विजय सामर्थ्य, बल को, (बिभर्षि) धारण करता है । तू (क्रत्वा सह) बल के या कर्म के साथ सम्पन्न होकर (मेदी) प्रजाजन पर प्रेम प्रकट करने वाला है । हे (पुरु-हूत) प्रजाओं से पुकारे गये सेनानायक ! तू (महा-धनस्य) महान् ऐश्वर्य की (सं-सृजि) प्राप्ति के शुभ कार्य में (एधि) तत्पर हो ।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥७॥

भा०—(मन्युः) ज्ञानपूर्वक क्रोध वाला, सेनानायक और (वरुणश्च) सर्वश्रेष्ठ राजा धनों को (सं-सृष्टं) युद्ध से प्राप्त और (सम्-आकृतम्)

अपने प्रयत्न द्वारा उपार्जित इस प्रकार के (उभयं) दोनों प्रकार के (अस्मभ्यं धत्तां) हमें दे और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) नाना प्रकार के भय (दधानाः) धारण करते हुए (शत्रवः) शत्रुगण, (परा-जितासः) पराजित होकर (अप नि लयन्ताम्) सर्वथा दूर भागें, छिपे रहें।

---

(३२) प्रभु से प्रार्थना। मन्यु, सेनापते।

ब्रह्मास्कन्द ऋषिः। मन्युर्देवता। १ जगती। २-७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

यस्ते॑ म॒न्यो विध॑द् वज्र सायक॒ सह॒ ओजः॑ पुष्य॑ति॒ विश्व॑मानु॒षक्।
साह्या॑म॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता॥१॥
ऋ० १०।८३।१॥

भा०—मन्युस्तापस ऋषिः। मन्युर्देवता। हे मन्यो! हे वज्र! पापकर्मों से वर्जन करने हारे! हे (सायक) शत्रुओं का अन्त करने वाले! (यः) जो (ते) तेरी (अविधत्) परिचर्या करता है, सेवा करता है वह (विश्वम्) सब प्रकार के (सहः) सहन करने वाले सामर्थ्य (ओजः) कान्ति, प्रभाव, (विश्वम्) सब गुणों को (आनुषक्) निरन्तर (पुष्यति) पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन) बल को बढ़ानेवाले (सहस्वता) पर-विजयी (त्वया युजा) तुझ सहायक से (दासम्) कर्म, धर्म का नाश करने वाले वा नीचवृत्ति, सेवक पुरुष को और (आर्यं) अपने धर्म कर्मों में श्रेष्ठ पुरुष को भी (वयं) हम (साह्याम) अपने वश करें।

म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः।
म॒न्युर्विश॑ ईडते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषाः॑॥२॥
ऋ० १० ८३।२॥

भा०—(मन्युः इन्द्रः) मन्यु ही इन्द्र है, (मन्युः एव) मन्यु ही (देवः) देव (आस) है, (मन्युः होता) मन्यु होता है, (वरुणः) मन्यु ही वरुण है, (जात-वेदाः) मन्यु ही जातवेदा है, (मन्युः) वह मन्यु है जिसको

(याः) जो (मानुषीः) मनुष्य, मननशील प्रजाएं (ईडते) स्तुति उपासना करती हैं। हे (मन्यो) मन्यो ! प्रभो ! तू (सजोषाः) सप्रेम (तपसा) तप से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर।

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥
ऋ० १० । ८३ । ३ ॥

भा०—हे मन्यो ! ज्ञानवान् प्रभो ! आप (तवसः तवीयान्) महान् से भी महान् हैं। आप (तपसा युजा) अपने सदा साथ वर्तमान तप, सामर्थ्य बल से (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) सर्वथा नाश करो। (त्वं) आप (अमित्र-हा) शत्रुओं के नाशक ! (वृत्र-हा) सब विघ्नों के नाशक, (दस्यु-हा) सब डाकू आदि विनाशकारी, हिंसकों के विनाश करने वाले होकर (नः) हमें (वसूनि) धनों को (आ भर) प्राप्त करा।

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

भा०—हे मन्यो ! प्रभो ! (त्वं) आप (अभिभूति-ओजाः) सब विजयी बल से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् (स्वयं-भूः) बिना दूसरे की सहायता के स्वयं जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय में समर्थ अथवा स्वयं सत्तावान्, किसी से उत्पन्न नहीं हुए हैं, (भामः) तेजस्वी स्वयंप्रकाश (अभिमाति-साहः) अभिमानी शत्रुओं को पराभव करने वाले (विश्व-चर्षणिः) सबके द्रष्टा, (सहुरिः) सहनशील, सर्ववशी, (सहीयान्) तथा बलवान् हो। आप (अस्मासु) हम (पृतनासु) प्रजाओं और सेनाओं में (ओजः धेहि) बल प्रदान करो।

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥
ऋ० १० । ८३ । ५ ॥

भा०—हे (प्रचेतः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् ! मन्यो ! (तविषस्य) महान् (तव) तेरे (क्रत्वा) क्रिया, सामर्थ्य से (अभागः सन्) रहित होकर (अप) तथा तुझसे दूर होकर मैं (परा-इतः) पराजित (अस्मि) हो जाता हूँ। हे मन्यो ! तव (अक्रतुः) निर्बल, होकर (अहं) मैं (त्वा) तुम्हें (जिहीड) क्रोधित कर देता हूँ अथवा तेरी शरण आता हूँ। तेरा (स्वा तनूः) अपना स्वरूप (बल-दावा) बलदायक है। अतः तू (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो।

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥६॥

ऋ० १० । ८३ । ६ ॥

भा०—मैं (अयं) यह (ते अस्मि) तेरा ही हूँ। आप (नः) हम से (प्रतीचीनः) प्रत्यक् तत्व, सदा अदृश्य होकर भी (नः) हमें (अर्वाङ्) साक्षात् दर्शन (उप एहि) दें। हे (सहुरे) सहनशील बलशालिन् ! हे (विश्वदावन्) समस्त संसार को सब पदार्थ देने हारे मन्यो ! (वज्रिन्) संहारक ! (नः) हमारे (अभि आ ववृत्स्व) सन्मुख आओ, हमें दर्शन दो। मैं और आप दोनों (दस्यून्) आत्मशक्ति के नाशक शत्रुओं को (हनाव) विनाश करें, (उत) और (आपेः) मुझ बन्धु को आप (बोधि) अपना समझें, अपनावें या ज्ञान दें।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

ऋ० १० । ८३ । ७ ॥

भा०—हे मन्यो ! आप (अभि प्रेहि) हमें साक्षात् दर्शन दें और (दक्षिणतः नः भव) हमारे सदा दायें होकर रहें। (अध) और (वृत्राणि) विघ्नों को हम दोनों मिलकर (भूरि) खूब (जंघनाव) विनाश करें। हे मन्यो ! (ते) तेरे (मध्वः) मधु = मधुर आनन्द रस का (अग्रं) सारभूत

श्रेष्ठ (धरुणं) ध्रुव, चिरस्थायी स्वरूप को (जुहोमि) मैं प्राप्त करताहूँ। (उभौ) हम दोनों प्रभु और भक्त मिलकर (उप-अंशु) शान्त, एकान्त में (प्रथमा) सबसे पूर्व उस मधुर रस का (पिबाव) पान करें।

---

(३३) पाप नाश करने की प्रार्थना।

ब्रह्मा ऋषिः। पापनाशनोऽग्निर्देवता। १—८ गायत्र्यः। अष्टर्चं सूक्तम्॥

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम्।

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥१॥ समस्तं सूक्तम् ऋ० १। ९७। १-८॥

भा०—हे (अग्ने) तेजःस्वरूप परमात्मन्! (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप शोशुचत्) जला दो, भस्म कर दो और (रयिम्) हमारे धन को (आ शुशुग्धि) सर्वतः पवित्र करो। (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को दूर करें।

सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे। अप॑०॥ २॥

भा०—हे प्रभो! (सुक्षेत्रिया) उत्तम क्षेत्र = देह की प्राप्ति के लिये और (सुगातुया) और उत्तम मार्ग = देवयान को प्राप्त करने की इच्छा से और (वसूया च) उत्तम वसु = आत्मा या परम-आत्मरूप आनन्द मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से (यजामहे) हम आपकी उपासना करते हैं। आप (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पापों को जला कर नष्ट करें।

प्र यद् भन्दि॑ष्ठ एषां॒ प्रास्माका॑सश्च सू॒रयः॑। अप॑०॥ ३॥

भा०—(एषां) इन समस्त कल्याणकारियों में से (यत्) प्रभो! आप ही तो (भन्दिष्टः) सबसे अधिक सुखकारी, कल्याणकारी हैं और (अस्माकासः सूरयः च) हमारे विद्वान् भी कल्याणकारी हैं। उनके संग में रख कर (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पापों को दूर करो।

प्र यत् ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाये॑महि॒ प्र ते॑ व॒यम्। अप॑०॥ ४॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानमय प्रभो ! (यत्) क्योंकि (ते) तुझ से ही (सूरयः प्र) विद्वान् लोग उत्पन्न होते हैं अतः (वयम्) हम भी (ते प्र जायेमहि) तुझसे ही विद्या प्राप्त करके उन्नत हों । (नः अघम् अप शोशुचद्) आप हमारे पापों को दूर करें ।

प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ । अप॑० ॥ ५ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि (सहस्वतः) सबको अभिभव करने वाले बल से सम्पन्न (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप आपके (भानवः) अनेक तेजःस्वरूप (विश्वतो यन्ति) सब ओर गति कर रहे हैं । अतः आप उन द्वारा (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारा पाप तम दूर करें ।

त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ । अप॑० ॥ ६ ॥

भा०—हे (विश्वतः-मुख) सर्वव्यापक, आप (विश्वतः) सब प्रकार से (परि-भूः असि) सर्वत्र व्यापक और सब पर शक्तिशाली हो, इसलिये आप (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारा पाप दूर करो । "सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" (यजुर्वेद अ० ३१) ।

द्विषो॑ नो विश्वतोमुखाति॑ ना॒वेव॑ पारय । अप॑० ॥ ७ ॥

भा०—हे (विश्वतोमुख) सर्वव्यापक सर्वोपदेष्टा ! (नावा इव) जिस प्रकार नौका से समुद्रों को पार किया जाता है उसी प्रकार (नः) हमें (द्विषः अति पारय) काम, क्रोध आदि अन्तः-शत्रुओं से पार करो और (नः अघम् अप शोशुचत्) हमारे पाप दूर करो ।

स नः॒ सिन्धु॑मिव ना॒वाति॑ पर्षा स्व॒स्तये॑ । अप॑० ॥ ८ ॥

भा०—(सः) वह आप (नावा) नाव से (सिन्धुम् इव) समुद्र के समान (नः) हमें हमारे (स्वस्तये) सुख, कल्याण के लिये (अति पर्ष) इस भवसागर से पार करो और (नः अघम् अप शोशुचद्) हमारे पाप हम से दूर करो ।

---

(३४) विष्टारी ओदन, प्रजापति की उपासना और फल ।

अथर्वा ऋषिः । ओदनं, विष्टारी ओदनं वा देवता । १—३ त्रिष्टुभः । ५ त्र्यवसाना सप्तपदाकृतिः । ६ पञ्चपदातिशक्करी । ७ भुरिक् शक्वरी, ८ जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोधि यज्ञः ॥१॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञमय प्रजापति परमात्मा (विष्टारी) सर्वत्र विस्तृत, ब्रह्माण्ड रूप में विराट् होकर फैला है । यह (तपसः अधिजातः) तप से प्रकट होता है । इसका एक नाम 'ओदन' है । (अस्य) इस (ओदनस्य) प्रजापतिरूप ओदन का (शीर्षम्) शिरोभाग (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान, वेद या शक्ति है और (अस्य पृष्ठम्) इसकी पीठ (बृहत्) विशाल ब्रह्माण्ड है और (उदरं) उदर भाग (वामदेव्यम्) वाम = जीव द्वारा अधिष्ठित संसार, स्थावर जंगम है । यज्ञपक्ष में—उस ओदन का शिरोभाग रथंतर साम, पृष्ठभाग बृहत् साम और उदरभाग वामदेव्य साम हैं । वर्णभेद से उसका शिरोभाग ब्राह्मण, पृष्ठभाग बृहत्-क्षत्र और वामदेव्य-वैश्य हैं । इसके (पक्षौ) दोनों पक्ष (छन्दांसि) छन्द हैं । (अस्य मुखं सत्यम्) इसका मुख सत्य है ।

संवत्सर, पुरुष, आत्मा, परमात्मा, समाज, राष्ट्र, यज्ञ आदि 'प्रजापति' के नाम से कहे जाते हैं सब पक्षों में ब्रह्म, बृहत्, वामदेव्य छन्द आदि शब्दों के अर्थ इस रूप में समझिये ।

(१) यज्ञ = मखः, भागः, देवानां महः । एष वै महान् देवो यद् यज्ञः (गो० पू० २ । १६) यज्ञो वै बृहन् विपश्चित् । श० ३ । ५ । ३ । १२ ॥ यज्ञो विदद् वसुः । ग० १५ । ४ । ५ ॥ यज्ञो वै स्वः । श० १ । १ । २ । २१ ॥ देवरथः । ऐ० २ । ३७ ॥ वाग् वै यज्ञः । ऐ० ५ । ५४ ॥ संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः । श० २ । २ । २ । ४ ॥ आत्मा वै यज्ञः श० ६ । २ । १ । ७ ॥ पुरुषो वै यज्ञः । कौ० १७ । ७ ॥

(२) ओदनः = परमेष्ठी वा एष यदोदनः । तै० १ । ७ । १० ॥ ६ ॥ प्रजापतिर्वा ओदनः । श० १३ । ३ । ९ । ७ ॥ रेतो वा ओदनः । श० १३ । १ । १४ । ४ ॥ (३) ब्रह्म = वाग्, वाचः परमं व्योम, सत्त्वम्, चक्षुः, मन्त्रः, वेदः, अग्निः, प्राणः, अहः, ब्राह्मणः इत्येते ब्रह्मवाच्यार्थाः । (४) बृहत्—बृहन्मर्याः इदं सः ज्योगभूद् इति बृहतो बृहत्त्वम् । तां० ७ । ६ । ५ ॥ यद् ह्रस्वं तद् रथन्तरं यद् दीर्घं तद् बृहत् । कौ० । ३ । ५ ॥ श्रैष्ठ्यं । ऐ० ८ । २ ॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ, एवं बृहत् प्रजापतेः ॥ तां० ७ । ६ । ६ ॥ ऊर्ध्वामिव हि बृहत् । द्यौः । तां० १६ । १ । ८ ॥ स्वर्गो लोकः तां० १६ । ५ । १५ ॥ आदित्यः, प्राणः, क्षत्रं, मनः । स प्रजापतिः तूष्णीं मनसाऽध्यायत् स यन्मनस्वी आसीत् तत् बृहत्समभवत् । तां० ७ । ६ । १ ॥ (५) वामदेव्यम् = पिता वामदेव्यं, पुत्राः पृष्ठानि । ता० ७ । ९१ ॥ शान्तिर्वामदेव्यम् । तै० १ । १ । ८ ॥ प्रजननं वामदेव्यं श० ५ । १ । ३ । १२ ॥ प्राणः । श० ९ । १ । २ । ३८ ॥ पशवः । तां० ४ । ८ । १५ ॥ (६) छन्दांसि = दिशः, रसाः, इन्द्रियाणि, प्राणाः, पशवः । प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छन्दांसि । ऐ० ८ । १८ ॥ लोमानि । श० ६ । ४ । १ । ६ ॥ छन्दांसि सावित्री । गो० पू० १ । ३३ ॥ (७) सत्यम् = ऋतम्, धर्मः, सुकृतस्य लोकः, व्रतस्य रूपम्, देवाः ब्रह्म । सत्यं वा एतत् यद् वर्षति । तै० १ । ७ । ५ । ३ ॥ असावादित्यः । तै० २ । १ । ११ । १ ॥

अ॒न॒स्थाः पू॒ताः पव॑नेन शु॒द्धाः शुच॑यः॒ शुचि॒मपि॑ यन्ति लो॒कम् ।
नैषां॑ शि॒श्नं प्र द॑हति जा॒तवे॑दाः स्व॒र्गे लो॒के ब॒हु स्त्रैण॑मेषाम् ॥२॥

भा०—प्रजापति-परमात्मा के उपासक, ज्ञान करने वाले ब्रह्मचारी कैसे हों। ये (अनस्थाः) खूब हृष्ट पुष्ट, बलिष्ठ हों, उनकी हड्डियां दीखें नहीं, (पूताः) आचार से वे पवित्र हों, (पवनेन शुद्धाः) प्राणायाम क्रिया द्वारा शुद्ध हों, (शुचयः) विचार से पवित्र हों। वे (शुचिं लोकम्) शुद्ध लोक अर्थात् गृहस्थ-लोक को (अपियन्ति) प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः)

ब्रह्मचर्यावस्था में प्राप्त ज्ञान या परमात्माग्नि का ध्यान (एषाम्) इनके (शिश्नम्) कामेन्द्रिय वा तन्तु-परम्परा को (न दहति) दग्ध नहीं करता, (स्वर्गे लोके) चाहे गृहस्थ रूप स्वर्गलोक में (एषाम्) इनके आस पास (बहु स्त्रैणम्) बहुत सम्बन्धों की स्त्रियां रहती हैं।

ब्रह्मचर्यावस्था में आचार-विचार को पवित्र करके ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है। वह इस आश्रय को स्वर्ग धाम बना देता है। ब्रह्मचर्यावस्था में प्राप्त ज्ञान के प्रताप से अपने आपको इस आश्रय में दग्ध नहीं होने देता, चाहे उसके चारों ओर गृह आश्रम में बहिनें, माता, चाची, चचेरी बहिन, पुत्रवधू आदि नाना स्त्रियां विद्यमान भी हों।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।
आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो ब्रह्मचारी (विस्तारिणं) विस्तृत विराड् रूप इस (ओदनं) परमात्मा रूप 'ओदन' को (पचन्ति) परिपक्व करते हैं, उसका अभ्यास करते, अपने हृदय में दृढ़ कर लेते हैं (एनान्) उन पुरुषों को (अवर्त्तिः) कष्ट (कदा चन) कभी भी (न सचते) नहीं रहता। ब्रह्मचारी (यमे) विश्व के नियामक परमेश्वर या यम-नियम में (आस्ते) आश्रय लेता है और (देवान्) दिव्य गुणों को (उप याति) प्राप्त होता है और (सोम्येभिः) सौम्य प्रवृत्ति वाले (गन्धर्वैः) ज्ञानी पुरुषों के साथ (मदते) हर्ष को प्राप्त होता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः ।
रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भा०—(ये विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) जो उस महान्, विश्वव्यापी, प्रजापति का परिपाक करते हैं (एनान् रेतः) ऐसे ब्रह्मचारियों के वीर्य अर्थात् सामर्थ्य को (यमः) वह संसार का व्यवस्थापक या यम नियम का परिपालक (न परि मुष्णाति) नहीं हरता। इसलिये वह (रथी ह

भूत्वा) रथ में चढ़े राजा के समान, आत्मवान् होकर (रथयाने) केवल आत्मा द्वारा प्राप्त करने योग्य ब्रह्मलोक में (सचते) प्राप्त होता है और (पक्षी ह भूत्वा) ज्ञान और कर्म दोनों सामर्थ्यरूप पक्षों से युक्त, शुद्ध आत्मा होकर (अति दिवः) द्यौलोक, तेजोमय लोक को पार करके (सम् एति) उस ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो येऽविद्वांसस्तेऽपक्षाः ।
त्रिवृत्पञ्चदशावेव स्तौमौ पक्षौ कृत्वा स्वर्गं लोकं प्रयन्ति ।
तां० १४ । १ । १३ ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना ।
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(एषः) यह गृहस्थाश्रम-यज्ञ (यज्ञानां) अन्य यज्ञों में से (वहिष्ठः) सबसे अधिक महान् (विततः) तथा संसार में फैला हुआ है । उस (विस्तारिणम्) सर्वव्यापक परमेश्वर को (पक्त्वा) परिपक्व कर ज्ञानी पुरुष (दिवम्) व्यवहारमय गृहस्थाश्रम को (आ विवेश) प्राप्त करता है और गृहस्थाश्रम में आकर सुन्दर तालाब में (आण्डीकं कुमुदं) गोल २ अण्डाकृति कमल, (बिसं) कमलनाल, कमलकन्द और (शालूकं शफकं) मृणाल, शफक आदि पद्मविशेषों के तुल्य उत्तम आकर्षक गुणवान् सन्तानों को (तनोति) विस्तृत करता है अर्थात् ऐसे २ सुन्दर पुरुषों को लगाता है । (एताः सर्वाः धाराः) ये गृहस्थोपयोगी शक्तियां (त्वा) तुझे (उपयन्तु) प्राप्त हों और (स्वर्गे लोके) उस सुखमय गृहस्थ लोक में (मधुमत्) आनन्द को (पिन्वमानः) उत्पन्न करती हुई, (सम् अन्ताः) शुभ परिणाम वाली, (पुष्करिणीः) पुखरिनियों के समान चित्ताह्लादक नाना प्रकार से आत्मा को पुष्ट करने वाली ये सब शक्तियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तुझे प्राप्त हों ।

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा० ॥ ६ ॥

भा०—(घृतह्रदाः) घी से भरे हुए (मधुकूला) तथा शहद जिनके किनारों तक भरा हुआ है, (सुरोदकाः) सुरा अर्थात् भपके की विधि से प्राप्त शुद्ध जल से भरे तथा (क्षीरेण उदकेन दध्ना पूर्णाः) दूध, सामान्य जल तथा दही से भरे कलशों से बहती हुई (एताः धाराः) धाराएं (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों। (स्वर्गे लोके) सुखमय इस गृहस्थ-लोक में (मधुमत् पिन्वमानाः) आनन्द को उत्पन्न करती हुई वे धाराएं (उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः) घर के समीप नाना प्रकार की पुखरिनियां तुझे प्राप्त हों। अर्थात् तेरे घर में घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, सामान्य जल तथा दही के भरे कलश सदा विद्यमान रहें और इन वस्तुओं की सतत बहती धाराओं द्वारा तू आनन्दित रहे। तेरे घर के समीप बहुत सी पुखरिनियां हों। यही सुखमय, स्वर्ग लोक है।

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

भा०—(चतुर्धा) चार प्रकार की वस्तुओं से अर्थात् (क्षीरेण, उदकेन, दध्ना पूर्णाम्) दूध, सामान्य जल तथा शुद्ध जल, मधु और दही से भरे (चतुरः कुम्भान्) चार घड़ों को (ददामि) मैं अतिथियों के प्रतिदान भी, इस आश्रय में करता हूँ। शेष पूर्ववत्।

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

भा०—मैं गृहस्थ (इमं) इस (विष्टारिणं) सर्वव्यापक, विस्तृत (स्वर्गं) सुखमय (लोकजितं) लोकविजयी (ओदनं) प्रजापति पद,

परमेश्वर को (ब्राह्मणेषु) वेदविज्ञानियों में (निदधे) प्रदान करता हूँ, उपदेश करता हूँ। (स्वधया पिन्वमानः) अन्न द्वारा सब प्राणियों को तृप्त करने वाला वह ओदन अर्थात् प्रजापति पद (मे) मुझ गृहस्थ के लिये (मा चेष्ट) नष्ट न हो, प्रत्युत (मे) मुझ गृहस्थ के लिये वह प्रजापति पद, परमेष्ठी ब्रह्म (विश्वरूपा धेनुः) सब प्रकार से कामधेनु होकर (कामदुघा) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारा (अस्तु) हो।

---

(३५) प्रजापति की उपासना से मृत्यु को तरना।

प्रजापतिर्ऋषिः। मृत्योरतिक्रमण देवताः। ३ भुरिक। ४ जगती, १, २, ५–७ त्रिष्टुभः। सप्तर्चं सूक्तम्॥

यमो॑द॒नं प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ प्र॒जाप॑ति॒स्तप॑सा ब्र॒ह्मणेऽप॑चत्।
यो लो॒का॒नां विधृ॑ति॒र्नाभि॒रेषा॑त् तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥१॥

भा०—(प्रजापतिः) कुलपति आचार्य (ब्रह्मणे) वेदविद्या की प्राप्ति के लिये (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (यं ओदनम् अपचत्) जिस ओदन रूप परमेश्वर या ब्रह्म को परिपक्क करता है वह ओदनरूप परमेश्वर (ऋतस्य प्रथमजाः) नियमों तथा ज्ञानों का प्रथम उत्पादक है। (यः) जो (लोकानाम्) समस्त लोकों का (विधृतिः) विशेष आधार रूप है, (न अभि रेषात्) और जो कभी नष्ट नहीं होता (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप परमेश्वर द्वारा (मृत्युम् अति तराणि) मैं मृत्यु के सागर को तरता हूँ। जीवन का आधार यह परमात्मा है जिस प्रकार कि सात्विक अन्न शारीरिक जीवन का आधार है। इस कारण से परमेश्वर को 'ओदन' कहा है।

येनात॑रन् भूत॒कृतोऽति॑ मृ॒त्युं यम॒न्ववि॑न्द॒न् तप॑सा॒ श्रमे॑ण।
यं प॒पाच॑ ब्र॒ह्मणे॒ ब्रह्म॒ पूर्वं॒ तेनौ॑० ॥ २ ॥

भा०—ओदन रूप परमेश्वर का स्पष्ट रूप। (येन) जिसकी सहायता

से (भूतः-कृतः) यथार्थ कर्मों के अनुष्ठाता लोग (मृत्युं) मौत को (अति तरन्) पार कर जाते हैं और (यम्) जिसको योगी लोग (तपसा) तप से और (श्रमेण) श्रम से (अनु अनुविन्दन्) उपलब्ध करते उसका ज्ञान करते हैं और जो ओदनरूप परमेश्वर (ब्रह्म) सबसे महान् होने से 'ब्रह्म' है और जो (पूर्वम्) अनादि है (ब्रह्मणे) वैदिक तत्व के परिज्ञान के लिये (यं पपाच) जिसको ब्रह्मचारी अभ्यास अर्थात् परिपक्व करता है (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप परमात्मा की सहायता से (मृत्युम् अति तराणि) मृत्यु को मैं पार करूं।

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमा पृणाद् रसेन।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौ० ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो वह ओदन नाम परमेश्वर (विश्व-भोजसं) समस्त संसार के परिपालक (पृथिवीं) इस पृथिवी को (दाधार) धारण करता है और (सः रसेन) जो अपने रस, सार, बल और मेघादि जल से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष और उसमें विद्यमान वायु आदि पदार्थों को (आ पृणाद्) पूर्ण करता और पालता है और जो (महिम्ना) बड़े सामर्थ्य से स्वयं (ऊर्ध्वः) सबसे उच्च होकर (दिवम्) इस सूर्य लोक या द्यौलोक को (अस्तभ्नात्) थामे हुए है। (तेन ओदनेन मृत्युम् अति तराणि) उस ओदन रूप पर ब्रह्म द्वारा मैं मृत्यु को पार कर जाऊं।

यस्मिन्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौ० ॥ ४ ॥

भा०—ओदन रूप परम शक्ति का काल पर वश। (यस्मात्) जिस परम शक्ति से (त्रिंशत्-अराः) तीस दिन रूप अरों वाले (मासाः) मास-चक्र (निः-मिताः) अर्थात् जिस परम शक्ति से प्रति मास ३० वार अपनी कीली पर पृथ्वी और मास में एक वार पृथ्वी के चारों ओर चन्द्र घूमता है और (यस्मात्) जिस शक्ति से (द्वादशारः संवत्सरः) १२

(बारह) अरों वाला संवत्सर चक्र (निः-मितः) बना है अर्थात् जो पृथ्वी को राशियों से अंकित क्रान्ति वृत्ति पर १२ मासों में एक बार नियम से घुमा रहा है और (परि-यन्तः) बराबर गति करते हुए (अहोरात्राः) दिन रात भी (यम्) जिस तक (न आपुः) नहीं पहुँचते अर्थात् जिसको समाप्त नहीं कर सकते हैं (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस अनन्त, महाकालेश्वर रूप ओदन = प्रजापति के बल से मौत को तर जाऊं।

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौ० ॥ ५ ॥

भा०—(यः) जो वह परम शक्ति (प्राणदः) सबको प्राण, जीवन देने वाली है (प्राणद-वान्) प्राण देने वाला वायु, सूर्य, जल आदि दिव्य पदार्थों की स्वामिनी (बभूव) है जिसके निमित्त, जिसके बल पर, जिसके शासन से (घृतवन्तः) तेजस्वी, प्रकाशवान् सूर्य आदि (लोकाः) लोक (क्षरन्ति) जीवन रस को भूमण्डल पर फेंक रहे हैं और (यस्य) जिसके सामर्थ्य से (सर्वाः प्र-दिशः) समस्त दिशाएं (ज्योतिष्मतीः) ज्योतिर्मय नक्षत्र सूर्यों से जगमगा रही हैं, मैं (तेन, ओदनेन, मृत्युम् अतितराणि) उस परम सामर्थ्यमय परमात्म-शक्ति से मौत को पार करूं।

यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥६॥

भा०—(यस्मात्) जिस (पक्वाद्) परिपक्व सामर्थ्य एवं सुविचारित, पुनः पुनः योग समाधि द्वारा अभ्यास किये गये ब्रह्म से (अमृतं सम्-बभूव) अमृत, परम मोक्ष रस उत्पन्न होता है और (यः) जो (गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) गायत्री का अधिपति है और (यस्मिन्) जिसमें (विश्व-रूपाः) समस्त (वेदाः) वेदज्ञान (निहिताः) रक्खे हैं । (तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि) उस परम ओदन रूप परमेश्वर द्वारा मैं मृत्यु को पार करूं।

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेप ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

भा०—मैं (देव-पीयुं) दिव्य गुणों और भावों के विनाशक एवं मेरे इन्द्रिय सामर्थ्यों के प्रतिघातक, (द्विषन्तं) मुझ से अप्रीति करने वाले एवं मेरे अप्रीति के पात्र, विरोधी दुर्भावों और दुष्ट पदार्थों को मैं (अव बाधे) अपने अधीन करके उनकी शक्ति को रोक दूं और (ये मे स-पत्नाः) जो मेरे सपत्न अर्थात् काम, क्रोध आदि शत्रु हैं ऐसे (ते) वे आक्रामक शत्रु (अप भवन्तु) मुझसे दूर रहें। मैं (विश्वजितं) विश्व को विजय करने में समर्थ (ब्रह्म-ओदनं) ब्रह्मरूप शक्ति को (पचामि) परिपक्व करता हूँ। (देवाः) समस्त विद्वान् लोग (श्रत्-दधानस्य) सत्य को धारण करने हारे (मे) मेरे इस संकल्प का (शृण्वन्तु) श्रवण करें और मुझे इस कार्य में साहाय्य दें।

इति सप्तमोऽनुवाकः।

---

(३६) न्याय-विधान और दुष्टों का दमन।

चातन ऋषिः। सत्यौजा अग्निर्देवता। १—८ अनुष्टुभः, ९ भुरिक्। दशर्चं सूक्तम्॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥

भा०—न्यायविधान और दुष्टों के दमन करने का उपदेश। (सत्य-ओजाः) सत्य के बल को धारण करने वाला, न्यायाधीश (अग्निः) ज्ञानी, अग्नि के समान पापियों को दण्ड देने वाला, (वैश्वानरः) समस्त नरों का हितकारी (वृषा) सत्य, सुखों का वर्षक, धर्मात्मा, न्यायकारी पुरुष (तान्) उन सबको (प्रदहतु) उत्तम रीति से भस्म करे, दण्डित करे। १-(यः) जो (नः) हम में से (दुरस्यात्) दुष्टता का व्यवहार करे, अपनों को दुदुरावे, २-(यः दिप्सात्) जो दूसरों को पीड़ित करे या

ठगे, ३-(अथो) और (यः) जो (नः) हमसे (अरातियात्) शत्रु के समान बर्त्ताव करे, हमें हमारा अधिकार न दे।

यो नो दिप्सदर्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

भा०—(नः) हम में से (यः) जो (अदिप्सतः) दूसरे को न ठगने और न हिंसा करने हारे निरपराधी जनों को (दिप्सति) ठगता और हानि पहुँचाता है और (यः च दिप्सतः) ठगने और मारने वालों को (दिप्सति) ठगता और मारता है (वैश्वानरस्य अग्नेः) सर्व प्रकाशक वैश्वानर = सर्वहितकारी पञ्च, न्यायाध्यक्ष के (दंष्ट्रयोः) दाढ़, दमनकारी दाढ़ों या साधनों में (तम्) उसको (दधामि) रक्खूं।

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेमावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो लोग (आगरे) घर में, (प्रतिकोशे) कलह के अवसरों में और (अमावास्ये) एक स्थान पर एकत्र होने के अवसरों और स्थानों में (मृगयन्ते) प्रतिहिंसा करने के भाव से दूसरों का घात लगाते हैं और (अन्यान्) अपरिचित लोगों की (दिप्सतः) हिंसा करने वाले (क्रव्यादः) परमांसभोजी, बिना अधिकार के दूसरे का माल चुराने और छीनने वाले हैं (तान् सर्वान्) उन सबों को नीचे दबा दूं।

सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥ ४ ॥

भा०—(पिशाचान्) मांसभक्षी पशुओं के समान दूसरों के धन अपहरण और प्राण और शरीर पर आक्रमण करने वाले लोगों को (सहे) मैं वश करूं और (एषां) इनका (द्रविणं) सब माल (आददे) मैं इनसे ले लूं। (दुरस्यतः) दुष्टता का कार्य करने वाले (सर्वान्) सभी को (हन्मि) मैं मारूं, दण्ड दूं। जिससे (मे) मेरी (आकूतिः) उत्तम संकल्प, शुभ

शिक्षा (सं ऋध्यताम्) अच्छी प्रकार से सफल हो । राजा दुष्टों का दमन करे, प्रजा में सत् शिक्षा का कार्य सफल हो ।

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।
नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

भा०—दुष्ट चोरों का पता कैसे लगावें । (ये देवाः) जो विद्वान् पुरुष, गुणी (तेन) उस दुष्ट पुरुष के साथ (हासन्ते) हंसी, क्रीड़ा, विनोद करते हैं और तो भी (सूर्येण) सूर्य के समान सर्वप्रकाशक राजा के साथ (जवम्) अपनी गति मति (मिमते) जोड़े रखते हैं और जो (नदीषु) नदियों तटों पर, तीर्थ स्थानों और घाटों पर और (पर्वतेषु) पर्वतों में भी तपस्या आदि करते हैं उन (पशुभिः) देखने वाले पशु = गुप्त चरों के द्वारा उस चोर दुष्ट पुरुष को (विदे) पता लगा लूं और पकड़ लूं । राजा भले पुरुषों को सदा दुष्टों के पीछे नदियों पर्वतों में भी लगाये रक्खे और उनसे उनका पता लगा कर पकड़ ले ।

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

भा०—मैं (पिशाचानां) मांसभक्षी और डाकू लोगों का (तपनः) संताप करने वाला, (गोमताम्) गोपालकों के लिये (व्याघ्रः इव) बाघ के समान उनको त्रास देने वाला (अस्मि) हूँ (सिहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देख कर (श्वानः इव) जिस प्रकार कुत्ते घबरा उठते हैं और चैन नहीं पाते उसी प्रकार वे मुझ दमनकारी पुलिस अफसर का नाम सुनकर (न्यञ्चनम्) चैन या छुपने के लिये शरण भी (न विदन्ते) नहीं पाते बल्कि इधर उधर भागते हैं ।

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

भा०—मैं (पिशाचैः) पिशाच, डाकुओं के साथ (न सं शक्नोमि)

संधि करके नहीं रह सकता हूँ, (न स्तेनैः) चोरों के साथ भी संधि नहीं कर सकता, (न वनर्गुभिः) अपराध करके जंगल में छिप कर रहने वाले, छापा मारने वाले डाकुओं के साथ भी संधि नहीं कर सकता। इसलिये (यम् ग्रामं) जिस ग्राम में (अहं) मैं (आ विशे) पहुँच जाता हूँ (पिशाचाः) वे हत्यारे, परद्रव्य–प्राणापहारी डाकू लोग (तस्मात्) उस बस्ती से ही (नश्यन्ति) भाग जाते हैं।

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ८ ॥

भा०—(मम) मेरा (उग्रं) भयंकर, बलवान् (इदम्) यह (सहः) दमनकारी बल (यं ग्रामम्) जिस ग्राम या बस्ती में भी (आ विशते) पहुँच जाता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्राम से डाकू भाग जाते हैं। वहां के लोगों पर वे (पापम्) पाप, दुष्टाचार और लूट मार (न उपजानते) करना ही नहीं जानते, वहां के लोग भी बुराई का नाम भी नहीं जानते।

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो नानाहिताग्निर्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" छान्दोग्य उप० ॥ मेरे राज्य में न चोर, न लुटेरा, न अयाज्ञिक, न व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारी कहां से हो।

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

भा०—(मशकाः) मच्छर जिस प्रकार (हस्तिनम् इव) हाथी को कुपित कर देते हैं उस प्रकार (ये) जो (मां) मुझ दमनकारी, सत्यनिष्ठ राजा को (लपिताः) व्यर्थ झूठे मूठे, चुगलखोर व्यर्थ बक झक करके (क्रोधयन्ति) क्रुद्ध कर देते हैं (तान्) उनको (अहं) मैं (जने) राष्ट्रवासी जनता में (अल्पशयून्) स्वल्पवृत्ति, तुच्छ छिद्रान्वेषी, छोटे २ बिलों में रहने वाले, हानिकारक कीड़ों या मूसों के समान छोटे २ लोभगों में

पड़ने वाले (दुर्हितान्) सदा दुःखकारी, अनिष्टजनक (मन्ये) समझता हूँ। राजा खुशामदी लोगों पर कान न दे, वे प्रजा के बड़े अपकारी होते हैं।

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

भा०—(अश्वाभिधान्या) घोड़े को बांधने वाली रस्सी से जिस प्रकार (अश्वम् इव) अश्व को बांधा जाता है उसी प्रकार (निर्ऋतिः) पापों को रोक देने वाली दमन शक्ति (तं) उस पापी पुरुष को (अभि धत्ताम्) सब ओर से जकड़ ले और (यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय, दुष्ट चित्त [मैलिग्नेंट या मैलीशस] (मह्यं) मेरे विरुद्ध (क्रुध्यति) क्रोध प्रकट करता है (स उ) वह भी (पाशात्) पाश, दमन, कैद आदि दण्ड से (न मुच्यते) छूटने नहीं पाता।

---

(३७) हानिकारक रोग-जन्तुओं के नाश का उपाय।

बादरायणिर्ऋषिः। अजशृङ्गी अप्सरा देवता। १, २, ४, ६, ८—१० अनुष्टुभौ। त्र्यवसाना षट्पदी त्रिष्टुप्। प्रस्तारपंक्तिः। ७ परोष्णिक्। ११ षट्पदा जगती। १२ निचृत्। द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

भा०—जनता को हानि पहुँचाने वाले रोग जन्तुओं के नाश का उपदेश। हे (ओषधे) रोग-जन्तु-नाशक ओषधे ! (त्वया) तेरे द्वारा (अथर्वाणः) अहिंसक, विद्वान् (रक्षांसि) जीवन के सुख में विघ्न करने वाले रोग जन्तुओं को (जघ्नुः) विनाश करते हैं (त्वया) तेरे द्वारा (कश्यपः) सूर्य के समान ज्ञानी, सर्वद्रष्टा, विद्वान् और (कण्वः) वायु के समान कण २ करके ज्ञान प्राप्त करने और खोल कर रहस्य का उपदेश करने वाला मेधावी विद्वान् (अगस्त्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष भी (त्वया रक्षांसि जघान) तेरे द्वारा रोग जन्तुओं का नाश करता है।

त्वया॑ व॒यम॑प्स॒रसो॑ गन्ध॒र्वांश्चा॑तयामहे ।
अज॑शृङ्ग्यज॒ रक्षः॒ सर्वा॑न् ग॒न्धेन॑ नाशय ॥ २ ॥

भा०—हे (अजशृङ्गी) अजशृङ्गी, काकड़ासींगी नामक ओषधे ! (त्वया) तुझ द्वारा (वयम्) हम (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगों और (गन्धर्वान्) वायु में फैलने वाले रोगों को भी (चातयामः) नष्ट करते हैं । तू अपने रोगनाशक स्वभाव से (सर्वान् रक्षः) सब रोगों को (अज) दूर कर और (गन्धेन विनाशय) गन्ध से उनका नाश कर अजशृङ्गी—वातहर, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, वमन, तृष्णा, अरुचि, अतिसार, चक्षुर्दोष, हृद्रोग, अर्श, शोष, अतिकुष्ठ आदि का नाश करती है । इसके जलाने से तीक्ष्ण गन्ध होता है । मच्छर आदि भाग जाते हैं ।

न॒दीं य॒न्त्वप्स॒रसो॒ऽपां ता॒रम॑व॒श्वसम् ।
गु॒ल्गुलूः॒ पीला॑ नल॒द्यौ॑३॒क्षग॑न्धिः प्रम॒न्दनी॑ ।
तत् परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

भा०—(अप्सरसः) जलों में फैलने वाले व्याधि-कीट (अपां तारं) जलों से भरी हुई (अवश्वसम्) नीचे की ओर वेग से बहने वाली (नदीं) नदी की न्याईं (यन्तु) बह जायं । उनको अपने स्थान से निकालने के लिये पांच पदार्थ हैं । १–(गुल्गुलूः) गूगल, २–(पीला) पीला, ३–(नलदी) नलदी नामक ओषधि, ४–(औक्षगन्धिः) औक्षगन्धि और ५–(प्रमन्दनी) प्रमन्दनी । हे (अप्सरसः) जल में फैलने वाले रोगो ! तुम (प्रतिबुद्धाः अभूतन) पहिचान लिये गये हो और (तत्) इसलिये (परा-इत) तुम औषधों के प्रभाव से नगर, ग्राम और घरों को छोड़कर चले जाओ । गुग्गल सुगन्ध, कृमिनाशक है । पीला = पिलु, विषनाशक नलदी = मांसी या जटामांसी इनके तीन भेद हैं । १–मांसी, २–गंधमांसी, ३–आकाशमांसी तीनों विष, भूत, दाह और ज्वर के विनाशक और मकड़ी आदि जन्तु के नाशक हैं । औक्षगन्धि मांसी का दूसरा भेद,

गंधमांसी है । प्रमन्दनी = प्रमोदनी, मल्लिका है जो गन्ध से पूर्ण है । कुष्ट, विस्फोट, कण्डू, विष, व्रण का नाशक है । उक्त ओषधियों के बल पर रोगकारी जन्तुओं का नाश करना चाहिये ।

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

भा०—(यत्र) जहां (अश्वत्थाः) पीपल, (न्यग्रोधाः) वट आदि महावृक्ष और (शिखण्डिनः) मोर मुर्गा आदि पक्षी चूड़ामणि तुलसी काकमाची आदि के पौधे हैं (तत्) इनके प्रभाव से हे (अप्सरसः) प्रजाओं में फैलने वाली व्याधियो ! (परा इत) दूर भाग जाओ और (प्रतिबुद्धाः अभूतन) क्योंकि तुम पहिचाने जा चुके हो ।

चूड़ामणिका वीर्योष्णा, विषवैषम्यजन्तुघ्नी, रोगग्रामभयापहा । राज० ।

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

भा०—और (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे लिये (प्रेङ्खाः) हिलते झुलते (हरिताः) हरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत) और (यत्र) जहां (आघाटाः) बड़े बल से पीटे गये (कर्कर्यः) नगाड़े आदि (संवदन्ति) बजते हैं (तत्) वहां से भी हे (अप्सरसः) प्रजा में फैलने वाली व्याधियो ! तुम (परा-इत) भाग जाओ और (प्रतिबुद्धाः अभूतन) व्याकुल और नष्ट हो जाओ। ओषधियों से लिप्त नगाड़ों के बजाने से रोग निवृत्ति, देखो चरक विमान० जनपदोध्वंस प्रकरण ॥

एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती ।
अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

भा०—(वीरुधां) विशेष प्रकार से क्षुपरूप में भूमि पर अंकुरित होने वाली, (ओषधीनां) ओषधियों में से सबसे अधिक (वीर्यावती) वीर्य वाली (इयम्) यह (अजशृङ्गी) अजशृङ्गी, काकड़ासिंगी (आ अगन्) हमें प्राप्त है । यह गुणों में (अराटकी) रोगनाशक (तीक्ष्णशृङ्गी)

तीक्ष्ण स्वभाव होने से रोग जन्तुओं को विनाश करती है। वह (व्यृषतु) रोग जन्तुओं को नाना उपचारों से विनाश करे।

आनृत्यतः शिखण्डिनों गन्धर्वस्याप्सरापतेः।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

भा०—(आ-नृत्यतः) चारों ओर नाचते कूदते (शिखण्डिनः) चोटी वाले (गन्धर्वस्य) गन्ध के पीछे जाने वाले, रोग फैलाने वाले (अप्सरा-पतेः) मादा रोगकीट के पति अथवा फैलाने वाले रोगों को अपने भीतर पालने वाले जन्तु के (मुष्कौ भिनद्मि) वीर्योत्पादक अण्डकोशों को तोड़ डालूं और (शेपः अपि यामि) प्रजनन अंग का नाश कर दूं। इससे रोग-जनक कीट अपनी सन्तति न बढ़ा सकेंगे, रोग फैलना बन्द हो जायगा। इनको वीर्यहीन, निस्सन्तान करने के लिये ऐसी ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये कि इनके सन्तान-उत्पादक अंग ओषधि के घातक प्रभाव से फट जायं। वैज्ञानिक अब रोगकीटों को निरिन्द्रिय करके उनको नाश करने के प्रयोग कर रहे हैं।

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ८ ॥

भा०—रोगजनक कीट कैसे जलों में फैलने वाले रोगांशों को उत्पन्न करते हैं और उनका विनाश कैसे करें। (इन्द्रस्य) सूर्य की (शतम्) सैकड़ों (ऋष्टीः) किरणें (भीमाः) उग्र होकर (अयस्मयीः) लोहे की बनी (ऋष्टीः) तेज धार वाली किर्चों के समान तीक्ष्ण (हेतयः) नाशकारी हैं। (ताभिः) उनसे (हविरदान्) अन्नों को खा लेने वाले और (अवकादान्) अवका = जल पर उतराने वाली काई को खाने वाले कीटों को सूर्य (व्यृषतु) नष्ट करे।

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ९ ॥

भा०—(इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्य की स्वर्ण के समान चमकने वाली तीक्ष्ण किरणें भी (शतम्) सैकड़ों (भीमाः हेतयः) भयानक, रोग नाश करने वाली हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनकी सहायता से अन्न खा जाने वाले और जल पर उतराने वाली काई पर आहार करने वाले (गन्धर्वान्) कीड़ों को सूर्य (व्यृषतु) विनाश करे।

अवकादनभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् ।
पिशाचान् सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥

भा०—शरीर-गत रोग-जन्तुओं पर ओषधि का प्रयोग। हे ओषधे! (अवकादान्) काई [फंगस अल्गा] पर आहार करने वाले, (अभिशोचान्) सब तरफ देह में दाह उत्पन्न करने वाले, (मामकान्) मेरे शरीर में बैठे रोग-कीटों को (अप्सु) शरीर-गत जलों, रुधिर में ही (ज्योतय) विनष्ट कर। अथवा हे ओषधे! (ज्योतय-मामकान्) जल में चमचमाने वाले (सर्वान् पिशाचान्) सब पिशाचों, शरीर के रक्त-मांस शोषण करने वाले रोग-जन्तुओं को (प्र मृणीहि) विनाश (सहस्व च) और उनको दबा।

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्-
तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

भा०—रोगकीटों के रूपों का वर्णन। (एकः श्वा इव) एक गन्धर्व, रोगकीट कुत्ते के समान, उसके स्वभाव या आकार वाला है और (एकः) एक (कपिः इव) बन्दर के समान है वह (कुमारः) बड़ी कठिनता से प्राण त्याग करता एवं बुरी तरह से अपने शिकार, रोगी को मारता है। (सर्वकेशकः) उसके समस्त शरीर पर रोम होते हैं। जिस प्रकार सर्वाङ्ग-सुन्दर केश बनाये कुमार = नवयुवक, आंखों के आगे दर्शनीय सुन्दर वेश बनाकर अपनी कुत्ते की सी कामप्रियता और बन्दर की सी कुरूपता को

छिपाकर स्त्रियों में विचरता और उनके मन हरता है उसी प्रकार ये रोगकीट भी (दृशः) चक्षु के (प्रियः इव) प्रिय होकर (स्त्रियः) अपनी मादा जन्तुओं पर (सचते) जाता है। उसको (वीर्यावता) वीर्य वाली (ब्रह्मणा) 'ब्रह्म' नामक ओषधि या वेद ज्ञान से (इतः) यहां से इस नगर, ग्राम, गृह, शरीर से (नाशयामसि) हम विनाश करें, भगा दें।

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयम्) तुम लोग (पतयः) पति, नर हो और (अप्सरसः) अप्सराएं, मादाएं (वः) तुम्हारी (जाया इत्) स्त्रियां ही हैं अथवा—(पतयः यूयम् गन्धर्वाः) तुम पति नर सब गन्धर्व अर्थात् तीव्र गन्ध से भागने वाले, वा गन्ध द्वारा पहचाने जाने वाले, वा और (वः जाया इत् अप्सरसः) तुम्हारी सन्ततिजनक मादाएं ही अप्सरा रुधिर या जल आदि पदार्थों में प्रवेश करने वाली होती हैं । तुम (अमर्त्याः) मर्त्यों, प्राणिदेहों के साथ सम्बन्ध न किये हुए ही (अप धावत) इस शरीर से दूर भाग जाओ अर्थात् (मर्त्यान्) तुम्हारे कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले इन मनुष्यों को (मा सचध्वम्) मत पकड़ो।

इस सूक्त के अध्यात्म-परक अर्थ की दिशा। (१) कश्यप, कण्व और अगस्त्य अर्थात् आंख, कान, नाक आदि प्राणाङ्गों और अथर्वा अर्थात् इन्द्रियों ने, अजश्रृङ्गी = आत्मशक्ति नामक ओषधि से जीवन के विघ्नों को नाश किया। (२) उसी आत्मशक्ति से कर्म में लगने वाली अप्सराओं अर्थात् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रिय रूपी गन्धर्वों या इन्द्रियों और प्राणादि रूप गन्धर्वों को वश किया। (३) ये अप्सराएं अवश्वस = प्राण लेने वाले (अपां तारं) कर्मों के कर्त्ता, शरीर रूप नदी में बहती हैं इनके नाम हैं गुल्गुलू = रसना, पीला = चक्षु, नलदी = कान, ओक्षगन्धि = नासिका, प्रमन्दिनी = त्वचा ये प्रतिबुद्ध होकर (परेत) दूर तक जायं। (४, ५) और नाना विषयों का आलोचन करें। (६) इन सबमें अजश्रृङ्गी =

चेतना प्रबल है । (७) नाचते हुए बड़े गन्धर्व मन को वश करो, उसके दोनों अण्डकोश, अर्थात् राजस और तामस भावों को नष्ट करके उसे शेप = ज्ञानमय, सात्विक भावों को प्राप्त कराओ । (८, ९) हरिवद = विषयोपसेवो और अवकाद = रस लोलुप गन्धर्वों को इन्द्र आत्मा परमात्मा की अयस्मयी = प्राणमय, विरण्ययी-ज्ञानमय शक्ति साधनाओं से वश करो । (१०) इन इन्द्रियों को और भी ज्योतित बनाओ और इनमें पिशाच = विषय-लोलुपों को उस आत्मा की शक्ति से दबाओ । (११) वह मन कुत्ते के समान कामी और बन्दर की तरह से चञ्चल है । वह कुमार = काबू न आने वाला अदृश्य, सर्वगामी होकर इन्द्रियों में विचरता है उसको प्रबल ब्रह्मज्ञान से हम दबावें । (१२) ये आत्मा, गन्धर्व और अप्सरस अर्थात् प्राणवृत्तियां और इन्द्रियवृत्तियां अमर्त्य = अविनाशी हैं । ये मर्त्य = शरीर में लिप्त न रहें प्रत्युत अन्तर्लीन होकर आत्मा को सबल करें ।

---

(३८) चितिशक्ति का वर्णन ।

बादरायणिर्ऋषिः । अप्सरो ग्लहाश्च देवताः । १, २ अनुष्टुभौ । ३ षट्पदा त्र्यवसाना जगती । ५ भुरिग जगत्यष्टिः । ६ त्रिष्टुप् । ७ त्र्यवसाना पन्चपदाऽनुष्टुप् गर्भा परोपरिष्टात् ज्योतिष्मती जगती । सप्तर्चं सूक्तम् ॥

उ॒द्भिन्द॒तीं सं॒जय॑न्तीमप्स॒रां सा॑धुदे॒विनी॑म् ।
ग्लहे॑ कृ॒तानि॑ कृण्वा॒नाम॑प्स॒रां ताम॒ह हु॑वे ॥ १ ॥

भा०—चितिशक्ति का वर्णन । हमारी यह चितिशक्ति (उद्-भिन्दतीम्) हृदय-ग्रन्थियों को खोलती हुई, (साधु-देविनीम्) अर्थात् उत्तम रूप से प्रकाशमान ज्योतिष्मती प्रज्ञा (सं जयन्तीम्) सब अन्य मानस वृत्तियों पर वश करती हुई (अप्सराम्) ज्ञानों और कर्मों में शक्ति रूप में व्यापक होकर, (ग्लहे = ग्रहे) इन्द्रियों के व्यापार में

(कृतानि कृण्वानाम्) इन प्राण इन्द्रियों के द्वारा कर्म करती हुई (अप्सरां २) प्रति कर्म और प्रति ज्ञान में शक्ति रूप से व्यापक उस चितिकला को (इह) इस योगसाधनमय कर्म के अवसर पर (हुवे) मैं स्मरण करता हूँ। यहां जुआ खेलने वाली किसी अप्सरा का वर्णन नहीं है।

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहं कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

भा०—मैं साधक इस देह में अक्ष = इन्द्रियों के संग क्रीड़ा करने वाली इस (अप्सराम्) ज्ञानों में व्यापक (साधुदेविनीम्) उत्तम रूप से प्रकाश करने वाली, ज्योतिष्मती होकर इन्द्रियों को बार बार (विचिन्वतीम् आ-किरन्तीम्) चुन २ कर उठाती उनको अपने में समूहित करती और पुनः बखेरती या बाहर विषयों पर फेंकती और (ग्लहे) इस इन्द्रिय व्यापार में (कृतानि) अपने किये कर्मों या प्राणों को स्वयं (गृह्णानाम्) वश करती हुई (ताम् अप्सराम्) उस अलौकिक चेतना शक्ति का (इह) इस योग समाधि के अवसर में (हुवे) स्मरण करता हूँ।

यायैः परिनृत्यत्यादर्दाना कृतं ग्लहात् ।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

भा०—(या) जो चिति शक्ति (अयैः) सदागतिमान् इन इन्द्रियों से (ग्लहात्) इन्द्रियों के विषय ग्रहण रूप व्यापार में (परिनृत्यती) प्रसन्न होकर (कृतं आददाना) अपने किये कार्य या मुख्य प्राण को अपनाती है वही (नः) हमारे (कृतानि) किये कर्मों को (सीषती) एक शृंखला में बांधती हुई भी (मामया) बुद्धि शक्ति से या ज्ञानमयी मुद्रा से सब दुष्ट कर्मों को नाश करने वाली, अन्त में (प्रहाम्) कर्म हानि रूप दशा को भी प्राप्त (आप्नोतु) करे । (सा) वह (पयस्वती) आनन्द-रस वाली (नः एतु) हमें प्राप्त हो जिससे बाह्य विषय (नः) हमारे (इदं धनं) इस आत्म ज्ञान रूप धन को (मा जैषुः) न हर ले जायं ।

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

भा०—(या) जिसके द्वारा चित्तवृत्तियां (अक्षेषु) इन्द्रियों में व्याप्त होकर (प्रमोदन्ते) प्रसन्न होती हैं और जो (शुचं) शोक और (क्रोधं च) क्रोध को भी (बिभ्रती = बिभ्रति) धारण करती हैं। (ताम्) उस (आनन्दनीं) आनन्द उत्पन्न करने हारी, (प्रमोदिनीं) प्रमोद करने हारी (अप्सरां) सब ज्ञानों, कर्मों में व्यापक चितिशक्ति को (इह हुवे) योगाभ्यास काल में स्मरण करता हूँ ।

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनु-संचरन्ति ।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्येति रक्षन् ।
स नु ऐतु होमामिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

भा०—सूर्य के दृष्टान्त से आत्मा का वर्णन । (याः) जो चित्तवृत्तियां (सूर्यस्य) अन्तरिक्ष में प्रकाशमान सूर्य के समान भीतरी हृदयाकाश में प्रकाशमान प्राणात्मा सूर्य की (रश्मीन्) किरणों के समान इन्द्रियों को बांधने वाली रश्मि = रस्सियों = आत्म-शक्तियों के (अनुसं-चरन्ति) अनुकूल वश होकर भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, (याः) जो सूर्य के समान प्रकाशमान आत्मा के (मरीचीः) प्रभा और सात्विक शक्तियों के (अनु-संचरन्ति) वश होकर गति करती हैं। (यासाम्) जिनका (ऋषभः) आत्मा सूर्य, स्वामी (वाजिनीवान्) ज्ञान कर्ममय वाजः = बल वाली शक्ति, बुद्धि का भी स्वामी होकर उनसे (दूरतः) दूर, अवाङ्-मानसगोचर है वह (सद्यः) शीघ्र ही उनको (रक्षन्) अपने साथ रखता हुआ (सर्वान् लोकान्) समस्त काम्य लोकों को (परि-एति) भ्रमण करता है। वह (वाजिनी-वान्) बुद्धि का स्वामी हमारे (इमं होमम्) इस होम = जीवनमय या प्राणापानाहुति रूप अध्यात्म यज्ञ को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (अन्तरिक्षेण सह) समस्त भीतरी हृदय-भूमि में व्यापक परमात्मा के सामर्थ्य के साथ (नः आ एतु) हमें (साक्षात्) प्राप्त हो ।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चिति शक्ति, बुद्धि शक्ति के स्वामिन् ! हे (वाजिन्) ज्ञानवान् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) भीतर निवास करने वाले उस प्रभु के साथ मिल कर (कर्कीं वत्साम्) कर्कवर्णा, शुभ्र ज्योतिष्मती, विशोका (वत्सा) बछड़ी के समान सुशील एवं देहरूप गृह में बसने वाली इस चिति शक्ति को (इह) इस समाधि दशा में (रक्ष) स्थिर रख। (इमे) ये (स्तोका:) स्वल्प आनन्दबिन्दु भी (ते) तेरे लिये (बहुला:) बहुत आनन्दप्रद हैं। हे आत्मन् (एहि अर्वाक्) आ, साक्षात् दर्शन दे। हे आत्मन् योगिन् ! (इयं) यह प्रत्यक्ष सूर्य के समान चमकने वाली (ते) तेरी (कर्की) सुर्या, उषा, दिव्य विशोका, ज्योतिष्मती, ऋतम्भरा या विवेकख्याति है। (ते मनः) तेरा मननशक्तिमय मन (इह अस्तु) इसी में लगा रहे।

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथा नाम व ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (वाजिनीवन्) चितिशक्ति के स्वामिन् आत्मन् ! तू (अन्तरिक्षेण सह) उस अन्तर्यामी प्रभु के साथ मिला रह और हे (वाजिन्) योगिन् ! (इह) उसी में (कर्कीम् वत्साम् रक्ष) अपनी ज्योतिष्मती प्रज्ञा रूप देहवासिनी गौ को लगाये रख। (अयं) यह आनन्दमय प्रभु इस विशेषकर प्रज्ञारूप गौ के लिये (घासः) घास या खाद्य, परम उपभोग्य पदार्थ है। (अयं व्रजः) यही इस गौ के लिये परम विश्रामस्थली है। (इह वत्साम् निबध्नीमः) यहां इस बछड़ी गाय को बांधते हैं। (वः) तुम समस्त प्राणों पर (यथा नाम) सुखपूर्वक वश करके (ईश्महे) वश करते हैं और अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। (स्वाहा) यह आत्मा परमात्मा में आहुतिरूप में पड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

(३९) विभूतियों और समृद्धियों को प्राप्त करने की साधना।

अंगिरा ऋषिः । संनतिर्देवता । १, ३, ५, ७ त्रिपदा महाबृहत्यः, २, ४, ६, ८ संस्तारपंक्तयः, ९, १० त्रिष्टुभौ । दशर्चं सूक्तम् ॥

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

भा०—संसार की विभूतियों को प्राप्त करने का गोदोहन दृष्टान्त से उपदेश । (पृथिव्यां) विशाल पृथिवी पर समस्त प्राणी (अग्नये) अग्नि के प्रति (समनमन्) उससे ज्ञान व प्रकाश प्राप्त करने और कार्य लेने के लिये झुकते हैं (स आर्ध्नोत्) वह अग्नि ही सबसे अधिक समृद्धिपूर्ण है । (यथा) जिस प्रकार (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये समनमन्) समस्त प्राणी अग्नि के प्रति ज्ञान वा प्रकाश के लिये नत होते हैं (एवा) उसी प्रकार (मह्यं) मेरे आगे (सं नमः) समस्त सम्पदाएं (सं नमन्तु) आकर झुकें, प्राप्त हों ।

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।
सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—अग्नि और पृथिवी का रहस्य । (पृथिवी धेनुः) पृथिवी गाय के समान है । (तस्याः अग्निः वत्सः) उसका बछड़ा अग्नि है । (सा) वह पृथिवी रूप गाय (अग्निना वत्सेन) अग्नि रूप बछड़े को देख कर (मे) मेरे लिये (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल आदि (कामं) समस्त उत्तम अभिलाषा योग्य पदार्थों को (दुहाम्) उत्पन्न करे और साथ ही (प्रथमं) प्रथम (आयुः) दीर्घ जीवन, (प्रजां) पुत्रादि सन्तति, (पोषं) पुष्टि, पशु आदि धन और (रयिं) वीर्य और यश प्रदान करे । (स्वाहा) हमारी यह प्रार्थना है ।

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥

भा०—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष अर्थात् पृथिवी के समीप के आकाश में (वायवे समनमन्) वायु के प्रति समस्त प्राणी कार्यों की सिद्धि के निमित्त प्रवृत्त होते है; क्योंकि (सः आर्ध्नोत्) वही सबसे बलवान्, समृद्धिमान् है। (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अन्तरिक्ष में वायु के प्रति सब नत होते हैं (एवा) उसी प्रकार (संनमः) सम्पदाएं और विनीत प्रजाएं (मह्यं सं नमन्तु) मेरी ओर झुकें।

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः।
सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं०।०॥ ४॥

भा०—(अन्तरिक्षम् धेनुः) अन्तरिक्ष गाय के समान है। (सा) वह अन्तरिक्ष (वायुना वत्सेन) वायु रूप वत्स के द्वारा (इषम् ऊर्जं कामं दुहाम्) मेरी कामना के अनुसार अन्न और बलप्रद रस को उत्पन्न करे और (प्रथमं आयुः प्रजां पोषम् रयिम्) सबसे श्रेष्ठ श्रेणी की आयु, प्रजा और यश को प्रदान करे (स्वाहा) यह हमारी प्रार्थना है। उत्तम वायु बहे, दुःख कटें, सुख हो।

दिव्यादित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथादिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, उपरिस्थ आकाश में (आदित्याय समनमन्) आदित्य अर्थात् सूर्य के समक्ष सब ग्रह, उपग्रह आदि प्रजाएं झुकती हैं क्योंकि उनमें (सः आर्ध्नोन्) वही सबसे अधिक समृद्धिमान्, शक्तिशाली है। (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्यौलोक में सब प्रजाएं सूर्य के आगे झुकती हैं (एवा संनमः मह्यं सं नमन्तु) इसी प्रकार सब सम्पत्तियां और प्रजाएं मेरे समक्ष झुकें।

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः
सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं०।०॥ ६॥

भा०—(द्यौ धेनुः) द्यौलोक गाय के समान है (तस्याः आदित्याः वत्सः) उसका बच्छे के समान उसमें निवास करने वाला आदित्य = सूर्य है (सा आदित्येन वत्सेन इषम् ऊर्जम् कामं दुहाम्) वह आदित्यरूप बछड़े द्वारा, उसी की शक्ति से प्रेरित होकर मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार अन्न और पुष्टिकारक रस उत्पन्न करे और (प्रथमं आयुः प्रजाम् पोषं रयिम्) सबसे श्रेष्ठ आयु प्रजा और यश, वीर्य प्रदान करे (स्वाहा) यही हमारी प्रार्थना है। सूर्य उत्तम प्रकाश दे, रोग नष्ट हों, मेघ बनें, बरसें, अन्न हो, प्रजा, पुष्टि, वीर्य, यश प्राप्त हो।

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ७ ॥

भा०—(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओं में आह्लादकारी चन्द्र के प्रति सब प्रजाएं कार्य सम्पत्ति के लिये नत होती हैं। (सः अर्ध्नोत्) वही सब दिशाओं में समृद्ध है। (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जिस प्रकार सब दिशाओं में आह्लादकारी चन्द्र के आगे झुकते हैं, (एवा मह्यं संनमः संनमन्तु) उसी प्रकार समस्त प्रजाएं मेरे समक्ष झुकें।

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।
ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—(दिशः धेनवः) दिशाएं गौएं हैं। (तासां चन्द्रः वत्सः) उनमें निवास करने वाला चन्द्र बछड़े के समान है। (ताः चन्द्रेण वत्सेन मे कामं इषम् ऊर्जम् दुहाम्) वे दिशाएं चन्द्ररूप वत्स की प्रेरणा से मेरे लिये मेरी कामना के अनुसार खूब अधिक मात्रा में अन्न और उससे उत्पन्न पुष्टिकारक रस को पैदा करें। (प्रथमं आयुः प्रजां पोषं रयिम्) और सबसे श्रेष्ठ प्रजा, पुष्टि, धन, सम्पत्ति और यश वीर्य भी प्रदान करें (स्वाहा) यही प्रार्थना है। दिशाओं में चन्द्र प्रकाशित हो, उत्तम बल, आयु, प्रजा, सम्पदा, यश प्राप्त हो।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥९॥

पूर्वार्धः यजु० ५ । ४ ॥

भा०—(अग्नौ) उपरोक्त अग्नि आदि पदार्थों में (अग्निः) ज्ञानस्वरूप, सर्वप्रकाशक परमात्मा (प्रविष्टः चरति) भीतर अन्तर्यामी होकर व्यापक है और वही (ऋषीणां पुत्रः) समस्त मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को शारीर और मानस दुःखों से बचाने वाला है । वही (अभिशस्तिपा उ) सब पाप और निन्दा से रक्षा करता है । हे परमात्मन् ! (ते) तुझे मैं (नमसा) बड़े आदर से झुक कर (नमस्कारेण) 'नमः' इस प्रकार के आदर सूचक पद उच्चारण करके (जुहोमि) अपने को समर्पण करता हूँ । हे पुरुषो ! हम लोग (देवानां भागं) विद्वान् लोगों के सेवन करने योग्य उपदेश को (मिथुया) मिथ्या रूप से (मा कर्म) न करें । अर्थात् अनादर या दिखावा बना कर उत्तम काम न करें, प्रत्युत सत्य भाव से उत्तम कामों को करें ।

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥१०॥

भा०—ईश्वरोपासना और सदाचार के बाद आत्मा का उपदेश । हे (जातवेदः) समस्त पदार्थों के जानने हारे ! हे (देव) प्रकाशस्वरूप देव ! तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त ज्ञानों को (विद्वान्) जानने हारा है । तुझे (मनसा) मन से और (हृदा) हृदय से (पूतं) पवित्र किये (हव्यं) स्तुति को (जुहोमि) अर्पित करता हूँ । हे (जातवेदः) ज्ञान प्राप्त करने हारे, ज्ञानी, आत्मन् ! जीव ! (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात गुण हैं । दो आंख, कान, दो नासिका, एक मुख, (तेभ्यः) इनमें भी (मनसा) मन और (हृदा) हृदय से (पूतं हव्यं) पवित्र किये समाधि योग से प्राप्त ज्ञान और अन्न की (जुहोमि) आहुति देता हूँ । अथवा—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचीति चैता लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥
ये आत्मा की सात शक्तियां योग-बल से जागृत होती हैं ।

---

(४०) आक्रमणकारी शत्रुओं के विनाश का उपदेश ।

शुक्र ऋषिः । कृत्याप्रतिहरणाय बहवो देवताः । २ जगती । ८ पुरीतिशक्करीपदयुक्ता जगती । १, ३–५ त्रिष्टुभः । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

**ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोभि दासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥१॥**

भा०—हे (जातवेदः) सर्वज्ञ परमात्मन् ! (ये) जो (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से (जुह्वति) अपने को आहुति करते हैं और (प्राच्याः दिशः) प्राची दिशा की ओर से (अस्मान् अभि दासन्ति) हमें नष्ट कर रहे हैं (ते) वे (अग्निम् ऋत्वा) अग्नि को प्राप्त होकर (पराञ्चः) पराङ्मुख पराजित होकर (व्यथतां) कष्ट भोगें और (प्रत्यग्) इनके विपरीत (प्रतिसरेण) इनका पीछा करके मैं (एनान् हन्मि) इनका विनाश करूं ।

**ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोभि दासन्त्यस्मान् ।
यममृत्वा ते० ॥ २ ॥**

भा०—(ये दक्षिणतः जुह्वति) हे जातवेदः परमात्मन् ! जो दक्षिण दिशा से अपने आपको इस कार्य में आहुति कर दें और दक्षिण दिशा से हमें नष्ट करें (ते) वे (यमम् ऋत्वा०) उस व्यवस्थापक नियन्ता के पास जाकर पराजित होकर कष्ट को प्राप्त करें और (प्रत्यग् एनान् ०) उनको भी मैं पीछा करके विनष्ट करूं ।

**ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशो भिदासन्त्यस्मान् ।
वरुणमृत्वा ते० ॥ ३ ॥**

भा०—जो (पश्चात्) पीठ पीछे से या पश्चिम दिशा की ओर से

(जुह्वति) अपने को आहुति कर दें और उस दिशा से (अस्मान् अभिदासन्ति) हमें विनाश करें वे (वरुणम् ऋत्वा० इत्यादि) वरुण, निवारक शक्ति को प्राप्त होकर, परास्त होकर जायं और उनका पीछा करके मैं विनाश करूं ।

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सोममृत्वा ते० ॥ ४ ॥

भा०—हे (ये उत्तरतः०) हे जातवेदः ! जो उत्तर की ओर से अपना सर्वस्व आहुति कर हमें उत्तर की दिशा से नष्ट करने का यत्न करें (सोमम् ऋत्वा०) 'सोम' ऐश्वर्यवान् को प्राप्त होकर वे परास्त होकर लौटें और उनका पीछा करके हम उनका विनाश करें ।

येऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
भूमिमृत्वा ते० ॥ ५ ॥

भा०—हे जातवेदः ! जो लोग (अधस्तात् जुह्वति०) अपना सर्वस्व नीचे भूमि में गाढ कर नष्ट करें और नीचे की दिशा से हमें विनाश करना चाहें, वे (ते भूमिम्०) भूमि को प्राप्त होकर परास्त हो जायं और मैं पीछा करके उनका विनाश करूं ।

येऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वायुमृत्वा ते० ॥ ६ ॥

भा०—हे जातवेदः ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति०) इस अन्तरिक्ष भाग से अपने नाशकारी पदार्थ हम पर फेंकें और हमें (वि-ऊर्ध्वायाः दिशः०) बिना मार्ग की या नाना मार्ग की ऊपर की दिशा से विनाश करना चाहें (ते वायुम् ऋत्वा) वे वायुवत् बलवान् पुरुष को प्राप्त होकर पराजित हों और मैं पीछा करके उनका विनाश करूं ।

य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सूर्यमृत्वा ते० ॥ ७ ॥

भा०—हे जातवेदः ! (ये उपरिष्टात् ०) जो ऊपर की ओर से अपने पदार्थों की आहुति करें और (ऊर्ध्वाया: दिशः अभिदासन्ति अस्मान्) ऊर्ध्व दिशा से हमें नष्ट करना चाहें वे सूर्यवत् तेजस्वी को प्राप्त होकर पराजित हों और उनका पीछा करके मैं विनाश करूं।

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योभि० ।
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ८ ॥

भा०—(ये दिशम् अन्तः देशेभ्यः जुह्वति) हे जातवेदः ! जो दिशाओं के बीच के हिस्से, उपदिशाओं में अपने विनाशकारी पदार्थों को प्रेरित करते हैं और हमें सब दिशाओं से विनाश करने का यत्न करते हैं, वे (ब्रह्म) ब्रह्म अर्थात् महान् शक्ति वाले या ब्रह्मास्त्र करके पराजित होकर कष्ट पाएं और फिर भी इनका पीछा करके मैं उनका नाश करूं। अध्यात्म में—योगी अभ्यास बढ़ाता हुआ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, अधः और ऊर्ध्व, अन्तरिक्ष और द्यौः और सर्व दिशाओं में ईश्वर के अग्नि, यम, वरुण, सोम, वायु, सूर्य और ब्रह्म इन आठ दिव्य गुणवान् भगवान् की अष्ट शक्तियों का ध्यान करे और बल प्राप्त करके अपने अन्तःशत्रु काम, क्रोध आदि के दशों दिशाओं से आने वाले प्रलोभनों को पराजित करे और कारणोच्छेदपूर्वक उनको निर्मूल करे।

इति अष्टमोऽनुवाकः।

इति चतुर्थं काण्डं समाप्तम्।

अथ पंचमं काण्डम्

(१) जगत्-स्रष्टा का वर्णन।

बृहद्दिवा अथर्वा ऋषिः। वरुणो देवता। १–४, ६, ८ त्रिष्टुभः। ५ पराबृहती त्रिष्टुप्। ७ विराट्। ९ त्र्यवसाना सप्तपदा अत्यष्टिः। नवर्चं सूक्तम्॥

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आ बभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥ १॥

भा०—जीवात्मा के दृष्टान्त से परमात्मा से विराट् सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन। जिस प्रकार (ऋधङ्-मन्त्रः) मनन शक्ति, व विवेक ज्ञान से रहित, (सुजन्मा) उत्तम जन्म धारण करने वाला (अमृतासुः) और अमृत = मधुमय, एवं अमर प्राणों को धारण करने वाला, (यः) जो जीवात्मा (योनिम्) मनुष्य आदि योनि को (आ बभूव) प्राप्त करता है और वह (अदब्धासुः) अपने प्राणों की रक्षा करता हुआ (अहा इव) मानो दिनों दिन बढ़ता हुआ और (भ्राजमानः) बराबर तेज से युक्त होकर (त्रितः) मन, वाक्, काय तीनों पर वशी होकर (त्रीणि दाधार) इन तीनों को धारण करता है। उसी प्रकार (त्रितः) तीनों लोकों में व्यापक परमेश्वर (ऋधङ्-मन्त्रः) वेदमय बृहत् सत्यज्ञान से युक्त है। (अमृतासुः) तथा अमृतमय, जीवन प्राण या अमृत का देने वाला है (सुजन्मा) वह शुभ जन्म ग्रहण करने वाले जीवात्मा के समान स्वयं भी विराट् सृष्टि रूप से प्रकट होता (वर्धमानः) और अपनी महिमा से महान् है, (यः) जो कि (योनिम् आबभूव) प्रकृति में शक्ति का आधान करता है वह (अदब्धासुः) अपनी शक्ति का नाश न होने देकर (भ्राजमानः) निरन्तर प्रकाशमान रह कर (अहा इव) सूर्य के समान (धर्त्ता) विश्व का धारण (त्रीणि दाधार) तीनों को धारण करता है। 'ऋधग्' इति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवत्यथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते। निरु०।

आ यो धर्मा॑णि प्रथ॒मः स॒साद॒ ततो॒ वपूं॑षि कृणुषे पु॒रूणि॑ ।
धा॒स्युर्योनिं॑ प्रथ॒म आ वि॑वेशा॒ यो वाच॒मनु॑दितां चि॒केत॑ ॥ २ ॥

भा०—(यः) जो ईश्वर, प्रभु (प्रथमः) सबका आदिकारण, सबसे महान् (धर्माणि) समस्त धारक-शक्तियों को (आ ससाद) अपने में रखता है (ततः) और बाद में (पुरूणि) बहुत से (वपूंषि) शरीरों को (कृणुषे) उत्पन्न करता है, वही परमात्मा, आदिकारण (धास्युः) समस्त संसार को बनाने हारा (प्रथमः) सबसे पूर्व, सृष्टि के आदि में (योनिं) या संसार की योनि, प्रकृति में (आ विवेश) शक्तिरूप से प्रविष्ट होता है। (यः) जो (अनुदितां वाचम्) विना कही, बिना उपदेश की हुई, ज्ञानमय वाणी को (चिकेत) जानता है। जीवात्मा पक्ष में—(यः प्रथमः धर्माणि आ ससाद) जो प्रथम विद्यमान जीव शरीर के कारणरूप कर्मों को प्राप्त करता है और (ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे) उन कर्मों से नाना शरीर धारण करता है, (धास्युः योनिं प्रथमः आ विवेश) देह धारण की इच्छा से प्रथम, गर्भ या मातृ-योनि में प्रविष्ट होता है (यः वाचम् अनुदितां चिकेत) और बिना उपदेश की हुई वाणी को पूर्व संस्कारों से जाना करता है ।

यस्ते॑ शो॒काय॑ त॒न्वं॑ रि॒रेच॒ क्षर॒द्धिर॑ण्यं॒ शुच॒योऽनु॒ स्वाः ।
अत्रा॑ दधेते अ॒मृता॑नि॒ नामा॒स्मे वस्त्रा॑णि॒ विश॒ एर॑यन्ताम् ॥ ३ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! (यः) जो योगी (ते शोकाय) तेरा प्रकाश प्राप्त करने के लिये (तन्वं) शरीर को (रिरेच) त्याग देता है और (हिरण्यम् अनु) आत्मा के अनुकूल भीतर की ओर (स्वाः शुचयः) अपनी कान्तियों, ज्ञान-दीप्तियों, इन्द्रिय ज्वालाओं को (अनु क्षरत्) अन्तर्वर्ती कर लेता है (अत्र) उस योगी में द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान या प्रभु और योगी का आत्मा दोनों (अमृतानि दधेते) अमृत = जीवनों और ज्ञानों को धारण कराते हैं। (विशः) जिस प्रकार प्रजायें

अपने मनुष्यों को वस्त्र देते हैं उसी प्रकार (विशः) हमारे शरीर में प्रविष्ट प्राण (अस्मे) हमें (वस्त्राणि) आच्छादन करने योग्य केशों को (आ ईरयन्ताम्) प्रदान करें। बालक जीव के पक्ष में—बालक (शोकाय तन्वं रिरेच) माता पिता उसकी दीप्ति के लिये अपना शरीर लगाते हैं और (हिरण्यं क्षरद्) वीर्य का आधान करते हैं और (स्वाः शुचयः) अपनी चित्तवृत्तियों को शुद्ध बनाते हैं। (अत्र दधेते अमृतानि नाम) इस बालक पर वे दोनों मां बाप अमृत = जीवनों = मधु-बिन्दुओं को धारण कराते हैं। इस प्रकार बड़ा हो जाने पर (विशः अस्मे वस्त्राणि आ ईरयन्ताम्) उसको सब प्रजाएं वास योग्य गृह और वस्त्र प्रदान करें।

प्र यदे॒ते प्र॑त॒रं पू॒र्व्यं गुः सदः॑ सद आ॒तिष्ठ॑न्तो अजु॒र्यम् ।
क॒विः शु॒षस्य॑ मा॒तरा॑ रिहा॒णे जा॒म्यै धुर्यं॒ पति॒मेर॑येथाम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (मातरा) माता और पिता लोगो ! और हे (शुषस्य रिहाणे) उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की अर्चना करने वालो ! आप दोनों (धुर्यं) समस्त संसार के धारण में समर्थ (जाम्यै) तथा इस संसार को उत्पन्न करने वाली प्रकृति के (पतिम्) परिपालक प्रभु की (आ-ईरयेथाम्) सत्ता का उपदेश प्रजा में करो। वह (कविः) संसार का क्रान्तदर्शी, अन्तर्यामी है। (यत्) जिस (पूर्व्यम्) पूर्ण, सबके आदि-कारण (अजुर्यम्) अविनाशी परमेश्वर को (एते) ये महा विद्वान् योगीगण भी (सदः-सदः आ-तिष्ठन्तः) प्रत्येक विद्वत्सभा में बैठ २ कर (प्रतरं) संसार-सागर से पार उतरने का नाव जानकर (प्र गुः) उसे प्रेम से प्राप्त होते, शरण लेते हैं। बालक जीव पक्ष में—(शुषस्य मातरौ) बलवान् सन्तान के पिता माता (रिहाणे) अपने सन्तान की प्रशंसा एवं अभिमान करने वाले हों (जाम्यै धुर्यं पतिम् आ ईरयेथाम्) कन्या जिसमें अन्यों ने पुत्र को पैदा करना है उसके लिये गृहस्थ-भार को उठाने में समर्थ पति को उसके पाणिग्रहण करने के लिये प्रेरित करें। (यत्) क्योंकि (एते) ये विद्वान् लोग (सदः-सदः आ-तिष्ठन्तः) अपने २ घर में

प्रतिष्ठित होकर, गृहस्थ धारण करके इसी सन्तति को (अजुर्यम्) अविनाशी (पूर्व्यम् प्रतरं प्र गुः) सर्वोत्तम तरणसाधन मानते, जानते और प्राप्त करते हैं। "उशन्ति घा त अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य" (ऋ० १० । १० । ३) मोक्षमार्गी लोग भी मनुष्य के लिये एक पुत्र को अवश्य ही चाहा करते हैं और 'पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः' (ऋ० १० । १० । १) गृहस्थी पुत्र-धारण समर्थ अपनी भूमि में, कन्या के पिता के नाती का आधान करे यह समझे कि भवसागर में यही एक तरने का साधन है।

तदू षु ते महत् पृथुज्मन् नमः कविः काव्येना कृणोमि ।
यत् सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥५॥

भा०—हे (पृथु-ज्मन्) परमात्मन् ! विशाल शक्ते ! (ते) तेरा (तत्) वह (महत्) बड़ा (सु नमः) उत्तम यश है जिसका गान और ज्ञान में (कविः) ज्ञानी, तत्वदर्शी (काव्येन) वेद-काव्य द्वारा (कृणोमि) करता हूँ। (यत्) जिससे (सम्यञ्चौ) परस्पर सम्मिलित होकर (अभियन्तौ) एक दूसरे के सन्मुख आते हुए हम दोनों (मही) विशाल (रोधचक्रे) सूर्य और पृथिवी रूपी दो रथ-चक्रों के समान, (अभि क्षाम्) पृथ्वी पर (अत्र) यहां (वावृधेते) एक दूसरे को बढ़ाते और स्वयं बढ़ते हैं। गृहस्थ पक्ष में—हे (पृथुज्मन्) ईश्वर प्रभो ! (सुमहत् ते नमः अहं कविः काव्येन कृणोमि) मैं कवि, विद्वान् तेरे बड़े भारी यश का गान करता हूँ कि (यत् सम्यञ्चौ अभियन्तौ अभि क्षाम् अत्र मही रोधचक्रे [इव] वावृधाते) परस्पर मिले हुए, एक दूसरे के प्रति दाम्पत्य प्रेम से खिंच कर आते हुए स्त्री पुरुष, रथ के दो चक्रों के समान एक दूसरे को सूर्य पृथिवी के समान बढ़ाते हैं।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥

भा०—(कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वानों ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादाएं पाप से बचने की व्यवस्थाएं (ततक्षुः) बनाई हैं । (तासाम्) उनमें से (एकाम् इत्) एक को भी (अभि गात्) जो उल्लंघन करता है वह (अंहुरः) पापी है । (आयोः स्कम्भः) जीवनशक्ति को वश करने वाला, जितेन्द्रिय पुरुष (ह) निश्चय से (उपमस्य) अपने उत्पादक प्रभु के (नीडे) आश्रय में (पथां विसर्गे) इन्द्रिय मार्गों के विसर्जन काल में, (धरुणेषु) नित्य ध्रुव लोकों में (तस्थौ) स्थान प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मचर्य और सदाचार से अक्षय लोक प्राप्त होते हैं । यास्काचार्य ने सात मर्यादायें गिनाई हैं—"स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापानं, दुष्कृतस्य, कर्मणः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यम्" इति । १–चोरी, २–गुरु-शय्या पर शयन अर्थात् गुरु-स्त्री से भोग करना, ३–ब्रह्महत्या, ४–भ्रूणहत्या = गर्भघात, ५–सुरापान, ६–दुराचार का बार २ करना, ७–पाप करके झूठ बोलना । समस्त प्रजाओं को इनका त्याग करना चाहिये ।

उ॒तामृता॑सुर्व्र॒त ए॑मि कृ॒ण्वन्नसु॑रा॒त्मा त॒न्व॑स्तत् सु॑म॒द्गुः ।
उ॒त वा॑ श॒क्रो रत्नं॒ दधा॑त्यू॒र्जया॑ वा॒ यत् सच॑ते ह॒वि॒र्दाः ॥ ७ ॥

भा०—मैं पुरुष, गृहस्थ (अमृत-असुः) अमृतरूप परमात्मा के आश्रय पर जीने वाला या स्वयं अमर, दीर्घ जीवन वाला, (व्रतः) ज्ञान-वान् होकर भी (कृण्वन्) कर्म करता हुआ ही (तत्) उस परब्रह्म को (एमि) प्राप्त करता हूँ । मैं ही (तन्वः) इस शरीर का (असुः) प्राण, (सुमद्गुः) सुप्रसन्न इन्द्रियों से युक्त आत्मा हूँ । (उत वा) और (शक्रः) शक्तिमान् परमात्मा ही उस (रत्नं) रमण करने योग्य, अति उत्तम मोक्ष या ज्ञान का (दधाति) प्रदान करता है, जिसे (हविः-दाः) अन्न और ज्ञान या प्राणदान रूप हवि को आत्माग्नि में हवन करने वाला, यजमान रूप आत्मा (ऊर्जया) अपनी शक्ति से (सचते) प्राप्त करता है ।

उ॒त पु॒त्रः पि॒तरं॑ क्ष॒त्रमी॑डे ज्ये॒ष्ठं म॒र्याद॑मह्वयन्त्स्व॒स्तये॑ ।
दर्श॒न् नु ता व॑रुण॒ यास्ते॑ वि॒ष्ठा आ॒वर्व्र॑ततः कृणवो॒ वपूं॑षि ॥ ८ ॥

भा०—(उत) और (पुत्रः) पुत्र भी (क्षत्रं पितरं) बलवान्, कष्टों से बचाने वाले पिता का (ईडे) आश्रय लेता है, क्योंकि ऋषियों के (स्वस्तये) कल्याण के लिये ही (ज्येष्ठं) ज्येष्ठ, बड़े पुत्र को ही (मर्यादम्) मर्यादा स्थापन करने वाला (अह्वयन्) बतलाया है। हे (वरुण:) सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! आप ही (आ वव्रततः) निरन्तर वर्त्तमान या संसार अथवा देह से देह में भ्रमण करने वाले आत्मा के (वपूंषि) देहों को (कृणवः) बनाते हो, इसलिये (याः ते वि स्थाः) जो आपकी व्यवस्थाएं हैं (ता नु) वे (दर्शन्) हमें दीखें। हम उनको जानें।

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे असुर।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम्।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥ ६ ॥

भा०—हे (असुर) अमर ! परमात्मन् ! आप (अर्धम्) विभूतिसम्पन्न संसार को अपने (अर्धेन पयसा) विभूति सम्पन्न तेज, वीर्य, बल से (पृणक्षि) पूर्ण कर रहे हो और (अर्धेन) विभूति सम्पन्न रूप से इसके (शुष्म) बल को (वर्धसे) बढ़ा रहे हो। हे पुरुषो ! हम (अदित्याः इषिरम्) जगत् की उत्पत्ति के निमित्त, चाहने वाले, प्रेरक और (अविं) उसके परिपालक, (शग्मियं) सर्वशक्तिमान् (सखायं) समस्त संसार के मित्र और (पुत्रम्) पुम् अर्थात् जीव को नरक से बचाने वाले (वरुणम्) सर्वश्रेष्ठ, पापनिवारक प्रभु की (वृधाम) महिमा को हम अपनी स्तुतियों से फैलावें और (रोदसी) द्यौ और पृथिवी में (अस्मै) इसी परमात्मा के रूप वर्णन के लिये जितने (कविशस्तानि) क्रान्तदर्शी ज्ञानवान् ऋषियों द्वारा बतलाये हुए (वपूंषि) नाना रूपों सामर्थ्यों का (अवोचाम) हम परस्पर उपदेश करें।

---

(२) जगत्-स्रष्टा का वर्णन।

बृहद्दिव अथर्वा ऋषिः। वरुणो देवता। १–८ त्रिष्टुभः। ६ भुरिक् परातिजागता त्रिष्टुप्। नवर्चं सूक्तम्॥

तदिदा॑स भुव॑नेषु ज्येष्ठं यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यदे॑नं॒ मद॑न्ति॒ विश्व॒ ऊमाः॑॥१॥

ऋ० १०।१२०।१॥ यजु० ३३।८०॥

भा०—(तद् इत्) वह परमेश्वर ही (भुवनेषु) इस समस्त उत्पन्न लोकों में (ज्येष्ठम्) सब से महान् (आस) है (यतः) जिससे (उग्रः) तीव्र, बलवान्, (त्वेषनृम्णः) तेजो विभूति से युक्त यह सूर्य (जज्ञे) उत्पन्न होता है और वह (सद्यः जज्ञानः) उदित होकर तत्काल ही (शत्रून्) अपने शत्रुरूप अन्धकारों को (नि रिणाति) विनाश करता है और (एनं) इसके आश्रय में ही (विश्वे ऊमाः) समस्त प्रजाएं (अनु-मदन्ति) हर्षित होती हैं।

वा॒वृ॒धा॒नः शव॑सा भूर्यो॑जाः शत्रु॑र्दा॒साय॑ भि॒यसं॑ दधाति।
अव्य॑नच्च॒ व्य॒नच्च॒ सस्नि॒ सं ते॑ नवन्त॒ प्रभृ॑ता॒ मदे॑षु॥२॥

ऋ० १०।१२।२॥ साम० उत्तरा० प्र–६।३।१॥

भा०—वह इन्द्र रूप परमात्मा (शवसा) महान् शक्ति से (शत्रुः) विघ्नों का शातन करने वाला, (दासाय) विनाशकारी पापी के दिल में (भियसं) भय (दधाति) उत्पन्न करता है। वह (भूर्योजाः) प्रभूत ओज, बल और आतङ्क वाला (अव्यनत् व्यनत् च) प्राण रहित और प्राण सहित स्थावर और जंगम दोनों में (सस्नि) व्यापक है। हे इन्द्र! ये सब (ते प्रभृताः) तेरे द्वारा पालित पोषित होकर (मदेषु) आनन्द के अवसरों में (सं नवन्त) तेरी स्तुति करते हैं।

त्वे क्रतु॒मपि॑ पृञ्चन्ति॒ भूरि॒ द्विर्यदे॒ते त्रिर्भव॒न्त्यूमाः॑।
स्वा॒दोः स्वादी॑यः स्वा॒दुना॑ सृजा॒ सम॒दः सु मधु॒ मधु॑ना॒भि यो॑धीः ३

ऋ० १०।१२।३॥ साम० उ० प्र०।६।३।१६॥

भा०—(यद्) जब (एते) ये (ऊमाः) जीव प्रजा और समस्त भुवन (द्विः) दुगुने और (त्रिः) तिगुने (भवन्ति) हो जाते हैं तब भी वे (क्रतुम् अपि) सब कर्म और ज्ञानों को (त्वे) तुझ में ही (पृञ्चन्ति) लगाते हैं। हे इन्द्र ! (स्वादुना) अपने स्वाद = आनन्ददायी शक्ति से (स्वादो स्वादीयः) स्वादु से भी स्वादु, परम आनन्ददायक मोक्ष को उत्पन्न कर और (अदः) उस अति वर्चनीय (सुमधु) परम अमृत को भी तू (मधुना सम् अभियोधीः) इस आत्मा से मिला दे। अथवा इस स्वादु संसार में उस परम स्वादिष्ट मोक्ष सुख को बरसा के और इस पृथिवी के मधु को उस आदित्य मधु से युक्त कर इत्यादि व्याख्या सामवेद के भाषाभाष्य में देखिये।

यदि॑ चि॒न्नु त्वा॒ धना॒ जय॑न्तं॒ रणे॑रणे अ॒नु॒मद॑न्ति॒ विप्राः॑।
ओजी॑यः शुष्मिन्त्स्थि॒रमा त॑नुष्व॒ मा त्वा॑ दभन् दु॒रेवा॑सः क॒शोकाः॑ ॥ ४ ॥ ऋ० १० । १२५ । ४ ॥

भा०—(यदि चित् नु) जब (धना जयन्तं) धन सम्पत्तियों के समान योगज विभूतियों पर विजय करते हुए तुझ योगाभ्यासी आत्मा को देखकर (रणे-रणे) प्रत्येक देवासुर संग्राम में (विप्राः) मेधावी विद्वान् लोग और आत्मा के इन्द्रियगण (अनु-मदन्ति) तेरे विजय के साथ हर्षित होते हैं। हे (शुष्मिन्) बलवान् ! हे (ओजीयः) सब में अधिक शक्तिशालिन् ! तू अपने को योगसाधन में (स्थिरम्) स्थिर, अविचल, (आ तनुष्व) बनाये रख। (त्वा) तुझको (कशोकाः) व्यथाएं और (दूरेवासः) दुर्गतियां (मा दभन्) व्यथित न करें। "तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।" (कठ० उप०)।

त्वया॑ व॒यं शा॑शद्महे॒ रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑।
चो॒दया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः॒ सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वयां॑सि ॥५॥ ऋ० १० । १२० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र (त्वया) तुझ सहायक के साथ, (भूरि) नाना प्रकार

के (युधेन्यानि) हथियारों को (प्र-पश्यन्तः) देखते हुए (वयं) हम लोग (रणेषु) देवासुर युद्धों में (शाशद्महे) शत्रुओं से घोर युद्ध करें और मैं (ते) तेरे (वचोभिः) वैदिक वचनों के अनुसार (आयुधा) हथियारों को (चोदयामि) युद्ध में चलाऊं और (ते ब्रह्मणा) तेरे ब्रह्मज्ञान के साथ २ (वयांसि) अपने गतिशील इन्द्रियों को (सं शिशामि) खूब तीक्ष्ण करूं।

नि तद् दधिषे वरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १२० । ६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (अवरे परे च) छोटे और बड़े, निकृष्ट और उत्कृष्ट (यस्मिन् दुरोणे) जिस घर या देह में (तद्) तू उस ब्रह्म, वेद-ज्ञान को (दधिषे) धारण करता है (अवसा आविथ) उस देह में स्व-रक्षा साधन से तू हमारी रक्षा करता है । इसलिये हे पुरुषो ! तुम उस (जिगत्नुं) विजयशील (मातरं) माता के तुल्य सबके निर्माता या ज्ञाता प्रभु को (आ स्थापयत) अपने में स्थापित करो और (अतः) इसके सहारे ही (भूरि) बहुत से (कर्वराणि) विक्षेपक, चित्त डुलाने वाले विषय विघ्नों को (इन्वत) पार कर जाओ ।

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

भा०—हे (वर्ष्मन्) श्रेष्ठ पुरुष ! (पुरु-वर्त्मानं) समस्त लोकों और इन्द्रियगणों में अन्तर्व्यापक, ((ऋभ्वाणम्) सत्य ज्ञान से प्रकाशमान, (इनतमम्) सबसे श्रेष्ठ, सूर्य के समान सबके स्वामी, (आप्यानाम् आप्तम्) 'आप्त' अर्थात् प्रमाण योग्य विद्वानों में से भी सबसे अधिक प्रमाण मानने योग्य उस परमेश्वर की (स्तुष्व) स्तुति कर । जो (शवसा) विशाल बल से (भूरि-ओजाः) महान् शक्तिमान (दर्शति) दिखलाई पड़ता है और (पृथिव्याः) इस महान् पृथिवी की (प्रति मानम्) समानता को

(प्र सक्षति) धारण करता है अर्थात् पृथिवी के समान सबका आश्रय होकर सबका पालन पोषण करता है।

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥८॥

भा०—(अग्रियः) श्रेष्ठ, (स्वर्षाः) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष सुख का भोग करने हारा (बृहद्-दिवः) महान् सूर्य के समान तेजस्वी होकर (इन्द्राय) प्रभु परमेश्वर के वर्णन में (इमा ब्रह्म) इन ब्रह्मज्ञानों को या इन विशाल शक्तियों को ही अपने (शूषम्) बल रूप में (कृण्वन्) प्रकट करता है। वह पुरुष (स्व-राजा) स्वयं अपने तेज से सर्वत्र प्रकाशमान होकर, (महः गोत्रस्य) महान् संसार के रक्षक परमात्मा के आश्रय में (क्षयति) रह कर ऐश्वर्य को प्राप्त करता है और (तुरश्चित्) अति वेगवान् मनोजव और (तपस्वान्) तपोबल से सम्पन्न होकर (विश्वम् अर्णवत्) समस्त संसार में भ्रमण करता है।

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥९॥

भा०—(एवा) पूर्व मन्त्रों में कहे अनुसार (अथर्वा) ज्ञानी, तपस्वी, (बृहद्-दिवः) परमेश्वर की गोद में क्रीड़ा करने वाला, मोक्षगामी पुरुष (स्वां तन्वं) अपने आत्मा को भी (इन्द्रम् इव) ऐश्वर्यवान् ही (अवोचत्) कहा करता है। (मातरिभ्वरी) माता, जगन्निर्माता में गति करने वाली (स्वसारौ) दोनों स्वयं आगे बढ़ने वाली, दो बहनों के समान सदा साथ रहने वाली, चितिशक्ति और मनन शक्ति दोनों (अरि-प्रे) अरि = स्वामी में पूर्ण रूप से व्यापक या (अ-रिप्रे) निर्दोष, निष्पाप, निर्मल होकर रहती हैं। साधक लोग (शवसा) अपने बल से (एने) इन दोनों को ही (हिन्वन्ति) आगे प्रेरित करते हैं और (वर्धयन्ति च) बढ़ाते हैं।

---

(३) बल और विजय की प्रार्थना ।

बृहद्दिवो अथर्वा ऋषिः । अग्निर्देवता । १, ३–६ त्रिष्टुप् । १० विराड् जगती ।
एकादशर्चं सूक्तम् ॥

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं पुषेम ।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वयाध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥

ऋ० १० । १२८ । १ ॥

भा०—विहव्यो ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (विहवेषु) संग्रामों और सभास्थलों में (मम वर्चः अस्तु) मुझे तेज, ब्रह्मवर्चस प्राप्त हो (वयं) हम (त्वा इन्धानाः) तुझे प्रज्वलित, प्रदीप्त करते हुए (तन्वं) अपने आत्मा और शरीर को (पुषेम) पुष्ट, बलवान् बनावें । (चतस्रः प्र-दिशः) चारों दिशाएं (मह्यं नमन्ताम्) मेरे आगे झुकें । (त्वया अध्यक्षेण) तुझ अध्यक्ष के बल से (पृतनाः) शत्रु सेनाओं का (जयेम) विजय करें ।

अग्ने॑ म॒न्युं प्र॑तिनु॒दन् परे॑षां त्वं नो॑ गोपाः परि॑ पाहि विश्वतः ।
अपा॑ञ्चो यन्तु नि॒वता॑ दु॒र॒स्यवो॒मैषां॑ चि॒त्तं प्र॒बुधां॑ वि नेशत् ॥२॥

ऋ० १० । १२८ । २ ॥

भा०—हे अग्ने ! सेनापते ! (त्वं) तू (परेषां) शत्रुओं के (मन्युं) क्रोध को (प्रति-नुदन्) परे करता हुआ (गोपाः सन्) जितेन्द्रिय होकर, गौओं के पालन करने वाले गोपाल के समान (नः) हम प्रजाओं को (विश्वतः) सब ओर से (परि पाहि) पालन कर और हमारे शत्रु (दुरस्यवः) दुःख संकटों में हमें डालने वाले पुरुष (अपाञ्चः) परे हटकर (निवताः) नीचे सिर झुका कर (यन्तु) चलें । (अमा) साथ ही (एषां प्रबुधां) इनके बहुत अधिक जानने वाले विद्वानों का (चित्तं) ज्ञान भी (वि नेशत्) नाना प्रकार से नष्ट हो जाय । योग के पक्ष में स्पष्ट है ।

ममं देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १२८ । ३ ॥

भा०—(मरुतः) वायु के समान वेगवान् (विष्णुः) व्यापक (अग्निः) अग्नि, अग्रणी, आत्मा और (देवाः) अर्थों का प्रकाश करने वाले ये (सर्वे) सब जन और इन्द्रिय गण भी (इन्द्र-वन्तः) राजा के समान परमेश्वर व आत्मा को प्रमुख बनाकर (मम) मेरे (वि-हवे) शासन में (सन्तु) रहें। (मम) मेरा (अन्तरिक्षम्) अन्तःवासी आत्मा मन भी (उरु लोकं अस्तु) विशाल प्रकाश से युक्त हो और (वातः) यह प्राण वायु और अन्तरिक्षगत वायु (मह्यं) मेरे लिये (अस्मै) इस नाना (कामाय) कामना-योग्य प्रयोजन के लिये (पवताम्) प्रवाहित हो ।

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥४॥

ऋ० १० । १२८ । ४ ॥

भा०—(मम यानि इष्टानि) मेरे जो इष्ट = अभिलषित सुखदायक पदार्थ और यज्ञ कर्म हैं वे (मह्यं) मुझे (यजन्ताम्) प्राप्त हों और (मे मनसः) मेरे मन का (आ-कूतिः) दृढ़ संकल्प (सत्या अस्तु) सत्य हो। (अहम्) मैं (कतमत् चन) किसी भी (एनः) पाप को (मा निगाम्) प्राप्त न होऊं। (विश्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान्, पुरुष (मा) मेरी (इह) यहां (रक्षन्तु) रक्षा करें।

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः ।
दैवा होतारः सनिषन् न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥५॥

ऋ० १० । १२८ । ५ ॥

भा०—(मयि) मुझे (देवाः) देव, विद्वान् लोग (द्रविणम्) ज्ञान और धन (आ यजन्ताम्) प्रदान करें (मयि) मुझ पर उनका (आशीः)

आशीर्वाद बना रहे । (मयि) और मुझ पर निर्भर करके (देव-हूतिः) देवगण, विद्वानों की बुलाहट लगी रहे । अथवा (मयि देवहूतिः) मुझे लोग 'देव' शब्द से आदरपूर्वक पुकारें । (दैवा होतारः) देव = राजा सम्बन्धी, विद्वान् प्रजागण मेरे यज्ञ में होता बनकर (नः) हमें (एतत्) यह सब भोग्य पदार्थ (सनिषन्) प्राप्त करावें, हम (तन्वा) शरीर से (अरिष्टाः) सदा आरोग्य, अपीड़ित, सुखी होकर (सु-वीराः) उत्तम वीर (स्याम) बनें । दैव्याः होतारः विशः । श० ३ । ७ । ३९ ॥ अध्वर्यु, इन्द्रियगण आदि ।

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥६

पूर्वार्धः ऋ० १० । १२८ । ६ ॥

भा०—हे (षड् उर्वीः) छः विशाल (दैवीः) देव प्रभु की शक्ति ! (नः) हमारे लिये (उरु कृणोत) विशाल प्रदेश प्रदान करो और विशाल ज्ञान और अन्न दो और हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इह) यहां, मेरे राज्य में (मादयध्वम्) खूब आनन्द से निवास करो । (नः) हमें (अभि-भाः) हमारे साहसों का नाश करने वाली निराशा (मा विदद्) प्राप्त न हो और (अशस्तिः मा) अपकीर्ति भी न हो और (या) जो (द्वेष्या) द्वेष करने वाली या द्वेष करने योग्य (वृजिना) परित्याग करने योग्य पाप बुद्धि है वह भी (मा विदद्) प्राप्त न हो । अध्यात्म में—षड् दैवीः = प्राण आदि पांच ज्ञान-वृत्तियां और छठी मनोवृत्ति । आधिदैविक में छः दिशाएं ।

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम् ।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥७॥

उत्तरार्धः ऋ० १० । १२८ । ७ ॥

भा०—(नः) हमें (तिस्रः देवीः) तीनों देवियां (महि शर्म) बड़ा भारी सुख (यच्छत) प्रदान करें और (यत् च) जो कुछ (नः तन्वे) हमारे

शरीर और (प्र-जायै) प्रजा के लिये (पुष्टम्) पुष्टि और बलकारी हो वह भी प्रदान करें। (प्र-जया मा हास्महि) हम अपनी सन्तति से हीन न हों, न हमारी सन्ततियों का नाश हो और न सन्तति का विच्छेद हो। (मा तनूभिः) हम अपने शरीरों को रोग आदि असमय मृत्युओं से त्याग न करें। हे (राजन् सोम) सर्व हृदयों के राजन्! नृपते! परमात्मन्! हे सोम! सर्वोत्पादक और सर्वप्रेरक! हम (द्विषते) शत्रु से (मा रधाम) पीड़ित न हों। तीन देवियां = प्राण, अपान, व्यान और वाक्, मन और काय।

उ॒रु॒व्यचा॑ नो महि॒षः शर्म॑ यच्छत्व॒स्मिन् ह॒वे पु॑रुहू॒तः पु॑रु॒क्षु।
स नः॑ प्र॒जायै॑ हर्यश्व मृ॒डेन्द्र॒ मा नो॑ रीरिषो॒ मा परा॑ दाः ॥ ८ ॥

ऋ० १० । १२८ । ८ ॥

भा०—(उरुव्यचाः) विशाल मूल प्रकृति या विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक, प्रजा में व्यवस्था-रूप से व्यापक (महिषः) महान् परमात्मा, राजा (नः) हमें (शर्म) शरण और सुख (यच्छतु) दे। (पुरु-हूतः) समस्त प्रजाओं द्वारा स्मरण किया गया, परमात्मा वा राजा (अस्मिन्) इस (हवे) यज्ञ में हमें (पुरु-क्षु) बहुत अन्न भी दे। हे (हरि-अश्व) तव्र व्यापनशील शक्तियों से युक्त परमात्मन्! अथवा तीव्राश्वों से युक्त राजन् (नः प्र-जायै) हमारी प्रजा के लिये (मृड) सुख दे, (नः) हमें (मा रीरिषः) मत नष्ट कर और (मा परादाः) हमें कभी मत त्याग।

धा॒ता वि॑धा॒ता भुव॑नस्य॒ यस्पति॑र्दे॒वः स॑वि॒ताभि॑माति॒षाहः॑।
आ॒दि॒त्या रु॒द्रा अ॒श्विनो॒भा दे॒वाः पा॑न्तु॒ यज॑मानं निर्ऋ॒थात् ॥ ९ ॥

ऋ० १० । १२८ । ७ ॥

भा०—(धाता) सबका धारण पोषण करने वाला परमेश्वर (वि-धाता) सबका उत्पादक (देवः) सबका प्रकाशक और दाता है। (यः) जो (भुवनस्य पतिः) समस्त उत्पन्न हुए विश्व का पालक है वही (सविता) सबका प्रेरक और (अभिमाति-साहः) अभिमान करने वाले अन्तः-शत्रु, काम क्रोध आदि का विनाशक है। (यजमानं) देवपूजा करने हारे यज-

मान = आत्मा को (देवाः) उस देव की दिव्य शक्तियां (निः-ऋथात्) असत्यमय पाप मार्ग से (पान्तु) बचावें। वे दिव्य शक्तियां ये हैं (आदित्याः) १२ मास, (रुद्राः) रुद्र, वायुएं और (उभा अश्विना) दोनों अश्वी, दिन रात्रि और सूर्य और पृथिवी।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान्।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥१०॥

यजु० ३४ । ४६ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (स-पत्नाः) स्वत्व पर समान अधिकार जमाने वाले भीतरी और बाहरी शत्रु हैं (ते अप भवन्तु) वे दूर हों। (एनान्) इन सबको (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र = विद्युत् या सूर्य और अग्नि = आग और ज्ञान, या राजा और सेनापति द्वारा (अव बाधामहे) विनष्ट करते हैं। (उपरि-स्पृशः) ऊर्ध्व देश को स्पर्श करने वाले (आदित्याः) सूर्य की किरण और (रुद्राः) वायुएं (चेत्तारं) समस्त संसार को चेतन देने हारे उस (उग्रं) बलवान् प्रभु को (अधि-राजम्) सबका स्वामी (अक्रन्) बना देते हैं। राष्ट्रपक्ष में—(आदित्याः) सूर्य के समान ज्ञानी पुरुष और (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले वीर पुरुष सब मिलकर (चेत्तारम्) सबको चेताने वाले (उग्रं) बलवान् पुरुष को (अधिराजम् अक्रत) अपना अध्यक्ष, राजा बनाते हैं।

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १२८ । परि० ॥

भा०—(अमुतः) दूर से भी हम (अर्वाञ्चं) प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक के (इन्द्रम्) राजा का (हवामहे) आराधना करते हैं (यः) जो (गो-जित्) गौ आदि पशुओं को जीतने वाला, (धन-जित्) धनों का विजेता और (अश्व-जित्) अश्वों का विजय करने वाला है। वह (नः)

हमारे (इमं यज्ञं) इस राष्ट्र यज्ञ का (वि-हवे) विशेष स्तुतिकाल और युद्धकाल में भी (श्रृणोतु) श्रवण करे। हे (हरिअश्व) हरणशील अश्व = वेगवती शक्तियों से सम्पन्न परमात्मन्! राजन्! आप (अस्माकं) हमारे (मेदी) स्नेही (अभूः) हों। अध्यात्म में—गौ = ज्ञानेन्द्रियां, अश्व = कर्मेन्द्रियां, धन = ज्ञान और कर्म फल।

---

(४) कुष्ठ नामक परमात्मा वा ओषधि का वर्णन।

भृग्वंगिरा ऋषिः। यक्ष्मनाशनः कुष्ठो देवता। १–४, ७, ६ अनुष्टुभः। ५ भुरिक्, ६ गायत्री। १० उष्णिग्गर्भा निचृत। दशर्चं सूक्तम्॥

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥ १॥

भा०—(कुष्ठ) हे पृथिवी पर स्थित परमात्मन्! (यः) जो तू (गिरिषु) पर्वतों में (अजायथाः) योगि-जनों के हृदयों में प्रकट होता है, (वीरुधां बलवत्तमः) वह तू रोगनाशक साधनों में से सबसे बलवान् साधन है। हे (तक्मनाशन) संसार-ज्वर के नाशक! (तक्मानं नाशयन्) मेरे कष्टदायी संसार-ज्वर का नाश करता हुआ तू (इतः एहि) यहां, मेरे आत्मा में प्रकट हो। इसी प्रकार "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्" इस मन्त्र में आत्मा, परमात्मा के साक्षात् करने के उत्तम स्थान पर्वत कहे गये हैं। परमात्मा का एक सहज दर्शन पर्वतों पर होता है। उपनिषदों तथा अनुभवी महात्माओं द्वारा परमात्मा के गुणों का श्रवण करके उपासक लोग परत्मामा की ओर झुकते हैं और सर्वस्व त्याग कर भी इसे प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, वे जानते हैं कि उनके कष्टों को दूर करने वाला परमात्मा ही है। (२) ओषधि पक्ष में—वनस्पतियों में से सब से अधिक बलशाली कूठ नाम वनस्पति पर्वतों में उत्पन्न होती है। वह 'तक्मा' अर्थात् कष्टदायी रोग को नाश करती है। राजनिघण्टु में कुष्ठ-ओषधि कफमारुतरक्तजित् त्रिदोषकण्डूश्च कुष्ठरोगाञ्च नाशयेत्।

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

भा०—(सुपर्णसुबने) सुपर्ण अर्थात् परमात्मा पर्वतों में प्रकट होता है। अतः पर्वत को 'सुपर्णसुवन' कहते हैं (गिरौ) ऐसे पर्वत पर विशेषतया (हिमवतः परि जातम्) हिमाच्छित पर्वतों पर प्रकट होने वाले परमात्मा का (श्रुत्वा) श्रवण करके उपासक लोग (धनैः अभियन्ति) धनादि ऐश्वर्यों का त्याग करके उसकी ओर जाते हैं, (तक्मनाशनम् विदुः हि) और वे परमात्मा को ही उनके संसार-ज्वर का नाश करने वाला जानते हैं। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"—इस मन्त्र में परमात्मा का नाम 'सुपर्ण' कहा गया है। (२) कूठ नाम ओषधि (सुपर्णसुवने) अर्थात् गरुड़ आदि बड़े पक्षियों की उत्पादक हिमाच्छन्न देशों में उत्पन्न होता है। उसे बहुत व्यय करके प्राप्त करते हैं।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ६ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । १ ॥

भा०—(अश्वत्थः) अश्व अर्थात् इन्द्रियरूपी घोड़े जहां स्थित रहते हैं, (देवसदनः) तथा जो देवों अर्थात् इन्द्रियों का गृह भूत है वह मस्तिष्क (तृतीयस्यां दिवि) इस शरीर के तृतीय लोक अर्थात् मूर्धास्थान में है, (तत्र) उस मस्तिष्क में (अमृतस्य चक्षणम्) अमृत परमात्मा का दर्शन है, (देवाः) योगी लोग (कुष्ठम्) इस पार्थिव देह में स्थित परमात्मा को (अवन्वत) यहीं पाते हैं। (२) किरणों का आश्रय सूर्य ही 'अमृत' अर्थात् रोग नाश कर देता है। वह रोगहारी रस कुष्ठ को भी सूर्य की किरणों से प्राप्त होता है।

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । ७ ॥ अथर्व० ६ । ९५ । ५ ॥

भा०—(दिवि) मूर्धा स्थान में, (नौः) योगी को भवसागर से तराने वाली एक नौका ऋतम्भरा प्रज्ञा है, वह (हिरण्ययी) सात्विक गुणमयी है, (हिरण्यबन्धना) और सात्विक गुण के बन्धन वाली है, (तत्र) उसमें (अमृतस्य पुष्पम्) अमृत प्रभु का विकास होता है, (देवाः) योगीजन (कुष्ठम्) इस पार्थिव देह में स्थित परमात्मा को (अवन्वत) यहीं चाहते हैं। (२) सूर्य तेजोयुक्त, सर्वदक् होने से नौ है। वहां से ही अमृत का पोषक रस कूठ को प्राप्त होता है।

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥

भा०—(पन्थानः हिरण्यया आसन्) योगी के मार्ग सात्विक हो जाते हैं, (अरित्राणि) काम क्रोधादि अरि-वर्ग से रक्षा के साधन (हिरण्यया) सात्विक हो जाते हैं, (नावः) भवसागर से पार उतरने के साधन ऋतम्भरा प्रज्ञा आदि सात्विक होते हैं। (याभिः) जिन साधन रूप इन नौकाओं द्वारा (कुष्ठम्) पार्थिव देह में स्थित परमात्मा को (निरावहन्) योगीजन प्राप्त करते हैं। (२) सूर्य की दीप्तिमय किरणों से ही कूठ पुष्ट होता है।

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु।
तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे (कुष्ठ) भूमि पर स्थित वनस्पति के लिये सर्वव्यापक, कूटस्थ! परमात्मन्! (मे) मेरे (इमं) इस (पूरुषं) पुरुष को अर्थात् शरीर-पुरी में बसने वाले आत्मा को (आ वह) सात्विक भाव रूपी आरोग्यता प्राप्त करा। (तं निष्कुरु) उसको राग-द्वेषादि के रोग से मुक्त कर और (तम् उ मे अगदं कृधि) मेरे उस आत्मा को राग द्वेष आदि के रोग से मुक्त बनाये रख। (२) वह कूठ ही देह को नीरोग करता है।

देवेभ्यो अधि जातोसि सोमस्यासि सखा हितः।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

भा०—हे परमात्मन् ! तू (देवेभ्यः) दिव्य अर्थात् सात्त्विक गुणों से (अधि-जातः असि) प्रकट हुआ है और (सोमस्य) सौम्य गुण वाले योगी का तू (सखा) मित्र के समान (हितः) हितकारी है । (सः) वह तू (प्राणाय) शरीर के प्राण के लिये और (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु के लिये और (मे अस्मै) मेरी इस (चक्षुषे) चक्षु के लिये (मृड) सुख उत्पन्न कर । (२) वह कूठ सोमवत् गुणों से युक्त है । प्राण, व्यान और चक्षु के बल को बढ़ाता है ।

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

भा०—तू (उदङ्) उत्कृष्ट (हिमवतः जातः) हिमाच्छादित पर्वतों पर प्रकट होता है, (सः) वह तू जब योगी के हृदय में प्रकट हो जाता है तब (प्राच्याम्) पूर्व आदि दिशाओं में (जनम्) जनों के प्रति अर्थात् उनके उपदेश के लिये (नीयसे) ले जाया जाता है, अर्थात् योगी लोग तेरा साक्षात् कर तेरे नाम को सर्वत्र ले जाते हैं, सर्वत्र फैला देते हैं, (तत्र) उस प्रजाजन में (कुष्ठस्य) सर्वत्र व्यापक परमात्मा के (उत्तमानि नामानि) उत्तम नामों को (वि भेजिरे) योगीजन फैला देते हैं । (२) उत्तर दिशा से वह लाया जाता है, उत्तर दिशा में इसकी अनेक नाम रूप और जातियां हैं ।

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

भा०—(उत्तमः नाम कुष्ठ असि) हे सर्वव्यापक ! तू उत्तम है, (उत्तमः नाम ते पिता) हे जीव ! तेरा पिता निश्चय से उत्तम है, हे प्रभो ! (तक्मानम्) राग-द्वेष आदि रोग का तथा (यक्ष्मम्) मोहरूपी महा रोग का (नाशय) नाश कर और इन्हें (अरसं कृधि) सुखा दे । (२) उत्तम सूर्य उसका पालक है । वह राजयक्ष्मा और कुष्ठ रोग का भी नाशक है ।

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

भा०—(शीर्ष-आमयम्) सिर के रोग अर्थात् कुविचार का और (अक्ष्योः तन्वः रपः) आंखों और शरीर के दोष अर्थात् कुदृष्टि और व्यभिचार आदि का (उप-हत्याम्) तथा हत्या और हिंसाभाव का (कुष्ठः) सर्वव्यापक परमात्मा (निष्करत्) प्रतिकार कर देता है, (सम् अह) निश्चय से (दैव्यं वृष्ण्यम्) वह परमात्मा दिव्य औषध के सदृश है। (२) कुष्ठ ओषधि सिर के रोग, चक्षु और शरीर के सब भीतरी मलों [गदूदों] को निकाल कर शरीर को हृष्ट पुष्ट स्वच्छ नीरोग करती है।

---

(५) सिलाची = लाक्षा ओषधि का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । लक्ष्मी देवता । १—९ अनुष्टुभः । नवर्चं सूक्तम् ॥

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥

भा०—सिलाची नाम ओषधि का उपदेश । सिलाची = लाख नाम ओषधि की (माता) माता के समान पालन पोषण और वृद्धि करने वाली (रात्री) रात्रि है। अर्थात् वह रात में ओस से बढ़ती है, (नभः) अधिक न चमकने वाला, चन्द्रमा, नक्षत्रमय आकाश उसका (पिता) पालन करने वाला है और (ते पितामहः) तेरा पितामह (अर्यमा) सूर्य है। परम्परा से वह ओषधि सूर्यप्रकाश की अपेक्षा करती है। हे ओषधे ! तू (सिलाची नाम वा असि) 'सिलाची' नाम वाली है। तू (देवानाम् स्वसा असि) देव विद्वानों की भगिनी के समान रोगियों को (सु-असा) सुख देने में सहायक है। अथवा देह में विद्यमान देव, इन्द्रियों को (स्व-सा) स्वयं गति देने में समर्थ है।

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥ २ ॥

भा०—उसके गुण । हे ओषधे ! (यः त्वा पिबति) जो तुझको पान करता है (जीवति) वह दीर्घ जीवन धारण करता है, वह मृत्यु से बच जाता है, क्योंकि (त्वम्) तू (पुरुषं) पुरुष को (त्रायसे) मृत्यु से रक्षा करती है और (हि) क्योंकि तू (शश्वतां) अनादि काल से चले आये (जनानां) मनुष्यों का (भर्त्री हि) भरण पोषण करने वाली (असि) है और इसीलिये (नि-अञ्चनी) सब रोगों को दबाने वाली, अथवा समस्त शरीर में सुगमता से व्याप जाने वाली है ।

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥ ३ ॥

भा०—(वृषण्यन्ती) काम से प्रेरित होकर पति की अभिलाषा करने वाली (कन्यला) कन्या, नवयुवती जिस प्रकार स्वयंवर काल में पुरुष को देख कर उसका आश्रय लेने का संकल्प करती है उसी प्रकार हे ओषधे ! तु भी (वृक्षं वृक्षं) प्रत्येक वृक्ष पर (आरोहसि) आश्रय लेती है और (जयन्ती) उस पर फैल कर उसको पूरी तरह से उसे छा लेती है और पुनः (प्रति-आ-तिष्ठन्ती) उस पर खूब मजबती से जड़ जमाकर स्थिर हो जाती है । तेरा दूसरा नाम (स्परणी नाम वा असि) 'स्परणी' भी है ।

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥

भा०—इसके गुण । (यद्) जो (अरुः) घाव (दण्डेन) दण्डे की चोट से, (यद् इष्वा) और बाण के लगने से और (यद् वा अरुः) जो घाव (हरसा कृतम्) किसी रगड़ से या शस्त्र से हो गया है (तस्य) उसको (त्वम् निष्कृतिः असि) तू सर्वथा दूर करने में अचूक औषध है । (सा) ऐसी तू (इमं पुरुषं निष्कृधि) इस पुरुष को चंगा कर ।

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

भा०—इसके उत्पादक वृक्ष। हे ओषधे ! तू (भद्रात्) उत्तम (प्लक्षात्) प्लक्ष = पिलखन के पेड़ से, (अश्वत्थात्) पीपल के पेड़ से और (खदिरात्) खैर के पेड़ से और (धवात्) धौ के पेड़ से और (भद्रात्) उत्तम (न्यग्रोधात्) बड़ के पेड़ से और (पर्णात्) पर्ण = पलाश = ढाक के पेड़ से (निः तिष्ठसि) उत्पन्न होकर उस पर आ जमती है। हे (अरुन्धति) अरुष् = घावों को भर देने वाली ओषधे ! (सा) वह तू (नः एहि) हमें प्राप्त हो।

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥ ६ ॥

भा०—उसका स्वरूप। हे (हिरण्य-वर्णे) स्वर्ण के समान पीत रंग वाली, (सु-भगे) सुन्दर चमक से युक्त, (सूर्य-वर्णे) सूर्य के समान लाल, पीले, चमकीले रंग वाली, (वपुष्टमे) अपने बीजवपन करने और फैलने में सबसे अधिक शक्तिशाली ! हे (निष्कृते) रोग को सर्वथा दूर करने वाली ! तू (निष्कृतिः नाम वा असि) 'निष्कृति' नाम वाली, सर्वरोग-हारिणी है। तू (रुतं) रुत = व्रण पर (गच्छासि) प्रयोग की जाती है। अथवा नामानुरूप गुण प्राप्त करती है।

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥

भा०—हे (हिरण्य-वर्णे) सुवर्ण के वर्ण वाली ! हे (सुभगे) सुन्दर कान्ति, सौभाग्य वाली ! (लोमशवक्षणे) पार्श्वों पर सूक्ष्म रोम वाली ! तू (अपाम् स्वसा असि) जलों में अपना रस छोड़ देने वाली है। हे (लाक्षे) लाख नाम वाली ओषधे ! (ते आत्मा) तेरा देह (वातः हि बभूव) वस्तुतः, वात रूप है, तू वायु से पुष्ट होती है।

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव ।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

भा०—(सिलाची नाम) तू 'सिलाची' नाम की औषध है । हे ओषधे ! (तव पिता) तेरा पिता, उत्पादक, (कानीनः) दीप्ति का पुञ्ज है और (अजबभ्रुः) अन्नों वा बकरी आदि क्षुद्र पशुओं का पोषक और (अश्वः) सूर्य है । जो सूर्य (यमस्य) सर्व नियन्ता का बनाया (श्यावः) श्याव आदि नाना रूप रंगों का उत्पादक है (तस्य) उसके (अस्ना) रस से (उक्षिता असि) तू सिंची है ।

अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥ ९ ॥

भा०—हे ओषधे ! (अश्वस्य) सूर्य के (अस्नः) लाल रस से (सम्पतिता) संयुक्त होकर (सा) वह तू ओषधि (वृक्षान् अभि सिष्यदे) वृक्षों पर से स्रवित होती है । हे (अरुन्धति) व्रण पूरने वाली ओषधे ! (सम) बहने वाली या फैलने वाली (सा) वह तू (पतत्रिणी) पक्षों अर्थात् शाखा पर चिपटे छिलकों वाली, खूब परिपक्वावस्था में (नः) हमें (एति) प्राप्त होती है । लाख का चपड़ा बनाया जाता है तब उसे पिघला कर पत्रों के समान उसकी चादरें बिछा दी जाती हैं । वह औषध के काम में लाई जाती है ।

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

---

(६) जगत्-स्रष्टा और राजा का वर्णन ।

अथर्वा ऋषिः । १ सोमरुद्रौ, बृह्मादित्यौ, कर्माणि रुद्रगणः हेतिश्च देवताः । १ त्रिष्टुप् । २ अनुष्टुप् । ३ जगती । ४ अनुष्टुबुष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती । ५–७ त्रिपदा विराड् नाम गायत्री । एकावसाना द्विपदाऽनुष्टुप् । १० प्रस्तारपंक्तिः । ११, १२, पंक्तय, १४ स्वराट् पंक्तिः । चतुर्दशर्चं सूक्तम ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

अथर्वा० ४ । १ । १ ॥ साम० पू० प्र० ४ । ३ । ६ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान्, तेजस्वी परमात्मा ने (प्रथमं) सबसे प्रथम (जज्ञानम्) प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही उत्पन्न किया और (सुरुचः) कान्तिमान् लोकों को (सीमतः) उसके बीच में से (वि आवः) बना कर प्रकट किया। (सः) उस ही परमात्मा ने (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश (वि-स्थाः) विशेष रूप से स्थित अन्य ब्रह्माण्ड अथवा इस जगत् के (उपमाः) बनाने वाली (बुध्न्याः) मूल आधारभूत (विष्ठाः) व्यवस्थाएं भी प्रकट कीं और उसने ही (सतः च) इस सद्रूप जगत् और (असतः च) अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूलकारण को (वि वः) प्रकट किया है ।

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २ ॥

अथर्व० का० ४ । ७ । ७ ॥

भा०—हे पुरुषो ! (ये) जो (वः) तुम लोगों में से (अनाप्ताः) आप्त, अर्थात् पूर्ण ज्ञानी नहीं होकर (यानि कर्माणि) जिन कर्मों को (चक्रिरे) करते हैं, उनके अज्ञान से किये काम (अत्र) इस संसार में (नः वीरान्) हमारे पुत्रों को (मा दभन्) हानिकारक न हों। इसलिये (तत् एतत्)

उस परम ज्ञानमय इस वेद को मैं परमात्मा (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) स्थापित करता हूँ ।

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ७३ । ४ ॥

भा०—(दिवः) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशमय परमात्मा के उस (नाके) परम सुखमय (सहस्र-धारे) सहस्रों धारण-शक्ति सम्पन्न लोक में (एव) ही (ते) वे नाना मुक्त जीव (असश्चतः) स्थिर, कूटस्थ, निश्चल, शान्त-स्वभाव होकर (मधु-जिह्वाः) मधुर रसना से, ज्ञानमयी मनोहर वाणी सहित (सम्-अस्वरन्) वेद-ज्ञान का गान करते हैं (तस्य) उस परमेश्वर के (भूर्णयः) समस्त संसार के भरण पोषण करने वाले या धर पकड़ने वाले (स्पशः) सबके चरित्रों को देखने वाले नियम रूप दूत (न निमिषन्ति) एक क्षण भी असावधान होकर आंख नहीं झपकते प्रत्युत अनर्थकारियों को (सेतवे) बांधने के लिये तो वे (पदे-पदे) पद २ पर (पाशिनः) हाथों में पाश, दण्ड या फन्दा लिये हुए (सन्ति) खड़े हैं। वे सज्जनों का पालन और दुष्टों का दमन करते हैं।

पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि
त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥ ऋ० ७ । ११० । १

भा०—हे सोम ! राजन् ! (वाजसातये) ज्ञान, धन, वीर्य या अन्न की प्राप्ति के लिये जब आप (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सक्षणिः) विजयशील होकर (परि उ. सु प्र धन्वा) परे मार भगाते हो आप ही (तत्) तब (अर्णवेन) समुद्र के द्वारा भी (द्विषः) शत्रुओं पर (अधि ईयसे) चढ़ाई करते हो। इसीलिये आपका (सनिस्रसः नाम असि) नाम 'सनिस्रस' = पराक्रमी, 'विक्रम' से शत्रु पर चढ़ाई करने वाला है।

यह ठीक है कि (त्रयोदशो मासः) तेरहवां मास (इन्द्रस्य गृहः) इन्द्र का घर है। अर्थात् जिस प्रकार बारहों मास अतिक्रमण करके इन्द्र = सूर्य तेरहवें मास में पैर रख देता है इसी प्रकार वीर भी शत्रु के द्वादश राज-मण्डल का विजय करके तेरहवें स्थान पर स्वतः 'इन्द्र' होकर विराजता है।

न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥

उत्तरार्ध भागः ऋ० ७ । ७४ । ४ प्र०, द्वि० ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (नु) निश्चय से (एतेन) इस प्रकार से सुगुप्त मन्त्र द्वारा (अरात्सीः असौ) हे राजन् ! वह तू सिद्धि को प्राप्त हो (स्वाहा) यह हमारी सद्-भावना है और प्रजा चाहे कि (तिग्मायुधौ) तीक्ष्ण हथियार वाले और (तिग्महेती) तीक्ष्ण अस्त्र वाले (सोमरुद्रौ) राजा और सेनापति दोनों (सुशेवौ) सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर (इह) इस राष्ट्र में (नः) हमें (सु मृडतम्) सुखी रक्खें।

अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मा० ॥ ६ ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (एतेन) इस प्रकार के उपाय से (असौ) हे अमुक राजन् ! तू शत्रुओं को (अव अरात्सीः) नीचे दबाने में सफल हो (स्वाहा) यह हमारी प्रार्थना वा सद्-इच्छा है। (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों सुखपूर्वक सेवा करने योग्य होकर हमें सुखी बनावें।

अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥

भा०—प्रजा के प्रतिनिधि राजा से कहें कि (असौ) हे अमुक राजन् ! तू (एतेन) इस अमुक उपाय से (अप अरात्सीः) शत्रुगण को परे भगा देने में समर्थ हो। (तिग्मायुधौ०) तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले राजा और सेनापति दोनों हमें सुखी बनावें।

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥८॥

भा०—हे राजन् और सेनापते ! आप दोनों (अस्मान्) हम प्रजाजनों को (अवद्याद्) निन्दनीय (दुरिताद्) दुराचार से (मुमुक्तम्) मुक्त करें और (यज्ञं) हमारे संगठन को (जुषेथाम्) आप प्रेम से देखें और योग दें और (अस्मासु) हम में (अमृतम्) जीवन और ज्ञान स्थापित करें, तथा अमृत अर्थात् मृत्यु और शत्रु से होने वाले भय का पूर्ण प्रतिकर (धत्तम्) करें।

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥

भा०—हे (चक्षुषः हेते) चक्षु के आयुध ! हे (मनसः हेते) मन के आयुध ! हे (ब्रह्मणः हेते) ब्रह्म = ज्ञान के आयुध ! और (तपसः च हेते) तपः सामर्थ्य के आयुधरूप राजन् ! तू (मेन्याः मेनिः असि) मेनि = आयुध का भी तू आयुध है। (ये अस्मान्) जो हम पर (अभि अघायन्ति) सब तरफ से पापाचार करना चाहते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे सदा बिना हथियार के रहें। शत्रु पर आंख रख कर उसको दबाना चक्षु का शस्त्र फेंकना है। मानस—मन्त्र-शक्ति से दबाना मन का हथियार चलाना है, विद्वानों के विज्ञान का वार करना ब्रह्म का हथियार चलाना है, इसी प्रकार बल, तपस्या, सहन-शक्ति से शत्रु पर वार करना तप का हथियार चलाना है।

योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात्।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—(यः यः अघायुः) जो जो पापचारी पुरुष (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) दुर्भावमय आंखों से (मनसा) मन से (चित्त्या) ज्ञान से और (आकूत्या) मन्त्र, सलाहों से (अभि-दासात्) नष्ट करना चाहता है, हे अग्ने ! राजन् ! सेनापते ! (तान्) उन शत्रुओं को तू अपने (मेन्या)

तलवार के जोर से (अमेनीन्) निःशस्त्र (कृणु) कर, (स्वाहा) हमारी यही उत्तम सलाह है।

इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः ।
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ ११ ॥

भा०—शरणागतों को उपदेश । वे राजा से कहें कि (इन्द्रस्य गृहः असि) इन्द्र = ऐश्वर्यशील उस राजशक्ति का तू गृह = आश्रय-स्थान है। हे राजन् ! (तं त्वा प्रपद्ये) मैं तेरी शरण में प्राप्त होता हूँ, (तं त्वा प्र विशामि) उस परमशक्तिमान् तेरी सेवा में प्रविष्ट होता हूँ । मैं (सर्वगुः) अपनी सब गौओं, इन्द्रियों सहित, (सर्व-पुरुषः) सब पुरुषों सहित, (सर्वात्मा) सब मन और (सर्व-तनूः) सम्पूर्ण शरीर और (यम् मे अस्ति तेन) और जो भी मेरा है उसके सहित तेरी शरण होता हूँ । राजा जिनको अपने साथ मिलावे उनसे इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेकर सेना आदि में नियुक्त करे ।

इन्द्रस्य शर्मासि । तं त्वा० ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रस्य शर्म असि) हे राजन् ! तू इन्द्र = ऐश्वर्यशाली शक्ति का आश्रयस्थान है। (तं त्वा प्रपद्ये०) तुझे मैं प्राप्त होता हूँ, तेरी सेवा में आता हूँ, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्रस्य वर्मासि । तं त्वा० ॥ १३ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य वर्म असि) इन्द्र = ऐश्वर्यशील पद का कवच के समान रक्षक है। (तं त्वा०) मैं उस तेरी शरण आता हूँ, इत्यादि पूर्ववत् ।

इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ १४ ॥

भा०—(इन्द्रस्य वरूथम् असि) हे राजन् ! तू उस इन्द्र के समृद्धिशाली पद का वरूथ = स्वीकार करने वाला, रक्षक है। (तं त्वा प्रपद्ये)

मैं तेरी शरण आता हूँ, इत्यादि पूर्ववत् । ११, १२, १३, १४, इन चार मन्त्रों में राजा के प्रति शरणागतों के कर्त्तव्य कहे हैं, वे अपनी गौ, पुरुष, देह और समस्त भूमि, धन आदि सहित राजा की शरण आयें और ऐसा प्रतिज्ञापत्र लिख दें ।

---

(७) अधीन भृत्यों को वेतन देने की व्यवस्था ।

अथर्वा ऋषिः । बहवो देवताः । १–३, ६–१० आदित्या देवताः । ४, ५ सरस्वती । २ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः ४ पथ्या बृहती । ६ प्रस्तारपंक्तिः । २, ३, ५, ७–१० अनुष्टुभः । दशर्चं सूक्तम् ॥

आ नो॑ भर॒ मा परि॑ ष्ठा अराते॒ मा नो॑ रक्षी॒र्दक्षि॑णां नी॒यमा॑नाम् ।
नमो॑ वी॒र्त्सायै॑ अस॑मृद्धये॒ नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये ॥ १ ॥

भा०—विद्वानों को भरण पोषण और वृत्ति देने के विषय में उपदेश । हे (अराते) पर-द्रव्य दूसरों को न देने वाले पुरुष ! (नः आ भर) हमें हमारा उचित पालन पोषण योग्य द्रव्य दे दिया कर । (मा परि-ष्ठाः) उदासीन होकर चिन्ता में मत खड़ा रह । (नः) हमारे लिये (नीयमानां दक्षिणाम्) लाई गई दक्षिणा = श्रेष्ठ कर्म के लिये आदरपूर्वक पुरस्कार या ऋत्विग् लोगों की भृति वा अन्न को (मा रक्षीः) अपने पास मत रोक रख । (वि ईर्त्सायै) विशेष ऋद्धि के प्राप्त करने की इच्छा, प्रलोभन या लालसा को भी (नमः) वज्र के समान दूर से त्याग करते हैं और साथ ही (नमः असम्-ऋद्धये) समृद्धि का न होना या दरिद्रता को भी वज्र हो अर्थात् वह भी नहीं चाहिये और हे दाता ! [illegible] भी निष्कपट होकर कह कि (नमः अस्तु अरायते) न देने के भाव = कंजूसी को भी (नमः) वज्र हो, उसे भी धता बता । देने वाला कंजूस न हो, लेने वाले लालची न हों तो गरीबी अवश्य दूर हो जाती है ।

यम॑राते पुरोध॒त्से पुरु॑षं परिरा॒पिण॑म् ।
नम॑स्ते॒ तस्मै॑ कृण्मो॒ मा व॒निं व्य॑थयी॒र्मम॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (अराते) श्रमी पुरुषों और विद्वान् कार्यकर्त्ताओं को उनका पुरस्कार न देने हारे पुरुष ! तू (यम्) जिस (पुरुषं) पुरुष को (परिरापिणं) नाना प्रकार से अपने आगे बुरा भला कहते हुए, अपने आगे अपने वेतन के लिये बड़बड़ाते हुए को (पुरः धत्से) आगे खड़ा रखता है (ते) ऐसे तुझ और (तस्मै) ऐसे तेरे उस पुरुष को भी (नमः कृण्मः) वज्र अर्थात् दण्ड करें। अर्थात् ऐसी दशा कभी समाज में नहीं आने देना चाहते, क्योंकि प्रत्येक पुरुष यह चाहता है कि (मम) मेरी (वनिं) वृत्ति को (मा व्यथयीः) हे मेरे मालिक ! तू मत मार, मुझे हानि मत पहुँचा, नहीं तो तेरे सेवक तेरे सामने तुझे बुरा भला सुनावेंगे और गिड़गिड़ावेंगे।

प्र णो॑ व॒निर्दे॒वकृ॑ता॒ दिवा॒ नक्तं॑ च कल्पताम् ।
अरा॑ति॒मनु॒प्रेमो॑ व॒यं नमो॑ अस्त्वरा॑तये ॥ ३ ॥

भा०—(नः वनिः) हमारा भाग, वृत्ति (देवकृता) विद्वान् पुरुषों ने नियत की है। इसलिये वह (दिवा नक्तं च) दिन और रात (प्र कल्पताम्) उत्तम रीति से बनी रहे। (अरातिम्) न देने हारे कंजूस पुरुष के पास (अनु प्र-इमः) फिर उसके अनुकूल होकर उसके पास आते और कहते हैं कि (नमः अरातये अस्तु) अदानशील को नमस्कार अर्थात् उसको दबाया जावे, उसे दण्ड हो। नमः = वज्रम्। (शत०)।

सर॑स्वती॒मनु॑मतिं॒ भगं॒ यन्तो॑ हवामहे ।
वाचं॑ जु॒ष्टां मधु॑मतीमवादिषं दे॒वानां॑ दे॒वहू॑तिषु ॥ ४ ॥

भा०—(भगं यन्तः) ऐश्वर्य को प्राप्त होते हुए भी (अनुमतिं) अपने से बड़ों की अनुमति को और (सरस्वतीं) वेद की ज्ञानमयी वाणी को हम (हवामहे) बराबर लेते, याद रखते और पाठ करते हैं और हम विद्वान् लोग (देवहूतिषु) विद्वानों की सभाओं और यज्ञ-कार्यों में (देवानां) विद्वानों की (जुष्टां) अति प्रिय (वाचं) वेदवाणी को (अवादिषं) बोलें और उपदेश करें।

यं याचा॒म्य॒हं वा॒चा सर॑स्वत्या मनो॒युजा॑ ।
श्र॒द्धा तम॒द्य वि॑न्दतु द॒त्ता सोमे॑न ब॒भ्रुणा॑ ॥ ५ ॥

भा०—(यं) जिस स्वामी से (अहं) मैं (मनोयुजा) विचार से युक्त (सरस्वत्या) तथा सुन्दर अर्थ और सार वाली (वाचा) वाणी द्वारा (याचामि) मांगता हूँ, (तम्) उस स्वामी को (अद्य) आज (बभ्रुणा) सबके उत्पादक, भरण पोषणकर्त्ता, परमात्मा द्वारा (दत्ता) दी गई (श्रद्धा) सत्य धारणा वाली भक्ति (विन्दतु) प्राप्त हो। विद्वान् ब्राह्मण के उपदेश आदि कर चुकने के पश्चात् दक्षिणा के अवसर पर दाता के हृदय में श्रद्धा सर्वपोषक परमात्मा की दी हुई है। वह प्रभु के प्रेम से विद्वानों का आदर करता है।

मा व॒निं मा वाचं॑ नो॒ वीर्त्सी॑रु॒भावि॑न्द्रा॒ग्नी आ भ॑रतां नो॒ वसू॑नि।
सर्वे॑ नो अ॒द्य दित्स॒न्तोऽरा॑ति॒ प्रति॑ हर्यत ॥ ६ ॥

भा०—हे स्वामिन्! (वनिं) किसी के वेतन-वृत्ति आदि को (मा वि-ईर्त्सीः) मत रोक और (मा वाचं) वेद-वाणी के उपदेशों को भी मत रोक। (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् राजा और विद्यावान् ज्ञानी पुरुष (नः) हमें (वसूनि) वास और जीवन योग्य पदार्थों को (आ भरताम्) सब प्रकार प्राप्त कराते रहें। हे (दित्सन्तः) दान देने के इच्छुक पुरुषो! (नः) हमें (अद्य) आज, (अरातिं प्रति) वेतन न प्रदान करने वाले कंजूस के प्रति आप लोग (प्रति हर्यत) आक्रमण करो जिससे वह अन्यों का स्वत्व न मारे।

प॒रोपे॒ह्यस॑मृद्धे॒ वि ते॑ हे॒तिं न॑यामसि ।
वेद॑ त्वा॒हं नि॒मीव॑न्तीं नितु॒दन्ती॑मराते ॥ ७ ॥

भा०—हे (असमृद्धे) दरिद्रते! तू (परः अपेहि) दूर हट जा। (ते) तेरे ऊपर (हेतिं) वज्र (वि नयामसि) पात करें। हे (अराते) अदानभाव! दूसरे का स्वत्व दूसरे को न देने की प्रवृत्ते! (त्वा) (तुझको (अहं) मैं

(निमीवन्तीं) सर्वथा निर्बल करने वाली और (नितुदन्तीम्) गरीबों को सर्व प्रकार से कष्ट देने वाली ही (वेद) जानता हूँ ।

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥

भा०—हे अराते ! अदानशीलते ! तू (पुरुषस्य) पुरुष, उद्यमी जन के (चित्तं) चित्त को (आकूति च) और बुद्धि को भी (वि-ईर्त्संन्ती) मन्द कर देती है, (उत) और (नग्ना बोभुवती) अपने नग्न रूप में तू (जनम्) मनुष्य के पास (स्वप्नया) आलस्य, बेखबरी से (सचसे) आ जाती है। अर्थात् कंजूसी प्रथम चित्त और बुद्धि में खोट पैदा करती है और अज्ञान दशा में अपने नग्न रूप में मनुष्य पर सवार हो जाती है। उसके साथ मनुष्य भी लोभ में पड़कर बेशर्म हो जाता है।

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥

भा०—धन की वृद्धि से पाप की वृद्धि, उसका रूप । (या) जो पाप प्रवृत्ति (महती) बड़ी भारी (महोन्माना) बड़ी बड़ी विशाल परिणामों में फैली हुई (विश्वाः आशाः व्यानशे) सब दिशाओं में फैल जाती है (तस्य) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्ण के कारण लाखों विपत्तियां डालने वाली (निर्ऋत्यै नमः अकरम्) निर्ऋति, पाप-प्रवृत्ति को वज्र दिखाऊं अर्थात् उसको दबाने का उपाय करूं। लोग दानशील हों, धन किसी का अनुचित मात्रा में बढ़ने न पावे, किसी के अधिकार मारे न जावें। सब भरपेट रोजी पावें तो चोरी, जारी, डाकाजनी न बढ़े।

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही ।
तस्यै हिरण्यद्राप्येरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

भा०—उस (अरात्यै नमः अकरम्) अराति, अदानशीलता को भी 'नमः' वज्र प्रहार करता हूँ जो (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण के वर्ण की; अर्थात्

सदा सोना या धन पर लुब्ध रहती है, वह (सुभगा) देखने में बड़ी ऐश्वर्यवती, (मही) और विशाल है, वह (हिरण्यकशिपुः) सब सोने के वस्त्रों से आच्छादित है (तस्यै) उस (हिरण्यद्रापये) सुवर्ण का चोगा पहने वा उसके लिये पाप फैलाने वाली 'अराती' कंजूसी पर भी वज्र-प्रहार हो।

---

(८) सैनिकों और सेनापतियों के कर्त्तव्य।

अथर्वा ऋषिः । १, २ अग्निर्देवता । ३ विश्वेदेवाः । ४—९ इन्द्रः । २ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । ३, ४ भुरिक् पथ्यापंक्तिः । ६ प्रस्तार पंक्तिः । द्व्युष्णिक् गर्भा पथ्यापंक्तिः । ९ त्र्यवसाना षट्पदा द्व्युष्णिग्गर्भा जगती । नवर्चं सूक्तम् ॥

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह ।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! शत्रुतापक ! (इध्मेन वैकङ्कतेन) अति तेजस्वी वज्र की सहायता से (देवेभ्यः) देव-विद्वान् पुरुषों के हित के लिये (आज्यम्) खाने पीने के पदार्थों, बल वीर्य को (वह) धारण कर। (इह) इस राष्ट्र में (तान्) उन सबको (मादय) प्रसन्न कर। वे सब (मे हवम् आयन्तु) मेरे यज्ञ में आवें।

प्रजापतिर्यां प्रथमामाहुतिमजुहोत्स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत् । श० ६ । ३ । १ ॥ तस्मादेष यज्ञो विकङ्कतः । विकङ्कतं भाः आर्च्छत् । १ । १ । ३ । १२ ॥ वज्रो वै विकङ्कतः । श० ५ । २ । ४ । १८ ॥

प्रजा की प्रथम आहुति ईश्वर की शक्ति का प्रकृति में प्रथम संचार है जिससे हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ। उसी आहुति से विराट् यज्ञ उत्पन्न हुआ जिसमें उस अग्नि के बल से सब वैकारिक भूत संयुक्त होकर प्रपञ्च रच रहे हैं। अध्यात्म में वैकङ्कत इध्म = प्राण, आज्य = अन्न रस प्राण आदि। अग्नि = वैश्वानर, जाठर अग्नि। राष्ट्र पक्ष में वैकङ्कत—इध्म वज्रमय अग्नि—युद्ध, उसमें अग्नि रूप राजा या सेनापति अपने देव = नियुक्त अधिकारियों

को आज्य = वज्र, तलवार और अभिलषित पदार्थ प्रदान करें। युद्ध भी यज्ञ है, देखो महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म-वचन। संवत्सर यज्ञ में कालाग्नि में ऋतुगण ही इध्म और आज्य आदि कल्पित हैं। जिनमें वसन्त घृत है, ग्रीष्म ईंधन है, शरत् हवि है इत्यादि।

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे।
तेभिः शकेम वीर्यं जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

भा०—सेनापति राजा से कहे—हे इन्द्र! राजन्! (मे हवं आ याहि) मेरे यज्ञ में आप आइये। (इदं करिष्यामि) मैं यह विजयकार्य करूंगा। (तत् शृणु) वह सुनो। सभापति सैनिकों से कहें-(इमे) ये (ऐन्द्राः) इन्द्र = राजा सम्बन्धी (अतिसराः) शीघ्रगामी सैनिक हैं, आप लोग (मे आकूतिम्) मेरी आज्ञा को (सं नमन्तु) आदरपूर्वक पालन करो। हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवन्! हे (तनू वशिन्) शरीर के समान राष्ट्र-देह को वश करने हारे! (तेभिः) इन विजय के उपायों से (वीर्यं शकेम) बल की वृद्धि करें।

यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन ॥३॥

भा०—हे (देवाः) देवगण! राजगण! जनो! (असौ) वह अमुक नाम का (अमुतः) अमुक देश से (अदेवः सन्) राजा न होता हुआ भी जो युद्ध आदि (चिकीर्षति) करना चाहता है (तस्य) उसकी (हव्यं) आज्ञा को (अग्निः) नेता लोग (मा वाक्षीत्) धारण न करें और (देवाः) अन्य राजगण (अस्य) उसके (हवं) बुलाने पर उसकी राजसभा में (मा उप गुः) न जावें प्रत्युत (मम एव हवम् एतन) आप लोग मेरे ही राजसूय आदि यज्ञ में आवें।

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।
अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ४

भा०—युद्ध की रीति का उपदेश—हे (अतिसराः) सुभटो ! तेज सवारो ! (अति धावत) खूब वेग से दौड़ो । (इन्द्रस्य वचसा हत) राजा व सेनापति की आज्ञा के अनुसार शत्रु पर मार करो । (अविं वृक इव) जिस प्रकार भेड़िया भेड़ को झंझोट डालता है, उसी प्रकार (मथ्नीत) शत्रु की सेना झंझोट डालो, मथ डालो, कुचल डालो, (वः) तुम लोगों के हाथों से (सः) वह (जीवन्) जीता जी (मा मोचि) न छूट पावे। (अस्य) इसके (प्राणम्) प्राण को, इसके प्राण धारण करने के सब उपायों को (अपि नह्यत) बन्द करो, बांध दो, रोक दो ।

यम॒मी पु॒रोद॑धि॒रे ब्र॒ह्माण॒मप॑भूतये ।
इन्द्र॒ स ते॑ अ॒धस्प॒दं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑ ॥ ५ ॥

भा०—किसको कैद करके लाया जाय । (यम्) जिस (ब्रह्माणम्) चतुर्वेवित् विद्वान् पुरुष को हे राजन् ! तेरे (अपभूतये) विनाश और पराजय करने के लिये (अमी) यह शत्रुगण (पुरो-दधिरे) पुरोहित बना कर रक्खे हैं । हे (इन्द्र) राजन् ! (सः) उसे भी (ते) तेरे (अधः-पदम्) पैरों के नीचे अधिकार के समक्ष ला खड़ा किया जाय । आज्ञा हो तो (तं) उसको भी (मृत्यवे) मौत के आगे (प्रति अस्यामि) डाल दूं।

यदि॑ प्रे॒युर्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृ॒ण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि ॥६॥
अथर्व० ६ । १० । १७ ॥

भा०—राजा सेनापति को आज्ञा दे कि—सेनापते ! (यदि) यदि (देवपुराः) देव अर्थात् विद्वान्, नगरवासी या विद्वान् ब्राह्मण लोग जो अपने (ब्रह्म) वेद ज्ञान वा धन को (वर्माणि चक्रिरे) अपना कवच बनाये हुए हैं वे (यदि प्र-ईयुः) यदि आगे आवें तो उनको और जो (तनूपानं) अपनी शरीर की रक्षा के निमित्त कवच धारण करते हुए और (परि-पाणं कृण्वानाः) मद्य आदि उत्तेजक पदार्थ का पान करते हुए (यद् उप-

ऊचिरे) जो कुछ कहते और डींगें मारते हैं (तत् सर्वं) उस सबको (अरसं कृधि) निर्बल कर, उनका वश मत कर।

यानुसावतिसुरांश्चकार कृणवच्च यान्।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥७॥

भा०—(यान्) जिन पुरुषों को (असौ) वह अमुक शत्रु (अतिसरान्) अपने तीव्र सुभट (चकार) बना चुके और (यान् च कृणवत्) जिनको अभी बना २ कर भेज रहा है, हे (इन्द्र) सेनापते ! हे (वृत्रहन्) आवरणकारी घेरने वाले पुरुषों को मारने वाले ! (त्वं) तू (तान्) उनको (पुनः) फिर (प्रतीचः आ कृधि) उससे विपरीत कर, उनको विरुद्ध कर दे, (यथा) जिससे (अमुम् जनम्) अमुक शत्रु जन को (तृणहान्) मैं मार डालूं। राजा शत्रु की प्रबल सेना में फूट डाल दे और उसे निस्सहाय करके सेनापति द्वारा विजय करे।

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम्।
कृण्वेऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (इन्द्रः) प्रतापी राजा (उद्वाचनं) उत्तेजित करने वाली वाणियों को कह कर उकसाने वाले पुरुष को (लब्ध्वा) पकड़ कर (अधः-पदम् चक्रे) उसे अपना चरण-सेवी बना लेता है, इसी प्रकार (अमून्) उन शत्रुओं को भी (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) चिरकाल तक के लिये (अहम्) मैं (अधरान्) नीचे (कृण्वे) कर देता हूँ, उनको दबा देता हूँ।

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्माणि विध्य।
अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्यहं तव।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥

भा०—अपराधकारी कैदियों से व्यवहार—हे (वृत्रहन्) विघ्नकारियों के विनाशकारी इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस संग्राम के अवसर पर (एनान्) इनको तू (उग्रः) बलवान्, भयकारी होकर (मर्माणि

विध्य) मर्म देशों में प्रहार कर और (अत्र) इसी अवसर पर (एनान्) इन शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर। क्योंकि (अहं मेदी तव) मैं तेरा मित्र हूँ। हे इन्द्र ! हम सब (त्वा अनु रभामहे) तेरी आज्ञानुसार कार्य करते हैं, इसलिये (तव सुमतौ स्याम) तेरी शुभ मति के अधीन होकर हम रहें।

---

(९) स्वास्थ्य-लाभ का उपाय।

ब्रह्मा ऋषिः। वास्तोष्पतिर्देवता। १, ५ दैवीबृहत्यौ। २, ६ दैवीत्रिष्टुभौ। ३, ४ दैवीजगत्यौ। ७ विराडुष्णिक् बृहती पञ्चपदा जगती। ८ पुराकृतित्रिष्टुब् बृहतीगर्भाचतुष्पदा। त्र्यवसाना जगती। अष्टर्चं सूक्तम्॥

दिवे स्वाहा ॥१॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥२॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥३॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥४॥ दिवे स्वाहा ॥५॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥६॥

भा०—स्वास्थ्य लाभ करने का उपदेश। (दिवे स्वाहा) द्यौ-सूर्य के लिये यह उत्तम आहुति करता हूँ। वह शुद्ध जीवनप्रद प्रकाश से आरोग्य करे ॥१॥ (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिये मैं उत्तम पदार्थों की आहुति देता हूँ। वह मुझे स्वस्थ करे ॥२॥ (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष, मध्य आकाश, वायुमण्डल की शुद्धि के लिये मैं उत्तम आहुति करता हूँ। उससे मैं स्वस्थता का लाभ लरूं ॥३॥ ४-६ पुनः वही तीन आहुतियां उलट कर दी गई हैं॥ सूर्य प्रकाश का सेवन, पृथिवी पर लोटना, भ्रमण करना, वायु का सेवन करना इसके अतिरिक्त इन पदार्थों का वार २ यथा रीति से सेवन करना स्वस्थता प्राप्त करने का उत्तम उपाय है।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो॒ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे।
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥

भा०—मनुष्य के शरीर की प्रजापति के विराट् शरीर से तुलना।

(सूर्यः मे चक्षुः) जैसे प्रजापति के शरीर में विशाल तेजःपुञ्ज सूर्य है उसी प्रकार यह मेरे शरीर में चक्षु भी तेजोविकार है, वह सब पदार्थों का प्रत्यक्ष कराती और सूर्य के अंश से जीवित है। (वातः प्राणः) जिस प्रकार विशाल ब्रह्माण्ड में यह वायु की गति करता है उसी प्रकार मेरे देह में उसी का अंश यह प्राण है। (अन्तरिक्षम् आत्मा) जिस प्रकार विराट् शरीर में अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश वा ज्ञान वाला परमात्मा वास करता है उसी प्रकार मेरे इस शरीर में मध्यभाग वा आत्मा वास करता है। (पृथिवी शरीरम्) जिस प्रकार विराट् शरीर में पृथिवी है उसी प्रकार यह मेरे शरीर में चरण भाग है (अयम्) यह (अहम्) मैं जीवात्मा (अस्तृतः) कभी भी न मरने वाला, अमर हूँ (सः) वह मैं (गोपीथाय) रक्षा के लिये (द्यावापृथिवीभ्यां) पिता तथा मातृरूप परमात्मा के प्रति (आत्मानं) अपने आप को (विदधे) सुपुर्द करता हूँ।

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम्।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

भा०—(आयुः उत्) आयु को उत्तम करो। (बलम् उत्) बल को उत्कृष्ट बनाओ। (कृतम् उत्) कार्य भी उत्तम करो, (कृत्याम् उत्) कर्तव्य सामर्थ्य को बनाओ, (मनीषाम् उत्) बुद्धि को उन्नत करो, (इन्द्रियम् उत्) इन्द्रिय सामर्थ्यों को उन्नत करो। (आयुः कृत्) आयु की वृद्धि करने वाला यह सूर्य और (आयुः-पत्नी) आयु का पालन करने वाली यह पृथिवी दोनों (स्वधा-यन्तौ) अन्न, जल, पुष्टि और जीवन से पूर्ण हैं। ये दोनों (मे गोपा स्तं) मेरे रक्षक रहें। (मा गोपायतम्) दोनों मेरी रक्षा करें। ये दोनों (मे) मेरे (आत्म-सदौ) शरीर में पूर्ण रूप से विराजमान (स्तं) हों। (मा मा हिंसिष्टं) मेरा कभी विनाश न करें।

---

(१०) मन को दृढ़ करने का उपाय ।

ब्रह्मा ऋषिः । वास्तोष्पतिर्देवता । १–६ यवमध्या त्रिपदा गायत्री । ७ यवमध्या ककुप् । पुरोधृतिद्व्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टित्र्यवसाना चतुष्पदाति जगती । अष्टर्चं सूक्तम् ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा प्राच्या दिशोघायुरभिदासात् ।
एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥

भा०—मन को दृढ़ करने का उपाय—हे मन! तू ही (मे) मेरा (अश्मवर्म) पत्थर का सा दृढ़ कवच (असि) है (यः) जो (मा) मुझ पर (प्राच्या दिशः) पूर्व सामने की ओर से (अघायुः) पापाचारी, विलासी, भोगी पुरुष (अभि-दासात्) मेरा विनाश करे, (सः) वह (एतत्) यह प्रहार (ऋच्छात्) पावे ।

अश्मवर्म मेसि यो मा दक्षिणाया दिशो०।० ॥ २ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मा प्रतीच्या दिशो०।० ॥ ३ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मोदीच्या दिशो०।० ॥ ४ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मा ध्रुवाया दिशो०।० ॥ ५ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मोर्ध्वाया दिशो०।० ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योघायुरभिदासात् ।
एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

भा०—इसी प्रकार हे मेरे मन ! तू दृढ़ होकर (अश्मवर्म मे असि) मेरे लिये शिला के समान दृढ़, अभेद्य कवच के समान है, (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से या दायें से, (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम से, या पीछे से, (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से, या बांये, से, (ध्रुवायाः दिशः) पृथ्वी की ओर से या नीचे से या (ऊर्ध्वायः दिशः) ऊपर की दिशा से, (दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः) दिशाओं के बीच के भागों से, (यः अघायुः अभिदासात्) जो पापाचारी दुष्ट पुरुष मेरा विनाश का यत्न करे (एतत् स ऋच्छात्) वह इस प्रबल प्रहार को खाकर पछड़ जाय ।

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

भा०—प्रजापति की विशाल शक्तियों से अपने अंगों में शक्ति प्राप्ति। मैं (बृहता) उस महान् ब्रह्म या महान् महत्तत्व से अपने (मनः) मनन शक्ति, बुद्धितत्व को (उपह्वये) प्राप्त करूं। (मातरिश्वना) महान् वायु से अपने (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों को बलवान् करूं। (सूर्यात् चक्षुः) सूर्य से चक्षु को, (अन्तरिक्षात् श्रोत्रम्) अन्तरिक्ष से श्रोत्र को और (पृथिव्याः शरीरम्) पृथिवी से शरीर के स्थूल, अन्नमय भाग को पुष्ट करूं और (मनः-युजा) मन के साथ योग देने वाली बुद्धिपूर्वक समाहित (सरस्वत्यः) सरस्वती और वेद-वाणी से (वाचम्) अपनी वाणी को हम (उप ह्वयामहे) स्थिर करते हैं।

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

---

(११) ईश्वर के साथ २ राजा का वर्णन।

अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १ भुरिक् अनुष्टुप् । ३ पंक्तिः । ६ पञ्चपदातिशाक्वरी । ११ त्र्यवसाना षट्पदाऽष्टिः । २, ४, ५, ७–१० अनुष्टुभः ।
एकादशर्चं सूक्तम् ॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।
पृश्निं वरुण दक्षिणा ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसा चिकित्सीः ॥१॥

भा०—सम्पन्न होने का उपदेश—(महे असुराय) बड़े भारी असुर = अन्यों को प्राण देने वाले परमात्मा के विषय में (कथं) किस प्रकार तू (अब्रवीः) उपदेश करता है और (त्वेष-नृम्णः) कान्ति, तेज से युक्त, धन से सम्पन्न होकर (हरये) समस्त संसार के प्रणेता और सब दुःखों के हरने वाले (पित्रे) परमपालक पिता के विषय में तू (कथं) किस

प्रकार (अब्रवीः) उपदेश करता है । हे (वरुण) सब दुःखों के वारक, परम श्रेष्ठ राजन् ! (पृश्नि) पृथिवी और अन्न की (दक्षिणां) दक्षिणा, शक्तिरूप से (ददावान्) दान देता हुआ हे (पुनर्मघ) पुनः २ नाना प्रकार की सम्पत्तियों के स्वामिन् ! (त्वं) आप तू (मनसा कथम् अचिकित्सीः) अपने चित्त से किस प्रकार विचार करता है। वरुणः साम्राज्यम् आदत्त। श० ११ । ४ । ३ । ३ ॥ क्षत्रं वरुणः । कौ० ७ । १० ॥ क्षत्रं राजा वरुणोऽधिराजः । तै० ३ । १ । २ । ७ ॥ इन्द्र उ वै वरुणः स उ वै पयो भाजनः । गो० उ० १ । २२ ॥ वरुणोऽन्नपतिः । श० १२ । ७ । २ । २० ॥ यो राजसूयः सः वरुणसवः । तै० २ । ७ । ६ । १ ॥ वरुणः सम्राट्, सम्राट्पतिः । तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥ पृश्निः—अन्नं वा देवा पृश्नीति वदन्ति । तां० १२ । १० । २४ ॥ इयं वै पृथिवी पृश्निः । तै० १ । ४ । १ । ५ ॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामुपा॑जे ।
केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न् काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः ॥ २ ॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर—(कामेन) केवल इच्छा मात्र से ही मैं (पुनर्मघः) बहुत धन सम्पत्ति वाला (न भवामि) नहीं हो जाता हूँ । प्रत्युत (पृश्निम् सं चक्षे) इस पृश्नि पृथिवी रूप गौ की मैं खूब देख भाल करता हूँ और (एताम् उपाजे) इसके सदा समीप रह कर इसकी सेवा और पालन करता हूँ । विद्वान् से प्रश्न कि—हे (अथर्वन्) विद्वन् ! अथर्वविद्या–ब्रह्म-विद्या के ज्ञाता ब्राह्मण ! (केन नु काव्येन) तू किस काव्य, कवि, विद्वान् के बनाये, ज्ञानमय ग्रन्थ से और (केन जातेन) किस विधान से (जातवेदाः, असि) समस्त वेदों और सब पदार्थों का ज्ञाता हो गया है।

स॒त्यमहं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि जा॒तवे॑दाः ।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये ॥ ३ ॥

भा०—विद्वान् का उत्तर—(सत्यम्) वास्तव में (काव्येन) कवि

क्रान्तदर्शी प्रभु के बनाये, वेद के ज्ञान से (अहम् गभीरः) मैं गंभीर, गहरा विद्वान् हूँ और (सत्यं जातेन) वास्तव में उत्पन्न जगत् के ज्ञान से ही मैं (जातवेदाः अस्मि) समस्त पदार्थों का और वेदों का ज्ञाता हो गया हूँ (मे व्रतं) मेरे सत्यमय व्रत = दृढ संकल्प को (यद् अहं) जिसको मैं (महित्वा धरिष्ये) अपने आत्मसामर्थ्य से धारण कर लेता हूँ (न आर्थः मीमाय) उसे कोई श्रेष्ठ पुरुष भी विनाश नहीं कर सकता और (न दासः) न खल पुरुष ही उसका विनाश कर सकता है।

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥४॥

भा०—हे वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रभो ! (त्वद् अन्यः) तुझ से भिन्न (कवि-तरः न) कोई तुझसे अधिक क्रान्तदर्शी, विज्ञानवान् या मेधावी नहीं है। हे (स्वधा-वन्) स्वयं समस्त संसार को या राष्ट्र को धारण करने वाले अथवा प्रकृति या जीवों के स्वामिन् ! (मेधया) मेधा = धारणावती शक्ति के कारण (त्वद् अन्यः धीरः-तरः न) तुझ से भिन्न कोई अधिक धीर, विद्वान्, धैर्यवान्, शक्तिशाली भी नहीं है। (त्वं) तू (ता) उन २ (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (वेत्थ) जानता है। (स चित् नु जनः) वह आदमी जो (मायी) माया, प्रकृति में फंसा हुआ जीव, वा माया = कपट करने वाला पुरुष या जो बड़ा बुद्धिमान् भी है (सः) वह भी (त्वद् बिभाय) तुझ से भय करता है।

त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥ ५ ॥

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! प्रभो ! परमेश्वर ! हे (स्वधावन्) स्व = स्वरूप से धारणा शक्ति से सम्पन्न जीव और प्रकृति के स्वामिन् ! हे (सुप्रणीते) समस्त संसार को उत्तम रीति से बनाने वाले, या राज-कार्यों में ठीक २ व्यवस्था करने वाले उत्तम नीतिमन् ! (त्वं हि) तू ही

(विश्वा जनिमा) समस्त लोकों और उत्पत्तियों को (वेत्थ) जानता है और हे (असुर) सर्वव्यापक अमर्त्य, तू यह भी जानता है कि (एना रजसः) इस रजः = प्रकृति के बने लोक या रजोगुण से (परः) सूक्ष्म (अन्यत् किम्) और क्या तत्व पदार्थ है ? और (एना परेण) इस परम सूक्ष्म प्रकृति पदार्थ से (उत अवरम् किम्) अवर = स्थूल पदार्थ क्या है ? । रजांसि लोकाः । शत० ॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् ।
तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु
नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

भा०—उक्त तत्व का रहस्य । (एना रजसः परः) इस समस्त लोक समूह से पर = परम सूक्ष्म पदार्थ (अन्यत्) इससे भिन्नरूप का (एकम् अस्ति) एक परब्रह्म है । (एना एकेन परः) और उस एक से अतिरिक्त (अर्वाक् चित्) उससे उतर कर एक सूक्ष्म तत्व प्रकृति है, जो ब्रह्म की अपेक्षा स्थूल है और वह भी (दुर्णशम्) विनाश को प्राप्त नहीं होता । हे वरुण ! (ते) तेरे (तत्) उस स्वरूप को (विद्वान्) जानता हुआ मैं (प्र ब्रवीमि) कहता हूँ कि (पणयः) लोकव्यवहार में पड़े हुए या अन्य स्तोतागण की (अधोवचसः भवन्तु) वाणियां उस परम तत्व से नीचे ही रह जाती हैं अर्थात् वाणी के गोचर न होने वाले तेरे उस रूप का वे वर्णन नहीं कर सकते और (दासाः) अज्ञान से अपने ज्ञान का नाश करने वाले लोग (नीचैः भूमिम् उपसर्पन्तु) नीच अवस्था को प्राप्त होकर भूमि पर सरकते रहते हैं ।

त्वं ह्यङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि ।
मो षु पणीँरभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥७॥

भा०—(अङ्ग वरुण) हे राजन् ! (त्वं हि ब्रवीषि) आपका यह उपदेश है कि (पुनः मघेषु) त्याग २ कर पुनः २ धन प्राप्त करने वाले

लालची पुरुषों में (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) निन्दा योग्य दोष होते हैं। हे वरुण ! प्रभो ! (एतावतः पणीन्) इन ऐसे व्यवहारिक पुरुषों की ओर (मो सु अभिभूत्) तू कभी अपने स्वरूप को प्रकट नहीं करता है। (जनासः) लोग (त्वा) तुझे (अराधसं) अराधनीय वा ऐश्वर्यहीन (मा वोचन्) नहीं कहते हैं।

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥८॥

भा०—हे उपासक ! (जनासः) लोग (अराधसं मा मा वोचन्) मुझको कभी अराधनीय वा अनीश्वर न कहीं कहते। मैं, हे (जरितः) स्तुतिशील, विद्वन् ! (ते) तेरे जैसे उपासकों को (पृश्नि) पृथिवी का (ददामि) दान करता हूँ। हे उपासक ! (शचीभिः) अपनी शक्तियों द्वारा तू (विश्वासु मानषीषु) समस्त प्रजाओं में और (दिक्षु) समस्त दिशाओं के (अन्तः) भीतर (मे) मेरे (विश्वम्) समस्त (स्तोत्रं) वैदिक स्तोत्र को (आ याहि) प्राप्त कर।

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥९॥

भा०—राजा से याचक के तुल्य परमात्मा से याचना। हे परमात्मन् ! (ते उद्यतानि स्तोत्राणि) तुझ द्वारा उपदिष्ट वैदिक स्तोत्र (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) समस्त मनुष्य प्रजाओं और दिशाओं के भीतर (आ यन्तु) प्रत्येक को प्राप्त हों। हे भगवन् ! (मे यत् अदत्तः) मुझे अभी तक जो कुछ तूने नहीं दिया (देहि नु मे) वह भी मुझे दे। आप ही (मे युज्यः) मेरे साथ रहने और समाधि द्वारा प्राप्त करने योग्य (सप्तपदः) सात चरण चल कर बने मित्र के समान सात शीर्षण्य-प्राणों रूप ज्ञान-साधनों वा सात व्याहृतिपदों द्वारा ज्ञान करने योग्य, (सखा असि) मेरे सखा, परम मित्र हैं।

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।
ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि १०

भा०—हे वरुण राजन् ! (नौ) हम दोनों की (समा बन्धुः) समान ही बन्धुता है और अपने दोनों की (जा) जाति और रूप को मैं (समा वेद) समान ही जानता हूँ । (तत् यत् नौ एषा समा जा) तो क्योंकि हम दोनों की समान जाति या प्रकृति है अतः (यत् ते अदत्तः) अभी तक जो पदार्थ मैंने तुझे नहीं सौंपा (तद् ददामि) उसे भी मैं समर्पित करता हूँ । (ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि) मैं तेरे सदा संग रहने वाला या योग समाधि से गम्य, सप्त शीर्षण्य प्राणों के संयम से जानने योग्य सात व्याहृति पदों का उपासक तेरा 'सप्तपद सखा' अर्थात् परममित्र हूँ ।

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः॥११

भा०—(वयः-धाः देवः) ज्ञान और अधिक आयु को धारण करने वाला, ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध अर्थात् पुराण पुरुष, देव परमात्मा (गृणते) स्तुतिशील (देवाय) इस जीव को, जिस प्रकार की (वयोधाः सुमेधाः विप्रः) वयोवृद्ध, उत्तम, मेधावान्, विद्वान् (स्तुवते) उसकी स्तुति और सत्कार करने वाले (विप्राय) दूसरे विद्वान् अल्प ज्ञानी जिज्ञासु को ज्ञान और शक्ति देता है, उसी प्रकार हे वरुण ! हे स्वधावन् ! शक्तिमन् ! आप (अथर्वाणं) ब्रह्मज्ञानी को (पितरम्) सबका पालक और (देव-बन्धुम्) विद्वानों का बन्धु (अजीजनः) बना देते हो और (तस्मा उ) उसको ही (सु-प्रशस्तं राधः) सबसे उत्तम धन और ज्ञान (कृणुहि) प्रदान करते हो। आप ही (नः सखा असि) हमारे परम मित्र हो और (परमं च) परम (बन्धुः) बन्धु हो ।

---

(१२) आत्मा और ईश्वर के गुणों का वर्णन।

अंगिरा ऋषिः। जातवेदा देवता। आप्री सूक्तम्। १, २, ४-११ त्रिष्टुभः। ३ पंक्तिः। एकादशर्चं सूक्तम्॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥१॥

ऋ० १०। ११०। १॥ यजुः० २९। २५॥

भा०—ऋग्वेदे जमदग्नी रामो वा ऋषिः। आप्रियो देवता। आप्री सूक्तम्। गृह में गार्हपत्य अग्नि, यज्ञ में आहवनीय, घर में गृहपति और शरीर में आत्मा इन सबका समान रूप से वर्णन। (अद्य) आज (मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) घर में (समिद्धः) ज्ञान से प्रदीप्त, (देवः) सब अर्थों का प्रकाशक होकर हे (जात-वेदः) वेदों के ज्ञान से ज्ञानवन्! तू (देवान् यजसि) देव-विद्वान् पुरुषों का आदर करता है। हे (मित्र-महः) मित्र, सूर्य के समान तेजस्वी! तू (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (आ वह च) विद्वान् पुरुषों को घर पर लाकर उनकी शुश्रूषा कर, क्योंकि (त्व दूतः) तू ही उनका सेवक, (कविः) क्रान्तदर्शी और (प्र-चेताः) उत्तम चित्त वाला है। (२) अध्यात्म में—(मनुषः दुरोणे) मनुष्य के इस देह में यह जातवेदाः आत्मा सदा समिद्ध प्रदीप्त, जीवित रह कर देव-इन्द्रिय आदि प्राणगण को संगत और तृप्त करता है वह सूर्य के समान उनका प्रकाशक है, वही उनका द्रष्टा, ज्ञानवान् है और उनसे प्राप्त ज्ञान को भी जानने वाला होकर उनको धारण करता है। (३) इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में परमात्मा प्राकृतिक महत् तत्वादि विकार रूप देवों को वहन करता हुआ उनमें परम ज्ञानवान् होकर उनका विश्व-यज्ञ सम्पादन करता है।

आप्रियः = तद् यदाप्रीणाति तस्मादाप्रियो नाम। कौ० १०। ३॥ प्राणाः वा आप्रियः। कौ० १८। १२॥ यदेतान्याप्रियः आज्यानि भवन्ति आत्मानमेवैतैराप्रीणाति। ता० १५। ८। २॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥
ऋ० १० । ११० । २ ॥ यजु० २८ । २६ ॥

भा०—हे (तनू-नपात्) शरीर को या-इन्द्रियों को न गिरने देने वाले ! उनको नष्ट होने से बचाने वाले अग्ने ! आत्मन्, योगिन् ! (ऋतस्य) सत्य ज्ञानमय परब्रह्म के (यानान्) जानने के साधन रूप (पथः) मार्गों को (मध्वा) आनन्द रस से (सम्-अञ्जन्) प्रकाशित करता हुआ हे (सु-जिह्व) शोभन आनन्द ग्रहण करने में चतुर शक्ति से युक्त ! तू (स्वदय) उस आनन्द-रस का उपभोग कर और (यज्ञम्) इस योगमय यज्ञ को (ऋन्धन्) और भी अधिक गुणों से समृद्ध करता हुआ अथवा (यज्ञम्) यज्ञमय प्रजापति को (ऋन्धन्) अपने में प्रगुणित करता हुआ, उसकी उपासना करता हुआ (धीभिः) धारणावती बुद्धियों से (मन्मानि) मनन करने योग्य ज्ञानों को (उत) भी सम्पादन करता हुआ (देवत्रा) देवों में, प्राणों में, या ज्ञान प्रकाश करने वाले गुरुओं के समक्ष (नः) हमारे (अध्वरं) इस अहिंसामय निर्विघ्न यज्ञ को (कृणुहि) सम्पादित कर।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥
ऋ० १० । ११० । ३ ॥ यजु० २६ ॥ २८ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! आत्मन् ! (आ-जुह्वानः) नित्य यज्ञ करता हुआ, नित्य नये ज्ञानों का सम्पादन करता हुआ तू (ईड्यः वन्द्यः च) स्तुति वन्दना करने योग्य है। तू (स-जोषाः) सप्रेम, हमारे प्रति, (वसुभिः) प्राणों सहित (आ याहि) आ, प्रकट हो। (त्वं) तू (देवानाम्) समस्त इन्द्रिय आदि प्राणों का (होता असि) होता, उनमें शक्ति का प्रदाता और उनको अपने में धारण करने हारा है। हे (यह्व) सबमें

महान् ! सबको अपने में धारण करने हारे ! (सः) वह आप (यजीयान्) जीवन-यज्ञ में बड़ा यजमान होकर (इषितः) और स्वयं इच्छावान् होकर (यक्षि) सबको सुसंगत करता है ।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ११० । ४ ॥ यजु० २९ । २९ ॥

भा०—विद्वान् लोग यज्ञ में वेदि के पूर्व की ओर कुशा बिछाते हैं उन पर देव अर्थात् विद्वद्गण आकर बैठें । वह कुशा 'बर्हि' है, वह आदित्य का प्रतिनिधि है। विशाल विराड् देह में उसका वर्णन । (अह्लाम्) दिनों के (अग्रे) पूर्व भाग, प्रातः समय में (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी को (प्र-दिशा) प्रकृष्ट तेज से (वस्तोः) आच्छादन करने के लिये (प्राचीनं बर्हिः) प्राची दिशा में महान् आदित्य (आ वृज्यते) उसी प्रकार आ विराजता है जिस प्रकार यज्ञ में वेदि के पूर्व भाग में कुशा बिछाई जाती है । वह आदित्य (वरीयः) अति श्रेष्ठ, अति महान् (वितरं) अत्यन्त विस्तृत होकर (विप्रथते उ) नाना दिशाओं में रश्मियों द्वारा फैलता है और वह (अदितये) इस देव माता, अखण्डित, अदीन अदिति पृथिवी के लिये और (देवेभ्यः) चन्द्र, वायु, जल, विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों और विद्वानों के लिये भी (स्योनं) सुखकारी शान्तिदायक होता है।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

ऋ० १० । ११० । ५ ॥ यजु० २९ । ३० ॥

भा०—जमदग्नी रामो वा ऋषिः । द्वारो देवताः । गृह के द्वारों की शरीर के द्वारों के साथ तुलना, उनको कैसा बनावें इसका उपदेश । (शुम्भमानाः) सुन्दर सजी हुई, आभूषणों से अलंकृत (जनयः) गृह-पत्नियां (पतिभ्यः न) जिस प्रकार अपने पतियों के लिये सुखप्रद, उनको

प्रसन्न करने वाली होती हैं उसी प्रकार हे (द्वारः) घर के दरवाजो ! (तुम देवीः) प्रकाशवान् (व्यचस्वतीः) खूब विस्तृत, बड़े बड़े (उर्विया) विशाल और (शुम्भमानाः) खूब सजे हुए (विश्रयन्तां) नाना प्रकार से घर में जड़े हो और वे (बृहती) बड़े २ (विश्वम्-इन्वाः) सबको सुन्दर लगने वाले, सबके लिये मनोहर होकर (सु-प्रभयनाः) सुख से आने जाने के योग्य (भवत) होवो। इस शरीर-गृह में भी नौ द्वार आंख, मुख, नाक आदि छिद्र हैं, वे भी उज्ज्वल, प्रकाशवान्, महान् तथा सुन्दर, तेजस्वी होने चाहियें।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥
ऋ० १० । ११० । ६ यजु० २९ । ३१ ॥

भा०—जमदग्नी रामो ऋषिः । अहोरात्रे देवते । (उपासानक्ता) दिन और रात परस्पर प्रेम से एकत्र रह कर, शोभा धारण करते, समीप रहते और एक ही स्थान सूर्य में आश्रित हैं उसी प्रकार पति और पत्नी दोनों दम्पतिः (दिव्ये योषणे) दिव्य गुणों से सम्पन्न, परस्पर प्रेम करते हुए, (बृहती) गुणों से महान् होकर, (सु-रुक्मे) सुन्दर कान्तिमान्, सुन्दर सुवर्ण के आभूषण धारण करते हुए, (शुक्रपिशं) शरीरों में वीर्य और रज की पुष्टता की (श्रियं) शोभा को धारण करते हुए (यजते उपाके) परस्पर संगत होकर रहने के स्थान में, समीप (आ सुष्वयन्ती) शयन करते हुए, जब २ जहां २ मिलें वहां २ परस्पर प्रसन्न मुख से मुस्कराते हुए, (योनौ) एक ही गृह में (नि सदतां) निवास करें। गृहस्थ दम्पति के लिये यह उपदेश है। रात दिन उपमान हैं उनके द्वारा दम्पति का ग्रहण करना उचित है।

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥
ऋ० १० । ११० । ७ ॥ यजु० २९ । ३२ ॥

भा०—अग्निरादित्यौ देवते । विद्वांसो वा देवताः । (दैव्या होतारा) दिव्य गुणों से युक्त होता अर्थात् यज्ञ करने वाले, (प्रथमा) श्रेष्ठ (सुवाचा) उत्तम वाणी को बोलने वाले (यजध्यै) यज्ञ देवार्चना करने के लिये (मनुषः यज्ञं) मनुष्य के यज्ञों को (मिमाना) करते हुए (विदथेषु) ज्ञान कर्मों में यज्ञशील ऋत्विजों को (प्र-चोदयन्ता) प्रेरित करते हुए (कारू) स्वयं शुभ कर्मों को करने वाले (प्र-दिशा) उत्कृष्ट वेद ज्ञान से–उपदिष्ट मार्ग से (प्राचीनं ज्योतिः) पूर्व दिशा में उत्पन्न सूर्य के समान तेजोमय, अति प्राचीन, या अति विशुद्ध रूप में हृदय में प्रकाशित ब्रह्म ज्योति को (दिशन्ता) साक्षात् करते हैं । अध्यात्म में—प्राण और उदान शरीर के 'दैव्य होता' हैं । वे विदथ = ज्ञान, कर्मों में इन्द्रियों को प्रेरित करते और योग से ब्रह्मज्योति का साक्षात् कराते हैं । वे ही मनुष्य देह में यज्ञ करते और वाणी उच्चारण करते हैं ।

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विडा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती ।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दं स्यो॒नं सर॑स्वती॒: स्वप॑सः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

ऋ० १० । ११० । ८ ॥ यजु० २९ । ३३ ॥

भा०—(भारती) भारत = आत्मा की वह कान्ति 'पिंगला' (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ में (तूयम्) शीघ्र ही (आ एति) आवे और (इडे) ब्रह्म की स्तुति करने हारी 'इडा' नामक चेतना, (इह) इस देह में (मनुष्वत्) मनुष = आत्मा या मन के समान (चेतयन्ती) समस्त देह को चेतना युक्त करती हुई, या ज्ञान सम्पादन करती हुई शीघ्र प्रकट हो और (सरस्वतीः) उत्तम ज्ञानमय अति आनन्दमय सुषुम्ना से युक्त यह (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य नाड़िएं (इदं बर्हिः) इस देह में (सु-अपसः) शोभन कर्म और प्रज्ञानयुक्त होकर (स्योनं) सुख से (सदन्ताम्) सुप्रतिष्ठित रहें ।

य इ॒मे द्यावा॑पृथि॒वी जनि॑त्री रू॒पैरपि॑ंशद् भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
तम॒द्य हो॑तरिषि॒तो यजी॑यान् दे॒वं त्वष्टा॑रमि॒ह य॑क्षि वि॒द्वान् ॥ ९ ॥

ऋ० १० । ११० । ९ यजु० २९ । ३४ ॥

भा०—त्वष्टा देवता। (यः) जो (त्वष्टा) समस्त संसार को गढ़ने वाला परमेश्वर (इमे) इन दोनों (जनित्री) सर्व पदार्थों की पिता और मातास्वरूप (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को और (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को (रूपैः अपिंशद्) रूपवान् नाना पदार्थों द्वारा सुशोभित करता है, उनको नाना आकारों और नाना रूपों वाला बनाता है। हे (होतः) विद्वन्! तू (इषितः) इच्छा सम्पन्न होकर (यजीयान्) शुभ यज्ञशील, (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर (इह) इस यज्ञ में (अद्य) आज (तं त्वष्टारं देवं) उस सर्व-कर्त्ता परम देव की (यक्षि) उपासना कर। अध्यात्म में—त्वष्टा आत्मा, द्यौ-पृथिवी = प्राण अपान, भुवन = इन्द्रियां।

उपावं सृज त्मन्यां समञ्जन् देवानां पाथं ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥१०॥

ऋ० १० । ११० । १० ॥ यजु० २९ ॥ ३५ ॥

भा०—वनस्पतिरग्निर्वा देवता। हे होतः! आत्मन्! तू (ऋतु-था) ऋतु अनुसार (देवानां पाथः) देवों, इन्द्रियों के निमित्त अन्न, भोग्य विषय और (हवींषि च) ज्ञानों को (त्मन्या सम्-अञ्जन्) स्वयं प्रकट करता हुआ (उप-अवसृज) उनको प्रदान कर। (वनस्पतिः) वन-इन्द्रियों का स्वामी, जितेन्द्रिय, (शमिता) शम दमादि से युक्त, (देवः) विद्वान् योगी, (अग्निः) और ज्ञानी पुरुष ये तीनों (घृतेन) तेजोमय, प्रदीप्त ज्योति और (मधुना) मधुर आनन्द-रस के साथ (हव्यं) ज्ञान का (स्वदन्तु) आस्वाद, ग्रहण करें। यज्ञ पक्ष में—होता ऋतुओं के अनुसार सामग्री चरु आदि हवि तैयार करे और उसको अग्नि में, वनस्पति में और जीवों में भी वितरण करे।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्यं वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥११॥

ऋ० १० । ११० । ११ ॥ यजु० २९ । ३६ ॥

भा०—विद्वान् अग्निर्देवता । (अग्निः) ज्ञानमय विद्वान् (सद्यः जातः) शीघ्र ही प्रकट होकर (यज्ञं वि-अमिमीत) यज्ञ का अनुष्ठान करता है। वही (देवानां पुरः-गाः अभवत्) समस्त विद्वानों का अग्रणी हो जाता है। (ऋतस्य) ब्रह्म ज्ञानमय (अस्य होतुः) इस होता के (प्रशिषि) उत्कृष्ट शासन में रह कर (वाचि) वाणी रूप वाङ्मय में (स्वाहा-कृतं हविः) उत्तम वचनों और सूक्तियों के रूप में प्रकट किये ज्ञान को (देवाः) विद्वान् लोग (अदन्तु) भोग करें।

---

(१३) सर्प-विष चिकित्सा।

गुरुत्मान् ऋषिः । तक्षको देवता । १—३, जगत्यौ । २ आस्तारपंक्तिः । ४, ७, ८ अनुष्टुभः । ५ त्रिष्टुप् । ६ पथ्यापंक्तिः । ९ भुरिक् । १०, ११ निचृद् गायत्र्यौ एकादशर्चं सूक्तम् ॥

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम् ॥ १ ॥

भा०—(दिवः कविः) दिव्य पदार्थों और सूर्य के तत्व को जानने वाला (वरुणः) दुःख-निवारक विद्वान् (हि) निश्चय से (मह्यं ददिः) मुझे यह उपदेश देता है जिसके अनुसार (उग्रैः) बलपूर्वक कहे गये (वचोभिः) वचनों से (ते विषम्) तेरे विष को (नि रिणाति) दूर करता हूँ। (खातम्) चाहे सांप ने गहरा दांत गाड़ के घाव किया हो या (अखातम्) घाव न करके दन्तप्रहार मात्र से विष को शरीर में डाल दिया हो, (उत सक्तम्) और चाहे केवल विष का शरीर सम्पर्क-मात्र ही हुआ हो, उस सब प्रकार के सर्प के काटे को मैं (अग्रभम्) अपने वश करता हूँ। अब (धन्वन्) मरुभूमि में (इरा इव) जिस प्रकार जल सूख कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार से अपने उपचार से (ते विषम्) शरीर में प्रविष्ट तेरे विष को हे नाग ! (नि जजास) सर्वथा नष्ट करता हूँ।

यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

भा०—हे नाग ! (यत्) जो तेरा (अप-उदकं) जल से रहित, रुधिर को सुखाने वाला शुद्ध (विषं) विष है (तत् ते) उस तेरे विष को (एतासु) इन नाड़ियों में भी (अग्रभम्) मैं पकड़ लूं, ऐसा थाम लूं कि वह शरीर में अधिक नहीं फैले । (ते उत्तमं मध्यमं उत अवमं रसम्) तेरे प्रबल अर्थात् तीव्र कोटि के और निकृष्ट कोटि के इस विष को भी (गृह्णामि) मैं वश कर लेता हूँ । (आत् उ) तिस पर भी यदि विष का अंश शरीर में न भी हो तो भी मनुष्य (ते भियसा) केवल तेरे भयमात्र से भी ही (नेशत्) नष्ट हो जाता है ।

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

भा०—(नभसा) मेघ से (तन्यतुः) फैलने वाले (वृषा) प्रबल (रवः) शब्द के समान (उग्रेण वचसा) प्रबल वचन से फैलने वाले शक्तिशाली रव = नाद से (ते) तेरे विष और (ते) तुझको भी (बाधे) दूर करता हूँ । (नृभिः) कुछ प्रधान आदमियों या मुख्य, प्रधान ओषधियों की सहायता से (अस्य तं रसं) उस नाना प्रकार के विष को (अग्रभम्) इस प्रकार वश कर लेता हूँ जैसे (ज्योतिः तमसः इव) ज्योति अन्धकार का विनाश करता है और (सूर्यः उदेतु) सूर्य उदित हो जाता है । उसी प्रकार विष के बिनाश होने पर जीवन-ज्योति पुनः उदित हो जाती है ।

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥

भा०—सर्प को वश करने की साधना । हे तक्षक, नाग ! (चक्षुषा) आंख के बल से (ते चक्षुः हन्मि) तेरी आंख की शक्ति को नाश करता हूँ और (बिषेण) विष के बल से (ते विषम् हन्मि) तेरे विष को भी विनष्ट

करता हूँ । हे (अहे) सर्प ! (म्रियस्व) तू मर जा, (मा जीवीः) अब तू जीता नहीं रह सकता । (विषम्) यह विष (प्रत्यग्) फिर लौट कर तेरे पास ही (अभि एतु) आ जावे । योगज शक्ति और चक्षु के अभ्यास से सांप को वश करके विषैले पदार्थ से उसके विष का नाश करें, उस सांप को ही उस प्रकार के विष-प्रयोग से मार दे ।

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः ।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥५॥

भा०—हे (कैरात, पृश्ने, उपतृण्य, बभ्रो, असिताः, अलीकाः) कैरात, पृश्नि, उपतृण्य, बभ्रु, असित और अलीक इन नाम वाले सर्पगण ! आप लोग (मे सख्युः) मेरे मित्र इस मनुष्य के (स्तामानम्) अहाते में (मा अपि-स्थात) मत ठहरो और (आश्रावयन्तः) खटका सुनते हुए (विषे) विषैले स्थान में (नि रमध्वम्) सदा रमण करो ।

कैरात = काला नाग या कड़ैत या कीरा नाम का सांप, पृश्नि = चितकबरा, उपतृण्य = घास के रंग का, बभ्रु = पीला गोधूमी, असिताः = काले फनियर, अलीक = विना रंग के सर्प ये सब मलिन स्थानों पर रहते हैं । उनको अहातों वा घर के आगनों में नहीं आने देना चाहिये ।

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥६॥

भा०—(असितस्य) असित, (तैमातस्य) तैमात, (बभ्रोः) भूरे, गोधुमे और (अपोदकस्य) अपोदक, सूखे रेगिस्तान के सर्प के विषवेगों को (विमुञ्चामि) ऐसे दूर करता हूँ जैसे कि (सात्रासाहस्य मन्योः) सदा विजयी राजा के (रथान्) पराक्रमी रथ सदा परे रहते हैं, (धन्वनः ज्यामिव अव) या जिस प्रकार धनुष् से डोरी को उतार दिया जाता है ।

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

भा०—(आ-लिगी च) सब प्रकार से चिपटने वाली, कानखजूरा (वि-लिगी) विपरीत रूप से चिपटने वाली जोंक और (पिता च माता च) इन जातियों के नर और मादा इन (वः सर्वतः बन्धु) तुम्हारे सब बन्धुओं को (विद्म) हम खूब अच्छी प्रकार जानते हैं। ये सब (अरसाः) निर्विष हैं इसलिये (किं करिष्यथ) मनुष्य का क्या बिगाड़ सकेंगे।

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

भा०—(उरु गूलायाः) बड़ी गुदा वाली सर्प जाति से (दुहिता जाता) 'दुहिता' नाम की सर्प जाति उत्पन्न होती है और (असिक्न्या) 'असिक्नी' नाम सर्प जाति से (दासी) काटने वाली सर्प जाति उत्पन्न होती है। अर्थात् मोटी गुदा वाली जाति के सांप रक्त चूसते हैं और काली 'असिक्नी' सर्प जाति के सांप एक झपट में काटते हैं। इसी प्रकार (दद्रुषीणां) जिनके काटने से त्वचा पर दाद के समान दाफड़ उठ आवें उन (सर्वासाम्) सर्प-जातियों के (प्रतङ्कं) अति कष्टदायी (विषम्) विष भी (अरसम्) निर्बल, निर्विष हो जाते हैं।

कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥
ऋ० १ । १९१ । १६ ॥

भा०—(कर्णा श्वावित्) इसी प्रका कानों वाली साही (गिरेः) पर्वत से (अव चरन्तिका) नीचे उतरती हुई (तत् अब्रवीत्) यह बतलाती है कि (याः काः च इमाः) ये जो कोई जन्तु (खनित्रिमाः) भूमि खोदकर बिल बनाकर रहते हैं (तासां विषम्) उनका विष (अरसतमं) सर्वथा नीरस, निर्बल होता है।

ताबुवं न ताबुवं न घेत् त्वमसि ताबुवम्।
ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥

भा०—(ताबुवं ताबुवं न) 'ताबुव' नामक सर्प बस 'ताबुव' नाम ओषधि के समान ही है (त्वम् ताबुवं न घ इत् असि) पर तू 'ताबुव' भी नहीं है, क्योंकि (ताबुवेन) 'ताबुव' नामक ओषधि से (ते विषम् अरसम्) तेरा विष निर्बल हो जाता है। 'ताबुव' ओषधि कदाचित् कड़वा तूंबा है। कौशिक सूत्र में इस मन्त्र से उसका जल पान करना लिखा है।

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम्।
तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

भा०—(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव = हिंसक औषध के समान 'तस्तुव' नामक सर्प जाति है। (न घ इत् त्वम् तस्तुवम् असि) 'तस्तुव' भी तू अब नहीं, क्योंकि (तस्तुवेन विषम् अरसम्) तस्तुव नाम औषध से इसका विष निर्बल पड़ जाता है। इन विषधरों की चिकित्सा इनके विषों से ही होती है।

---

(१४) दुष्टों के विनाश के उपाय।

शुक्र ऋषिः। वनस्पतिर्देवता। कृत्याप्रतिहरणं सूक्तम्। १, २, ४, ६, ७, ६ अनुष्टुभः। ३, ५, १२ भुरिजः। ८ त्रिपदा विराट। १० निचृद् बृहती। ११ त्रिपदासाम्नी त्रिष्टुप्। १३ स्वराट्। त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

पूर्वार्धः अथर्व० २। २७। २ प्र०, द्वि ॥

भा०—हिंसक षड्यन्त्रकारी दुष्टों के विनाश के उपाय। हे ओषधे! तापकारिन्! (सु-पर्णः) गरुड़पक्षी (त्वा अनु अविन्दत्) तुझे प्राप्त करता है और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूकर तुझे अपनी नाक से खोदता है। अर्थात् वह प्रकार जिससे बाज झपटता है या शूकर मूल

से नाक के हुलारे से उखाड़ता है ये दोनों ही उपाय-रूप ओषधि = संतापकारक उपाय हैं जिनसे हे राजन् ! तू (दिप्सन्तं) पर जीव-हिंसक प्राणी का भी (दिप्स) विनाश कर और (कृत्या-कृतं अव जहि) दूसरे पर हत्याकारी प्रयोग करने वाले का भी नाश कर। अथवा (सु-पर्णः) उत्तम ज्ञानी भी तुझे प्राप्त करता है और (सूकरः) सुकृत, कर्मकर्त्ता भी तुझे अपनी कर्म शक्ति से उत्तेजित करता है। तू दुष्टों का विनाश कर।

अव॑ जहि यातु॒धाना॒नव॑ कृत्या॒कृतं॑ जहि ।

अथो॒ यो अ॒स्मान् दिप्स॑ति॒ तमु॒ त्वं ज॑ह्योषधे ॥ २ ॥

भा०—(यातु-धानान्) पीड़ा देने वाले जीवों को (अव जहि) गिरा कर मार डाल और (कृत्या-कृतं) पर-प्राणघात करने वाले को भी (अव जहि) विनाश कर। (अथो) और (यः) जो (अस्मान् दिप्सति) हमें विनाश करना चाहता है (तम् उ) उस जीव को भी हे (ओषधे) ओषधे ! तापकारिन् ! (त्वं जहि) तू विनाश कर।

रिश्य॑स्ये॒व परीशा॒सं प॑रि॒कृत्य॒ परि॑ त्व॒चः ।

कृ॒त्यां कृ॑त्या॒कृते॑ देवा नि॒ष्कमि॑व॒ प्रति॑ मुञ्चत ॥ ३ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! (रिश्यस्य) जिस प्रकार हिंसक जन्तु के (त्वचः परि) त्वचा के चारों ओर (परिशासं) चारों ओर से उसको चुभने वाली बछियां सी (परिकृत्य) लगा कर या चारों तरफ से चोट पहुँचाने वाले छड़ लगाकर वश किया जाता है उसी प्रकार (कृत्या-कृते) दूसरों की जीवहत्या करने वाले पुरुष के (कृत्यां परि कृत्य) चारों ओर कष्टदायी उपाय करके उसको (निष्कम् इव) नीचे दबा कर, निश्चेष्ट सा, अथवा उसके गले में तौक सा पहना दो।

पुन॑ः कृ॒त्यां कृ॑त्या॒कृते॑ हस्त॒गृह्य॒ परा॑ णय ।

स॒म॒क्षम॑स्मा आ धे॑हि॒ यथा॑ कृत्या॒कृतं॒ हन॑त् ॥ ४ ॥

भा०—(कृत्या-कृते) पर-प्राणघाती उपाय करने वाले की (कृत्यां)

कृत्या, साजिश को (पुनः) बार बार (हस्त-गृह्य) हाथों से पकड़ २ कर अर्थात् उन साजिश करने वालों को अपराध करते, रंगे हाथ पकड़ कर (परा नय) उनको समाज से (पृथक्) बन्दी-घर या दूर स्थान पर रख और उसके (समक्षम्) आंखों के आगे (आ-धेहि) यह साफ तौर पर ला दिखा कि (यथा) जिस प्रकार से (कृत्या-कृतं) साजिश करने वाले पर-प्राणद्वेषियों को (हनत्) मारा जाता है। अपराधियों को (रैड हैण्ड) सापराध पकड़े और अलग करके उनको वे भय दर्शायें जो द्रोहियों को दिये जाते हैं।

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।
सुखो रथ इव वर्तता कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥

भा०—अपराधकारी को दण्ड का नियम। (कृत्या-कृते) दूसरों पर हत्या का षड्यन्त्र रचने वालों को (कृत्याः सन्तु) उसी प्रकार की पीड़ाएं दण्डरूप में हों। (शपथीयते) पर-निन्दाकारी के लिये (शपथः) उसको जनता के समक्ष निन्दाजनक दण्ड हो। (रथ इव सुखः) जिस प्रकार रथ, गाड़ी सबको सुखकारी है उसी प्रकार वह भी दण्ड के भय से (सुखः वर्तताम्) सबको सुखकारी, सीधा होकर रहे और (कृत्याकृतं पुनः कृत्या) पुनः अपराध करने पर उसे वैसी ही पीड़ा दी जाय।

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥

भा०—न्यायपूर्वक स्त्री पुरुष दोनों को। (यदि) चाहे (स्त्री) स्त्री हो (यदि वा पुमान्) चाहे पुरुष हो यदि वह (पाप्मने) पाप के भाव से (कृत्यां चकार) दूसरों की हत्या या षड्यन्त्र करता है, (तस्मै ताम् उ) तो उस पर उसी प्रकार का प्रयोग (नयामसि) दण्ड रूप में हम प्रयोग करें तब जिस प्रकार (अश्व-अभिधान्या) घोड़े को बांधने की रस्सी से (अश्वम् इव) घोड़े को बांधकर काबू कर लिया जाता है उसी प्रकार वह भी काबू किया जाता है।

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

भा०—जीवों पर प्राणसंहारी विपत्ति के प्रतिकार का उपदेश। (यदि वा) यदि प्राणसंहारी विपत्ति (देवकृत्या) आधिदैविक, ईश्वरीय शक्तियों से अपने आप हो गई है (यदि वा पुरुषैः कृता) और चाहे वह पुरुषों द्वारा की गई हो अर्थात् उस विपत्ति को ला डालने वाले मनुष्य ही हों तो भी (तां त्वा) हे विपत्ते ! उस तुझको (वयम्) हम लोग (इन्द्रेण सयुजा) अपने सहायक इन्द्र = राजा के बल पर (पुनः नयामसि) बार बार हटा दें।

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! हे (पृतनाषाट्) सेनाओं और प्रजाओं को वश करने वाले ! तू (पृतनाः सहस्व) समस्त सेनाओं को वश कर। (पुनः) तब (कृत्याकृते) राष्ट्र पर विपत्तियों को लाने वाले पर (प्रतिहरणेन) प्रतिहरण विधि से (कृत्यां) उस घातक्रिया को हम (हरामसि) उसी पर डालते हैं अर्थात् यदि सेनापति अपनी सेनाओं को वश करके बाहर की सेनाओं पर वश कर ले तो भीतरी षड्यन्त्रकारियों को पकड़ कर उनको वही दण्ड भुगावे जो कष्ट वे औरों पर डालना चाहते हैं।

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

भा०—कैसे अपराधियों को कैसा दण्ड दिया जाय। (कृतव्यधनि) जिस पुरुष ने किसी को बाण आदि शस्त्र से मारा है उसको ताड़ने वाली हे शक्ति ! तू उसको भी (विध्य) उसी प्रकार वेध, (यः चकार) जो जैसा करे (तमित् जहि) उसको वैसा ही दण्ड देकर नाश कर। हे राजन् !

(त्वाम्) तुझको (अचक्रुषे) अपराध न करने वाले के (वधाय) वध करने के लिये हम (नसंशिशीमहि) उत्तेजित नहीं करते ।

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश ।

बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

भा०—हे (कृत्ये) हिंसाकारिणी शक्ति ! (पुत्र इव पितरं गच्छ) जैसे पुत्र पिता के पास जाता है उसी प्रकार तू भी पीड़ा रूप होकर उसको प्राप्त हो, जो तुझे अन्यों के प्रति प्रयोग करता है (स्वजः इव अभिष्ठितः दश) लिपट कर काटने वाले सांप के समान तू उस अपराधी को वश करके काट, कष्ट दे और (बन्धम् इव) बन्धन को मानो (अवक्रामी) लताड़ती हुई हे कृत्ये ! (पुनः) पुनः तू (कृत्याकृतं गच्छ) हिंसाकारी अपराधी को ही बार २ पकड़ ।

उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव ।

कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ ११ ॥

भा०—दण्ड की निश्चित विधि वही (वारणी कृत्या) अपराधों को रोकने वाली पीड़ा जो अपराधी को दी जाती है (कर्त्तारम् ऋच्छतु) पीड़ाकारी को इस प्रकार प्राप्त हो (अभिस्कन्दं एणी इव उत्) हरिणी जिस प्रकार अपने आक्रमणकारी पर कूद कर झपटती है या (वारुणी) सेना या हथिनी जिस प्रकार अपने पर पड़े घेरे पर झपटती है या (मृगी इव) बाघनी जिस प्रकार शिकारी पर टूटती है ।

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति ।

सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १२ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी ! राजा और प्रजा ! (इष्वा) बाण के समान (ऋजीयः) अत्यन्त सीधी होकर बिना चूके वह (कृत्या) पीड़ा (तं प्रति पततु) उसी करने वाले पर पड़े और (सा) वह (तं) उस अपराधी को (मृगम् इव) मृग के समान (गृह्णातु) पकड़ ले।

अर्थात् ताक कर निशाना लगाने से जिस प्रकार शिकारी का बाण हरिण पर जाता है और नहीं चूकता उसी प्रकार राजा का दण्ड भी अपराधी पर वैसे ही बिना चूके पड़े और इस प्रकार (कृत्याकृतं पुनः कृत्या गृह्णातु) पीड़ाकारी पुरुष को वही पीड़ा पुनः २ पकड़ ले ।

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १३ ॥

भा०—(कृत्या) वही पीड़ा जो अपराधी ने औरों को दी है वह (पुनः कृत्या-कृतम्) फिर उस पीड़ाकारी पर ऐसे प्रतिकूल होकर पड़े जैसे (अग्निः इव प्रतिकूलम्) आग प्राणियों को सदा प्रतिकूल होकर कष्टदायी होता है और राष्ट्र के लिये (अनुकूलम् उदकम् इव) अनुकूल जल के समान सुखदायी हो (रथ इव सुखः वर्तताम्) अपराधी को अपराध का दण्ड मिलने पर वह त्रासकारी पुरुष भी रथ के समान सबके बीच में सुखकारी पुरुष के समान होकर रहे ।

---

(१५) निन्दकों पर वश-प्राप्ति ।

विश्वामित्रः ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । १–३, ६, १०, ११ अनुष्टुभः । ४ पुरस्ताद् बृहती । ५, ७, ८, ९ भुरिजः । एकादशर्चं सूक्तम् ॥

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥

भा०—हे (ऋतजाते) सत्य रूप में उत्पन्न हुई और हे (ऋतावरि) सत्य में सदा वर्तमान रहने वाली (ओषधे) बलकारिणी सत्य वाणि ! तू (मधुला) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली, मधुमयी होकर (एका च मे) मेरी अकेली भी (मे मधु करः) मेरे लिये अमृतमय आनन्द उत्पन्न कर जब कि (मे) मेरे (अप-वक्तारः) अपवाद करने वाले, विरोधी, निन्दक गण (दश च) दश भी हों । अर्थात् मेरे निन्दा करने वाले १० मुख भी हों तो भी मेरी एक सत्यवाणी मुझे पूरा बल और आनन्द दे ।

द्वे च॑ मे विंश॒तिश्च॑ मे०।० ॥ २ ॥

भा०—(मे) मेरे (अप-वक्तारः) निन्दाकारी (विंशतिः च) बीस भी हों तो भी (द्वे च मे) हे ओषधे ! मेरी तुम दो अर्थात् पहले से दुगुनी बल वाली सत्य वाणी होकर मुझे आनन्द प्रदान कर।

ति॒स्रश्च॑ मे त्रिं॒शच्च॑ मे०।०॥३॥ चत॑स्रश्च मे चत्वारिं॒शच्च॑ मे०।०॥४॥ प॒ञ्च च मे पञ्चाशच्च॑ मे०।० ॥५॥ षट् च॑ मे ष॒ष्टिश्च॑ मे०।० ॥६॥ स॒प्त च॑ मे सप्त॒तिश्च॑ मे०।० ॥७॥ अ॒ष्ट च॑ मेऽशीतिश्च॑ मे०।० ॥८॥ नव॑ च मे नव॒तिश्च॑ मे०।० ॥९० द॒श॑ च मे श॒तं च॑ मे०।० ॥१०॥

श॒तं च॑ मे स॒हस्रं॑ चापव॒क्तार॑ ओषधे।
ऋत॑जात ऋता॑वरि मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः ॥ ११ ॥

भा०—(तिस्रश्च मे त्रिंशत् च अप-वक्तारः०) यदि तीस मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी सत्य वाणी तीन गुणी होकर मुझे बल दे। (चतस्रः च मे चत्वारिंशत् च०) यदि ४० (चालीस) पुरुष मेरी निन्दा करने वाले हों तो मेरी पूर्व से चार गुणी वाणी मुझे आनन्द और बल दे। (पञ्च च मे पञ्चाशत् च मे) यदि पचास निन्दक हों तो पांच गुणा शक्तिमती होकर मुझे आनन्द दे। (षष्टिः च मे अपवक्तारः षट् च मे) यदि मेरे ६० निन्दक हों तो मेरी वाणी ६ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द दे। (सप्ततिः च मे०, सप्त च मे०) यदि मेरे निन्दक ७० हो जावें तो मेरी वाणी ७ गुणा होकर मुझे बल दे। (अशीतिः च मे० अष्ट च मे०) यदि मेरे अपवादक ८० हो जायं तो मेरी सत्य वाणी भी ८ गुणा होकर मुझे बल दे। (नवतिः च मे नव च मे०) मेरे अपवादक नव्वे हो जायं तो मेरी वाणी नवगुणी होकर मुझे बल दे। (शतं च मे अप०, दश च मे०) यदि मेरे अपवादक सौ हो जायं तो मेरी सत्य वाणी दस गुणा होकर मुझे बल दे। (सहस्रं च मे अप-वक्तारः) यदि मेरे हजार अपवादक निन्दक हों तो हे ओषधे ! सत्य वाणी ! तू (शतं च मे०) सौ गुणा होकर मुझे बल और आनन्द प्रदान कर।

दुष्ट वक्ताओं का मुख बांधने के लिये इस मन्त्र = विचार का मनन करना चाहिये, इससे शक्ति बढ़ेगी और साहस उत्पन्न होगा। अध्यात्म में दशों इन्द्रियां प्रलोभन से गिरावें तो एक सत्यमति से उन पर वश करे। यदि दुनियां में प्रलोभन बढ़े तो अपनी शक्ति को और बढ़ावे।

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

---

(१६) आत्मा की शक्ति-वृद्धि ।

विश्वामित्र ऋषिः । एकवृषो देवता । १, ४, ५, ७–१० साम्न्युष्णिक् । २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप् । ११ आसुरी गायत्री । एकादशर्च सूक्तम् ॥

यद्येकवृषोसि सृजारसोसि ॥ १ ॥

भा०—आत्मा देवता । हे आत्मन् ! (यदि एकवृषः) यदि तू एक ही प्राण वाला है तो (सृज) और उत्पन्न कर, अपने को बना, नहीं तो तू (अरसः असि) निर्बल है ।

यदि द्विवृषोसि० ॥ २ ॥ यदि त्रिवृषोसि ॥ ३ ॥
यदि चतुर्वृषोसि० ॥ ४ ॥ यदि पञ्चवृषोसि० ॥ ५ ॥
यदि षड्वृषोसि० ॥ ६ ॥ यदि सप्तवृषोसि० ॥ ७ ॥
यद्यष्टवृषोसि० ॥ ८ ॥ यदि नववृषोसि० ॥ ९ ॥
यदि दशवृषोसि सृजारसोसि ॥ १० ॥
यद्येकादशोसि सोपोदकोसि ॥ ११ ॥

भा०—(यदि द्विवृषः असि) यदि द्विवृष = दो प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है। (यदि त्रिवृषः असि०) यदि तीन प्राणों से युक्त भी है तो भी और शक्ति पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि चतुर्वृषः असि०) यदि चार प्राणों से युक्त है तो भी और शक्ति उत्पन्न कर, अभी भी निर्बल है। (यदि पञ्चवृषः असि०) यदि पांच प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि

षड्-वृषः असि०) यदि छः प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि सप्तवृषः असि०) यदि सात प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी तू निर्बल है। (यदि अष्ट-वृषः असि०) यदि आठ प्राणों से युक्त है तो भी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है (यदि नव-वृषः असि०) यदि नव प्राणों से युक्त है तो भी अभी और पैदा कर, अभी भी निर्बल है। (यदि दश-वृषः असि०) यदि दश प्राणों से युक्त है तो भी (सृज, अरसः असि) और अपनी शक्ति को बढ़ा क्योंकि निर्बल है। यदि (एक दशः असि) तू उन दश प्राणों के अतिरिक्त स्वयं आत्मा ग्यारहवां है तब (सः) वह (अप उदकः असि) तू आत्मा दुःखों में तड़फने से मुक्त, पार, उत्तीर्ण हो सकता है। अथवा, तब तू स्वयं (अप-उदकः) जल में तूंबे वा चिकने पदार्थ के समान 'असङ्ग' है तू इन्द्रियों के भोग = रस के अङ्ग से परे है। अर्थात् जब तक आत्मा दश इन्द्रियों से कुछ एक को अपना रूप समझता है तब तक भी वह अरस = निर्बल एवं परमानन्दरस से शून्य रहता है और जब दशों इन्द्रियों के संग से रहित हो जाता है तब वह तुम्बे वा चिकने पदार्थ के तुल्य इस तृष्णा जल से मुक्त होकर बली, आनन्दी और मुक्त हो जाता है।

---

(१७) ब्रह्मजाया या ब्रह्मशक्ति।

मयोभूर्ऋषिः। ब्रह्मजाया देवताः। १—६ त्रिष्टुभः। ७—१८ अनुष्टुभः। अष्टादशर्चं सूक्तम्॥

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य॥ १॥

ऋ० १०। १०९। १॥

भा०—(ब्रह्मकिल्विषे) ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण के प्रति अपराध होने पर ते (प्रथमाः) वे मुखिया, श्रेष्ठ (अकूपारः, सलिलः, मातरिश्वा) सूर्य,

समुद्र और वायु (अवदन्) मानो विरोध में बोल उठते हैं। (वीडुहराः) बलवानों का संहारक, (उग्रं तपः) उग्र तपःस्वरूप, (मयोभूः) शक्ति शान्तिदायक (देवीः आपः) तथा दिव्य जलों की न्याईं शान्ति का देने वाला (ऋतस्य प्रथमजाः) तथा संहार के नियमों का प्रथम उत्पादक परमात्मा भी मानो विरोध में बोल उठता है।

अर्थात्:—पृथिवी पर शासन में मुख्य सम्मति ब्राह्मणों की गिननी चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण वे हैं जो विद्वान्, त्यागी तथा परोपकारी हों। ऐसे मनुष्यों की सम्मति को शासन में मुख्य स्थान अवश्य देना चाहिये। इसी प्रकार राष्ट्र में जो राष्ट्रीय शासन-सभा हों उसमें भी मुख्याधिकार ब्राह्मणों को ही देना चाहिये। यदि कोई राष्ट्र इन दोनों स्थानों पर ब्राह्मण का अधिकार नहीं मानता तो उस राष्ट्र का शासान बिगड़ जाता है। मानो राष्ट्र का वायुमण्डल और यहां तक कि परमात्मा तक भी उस राष्ट्र पर कुपित हो जाता है।

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥ २॥

भा०—(सोमः राजा प्रथमः) राष्ट्र का प्रेरक राजा प्रमुख है। (अहृणीयमानः ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छत्) वह ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण को उसकी जायाभूत पृथिवी या सभा का अधिकार पुनः २ देता है। (अन्वर्तिता वरुणः मित्रः आसीत्) उस ब्राह्मण के पीछे चलने वाला मित्र रूप वरुण, अर्थात् प्रजा की सम्मति से चुना हुआ राजा होता है, (अग्निः होता हस्तगृह्य निनाय) आह्वान करने वाला अग्नि, अग्रणी विद्वान् उसे हाथ पकड़ २ कर लाता है और अधिकार सौंपता है।

हस्तेनैव ग्राह्यऽआधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत्।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ३॥

ऋ० १०। १०९। ३

भा०—(अस्याः) इस पृथिवी के शासन की या इस राष्ट्र-सभा के अधिकार की (आधिः) चिन्ता (हस्तेनैव ग्राह्यः) ब्राह्मणों को अपने ही हाथ में रखनी चाहिये, (ब्रह्मजाया इति च इत् अवोचत्) क्योंकि परमात्मा ने वेद वाणी में पृथिवी तथा राष्ट्र-सभा को ही ब्राह्मण की जायारूप कहा है। (न दूताय प्रहेया तस्थे एषा) उपतापी मनुष्य को इसका अधिकार नहीं देना चाहिये। (तथा) इस प्रकार से प्रबन्ध होगा (राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य) तभी क्षत्रिय, राजा का राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है।

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥४॥

ऋ० १० । १०९ । ४ ॥

भा०—(ग्रामम् अवपद्यमानाम्) ग्रामों तथा नगरों में बंटी हुई जिस पृथिवी को या राष्ट्र-सभा को जो ब्राह्मण के साथ में न होने के कारण (दुच्छुनाम्) दुःख देने वाली हो गई है, परन्तु ब्राह्मण के हाथ में आ जाने के कारण जिसे लोग (तारका एषा) दुःख-सागर से तराने वाली तथा (विकेशी इति आहुः) क्लेश हटाने वाली कहते हैं (सा ब्रह्म-जाया) उसे वास्तव में ब्राह्मण की वास्तविक शक्ति ही समझना चाहिये। (यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्) जिस पृथिवी या राष्ट्र-सभा में, मुखिया रूप से, चञ्चल तथा गरम मिजाज वाला मनुष्य होता अर्थात् ब्राह्मण-स्वभाव का मनुष्य यदि मुखिया नहीं बनता तब (सा) वह पृथिवी या राष्ट्र-सभा (राष्ट्रं विदुनोति) राष्ट्र भर को ही दुःखित कर देती है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥५॥

ऋ० १० । १०९ । ५ ॥

भा०—(ब्रह्मचारी) ब्राह्मण जो ब्रह्मचारी वेदानुशीलक, तपस्वी है वह (विषः वेविषत् चरति) प्रजा की सेवाएं करता हुआ अधिकारों में बिचरता

है । (सः देवानां एकम् अंगम् भवति) वह ब्राह्मण देवों अर्थात् अधिकारियों का एक, अद्वितीय, मुख्य अंग होता है । (तेन) ब्रह्मचारी होने तथा वेद विद्या का विद्वान् होने के कारण वह (बृहस्पतिः) वेदवाणी का रक्षक (जायाम् अनु अविन्दत्) जायारूप पृथिवी या राष्ट्र-सभा का नियन्त्रण अपने अधिकार में उसी प्रकार लेता है (देवाः जुह्वं न) जैसे ऋत्विक् लोग यज्ञ करने के निमित्त जुहू का ग्रहण करते हैं । (सोमेन नीताम्) और ब्रह्मण उस पृथिवी या राष्ट्र-सभा का नियन्त्रण अपने हाथ में लेता है जो पहले प्रेरक राजा के हाथ में आती है । अर्थात् शासक ब्राह्मण ऐसे होने चाहिये जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय हों, वेद के विद्वान् हों और राष्ट्र या राष्ट्र-सभा को हाथ में लेकर जो यज्ञभावना से राष्ट्र का शासन करें । पृथिवी 'जाया' इसलिये है कि वह ब्रह्म, वेदज्ञान द्वारा ही उसमें राष्ट्र ऐश्वर्य उत्पन्न करता है ।

दे॒वा वा ए॒तस्या॑मवदन्त॒ पूर्वे॑ सप्त ॠ॒षय॒स्तप॑सा॒ ये नि॑षे॒दुः ।
भी॒मा जा॒या ब्रा॑ह्मणस्याप॑नीता दु॒र्धां द॑धाति पर॒मे व्यो॑मन् ॥ ६ ॥

भा०—(एतस्याम्) इस राष्ट्र-सभा से (सप्त देवाः पूर्वे ऋषयः अवदन्त) सात देव, विद्वान्, ज्ञान पूर्ण, श्रेष्ठ वे ऋषि लोग संशयित विषयों पर वादविवाद करते हैं, (तपसा ये निषेदुः) तप की महिमा के कारण जो इस राष्ट्र-सभा में बैठते हैं । (ब्राह्मणस्य जाया अपनीता भीमा) ब्राह्मण की जाया रूप पृथिवी या राष्ट्र-सभा उससे छीनी जाकर भयानक हो जाती है, (दुर्धां दधाति परमे व्योमन्) और वह राष्ट्र के महाकाश या परम रक्षा कार्य में दुःस्थिति उत्पन्न कर देती है ।

मनुस्मृति अध्यात्म १२ में दशावरा परिषद् का वर्णन है । ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ६ठे समुल्लास में लिखा है कि "इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों और वह सभा हो जिसमें १० विद्वानों में न्यून सभासद् न होने चाहिये ।" मनु से प्रतीत होता है कि सभा में ७ विद्वान् तो भिन्न २

विषयों के जानने वाले होने चाहिये और शेष तीन सभासद् प्रथम तीन आश्रमों के आश्रमी होने चाहिये। भिन्न २ विषयों के विद्वानों को इस मन्त्र में ७ ऋषि कहा प्रतीत होता है।

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥ ७ ॥

भा०—(ये गर्भा अवपद्यन्ते) जो गर्भ गिराये जाते हैं, (जगद् यत् च अप लुप्यते) और जो जगत् सदाचार आदि की दृष्टियों से नष्ट होता है (वीराः ये तृह्यन्ते मिथः) तथा वीर लोग जो परस्पर एक दूसरे की हत्या करते हैं (ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्) उन सबकी हत्या का कारण ब्रह्मजाया है, अर्थात् पृथिवी या राष्ट्र-सभा जब ब्राह्मणों द्वारा नियमित न होने पर राष्ट्र में इस प्रकार की हत्याओं का कारण बन जाती है वही नियन्त्रित होकर इन अपराधों का नाश करती है।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

भा०—(उत यत् पतयः दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः) स्त्री पुरुष पृथिवी या राष्ट्र-सभा के पति अर्थात् रक्षक अधिकारी पहिले चाहें दस व्यक्ति हों भी, जो कि ब्राह्मण, वेदज्ञ नहीं हैं, तो भी (ब्रह्मा चेत् हस्तं अग्रहीत् स एव पतिरेकधा) जब योग्य ब्राह्मण कोई एक भी मिल जाय तो वह ही इस पृथिवी का या राष्ट्र-सभा का वास्तविक पति अर्थात् रक्षक होता है। मनु अध्याय १२ में लिखा है कि "एकोऽपि वेद विद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मः नाज्ञानामुदितो शतैः॥ इस पर ऋषि दयानन्द लिखते हैं "यदि एक अकेला भी सब वेदों का जानने हारा, द्विजों में उत्तम 'संन्यासी' जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये, सहस्रों, लाखों, करोड़ों अज्ञानी मिलकर जो व्यवस्था करें उसको कभी न मानना चाहिये। दशावरा परिषत् में कम से कम

१० सभासद् चाहिये। यदि ये सभासद् सच्चे ब्राह्मण न हों और किसी योग्य ब्राह्मण के न मिलने पर ये ही कुछ काल के लिये व्यवस्थापक नियत हों तो भी जब भी कोई सच्चा ब्राह्मण मिल जाय तो उन दस व्यक्तियों के ऊपर सच्चे ब्राह्मण को ही व्यवस्थापक नियत करना चाहिये।

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ ९॥

भा०—(ब्राह्मणः एव पतिः) पृथिवी या राष्ट्र-सभा का पति अर्थात् रक्षक, व्यवस्थापक ब्राह्मण ही है (राजन्यः न वैश्यः) न क्षत्रिय है और न वैश्य है। (सूर्यः) वह सूर्य, सर्वप्रकाशक परमात्मा (पञ्चभ्यः) पांचों प्रकार के (मानवेभ्यः) मानवों को (तत् प्रब्रुवन् एति) इस प्रकार उपदेश करता है। अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मण सूर्यवत् प्रकाश देता है।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ १०॥
ऋ० १०। १०९। ६॥

भा०—(पुनर्वै देवा अददुः) देव अर्थात् राष्ट्र-सभा के व्यवस्थापक या पृथिवी के शासक-जो ब्राह्मण नहीं हैं-योग्य ब्राह्मण आ जाने पर सारा शासन अपने से हटाकर उसे ही सुपुर्द कर देते हैं। (पुनर्मनुष्याः अददुः) मनुष्य अर्थात् प्रजाजन भी अपने मताधिकार द्वारा ऐसा ही करते हैं। (राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनः ददुः) तथा राष्ट्रों के राजा भी, जो सत्य के ग्रहण करते हैं, पृथिवी तथा राष्ट्र-सभा का शासन उस ब्राह्मण को ही देते हैं।

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥ ११॥
ऋ० १०। १०९। ७॥

भा०—(पुनर्दाय ब्रह्मजायाम्) उस वेदव्यवस्था को सच्चे ब्राह्मणों

के सुपुर्द करके, (कृत्वा देवैः निकिल्बिषम्) और देवों विद्वानों द्वारा राष्ट्र को पाप-रहित करके, (ऊर्जं पृथिव्याः भक्त्वा) और पृथिवी पर उत्पन्न अन्न का यथायोग्य विभाग करके (उरुगायम् उपआसते) प्रजाजन महाकीर्ति प्रभु की उपासना में तत्पर होते हैं।

नास्य॑ जा॒या श॑तवा॒ही क॑ल्या॒णी तल्प॒मा श॑ये ।
यस्मि॑न् रा॒ष्ट्रे नि॑रु॒ध्यते॑ ब्रह्मजा॒याचि॑त्त्या ॥ १२ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राष्ट्र में (अचित्या) अज्ञानवश, मूर्खता से (ब्रह्मजाया निरुध्यते) सच्चे ब्राह्मण की व्यवस्था रुक जाती है उस राष्ट्र में (अस्य) इस प्रजाजन की (शत-वाही) सैकड़ों कार्य वा सुख देने में समर्थ (कल्याणी) तथा सुख, कल्याण की देने हारी (जाया) स्त्री भी (तल्पं) उचित अधिकार प्राप्त भोग्य, सेज पर (न आशये) नहीं विराजती हैं अर्थात् वह भी न्याय-नियम को त्याग कर व्यभिचार-पथ में प्रवृत्त हो जाती हैं। वेद-व्यवस्था के नाश होने पर कुलाचार भी नष्ट हो जाते हैं।

न वि॑क॒र्णः पृ॑थु॒शि॑रा॒स्तस्मि॑न् वेश्म॑नि जायते ।
यस्मि॑न् ॥ १३ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि-रुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता-वश ब्राह्मणों की व्यवस्था तथा शासन नहीं चलता है (तस्मिन् वेश्मनि) उस राष्ट्र वा घर में (वि-कर्णः पृथुशिराः) विशेष कर्ण-शक्ति से सम्पन्न श्रुतिशील तथा विशाल मस्तक वाले, विचारवान् पुरुष भी (न जायते) नहीं उत्पन्न होता।

नास्य॑ क्ष॒त्ता नि॒ष्कग्री॑वः सू॒नाना॑मेत्यग्र॒तः ।
यस्मि॑न्० ॥ १४ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया नि रुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से ब्राह्मणों की व्यवस्था रुक जाय (अस्य क्षत्ता) उस राष्ट्र का घोड़ा, घुड़सवार भी (निष्क-ग्रीवः) स्वर्ण के आभूषण पहन कर (सूनानाम्) युद्ध, यज्ञ आदि स्थानों में (अग्रतः न एति) आगे नहीं

आता । अर्थात् सच्चे ब्राह्मण की व्यवस्था के अभाव में वीरक्षत्रिय भी अपने रण-पथ में अग्रसर नहीं होता ।

नास्य॑ श्वेतः कृ॑ष्णक॒र्णो धु॒रि यु॒क्तो म॑हीयते ।
य॒स्मिन्॥ १५ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खता से, ब्राह्मण विद्वान् पुरुषों की व्यवस्था रोकी जाती है वा उस राष्ट्र के राजा का (श्वेतः) श्वेत (कृष्णकर्णः) श्यामकर्ण घोड़ा (धुरि युक्तः) प्रमुख स्थान पर नियुक्त होकर (प्र महीयते) महत्व को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् उस राष्ट्र में राजा का भी, उचित मान सत्कार नहीं होता ।

नास्य॒ क्षेत्रे॑ पुष्क॒रिणी नाण्डीकं॑ जायते॒ बिस॑म् ।
य॒स्मिन्० ॥ १६ ॥

भा०—जिस राष्ट्र में सच्चे ब्राह्मणों की व्यवस्था मूर्खतावश रुक जाती है (अस्य क्षेत्रे) उस राजा के क्षेत्र में (पुष्करिणी) पुखरिनी, (आण्डीकं) बड़ा कमल और (विसम्) भिस आदि कमलकन्द भी (न जायते) उत्पन्न नहीं होते । अर्थात् उस देश में राष्ट्र के शोभाजनक ताल सरोवर, धन-सम्पत् भी सुरक्षित नहीं रहते ।

नास्मै॒ पृश्नि॒ वि दु॑हन्ति॒ येऽस्या॒ दोह॑मु॒पास॑ते ।
यस्मि॑न् रा॒ष्ट्रे नि॑रु॒ध्यते॑ ब्रह्मजा॒याचि॑त्या ॥ १७ ॥

भा०—(यस्मिन् राष्ट्रे अचित्या ब्रह्म-जाया निरुध्यते) जिस राष्ट्र में मूर्खतावश विद्वान् वेदज्ञों का शासन रुक जाता है वहां (अस्मै) इस राष्ट्रपति के निमित्त अधिकारी और प्रजाजन (पृश्नि) इस नाना पदार्थ-दायिनी कामधेनु से (न वि दुहन्ति) नाना ऐश्वर्य नहीं दोहते । (अस्याः) और वे हम इस पृथिवी-धेनु के (दोहम्) साररूप अन्न आदि ऐश्वर्य का (उपासते) स्वयं भोग करते रहते हैं ।

नास्य॑ धे॒नुः क॑ल्या॒णी नान॒ड्वान्त्स॑हते॒ धुर॑म् ।
विजा॑नि॒र्यत्र॑ ब्राह्म॒णो रात्रि॒ वस॑ति पा॒पया॑ ॥ १८ ॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्राह्मणः) विद्वान्, वेदवेत्ता, ब्राह्मण लोग (विजानिः) अपनी भार्या के समान पालनीय राष्ट्र-सभा के शासन से रहित होकर (पापया) पाप-प्रधान प्रजा के साथ (रात्रिं) अज्ञान, कुकर्म तथा विप्लवमयी रात्रि में (वसति) निवास करते रहते हैं (अस्य) उस राष्ट्र की (धेनुः) गाय, भूमि (कल्याणी न) सुखपूर्वक दूध देने वाली नहीं होती और (अनड्वान्) बैल भी (धुरम् न सहते) गाड़ियों में नहीं जुतते। अर्थात् विद्वानों के शासन के अभाव में न पशुओं की वृद्धि होती है, न गो-पालन कृषि और न व्यापार में बैलों का सद्-उपयोग होता है।

---

(१८) ब्रह्मगवी का वर्णन ।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । १–३, ६, ७, १०, १२, १४, १५ अनुष्टुभः । ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुभः । ४ भुरिक् । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥ १ ॥

भा०—विद्या, प्रजा, पृथ्वी और गौ ये सब ब्राह्मण, विद्वान् पुरुष की गौ हैं। उसका मारना, खा लेना आदि किसी को करना उचित नहीं, इसी विषय का इस सूक्त में उपदेश है—हे (नृपते) समस्त नरों, मनुष्यों के पालक राजन्! (ते देवाः) वे विद्वान् लोग (ते) तुझे राज्याभिषेक करते समय (एताम्) इस ब्राह्मण की गौ = पृथिवी और उस पर रहने वाली प्रजा और उनके गौ आदि पशु सबको (अत्तवे) खा डालने के लिये (न अददुः) नहीं देते हैं। हे (राजन्य) राजन्! (अनाद्याम्) न खाने योग्य (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ को (मा जिघत्सः) खाने की चेष्टा मत कर। राजा लोक-प्रजा की रक्षा करे न कि उनका खून चूसे और न उनको, मृगों-को सिंह के समान मार कर खावे।

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

भा०—जो राजा अपने विषय-सुखों के लिये प्रजा का नाश कर देता है वह चिरकाल तक नहीं रहता। (अक्ष-द्रुग्धः) इन्द्रियों के लोभ के कारण प्रजा में नाना प्रकार के द्रोह उत्पन्न करने वाला, (राजन्यः) राजा (आत्म-पराजितः) अपने ही व्यसनों से अपने आप पछाड़ खाता है। (सः) वह (पापः) पापी यदि (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण = वेदवेत्ता की (गाम्) गौ, भूमि, प्रजा तक को (अद्यात्) खा डाले, विनाश करे तो (अद्य जीवानि) वह समझ ले कि 'मैं आज भर जीता हूँ, (न श्वः) कल को मेरा जीवन नहीं है'। अर्थात् अत्याचारी का जीवन सदा खटके में रहता है।

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा।

सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

भा०—ब्राह्मण की गौ को खाने का दुष्परिणाम। हे (राजन्य) राजन् ! (एषा) यह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गौः) गौ (अनाद्या) खाने योग्य नहीं, यह हजम नहीं होगी; क्योंकि (सा) वह तो (तृष्टा) प्यासी, (पृदाकूः इव) नागिन के समान, (अघ-विषा) पापमय विष से भरी (चर्मणा) कांचली से (आविष्टिता) ढकी है, इस पर मुंह मत मार। अर्थात् ब्राह्मण-प्रजा और ब्राह्मणों की देय, सम्पत्ति और उनकी विद्या पर आघात मत कर।

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

भा०—(यः) जो (ब्राह्मणं) ब्राह्मण या विद्वान् सदाचारी तपस्वी पुरुष को (अन्नम् एव मन्यते) दाल-भात का गस्सा समझता है, (सः) वह (तैमातस्य) फनियर नाग के (विषस्य) विष की घूंट (पिबति) पी लेता है, क्योंकि ब्राह्मण के ऊपर आघात करने से ब्रह्मतेज (वै) निश्चय से राजा के (क्षत्रं निः नयति) बल का नाश कर देता है, (वर्चः हन्ति) उसके तेज को नष्ट करता है और वह (आरब्धः) राजा के पीछे लग जाय

तो (अग्निः इव) आग के समान भड़क कर (सर्वम्) उसके सर्वस्व राज पाट को (वि दुनोति) नाना प्रकार से नाश कर डालता है ।

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥५॥

भा०—(यः) जो (एनं) इस ब्राह्मण को (मृदुम्) कोमल स्वभाव, निर्बल, दबने वाला (मन्यमानः) मान कर (धन-कामः) धन के लोभ से (देव-पीयुः) इस लोक के देव, विद्वान् ब्राह्मणों का विनाशक होकर (हन्ति) ब्राह्मण को कष्ट देता और उसको मारता है और (न चित्तात्) नहीं चेतता, अपनी करतूत से बाज नहीं आता, (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (अग्निम्) आग (इन्धे) सुलगा देता है (चरन्तम्) विचरते हुए (एन) उसको (उभे नभसी) परस्पर सम्बद्ध दोनों लोक नर नारी (द्विष्टः) द्वेष करने लगते हैं ।

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥

भा०—(प्रियतनोः अग्निः इव) अपने प्यारे शरीर की अग्नि के समान (ब्राह्मणः) ब्राह्मण को जानकर (न हिंसितव्यः) उसका वध न करना चाहिये, क्योंकि वह (अग्निः) अग्नि के समान तीव्र है और (सोमः) सबका प्रेरक, एवं सबका आह्लादकारी परमात्मा (अस्य दायादः) इसका बन्धु है और (इन्द्रः) वही परमेश्वर इसका (अभिशस्तिपाः) चारों ओर से पड़ने वाले निन्दा, अपवाद एवं शस्त्र-आघातों से उसको बचाने वाला है।

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥

भा०—(यः) जो (मल्वः) मलिन हृदय का नीच पुरुष, (ब्रह्मणां) ब्राह्मणों, वेदवेत्ताओं, ज्ञानी पुरुषों के (अन्नं) अन्न, जीवनवृत्ति को (स्वादु अद्मि) खूब मजे में खाता हूँ (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है वह

परिणाम में (शत-अपाष्ठाम्) सैकड़ों प्रकार की दुर्गति को (नि-गिरति) प्राप्त होता है और (निः-खिदन् तां न शक्नोति) सब प्रकार से ताड़ित होकर उसको नहीं सह सकता।

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

भा०—ब्राह्मण, विद्वान् की शक्तियों का वर्णन। ब्राह्मण की (जिह्वा) जीभ (ज्या भवति) धनुष की डोर हो जाती है और (वाग्) वाणी (कुल्मलं) धनुष का दण्ड हो जाता है और (तपसा) तेज और तपस्या से (अभि-दिग्धाः) लिपे हुए (दन्ताः) दांत (नाडीकाः) नालीक नाम के बाण, छर्रे और तीरों के समान हो जाते हैं। (ब्रह्मा) ब्रह्मवेद का ज्ञाता विद्वान् तपस्वी पुरुष (तेभिः) उन (देवजूतैः) विद्वानों या दिव्य शक्तियों से युक्त, (हृद्बलैः) हृदय, मन की शक्ति से सम्पन्न (धनुर्भिः) ज्ञानमय धनुषों, अस्त्रों से (देव-पीयून्) विद्वानों के शत्रुओं पर (विध्यति) प्रहार करता है।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

भा०—(ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता, विद्वान्, लोग (तीक्ष्ण इषवः) तीक्ष्ण बाणों एवं तीक्ष्ण इच्छा शक्ति से सम्पन्न और (हेति-मन्तः) अस्त्रों से युक्त होकर (यां शरव्याम्) जिस बाणधारा को (अस्यन्ति) फेंकते हैं (सा) वह (न मृषा) असत्य, निष्फल नहीं होता। वे (तपसा) तप और (मन्युना) क्रोध या यज्ञ से (अनु-हाय) शत्रु का पीछा करके (एनं) इसको (दूरात्) दूर से ही (भिन्दन्ति) भेद डालते हैं।

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥

भा०—(ये) जो (वैत-हव्याः) दान योग्य हवि पदार्थों को स्वयं खा

जाने वाले पुरुष पहले (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के बलों से (अराजन्) राजा के तुल्य वैभव प्राप्त कर लेते हैं (उत) और चाहे (दशशताः आसन्) वे दसों, सैकड़ों, हजारों भी क्यों न हों तो भी (ते) वे (ब्राह्मणस्य गां) ब्राह्मण की गौ, भूमि, सम्पत्ति, विद्या, आजीविका-वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) खाकर, हड़प कर अवश्य (परा अभवन्) पराजय को ही प्राप्त होते हैं।

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

भा०—(तान् वैत-हव्यान्) उन दान योग्य पदार्थों के स्वयं भोक्ता, स्वार्थी लोगों को वह ब्राह्मण की गौ (हन्यमाना) मारी जा कर, (अव अतिरत्) विनाश कर डालती है, (ये) जो (केसर-प्राबन्धायाः[1]) केसर-प्राबन्धा, मोक्ष की ओर जाने वाली (चरम-अजाम्) अन्तिम अजा, अमर, आत्मशक्ति को भी (अपेचिरन्) विषय विलास में पीड़ित करते हैं।

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

भा०—ब्राह्मण की गौ का स्वरूप—(ताः जनताः) वे लोग राष्ट्र के कलङ्करूप (एक-शतं) एक सौ एक हैं (याः) जिनको (भूमिः) माता भूमि उन्हें (वि अधुनत) स्वयं नाना प्रकार से धुनती है। कंपाती है। जो (ब्राह्मणीम्) विद्वान् ब्राह्मणों की (प्रजां) प्रजा, सन्तति को (हिंसित्वा) मार कर (असं भव्यम्) आशातीत रूप से, बिना सम्भावना के ही (परा-भवन्) विनाश को प्राप्त होते हैं।

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥

---

१. केसरप्राबन्धा = के मोक्षसुख, प्रजापतौ ब्रह्मणि सरः गमनं, तत्र प्राबन्धः प्रकृष्ट आग्रहो यस्याः सा केसरप्राबन्धा मोक्षाभिलाषिणी चितिशक्तिः। तस्या या चरमा अन्तिमा व्यापिनी वा अजा, न जायते इत्यजा, अमृता उत्पादविनाशरहित या आत्मशक्तिः, तामपि त वैतहव्याः 'अपेचिरन्' विषयाग्नौ अपाचयन्।

भा०—(देव-पीयुः) विद्वान् पुरुषों को सताने वाला पुरुष (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच में (गर-गीर्णः चरति) मानो जहर पिये घूमता है। (अस्थि भूयान् भवति) केवल बड़े २ हाड़ उठाये रहता है। (यः) जो (देव-बन्धुम्) देव-विद्वान् और ईश्वर की दिव्य शक्तियां या ईश्वर को बन्धु मानने वाले (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ, ब्राह्मण को (हिनस्ति) पीड़ा देता है। (सः) वह (पितृयाणम् लोकम् अपि) पितृयाण लोक को भी (न एति) प्राप्त नहीं होता। दो यान हैं—देवयान और पितृयाण।

अ॒ग्निर्वै नः॑ पद॒वायः॒ सोमो॑ दा॒याद॒ उ॑च्यते ।
ह॒न्ताभिश॒स्तेन्द्र॒स्तथा॒ तद् वे॒धसो॑ विदुः ॥ १४ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि = ज्ञानवान् प्रभु ही (नः) हमारा (पद-वायः) मार्गदर्शक है। (सोमः) सोम = शान्तिदायक एवं शुभ मार्ग में प्रेरक प्रभु ही हमारा (दायादः) समस्त धनों का दाता, स्वामी (उच्यते) कहा जाता है। (इन्द्रः) वह बलशाली, परमैश्वर्यवान् प्रभु (अभिशस्ता हन्ता) आक्षेपों और शस्त्र-प्रहारों से सताने वाले पुरुषों का विनाशक है। (तथा) इसी प्रकार से (वेधसः) विद्वान् लोग (तद्) उस ब्रह्म के विषय में (विदुः) जानते हैं।

इषु॑रिव दि॒ग्धा नृ॑पते पृदा॒कूरि॑व गोपते ।
सा ब्रा॑ह्म॒णस्येषु॑र्घो॒रा तया॑ विध्यति॒ पीय॑तः ॥ १५ ॥

भा०—हे (नृपते) राजन् (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (सा) वह (घोरा) घोर, भयानक (इषुः) मनःकामना रूप बाण है जो (दिग्धा इषुः-इव) विष में बुझे तीर और (पृदाकूः-इव) नागिन के समान है। हे (गोपते!) गो, वाणी, वेद, भूमि के प्रतिपालक राजन्! (पीयतः) ब्राह्मण अपने शत्रुओं और हिंसकों को (तया विध्यति) उस घोर बाण से बेधता है।

---

(१९) ब्रह्मगवी का वर्णन।

मयोभूर्ऋषिः । ब्रह्मगवी देवता । २ विराट् पुरस्ताद् बृहती । ७ उपरिष्टाद् बृहती ।
१–३–६, ७–१५ अनुष्टुभः । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

भा०—ब्राह्मणों को मारने, कष्ट पहुँचाने के बुरे परिणाम । (वैतहव्याः) दान योग्य पदार्थों को स्वयं खा जाने वाले, असुर लोग (न उत् इव) न केवल (अति-मात्रम्) बहुत अधिक (अवर्धन्त) बलशाली, उन्नत हो जाते हैं, प्रत्युत (दिवम्) स्वर्ग, आकाश लोक को भी (अस्पृशन्) छू लेते हैं, (सृञ्जयाः) वे शत्रुओं पर विजयी होकर भी (भृगुं) समस्त पापों के भून डालने वाले, अग्नि-स्वरूप ब्राह्मण का (हिंसित्वा) विनाश करके (परा अभवन्) अन्त में पराजय को प्राप्त होते हैं ।

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

भा०—(ये जनाः) जो पुरुष (आङ्गिरसम्) अङ्गों में रस के समान बहने वाले, प्राण के समान या प्रज्वलित अंगारों के समान तेजस्वी, राष्ट्र के विद्वान्, (बृहत्-सामानम्) बड़े विशाल, आदित्य ब्रह्मचारी (ब्राह्मणं) ब्राह्मण को (आर्पयन्) विनाश करते हैं (तेषां) उनके (तोकानि) अगली सन्तानों को (अविः) वही सर्वरक्षक (पेत्वः) परिपालक प्रभु ही (उभयादम्) अपने दोनों जबाड़ों के बीच में (आवयत्) चबा डालता है । परमात्मा के दोनों जबाड़े आकाश और पृथ्वी हैं । इन दोनों तरफ से दुष्ट पुरुषों पर नाना आपत्तियां पड़ती हैं और वे नष्ट हो जाते हैं ।

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ॥ ३ ॥

भा०—(ये) जो पुरुष (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण की ओर (प्रति

अष्ठीवन्) घृणा से थूकते, उसका अपमान करते हैं और (ये वा) जो लोग (अस्मिन्) इस वेदवित् ब्राह्मण पर (शुल्कम् ईषिरे) किसी प्रकार का कर बैठाते हैं (ते) वे गर्वी और लोभी पुरुष (अस्नः) रुधिर की (कुल्यायाः) धारा के (मध्ये) बीच में (केशान् खादन्तः) क्लेशों को भोगते (आसते) रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मण का अपमान करके वे परस्पर लड़ाई से एक दूसरे का गला काटते और नाना क्लेश भोगते हैं।

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा॥ ४॥

भा०—(सा) वह (ब्रह्मगवी) ब्रह्मशक्ति विद्या और ब्राह्मणों की वाणी या ब्राह्मणरूप स्वयं गौ (पच्यमाना) दुःख पाती हुई (यावत्) जब तक (अभि वि जङ्गहे) तड़फती रहती है तब तक वह (राष्ट्रस्य तेजः) राष्ट्र के तेज को (निर्हन्ति) समूल नाश किया करती है यहां तक कि (वीरः वृषा न जायते) वीर, धार्मिक, पुरुष उस राष्ट्र में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, राष्ट्र में सच्चे धार्मिक उत्पन्न नहीं होते।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम्॥ ५॥

भा०—(अस्याः) इस ब्रह्म की वाणी का (आशसनम्) घात करना भी (क्रूरं) बड़ी क्रूरता का कार्य है। (पिशितम्) और चमड़े की न्याईं उसकी उधेड़-बुन भी (अस्यते) जो की जाती है वह (क्रूरं तृष्टम्) वास्तव में क्रूर तृष्णा की न्याईं दुःख देने वाली है और (यद्) जो (अस्याः) इस प्रकार पीड़ित हुई ब्राह्मण की वाणी का (क्षीरं पीयते) दूध अर्थात् उपदेशामृत नष्ट किया जाता है वह (पितृषु) राष्ट्र के पालक शासकों के लिये (किल्बिषम्) भारी पापजनक होता है। अर्थात् ब्राह्मण की वाणी की हत्या करना बड़ी क्रूरता का कार्य है।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥

भा०—(यः) जो (उग्रः राजा) बलशाली राजा (मन्यमानः) अभिमानी होकर (ब्राह्मणं) वेदवित्, ब्राह्मण को (जिघत्सति) खा जाना या हड़प जाना चाहता है (तत्) उसका राष्ट्र (परा सिच्यते) सम्पत्ति से शून्य हो जाता है, इसी प्रकार (यत्र) जहां (ब्राह्मणः जीयते) ब्राह्मण कष्ट को प्राप्त होता है वह राष्ट्र भी (परा सिच्यते) शत्रु से पराजित होता और निर्धन हो जाता है। उसको शत्रु लूट लेते हैं।

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।
द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥७॥

भा०—प्रकुपित ब्राह्मणरूप गौ का स्वरूप। (सा) वह ब्राह्मणरूप गौ (अष्टा-पदी) आठ पैरों, (चतुरक्षी) चार आंखों और (चतुः श्रोत्रा) चार कानों और (चतुर्हनुः) चार दाढ़ों, (द्व्यास्या) दो मुहों और (द्विजिह्वा) दो जीभों वाली (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्य = ब्राह्मण के विनाशकारी राजा के (राष्ट्र) राष्ट्र को (अवधूनुते) धुन डालती है। आठ अमात्य उसके पैर हैं, चार वर्ण उसके चार आंख, चार आश्रम उसके चार कान हैं, चारों प्रकार की सेना चार हनु हैं, भीतरी और बाह्य शत्रु दो मुख हैं, उभयपक्ष के दूत उसकी दो जिह्वाएं हैं। वे सब उस राष्ट्र को नष्ट कर देते हैं।

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥

भा०—(यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणं) विद्वान्, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को (हिंसन्ति) विनाश करते हैं (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को भी (दुच्छुना) दुष्ट विपत्ति, आधि, व्याधि, (हन्ति) विनाश करती है और (भिन्नाम् इव नावम्) जिस प्रकार टूटी फूटी नाव में (उदकम् आ स्रवति) पानी तह

फोड़ कर भीतर आ जाता है उसी प्रकार (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र को फोड़ कर शत्रु भी भीतर आ घुसता है और नाश कर डालता है।

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

भा०—हे (नारद) मनुष्यों को आश्रय देने हारे पालक ! राजन् ! (यः) जो (ब्राह्मणस्य) विद्वान् ब्राह्मण के (सत् धनम्) सत् धन, विद्या और तप को (अभि मन्यते) हथियाना चाहता है (वृक्षाः) वृक्ष तुल्य आश्रयदाता क्षत्रियगण भी (तम् अप सेधन्ति) उसको दुरदुरा देते हैं कि (नः) हमारी (छायां) छाया, शरण में भी (मा उप गाः इति) तू मत आ ।

विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥

भा०—(वरुणः) सबसे श्रेष्ठ (राजा) राजा (अब्रवीत्) यह उपदेश करता है कि (एतत्) यह ब्राह्मण का धन (देव-कृतं) विद्वानों के निर्णय के अनुसार (विषम्) विष ही है । (ब्राह्मणस्य) इसलिये ब्राह्मण की (गां) सम्पत्ति, भूमि, गौ, धन, वृत्ति आदि को (जग्ध्वा) हड़प कर (कः-चन) कोई भी (राष्ट्रे) राष्ट्र में (न जागार) जीवित, जागृत नहीं रह सकता है। 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विमुच्यते ।' विष विष नहीं, ब्राह्मण का धन विष है । इसको खाकर कोई जी नहीं सकता ।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥
५ । १८ । १२ ॥

भा०—(नव नवतयः) ९ गुना ९९ अर्थात् अनगिनत वे पापी पुरुष हैं (याः) जिनको (भूमिः) भूमि स्वयं (वि-अधूनुत) विनाश कर डालती है। वे सब (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण की (प्रजां) प्रजा को (हिंसित्वा)

विनाश करके (असम्-भव्यं) बुरी तरह से (परा अभवन्) पराजित होते हैं ।

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥

भा०—(यां) जिस (पदयोपनीं) पैरों को कष्ट देने वाली (कूद्यं) कांटेदार बेड़ी या कड़ी को (मृताय) मृत्यु दण्ड के लिये (अनु बध्नन्ति) शासक लोग बांधते हैं । हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाशक ब्रह्मशत्रो ! (देवाः) विद्वान् लोग (तत् वै) उन कांटों वाली बेड़ी को ही (ते उप स्तरणम्) तेरा सेज बनाने का (अब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥

भा०—हे ब्रह्मज्य ! ब्राह्मण के नाश करने वाले ! (यानि) जो (अश्रूणि) आंसू (कृपमाणस्य) कलपते हुए (जीतस्य) दुःखित पुरुष के (वावृतुः) निकलते हैं (देवाः) विद्वान् लोग (तं अपां भागं वै) उस जल भाग को (ते अधारयन्) तेरे लिये भी बतलाते हैं । अर्थात् ब्रह्मघाती पुरुष को इतना कष्ट देना चाहिये जिससे कि वह कलपे और रोता रहे ।

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥

भा०—(येन) जिससे (मृतं स्नपयन्ति) मरे मुर्दे को निहलाते हैं और (येन) जिससे मुर्दे की मोंछ दाढ़ी के बाल (उन्दते) गीले किये जाते हैं । हे (ब्रह्मज्य) ब्रह्मघातिन् ! (देवाः) देव विद्वान् लोग (तं) उस (अपां भागं) जल भाग को (ते) तेरे लिये भी (अधारयन्) नियत करते हैं । अर्थात् ब्रह्मघाती को भी मृत्यु दण्ड देकर उसके मलिन जल से निहलाने धुलाने, पीने का दण्ड दिया जाय ।

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

भा०—(ब्रह्मज्यं) ब्रह्महत्यारे के राष्ट्र में (मैत्रावरुणं वर्षं) मित्र और वरुण, ब्राह्मण और क्षत्रिय के सम्मिलित शासन की सुखवर्षा (न अभि वर्षति) नहीं बरसती । (अस्मै) इस ब्रह्मद्रोही की (समितिः) राष्ट्र सभा भी (न) नहीं (कल्पते) सामर्थ्यवान् होती और (मित्रं) मित्र राष्ट्र भी (वशं) उसकी इच्छा के अनुकूल (न नयते) कार्य नहीं करते । उसके राष्ट्र में सुख नहीं होता, उसकी राष्ट्रसभा टूट जाती है और मित्र-राष्ट्र फूट जाते हैं ।

---

(२०) दुन्दुभि या युद्धवीर राजा का वर्णन ।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । सपत्नसेनापराजयाय देवसेनाविजयाय च दुन्दुभिस्तुतिः । १ जगती, २-१२ त्रिष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

भा०—नगारे के दृष्टान्त से राजा को विजय का उपदेश । जिस प्रकार (वानस्पत्यः) वनस्पति, काठ का बना हुआ, (उच्चैर्घोषः) ऊंचे २ आवाज वाला, (उस्त्रियाभिः संभृतः) चमड़ों से मढ़ा हुआ (दुन्दुभिः) बड़ा नगारा (सत्वना-यन्) बलवान् शूरवीर के समान गर्जता है और शत्रुओं के दिल दहलाता है, उसी प्रकार हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः) वन अर्थात् सेवा करने हारी, उपभोग्य प्रजाओं के पालकों में से सेनापति पद पर प्राप्त होकर (उस्त्रियाभिः) वास करने वाली प्रजाओं से कर आदि द्वारा (संभृतः) परिपुष्ट होकर नगारे के समान (उच्चैः घोषः) ऊंचे २ विजय की घोषणा करता हुआ, (सत्वनायन्) बलवान् शूर-वीर के समान, (वाचं क्षुणुवानः) आज्ञाएं देता हुआ और (स-पत्नान् दमयन्)

शत्रुओं को दमन करता हुआ (सिंह इव) शेर के समान (जेष्यन्) विजय चाहता हुआ (अभि तंस्तनीहि) खूब घोर गर्जना कर।

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥२॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नगारे ! तू (द्रुवयः) काष्ठमय होकर एवं (विबद्धः) विविध प्रकार से बंध कर (सिंह इव अस्तानीद्) शेर के समान गर्जता है, हे राजन् ! उसी प्रकार तू भी हथियारों से बंध कर शीघ्र (द्रुवयः) वेगवान् होकर, सिंह के समान गर्जना कर। जिस प्रकार (वासिताम्) रजोगन्ध से युक्त गौ पर (वृषभः इव) वीर्य सेचन में समर्थ सांड (अभिक्रन्दन्) घहराता हुआ जाता है उसी प्रकार (त्वं) तू (वृषा) बलवान्, सर्वश्रेष्ठ (वासिताम्) गन्धमय पृथिवी पर आ। (ते सपत्नाः) तेरे शत्रुगण तेरे सामने (वध्रयः) बधिया बैलों के समान निर्वीर्य, नपुंसक हों, (ते शुष्मः) तेरा बल, पराक्रम (अभिमातिषाहः) अभिमान से सिर उठाने वाले शत्रुओं का पराजय करने वाला (ऐन्द्रः) साक्षात् इन्द्र परमेश्वर या विद्युत् का सा अदम्य हो।

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥३॥

भा०—नगारे के प्रयोजन और क्षत्रिय के कर्तव्य। हे नगारे ! तू घहराते हुए सांड के समान घोर शब्द कर और शत्रुओं के हृदय को वेध डाल, जिससे शत्रुगण अपने देश छोड़ २ कर भाग जायं। जैसे (यूथे वृषा इव) गौओं के रेवडे में बड़ा सांड (गव्यन्) गौओं की कामना करता हुआ (सहसा) अपने बल से गर्जता है उसी प्रकार तू शूरवीर (गव्यन्) भूमियों की कामना करता हुआ (सं-धनाजित्) समस्त धनों को विजय करके (सहसा) अपने प्रबल आघातकारी बल से (विदानः) विजय लक्ष्मी को प्राप्त करता हुआ (अभि रुव) सब तरफ गर्जना कर और (परेषां

हृदयम्) शत्रुओं के हृदय को (शुचा विध्य) शोक से वेध डाल, जिससे (शत्रवः) शत्रु-गण (प्रच्युताः) राज्य से भ्रष्ट होकर (ग्रामान्) ग्रामों को (हित्वा) छोड़कर (यन्तु) चले जावें ।

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥४॥

भा०—हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! उसके समान गर्जना करने वाले राजन् ! तू (दैवीं वाचं) देवों विद्वानों की वाणी को (आ गुरस्व) सब तरफ आघोषित कर और तू (वेधाः) सब कार्यों को स्वयं करने हारा होकर (शत्रूणाम्) शत्रुओं का (वेदः) धन (उप भरस्व) छीन ला और तू (ऊर्ध्व-मायुः) उच्च नाद करता हुआ (पृतनाः संजयन्) शत्रु-सेनाओं का विजय करता हुआ (गृह्याः गृह्णानः) ग्रहण करने योग्य सब पदार्थों का ग्रहण करता हुआ (बहुधा वि-चक्ष्व) नाना प्रकार से सबका निरीक्षण कर ।

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ॥ ५ ॥

भा०—विजय-दुन्दुभि का प्रभाव । हे राजन् ! (दुन्दुभेः) विजय घोषणा करने वाले दुन्दुभि एवं विजयी राजा की, (प्र-यताम्) आगे बढ़ने वाले सेनापतियों को (वन्दतीं) आज्ञा करने वाली, या लड़ाई में उत्साह बचन बोलती हुई (वाचं) वाणी को (आ शृण्वती) सुनती हुई (घोष-बुद्धा) विजय-दुन्दुभि के विजय घोष से जग कर (नाथिता) घबराहट और विपत्ति में पड़ी (अमित्री नारी) शत्रुओं की स्त्री (पुत्रं) अपने पुत्र, को (हस्त-गृह्य) हाथ में पकड़ कर (समरे वधानाम् भीता) युद्ध काल में होने वाले शस्त्र प्रहारों से भयभीत होकर (धावतु) दौड़े ।

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।
अमित्रसेनामभिभञ्जमानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) विजय के नक्कारे ! (पूर्वः) तू युद्ध से पूर्व बजाया जाता है। हे राजन् ! (भूम्याः पृष्ठे) भूमि की पीठ पर तू (वाचं) वाणी (प्र वदासि) बोलता है, आज्ञाएं देता है। तू (रोचमानः) अति शोभायमान होकर (वद) आज्ञा दे और हे दुन्दुभे ! या राजन् ! तू अपने विजय-घोष से (अमित्र-सेनाम्) शत्रु की सेना को (अभि-भञ्जमानः) तोड़ता फोड़ता हुआ, (द्युमत्) चमत्कारकारी, (सूनृता-वत्) मनोहर वाणियों से युक्त संदेश को (वद) बतला।

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम्।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय के नक्कारे ! (इमे नभसी अन्तः) इन द्यौ और पृथिवी, जमीन और आसमान के बीच में (ते घोषः अस्तु) तेरा विजय-घोष हो। (ते ध्वनयः) तेरी आवाजें (पृथक्) अलग २ दिशाओं में (शीभम् यन्तु) शीघ्रता से फैलें। तू (उत्पिपानः) बढ़ २ कर (श्लोककृत्) यश को बढ़ाने वाला (मित्र तूर्याय) मित्र राजाओं की भेरी के लिये (स्वर्धी) उत्तम रीति से सम्पन्न या स्पर्धालु होकर (स्तनय) गर्जना कर और (अभिक्रन्द) खूब आवाज कर।

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥ ८ ॥

भा०—(धीभिः) धारणामयी बुद्धियों या धारण शक्तियों या कर्मों से (कृतः) सुसम्पादित होकर (वाचम् प्र वदाति) तू आवाज कर, आज्ञा कर। तू (सत्वनाम्) सत्वशील, बलवान् पुरुषों के (आयुधानि) हथियारों को (उद्-हर्षय) हर्षित कर, उनमें जान फूंक दे और तु (इन्द्र मेदी) राजा का स्नेही होकर (सत्वनः) वीरों को (नि ह्वयस्व) युद्ध में निमन्त्रण दे और (मित्रैः) मित्र राजाओं से (अमित्रान्) शत्रुओं को (अव जंघनीहि) विनाश कर।

सं॒क्रन्द॑नः प्रव॒दो धृ॒ष्णुषे॑णः प्रवेद॒कृद् ब॑हु॒धा ग्रा॑मघो॒षी ।
श्रेयो॑ वन्वा॒नो व॒युना॑नि वि॒द्वान् की॒र्तिं ब॒हुभ्यो॒ वि ह॑र द्वि॒राजे ॥९॥

भा०—(सं-क्रन्दनः) हे राजन् ! गर्जता हुआ, (प्र-वदः) उत्कृष्ट आज्ञाएं बोलता हुआ, (धृष्णु-सेनः) शत्रु को धर्षण करने वाली सेना को साथ लिये, (प्रवेद-कृद्) उत्तम ज्ञान और धनों को प्राप्त करता हुआ (बहुधा) बहुत प्रकार से (ग्राम-घोषी) ग्रामों में अपने नाद की घोषणा करता हुआ तू (वयुनानि) नाना कर्मों और ज्ञानों को तू स्वयं (विद्वान्) जानता हुआ, (श्रेयः वन्वानः) अति श्रेष्ठ फल प्राप्त करता हुआ, (द्वि-राजे) दो राजाओं के संग्राम में (बहुभ्यः) बहुत से वीरों की (कीर्तिं वि हर) कीर्ति प्राप्त करा और प्राप्त कर ।

श्रेयः॑केतो वसु॒जित् सही॑यान्त्संग्राम॒जित् संशि॑तो॒ ब्रह्म॑णासि ।
अं॒शूनि॑व॒ ग्रावा॑धि॒षव॑णे अद्रि॒र्ग॑व्यन् दु॑न्दुभेऽधि॑ नृत्य॒ वेदः॑ ॥ १० ॥

भा०—(श्रेयः-केतः) श्रेय, अति श्रेष्ठ पद का ज्ञान कराने वाला,. (वसु-जित्) राष्ट्रों, धनों और जनों का विजय करने वाला, (सहीयान्) शत्रुओं का वशकारी होकर (संग्राम-जित्) संग्राम-विजयी होता हुआ तू (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद और वेद के विद्वान् द्वारा (संशितः असि) शक्ति में बड़ा तीक्ष्ण है । (ग्रावा) प्रस्तर, लोढा जिस प्रकार (अधि-सवने) शिला पर (अंशून्) सोमलता के खण्डों को स्वयं (अद्रिः) बिना टूटे कुचल डालता है उसी प्रकार हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! या उसके समान गर्जने वाले राजन् ! तू (गव्यन्) विजय करता हुआ, (वेदः) धन पर (अधि नृत्य) विनाश कर ।

श॒त्रू॒षाण्नी॒षाड॑भिमातिषा॒हो ग॒वेष॑णः सह॑मान उ॒द्भित् ।
वा॒ग्वी॒व॒ मन्त्रं॒ प्र भ॑रस्व॒ वाचं॒ सां॑ग्रा॑मजित्या॒येष॒मुद् व॑दे॒ह ॥११॥

भा०—हे दुन्दुभे ! हे राजन् ! (शत्रूषाड्) शत्रुओं को पराजित करने हारा, (नीषाड्) उन्हें सर्वथा पराजित करने वाला, (अभिमाति-

साहः) अभिमानी शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाला, (गो-एषणः) शत्रुओं का खोज लगाने और भूमि—राष्ट्रों को चाहने वाला, (सहमानः) उनका प्रहार सहने और विनय करने वाला और (उत्-भित्) उनको उखेड़ डालने वाला है, (वाग्वी-इव) जिस प्रकार विद्वान् वाग्मी पुरुष (मन्त्रं) राजसभा में अपना विचार प्रकट करता है उसी प्रकार तू (वाचम्) शुभ वाणी को (प्र-भर) प्रस्तुत कर और (इह) इस संग्राम के अवसर पर (संग्राम-जित्याय) संग्राम के विजय के लिये (इषम्) प्रेरक शक्ति, आज्ञा को (उद् वद) उत्तेजित वा उद्घोषित कर ।

अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएता योध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् १२

भा०—हे राजन् ! (अच्युत् च्युत्) न चूकने वाले, स्थिर, दृढ़ शत्रुओं के भी पैर उखाड़ देने, उनको विचलित करने वाला होकर, तू (सः-मदः) सहर्ष (गमिष्ठः) युद्ध यात्रा करने में सबसे बड़ा है । इसलिये तू (मृधः जेता) शत्रुओं का विजयी और (अयोध्यः) अजेय होकर (पुरः एता) सामने मैदान में निकल आ । तू (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्र अर्थात् सेनापति से सुरक्षित (विदथा) समस्त जानने योग्य कर्मों को (नि-चिक्यत्) भली प्रकार जानता हुआ, (द्विषतां हृत्-द्योतनः) शत्रुओं के हृदयों को चौंकाने वाला होकर (शीभम्) शीघ्रता से (याहि) युद्ध-यात्रा कर ।

---

(२१) युद्धविजयी राजा को उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः । वानस्पत्यो दुन्दुभिर्देवता । आदित्यादिरूपेण देवप्रार्थना च । १, ४, ५ पथ्यापंक्तिः । ६ जगती । ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । १२ त्रिपदा यवमध्या गायत्री । २, ३, ७—१० अनुष्टुभः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे ।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) द्वन्द्व = संग्राम में चमकने वाले राजन् ! तू (अमित्रेषु) शत्रुओं में (वि-हृदयं) विरुद्ध हृदयता और (वैमनस्यम्) विरुद्ध चित्तता, फूट का (वद) उपदेश कर । हम (अमित्रेषु) शत्रुओं के बीच में (वि-द्वेषं) भेद, फूट, (कश्मशं) मनमुटाव और (भयम्) डर को (नि दध्मसि) पैदा करें, डाल दें, और तू (एनान्) इन शत्रुओं को (अव जहि) नीचे गिरा कर मार, उनके दिल तोड़ ।

उद् वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।
धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥

भा०—(आज्ये हुते) अग्नि में घी की आहुति पड़ जाने पर अर्थात् युद्ध में परस्पर की द्वेषाग्नि में एक बार शस्त्र उठ जाने या धावा बोले जाने पर ही (अमित्राः) शत्रु लोग (प्र-त्रासेन) खूब डर के कारण (बिभ्यतः) भयभीत और (मनसा) मन से (चक्षुषा) आंखों से और (हृदयेन) हृदय से (उद्वेपमानाः) थर थर कांपते हुए (धावन्तु) रण से भाग जायं ।

तेजो वा आज्यम् । तै० ३ । ९ । ४ । ६ ॥ वज्रो वा आज्यम् । २० । ३ । ६ । ४ । १५ ॥ यदाजिमायन् तदाज्यानामाज्यत्वम् । ता० ७ । २ । १ ॥ इत्यादि ब्राह्मण निर्वचनों से आज्य = राजा का तेज, वीर्य । वज्र = तलवार और आजिधावन अर्थात् रण में शत्रु पर आक्रमण ये आज्य के शब्दार्थ हैं और मुहावरा 'आग में अहुति पड़ना, मात्र है ।

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

भा०—हे दुन्दुभे ! नकारे ! तू जिस प्रकार (वानस्पत्यः) लकड़ी का बना हुआ होकर भी (उस्रियाभिः संभृतः) चाम के तस्मों से जकड़ा हुआ (विश्वगोत्र्यः) समस्त जन का बन्धु है । वह (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आज्येन अभि-घारितः) घृत द्वारा अभिषिक्त होकर (प्र-त्रासं वद) भय

और आतङ्क बतला। हे राजन् ! तू (वानस्पत्यः) सूर्यवत् वा काष्ठ से उत्पन्न अग्नि के तुल्य एवं ऐश्वर्यों के स्वामि-पद के योग्य है और (उस्रियाभिः सम्भृतः) किरणों के तुल्य उन्नतिशील प्रजाओं और सेनाओं से पुष्ट होकर ही (विश्वगोत्र्यः) समस्त गोत्रों और वंशों के समान है। तू (आज्येन अभिघारितः) तेज और शस्त्रों से प्रकाशमान होकर (अमित्रेभ्यः प्र-त्रासं वद) शत्रुओं को भय का संदेश सुना।

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥४॥

भा०—हे दुन्दुभे ! विजय का नाद करने वाले मारू बाजे या राजन् ! (यथा आरण्याः मृगाः) जिस प्रकार जंगल के मृग (पुरुषात् अधि) पुरुष से (संविजन्ते) भय से व्याकुल होकर भागते हैं, (एवा) इसी प्रकार (त्वं) तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (अभिक्रन्द) अपनी आवाज सुना, (प्र त्रासय) और उनको खूब भय दिला, (अथो) और (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) मोह में डाल दे।

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः।
एवा० ॥ ५ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अज-अवयः) भेड़ और बकरियां (वृकाद्) भेड़िये से (बहु बिभ्यतीः) खूब भयभीत होकर (धावन्ति) भागती हैं (एवा त्वं दुन्दुभे०) इसी प्रकार हे नक्कारे ! वा राजन् ! तू शत्रुओं को गर्जना सुना, उनको भयभीत कर और उनके चित्तों को मोहित कर दे।

यथा श्येनात् पतत्रिणः सं विजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥६॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पतत्रिणः) पक्षिगण (श्येनात्) बाज से (सं-विजन्ते) भय से व्याकुल हो जाते हैं या (अहर्दिवि) दिनों दिन (यथा) जिस प्रकार पशुगण (सिंहस्य) शेर की (स्तनथोः) दहाड़ से

व्याकुल होकर भागते हैं । हे (दुन्दुभे) नकारे के समान गर्जनशील वीर ! (एवा त्वं अमित्रान् अभिक्रन्द) उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं पर गर्जना कर । (प्र त्रासय, अथो चित्तानि मोहय) उनको खूब भयभीत कर और उनके चित्तों को मूढ़ कर दे ।

परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥

भा०—नकारा बजाने का प्रकार—(ये) जो (संग्रामस्य) संग्राम करने में (ईशते) समर्थ हैं वे (सर्वे देवाः) समस्त देव, विद्वान्, दिव्य, तेजस्वी पुरुष (हरिणस्य अजिनेन) हरिण के चर्म के बने (दुन्दुभिना) नक्कारे से (च) ही (अमित्रान् परा अतित्रसन्) शत्रु लोगों को दूर से डरा भगाते हैं ।

यैरिन्द्रः प्र क्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

भा०—(इन्द्रः) सेनापति (यैः पद्-घोषैः) चरणों के जिन घोर घोषों से और (छायया) छाया, आच्छादन शक्ति, आवरणकारी साधनों, मोर्चाबन्दियों से (प्र-क्रीडते) रणक्रीड़ा करता है (तैः) उनसे (नः अमित्राः) हमारे शत्रु लोग (ये अनीक-शः यन्ति) जो सेनाओं के दस्ते बना २ कर चलते हैं (त्रसन्तु) वे भी भय खावें ।

ज्याघोषा दुन्दुभयोभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

भा०—हमारी (ज्या-घोषाः) धनुष की डोरियों की आवाजें और (दुन्दुभयः) भेरियां (याः दिशः) जिन दिशाओं में भी (अभि क्रोशन्ति) शत्रुओं को ललकारें उन्हीं दिशाओं में (अमित्राणां) शत्रुओं की (अनीकशः) दस्तों की दस्तें (सेनाः) सेनाएं (यतीः) जाती २ (परा-जिताः) पराजित हो जायं ।

आदित्य चक्षुरादत्स्व मरीचयोनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

भा०—हे आदित्य ! सूर्य ! तू (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुओं की चक्षु को हर ले और हे (मरीचयः) किरणो या सुभटो ! तुम शत्रुओं के (अनु वात) पीछे जाओ और (बाहु-वीर्ये वि-गते) जब बाहु का बल टूट जाय तब (पत्-सङ्गिनीः) पैरों में पड़ने वाली रस्सियां, शत्रुओं के पैरों में (आ सजन्तु) लग जावे । शत्रु की आंखों को सूर्य किरणों से चकाचौंध कर दे और सूर्य किरणों या विद्युत् धाराओं के समान वेगवान् सुभटों को शत्रु की भागती सेना पर छोड़े, जब उनके बाहुबल टूट जायं तब उनके पैरों में बेड़ियां बांध कर उनकी मुश्कें कस ले ।

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

उत्तरार्धः अथर्व० १३ । १ । ३ प्र०, द्व० ॥

भा०—हे (उग्रः मरुतः) प्रबल वायुओं के समान मृत्यु के लाने वालो ! हे (पृश्निमातरः) आदित्य अर्थात् सूर्य समान तेजस्वी सेनापति को अपना मुखिया बनाने वाले वीर पुरुषो ! आप लोग (इन्द्रेण) अपने ऐश्वर्यशील सेनापति, इन्द्र को (युजा) साक्षी बनाकर (शत्रून् प्रमृणीत) अपने शत्रुओं को खूब कुचल डालो । वह (राजा सोमः) राजा 'सोम' है, वही (वरुणः) वरुण है, (महादेवः इन्द्रः उत मृत्युः) वही महादेव, सबसे बड़ा तेजस्वी, दानी, योद्धा इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् और वही साक्षात् मृत्यु अर्थात् दुःखों से छुड़ाने और शत्रुओं को मारने वाला है ।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—(एताः) ये (देव-सेनाः) विद्वान्, योद्धा, वीर पुरुषों की सेनाएं (स-चेतसः) समान चित्त होकर युद्ध करने वाली (सूर्यकेतवः)

सूर्य की ध्वजा वाली, अथवा सूर्य किरणों के समान तीव्र गति वाली होकर (नः अमित्रान्) हमारे शत्रुओं को (जयन्तु) जीतें, (स्वाहा) यह हमारी उत्तम यज्ञाहुति है।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

---

(२२) ज्वर का निदान और चिकित्सा ।

भृग्वङ्गिरसो ऋषयः । तक्मनाशनो देवता । १, २ त्रिष्टुभौ । (१ भुरिक्) ५ विराट् पथ्याबृहती । चतुर्दशर्चं सूक्तम् ॥

अ॒ग्निस्त॒क्मान॒मप॑ बाधतामि॒तः सोमो॒ ग्रावा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षाः ।
वेदि॑र्ब॒र्हिः स॒मिधः॒ शोशु॑चाना॒ अप॒ द्वेषां॑स्यमु॒या भ॑वन्तु ॥ १ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि, (सोमः) सोम, (ग्रावा) सोम को कूटने वाले पत्थर, (वरुणः) वरुण ये सब (पूतः-दक्षाः) पवित्र बल वाले हों और (वेदिः) यज्ञमय वेदि, (बर्हिः) धान्य या कुशा, (समिधः) काष्ठ, लकड़ियां (शोशुचानाः) देदीप्यमान होकर (तक्मानम्) ज्वर को (अप बाधताम्) दूर करें, आने से रोकें और हमारे (द्वेषांसि) द्वेष के पात्र, जिनको हम अच्छा नहीं समझते वे (अप भवन्तु) दूर रहें । अग्नि = उष्ण गुण के पदार्थ, सोमः = शीत गुण के पदार्थ, ग्रावा = वह पदार्थ जो इन दोनों पदार्थों को अपने में घोल लें, वरुणः = जलमय पदार्थ, वेदिः = शरीर स्वतः, बर्हिः = ओषधियां और समिधः = काष्ठ इन सब तेजस्वी पदार्थों के समुचित प्रयोग से ज्वर का विनाश करना चाहिये ।

अ॒यं यो विश्वा॒न् हरि॑तान् कृ॒णोष्यु॑च्छो॒चय॑न्न॒ग्निरि॑वाभि॒दुन्व॑न् ।
अधा॒ हि त॑क्मन्नर॒सो हि भू॒या अधा॒ न्य॑ङ्ङध॒राङ् वा॒ परे॑हि ॥२॥

भा०—ज्वर का रूप—(अयं) यह तू ज्वर (विश्वान्) सब पुरुषों को और (उत्-शोचयन्) उनको तपा २ कर (अग्निः-इव) आग के समान (अभि-दुन्वन्) कष्ट देता हुआ (हरितान्) पीला (कृणोषि)

कर देता है, कान्ति नष्ट कर देता है। (अध) इसलिये हे (तक्मन्) ज्वर ! पीड़ादायक ! (अरसः हि भूयाः) तू रस = बल से हीन ही हो जा (अधा न्यङ् एहि) और नीचे हो जा, (अधराङ्-एहि) उतर जा (वा) और (परा-इहि) दूर हो जा। ज्वर तपाकर मनुष्यों की कान्ति नष्ट करता है। उसके जोर को नष्ट करे और तपांश को नीचा करके दूर करे।

यः परुषः पौरुषेयोऽवध्वंस इवारुणः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ॥ ३ ॥

अथर्व० १९ । ३९ । १० । तृ० च० ॥

भा०—हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकार के वीर्य को धारण करने वाले वैद्य ! अथवा औषधे ! तू (तक्मानं) ज्वर को (अधराञ्चं) नीचे (परासुव) करके दूर भगा दे। (यः) जो ज्वर (परुषः) पर्व २, शरीर के पोरु २ में बसा हुआ है। (पारुषेयः) या पर्व २ में बसे कारणों से उत्पन्न होता है (अरुण इव) और अरुण = अग्नि के समान (अव-ध्वंसः) देह को जला कर नष्ट करने वाला है। उसको (विश्वधा-वीर्या अधराञ्चं परासुव) बहुत प्रकार के बल या शक्तियों वाली औषधि से नष्ट करो।

'विश्वधावीर्या ओषधि'—'विश्वा' है, इस नाम से सूर्य और अतिविषा (अतीस–Aconite Nap.) दोनों का ग्रहण होता है।

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने ।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥

भा०—मैं वैद्य (तक्मने) ज्वर को (नमः कृत्वा) नमाने, नीचे कर देने और दबा देने वाली ओषधि से दबा कर (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे ही उतारता हूँ। (शकंभरस्य) शक्ति को धारण करने वाले बलवान् पुरुष को भी (मुष्टि-हा) मानो मुक्कों से मारने वाला यह ज्वर (महा-वृषान्) बड़े २ वीर्यवान् पुरुषों को भी (पुनः एतु) बार बार आ जाता है।

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः ।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥

भा०—(अस्य) इस ज्वर के (ओकः) स्थान (मूज-वन्तः) मूंज वाले प्रदेश हैं और (अस्य) इसके (ओकः) स्थान (महावृषाः) अधिक वर्षा के देश हैं। अथवा (अस्य ओकः मूज-वन्तः) इसके निवास के स्थान कमजोर देहधारी भी हैं और (अस्य ओकः महावृषः) इसके निवासस्थान बलवान् लोग भी हैं। (तक्मन् यावत् जातः) हे ज्वर! जितना २ तू होता है (तावान्) उतना २ तू (बल्हिकेषु) बली पुरुषों में भी (नि-ओचरः असि) शनैः २ जमता चला जाता है। ऐतिहासिक पक्ष के विद्वान् मूंजवान् पर्वत, महावृषा, बल्हिक इन शब्दों से जनपदों का ग्रहण करते हैं, सो उनकी भूल है।

तक्म॑न् व्याल॒ वि गद॒ व्य॑ङ्ग भूरि॑ यावय।
दासीं॒ निष्टक्व॑रीमिच्छ॒ तां वज्रे॑ण॒ सम॑र्पय ॥ ६ ॥

भा०—हे (तक्मन्) दुःखदायक ज्वर! हे (व्याल) सर्प के समान विष रूप से शरीर में फैलने वाले! हे (वि-गद) विषमज्वर। हे (वि-अङ्ग) शरीर को विकृत करने वाले ज्वर! (भूरि यवय) तू हमसे बहुत दूर रह। तू (निः-तक्वरीम्) खूब ज्वर को फैलाने वाली, खूब पीड़ादायक (दासीम्) काटने वाली, मच्छर जाति को (इच्छ) चाहता है और (तां) उसी को (वज्रेण) अपने रोग पीड़ादायक हथियार से (सम्-अर्पय) समृद्ध करता है।

तक्म॑न् मू॒ज॑वतो गच्छ॒ बल्हि॑कान् वा प॒रस्त॒राम्।
शू॒द्राम॑िच्छ प्रफ॒र्व्यं॑ तां त॑क्मन् वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर! तू (मूजवतः) प्रथम निर्बल, छोटे छोटे प्राणियों को (गच्छ) प्राप्त होता है (वा) और (बल्हिकान्) बलवानों को और (परः तराम्) उनसे भी अधिक शक्ति वालों को भी प्राप्त होता है। तू (प्र-फर्व्यम्) नवयुवती (शूद्राम्) काटने वाली कीट जाति को (इच्छ) प्राप्त होकर (तां वि-इव धूनुहि) उसको मानो सदा चञ्चल बनाये रखता है। वह जगह २ उड़ २ कर बैठती, काटती और विष फैलाती रहती है।

म॒हा॒वृ॒षान् मू॒ज॑वतो॒ बन्ध्व॑द्धि प॒रेत्य॑ ।
प्रैता॑नि त॒क्मने॑ ब्रूमो अ॒न्यक्षे॒त्रा॑णि वा इ॒मा ॥ ८ ॥

भा०—(महा-वृषान्) बड़े बलवान् (मूज-वतः) देहधारियों को (बन्धु) अपना बन्धु बना कर तू (अद्धि) खाता है और प्राणियों का नाश करता है। (एतानि) ये तो (तक्मने) ज्वर के क्षेत्र हैं ही । इनसे (अन्य-क्षेत्राणि) अन्य स्थान या देह भी या (इमा) ये हैं, इनको भी ज्वर के क्षेत्र ही हम (प्र-ब्रूमः) बतलाते हैं।

अ॒न्यक्षे॒त्रे न र॑मसे व॒शी सन् मृ॑डयासि नः ।
अभू॑दु॒ प्रार्थ॑स्त॒क्मा स ग॑मिष्यति॒ बल्हि॑कान् ॥ ९ ॥

भा०—(अन्य-क्षेत्रे) मनुष्य से अतिरिक्त शरीर में (न रमसे) तू बहुत क्रीड़ा नहीं करता। (वशी सन्) जब तू वश में कर लिया जाता है (नः मृडयासि) तव तू हमें सुख भी देता है। तब तू (तक्मा) कष्टदायी ज्वर (प्र-अर्थः अभूत् उ) प्रबल हो जाता है तब (सः) वह तू (बल्हिकान्) बल्हिक अर्थात् बलवान् देहों में भी (गमिष्यति) चला जाता है, प्रवेश कर जाता है ।

यत् त्वं शी॒तोऽथो॑ रू॒रः स॒ह का॒सावे॑पयः ।
भी॒मास्ते॑ तक्मन् हे॒तय॒स्ताभिः॑ स्म॒ परि॑ वृङ्ग्धि नः ॥१०॥

भा०—(यत्) जब (त्वं शीतः) तू शीत है, सर्दी देकर आता है (अथो रूरः) तब अधिक पीड़ादायक या तापदायक होता है और (कासा सह) खांसी के साथ तू शरीर को (अवेपयः) कंपा डालता है। हे (तक्मन्) ज्वर ! (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (भीमाः) बड़े भयानक हैं। (ताभिः) उनसे (नः) हमें (परि वृङ्धि स्म) बचाये रख । अग्निर्वैरूरः। तां० ७ । ५ । १० ॥

मा स्मै॒तान्त्सखी॑न् कुरुथा ब॒लासं॑ का॒सम॑द्यु॒गम् ।
मा स्मा॒तोऽर्वा॒ङैः पुन॒स्तत् त्वा॑ तक्म॒न्नुप॑ ब्रुवे ॥ ११ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! तू (बलासं) कफ, (कासम्) खांसी और (उद्-युगम्) क्षयी (एतान्) इन रोगों को (सखीन्) अपना साथी, संगी, मित्र (मा स्म कुरुथाः) मत बना । (अतः अर्वाङ्) अब से आगे (मा स्म ऐः) तू मत आ । हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा) यह तुझे (पुनः उप ब्रुवे) मैं बार बार कहता हूँ ।

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (तक्मन्) ज्वर ! (भ्रात्रा) तुझे पुष्ट करने वाले (बलासेन) कफ और (स्वस्रा) भगिनी के समान कफ के साथ २ स्वयं आ जाने वाली (कासिकया सह) खांसी के साथ और (भ्रातृव्येण) अपने परिपोषक भाई के समान कफ से उत्पन्न होने वाले अन्य (पाप्मा = पाप्मना) दुःख-कारी, रोग के साथ तू (अमुम्) उस २ अर्थात् नाना प्रकार के (अरणं) मलिन, गन्द (जनम्) पुरुष को (गच्छ) प्राप्त हो । ज्वर नाना व्याधियों के सहित अस्वच्छ आदमी को चिपटता है । उसको खांसी, कफ और चर्मरोग-खुजली भी उत्पन्न करता है ।

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (तृतीयकम्) तीसरे दिन आने वाले (वि-तृतीयकम्) दो दिन का अन्तर देकर आने वाले (सदन्दिम्) निरन्तर रहने वाले (उत शारदम्) या शरत्-काल में होने वाले, (शीतं) या शीत देकर आने वाले (रूरं) पीड़ा या तीव्र ताप, जलन उत्पन्न करके देह तोड़ने वाले या (ग्रैष्मं) गर्मी से उत्पन्न होने वाले या (वार्षिकम्) वर्षा-काल में होने वाले (तक्मानं) ज्वर को (नाशय) विनाश कर ।

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

भा०—(जनम् प्र-एष्यम् इव) जिस प्रकार एक देश से दूसरे देश

को आदमी भेज दिया जाता है या (शेवधिम्) खजाना जिस प्रकार एक के पास से दूसरे के पास पहुँच जाता है उसी प्रकार हम लोग (तक्मानं) इस ज्वर को (गन्धारिभ्यः) बदबू वालों के पास (मूजवद्भ्यः) निर्बल-शरीर वालों के पास (मगधेभ्यः) दोषयुक्त कुपथ्यकारियों के पास और (अंगेभ्यः) पराश्रय जीवन बिताने वाले दुर्बलों के पास (परि दद्मसि) दे दिया करते हैं। अर्थात् रोग उक्त प्रकार के लोगों में संक्रमित हो जाता है।

---

(२३) रोगकारी जन्तुओं के नाश का उपदेश ।

कण्व ऋषिः । क्रिमिजम्भनाय देवप्रार्थना । इन्द्रो देवता । १—१२ अनुष्टुभः । १६ विराट् । त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती ।
ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ क्रिमिं॑ जम्भयता॒मिति॑ ॥ १ ॥

अथर्व० । ६ । ६४ । ३ । प्र० द्वि० तृ० ॥

भा०—रोगकारी कीटों का नाश—(द्यावापृथिवी) द्यौः = सूर्य और पृथिवी (आ-उते) परस्पर सम्मिलित होकर और (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) यह वाणी, या जलधारा, या नदी (आ-उता) संगत होकर और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र, विद्युत् और अग्नि ये दोनों भी (आ-उतौ) परस्पर मिलकर (क्रिमिं) रोगकारी जन्तुओं का (मे) मेरे लिये (जम्भयताम्) विनाश करें। सूर्य की किरण, मिट्टी, तीव्र वाणी या जलधारा, बिजली, अग्नि ये सब परस्पर मिलकर नाना प्रकार से रोगकीटों का नाश करते हैं।

अ॒स्येन्द्र॑ कुमा॒रस्य॒ क्रिमी॑न् धनपते जहि ।
ह॒ता विश्वा॒ अरा॑तय उ॒ग्रेण॒ वच॑सा॒ मम॑ ॥ २ ॥

भा०—हे (धनपते) समृद्धिसम्पन्न ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) सूर्य ! वायो ! विद्युत् ! (अस्य) इस (कुमारस्य) बालक के (क्रिमीन्) रोगकारी जन्तुओं

को (जहि) तू नाश कर। (मम) मेरे (उग्रेण) बलपूर्वक कहे गये (वचसा) उपदेश या वचन-बल से (विश्वाः अरातयः) सब दुःखकारी पीड़ाएं (हताः) विनष्ट होती हैं।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भा०—(यः) जो कीट (अक्ष्यौ) आंखों पर (परि-सर्पति) आक्रमण करता है, (यः) और जो (नासे) नाकों में (परि-सर्पति) घुस जाता है। (यः) और जो (दतां मध्यं गच्छति) दांतों के बीच में चला जाता है, (तं क्रिमिम्) उस क्रिमि = कीटाणु को (जम्भयामसि) हम विनाश करें।

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

भा०—कीटों के रूपों की पहचान। (सरूपौ द्वौ) समान रूप वाले दो, (विरूपौ द्वौ) भिन्न २ रूप वाले दो, (कृष्णौ द्वौ) काले या काटने वाले दो, (रोहितौ द्वौ) लाल रंग के या बढ़ने वाले दो, (बभ्रुः च) भूरे वर्ण के (बभ्रु-कर्णः च) और भूरे कान वाले, (गृध्रः) मांस के लोभी और (कोकः च) भेड़िया के स्वभाव के (ते हताः) ये सब कीट विनष्ट किये जायं।

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

भा०—(ये) जो (क्रिमयः) क्रिमि, कीट (शिति-कक्षाः) श्वेत कोख वाले हैं और (ये कृष्णाः) जो काले हैं और जो (शितिबाहवः) सफेद पैरों वाले हैं और (ये के च विश्व-रूपाः) जो कोई नाना रूप हैं। (तान् क्रिमीन्) उन क्रिमियों का हम (जम्भयामसि) विनाश करें।

उत पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

प्र० द्वि० ऋ० १। १९१। ८॥

भा०—सूर्य चिकित्सा। (सूर्यः) सूर्य (उत) भी (पुरस्तात्) ठीक सामने से (एति) आवे, अपना प्रकाश डाले तो वह सूर्य (विश्व-दृष्टः) सबके दर्शनगोचर होकर (अदृष्ट-हा) न दीखने वाले रोग-कीटों का नाश करता है, वह तीक्ष्ण किरणों से (दृष्टान् च) दीखने वाले और (अदृष्टान् च) न दीखने वाले (सर्वान् च) और सब (क्रिमीन्) कीटों का (घ्नन्) विनाश और (प्र-मृणन्) उच्छेद करता है।

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

भा०—(येवाषासः) येवाष, (कष्कषासः) कष्कष, (एजत्काः) एजत्क और (शिपवित्नुकाः) शिपवित्नुक, ये नाना प्रकार की रोगकीट जातियां और (दृष्टः च) दिखाई देने वाला (उत) और (अदृष्टः च) न दीखने वाला रोगकीट भी (हन्यताम्) मार दिया जाय।

येवाष = सरक सरक कर चलने वाले, गिण्डोये, कष्कषासः = देह को घिस घिस कर चलने वाले, (एजत्काः) थोड़ा कांपने वाले (शिपवित्नुकाः) मूल भाग, जघन भाग से वस्तु को पकड़ने वाले।

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥

भा०—उक्त प्रकार के विषैले जन्तुओं का नाश। (क्रिमीणां) रोगकारक क्रिमियों में से (येवाषः) सरक सरक कर चलने वाला कृमि (हतः) मारा जाय। (उत) और (नदनिमा) शब्द करने वाला, चिर-चिराने वाला जन्तु भी (हतः) मार जाय। (दृषदा) शिला या चक्की के पाट से (खल्वान् इव) चनों को जिस प्रकार दल दिया जाता है उसी प्रकार मैं वैद्य भी उन रोगकारी (सर्वान्) समस्त कीटों को (मष्मषा अकरम्) विनष्ट कर डालूं।

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

द्वि तृ० च० अथर्व० २ । २३ । २ द्वि० च० ॥

भा०—(त्रि-शीर्षाणम्) तीन शिरों वाले, (त्रि-ककुदं) तीन कुहान वाले, (सारंगम्) सारंग चित्रवर्ण वाले या खाखी रंग के (अर्जुनं) और श्वेत वर्ण के (क्रिमिं) जन्तु को (शृणामि) विनाश करूं और (अस्य) इस प्रकार के रोगकीट की (पृष्टीः अपि) पसुलियों को भी (शृणामि) विनष्ट करूं और (यत् शिरः) इसका जो शिर है उसको भी (वृश्चामि) उसके धड़ से पृथक् काट दूं। ऐसे कीड़े कुचलने और सिर काट देने से नष्ट होते हैं ।

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा संपिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

भा०—हे (क्रिमयः) रोगजनक कीड़ो ! (अत्रि-वद्) अत्रि सर्व भोक्ता के समान (कण्व-वत्) मेधावी पुरुष के समान (जमदग्नि-वत्) प्रज्वलित अग्नि के समान मैं (वः हन्मि) तुमको विनाश करता हूँ और (अगस्त्यस्य) सूर्य की (ब्रह्मणा) विशाल शक्ति या ज्ञान से (क्रिमीन् सं-पिनष्मि) क्रिमियों को नष्ट करता हूँ । अथवा अत्रि = अग्नि, कण्व = वायु, जमदग्नि = आदित्य इनकी शक्ति से सम्पन्न होकर रोग-जन्तुओं का विनाश करूं ।

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥

भा०—(क्रिमीणां राजा) रोगकारक क्रिमियों का (राजा) मुख्य क्रिमि (हतः) विनाश कर दिया जाय, (उत) और (एषां) इनका (स्थपतिः) निवासस्थान का पालक और निर्माता भी (हतः) मार दिया जाय, (हत-माता) उत्पादक क्रिमि के मर जाने पर (हत-भ्राता) उनको पोषण

करने वाले क्रिमियों के मर जाने पर अथवा उनके सहचर कीटों के मर जाने पर, (हत-स्वसा) मादा कीटों के नष्ट हो जाने पर (क्रिमिः-हतः) वह समस्त रोग कीटों की नसल नष्ट हो जाती है ।

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥

भा०—(अस्य) इस रोगजनक कीट के (वेशसः) प्रवेश करने के स्थानों को अथवा उसके सेवकों को (हतासः) विनाश कर दिया जाय और (परिवेशसः) उसके समीपवर्ती अन्य जन्तुओं को भी (हतासः) मार दिया जाय (अथो) और (ये) जो (क्षुल्लका इव) और भी छोटे २ कच्चे बच्चे हों (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) विकार उत्पन्न करने वाले रोग जन्तु (हताः) मार दिये जायं ।

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

भा०—(सर्वेषां च क्रिमीणाम्) सब नर कीटों और (सर्वासां च क्रिमीणाम्) सब मादा कीटों के (अश्मना भिनद्मि) प्रस्तर या चकमक के बने तीक्ष्ण शस्त्र से (शिरः भिनद्मि) शिर तोड़ डालूं और (अग्निना) अग्नि से या तेजाब से (मुखम् दहामि) उनका मुख जला दूं ।

---

(२४) परमेश्वर से धर्म-कार्य में रक्षा की प्रार्थना

अथर्वा ऋषिः । ब्रह्मकर्मात्मा देवता । १—१७ चतुष्पदा अतिशक्वर्यः । ११ शक्वरी । १५—१६ त्रिपदा । १५, १६ भुरिक अतिजगती । १७ विराड् अतिशक्वरी ।

सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

सविता प्रसवानामधिपतिः सः मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—(सविता) सबका उत्पादक परमात्मा (प्रसवानाम् अधिपतिः) सब पदार्थों, उत्पन्न होने वाले कार्यों का स्वामी है, (सः) वह (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मयज्ञ में, (अस्मिन् कर्मणि) इस यज्ञकर्म में (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहित के कार्य में, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा में, (अस्यां चित्याम्) इस ज्ञानमय स्थिति में, (अस्यां आकूत्यां) इस आकूति, मन की सद्भावना में (अस्यां आशिषि) इस शुभ आशाजनक कार्य में (अस्यां देवहूत्यां) इस देव-परिषद् में जिसमें विद्वानों को बुलाया गया है (सः) वह परमात्मा (मा अवतु) मेरी रक्षा करे, (स्वाहा) यही मेरी उत्तम कामना सफल हो।

अ॒ग्निर्वन॒स्पती॑ना॒मधि॑पति॒ः स मा॑वतु । ० ॥ २ ॥

भा०—जिस प्रकार सब (वनस्पतीनाम् अधिपतिः) वनस्पतियों का स्वामी (अग्निः) अग्नि है, उनको काष्ठरूप में जलाता और रस रूप से पुष्ट करता है उसी प्रकार वह प्रकाशरूप परमात्मा भी सब (वनस्पतीनाम्) भोग साधन इन्द्रियों के पति जीवात्माओं का (अधिपतिः) स्वामी परमेश्वर है (सः) वह (माम् अवतु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) इस वेदाध्ययन ब्रह्मोपासना आदि कार्यों में रक्षा करे, यह मेरी शुभ प्रार्थना है ।

द्यावा॑पृथि॒वी दा॒तॄ॒णामधि॑पत्नी॒ ते मा॑वताम् । ० ॥ ३ ॥

भा०—(दातृणां) दानशील पुरुषों के (अधिपत्नी) अधिपति, मुख्यदाता (द्यावापृथिवी) जमीन और आसमान या सूर्य और पृथिवी दोनों (माम्) मुझे (अस्मिन् ब्रह्मणि इत्यादि) इस ब्रह्मोपासना, वेदाध्ययन आदि पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें ।

वरु॑णो॒ऽपामधि॑पति॒ः स मा॑वतु । ० ॥ ४ ॥

भा०—जैसे समस्त जलों का स्वामी (वरुणः) महान् समुद्र है। उसी प्रकार (अपां) व्यापक लोकों का और प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी (वरुणः) सर्वव्यापक, सर्वश्रेष्ठ प्रभु है। (सः) वह (अस्मिन्

ब्रह्मणि० इत्यादि०) इन ब्रह्मोपासना वेदाध्ययन आदि शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे।

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् । ० ॥ ५ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र = सूर्य और वरुण = समुद्र दोनों (वृष्ट्याः) वृष्टि के (अधिपती) स्वामी हैं, वे दोनों भी (मा) मुझको उक्त शुभ कार्यों में (अवताम्) रक्षा करें। यही हमारी शुभ प्रार्थना है।

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु । ० ॥ ६ ॥

भा०—(मरुतः) वायुएं जिस प्रकार (पर्वतानाम्) उच्च शिखरों वाले पर्वतों या मेघों के (अधि-पतयः) अधिपति हैं अपने वेग से उन तक वर्षा के जल पहुँचाने वाले और मेघों को सर्वत्र उड़ा ले जाने वाले हैं उसी प्रकार पर्व = पोरुओं के बने देहों के अधिपति ये प्राण हैं। ये पूर्वोक्त शुभ कार्यों में (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करे।

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु । ॥ ७ ॥

भा०—(सोमः) सबका उत्पादक, सौम्यगुण से युक्त औषधिरस सोमलता जिस प्रकार सबसे श्रेष्ठ होने से (वीरुधाम्) नाना प्रकार से उगने वाली लताओं का (अधि-पतिः) पालक है उसी प्रकार सौम्यगुण युक्त राजा नाना प्रकार से फूलने वाली प्रजाओं का अधिपति है। (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे।

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स० । ० ॥ ८ ॥

भा०—(वायुः) सर्वत्र व्यापक, गतिशील वायु जिस प्रकार (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्राण-रूप शक्ति देह की अधिपति है। (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में (मा अवतु) मेरी रक्षा करे।

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स० । ० ॥ ९ ॥

भा०—(सूर्यः) सबका प्रेरक, प्रकाशमय सूर्य जिस प्रकार तेजो-गुण से हमारी (चक्षुषां) आंखों का (अधि-पतिः) स्वामी है। उसी

प्रकार ज्ञान-तेजोमय, सबका प्रकाशक प्रभु ज्ञान-चक्षुओं का भी स्वामी है। (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे।

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स० । ० ॥ १० ॥

भा०—रात्रि के समय (चन्द्रमाः) सबका आह्लादक चन्द्र (नक्षत्राणां अधिपतिः) नक्षत्रों, तारों का (अधि-पतिः) स्वामी है, सबसे अधिक प्रकाशक है उसी प्रकार राजा या वह प्रभु प्रजाओं का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में मेरी रक्षा करे।

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स० । ० ॥ ११ ॥

भा०—(दिवः) द्यौः ब्रह्माण्ड का जिस प्रकार (इन्द्रः) सूर्य ही (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह सर्वैश्वर्यवान् प्रभु इन प्रकाशमान् सूर्यों का भी स्वामी है। वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे।

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स० । ० ॥ १२ ॥

भा०—(मरुतां पिता) समस्त वायुओं या विद्वानों का (पिता) पालनकर्त्ता ही (पशूनाम्) पशुओं या जीवों का (अधि-पतिः) स्वामी है, उसी प्रकार प्राणों का पालक जीव ही देह में (पशूनाम्) दर्शनकारी इन्द्रियों का स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कार्यों में हमारी रक्षा करे।

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स० । ० ॥ १३ ॥

भा०—(मृत्युः) मारण-धर्मा मृत्यु, मौत ही (प्रजानाम्) जिस प्रकार समस्त उत्पन्न होने वाली प्रजाओं का (अधि-पतिः) स्वामी है उसी प्रकार वह प्रभु सबका अन्तकारी होने से सबका स्वामी है (सः) वह उक्त शुभ कामों में हमारी रक्षा करे।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु । ० ॥ १४ ॥

भा०—(यमः) सबका नियन्ता यम = ब्रह्मचारी जिस प्रकार (पितृणाम्) पालक-प्राणों का अधिपति है या नियन्ता राजा अन्य पितृ = शासकों का अधिपति है या नियन्ता जीव पितृ = इन्द्रियों का अधिपति है या यम = सूर्य, पितृ = किरणों या ऋतुओं का स्वामी है

उसी प्रकार प्रभु सब परिपालन करने वालों का भी स्वामी है। वह मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करे।

पितरः परे ते मावन्तु । ० ॥ १५ ॥

भा०—(पितरः) पालन करने वाले (परे) वे जो हम से पूर्व विद्यमान हैं या हमसे श्रेष्ठ हैं (ते) वे (मा अवन्तु) मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें।

तता अवरे ते० । ॥ १६ ॥

भा०—(तताः) पूर्व पुरुषों की सन्तानें (अवरे) जो बाद में या उनसे उतर कर हैं (ते) वे भी मेरी उक्त शुभ कार्यों में रक्षा करें।

ततास्ततामहास्ते मावन्तु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

भा०—(ततः) उनसे उतर कर (ततामहाः) हमारे सन्तानों के भी सन्तान हैं (ते) वे (मा० अवन्तु) मेरी (अस्मिन् ब्रह्मणि०) उक्त वेदाध्ययन, यज्ञ, पुरोहिताई, प्रतिष्ठा, ज्ञानमयी स्थिति, सद्विचार, सदाशा, विद्वत्सभा आदि सत्कार्यों में रक्षा करे। यही हमारी शुभ प्रार्थना है।

---

(२५) गर्भाशय में वीर्यस्थापन का उपदेश।

ब्रह्मा ऋषिः । योनिगर्भो देवता। १–१२ अनुष्टुभः। १३ विराट् पुरस्ताद् बृहती। त्रयोदशर्चं सूक्तम् ॥

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

भा०—गर्भाधान काल में वीर्यस्थापन का उपदेश। (पर्वतात्) मेघ से जिस प्रकार स्थान २ से जल बरसता है या जिस प्रकार पर्वत से

रिस कर स्रोत प्रवाहित होता है, (दिवः) कारणभूत सूर्य से जिस प्रकार तेज निकलता है उसी प्रकार (योनेः) शरीर के (अङ्गात् अङ्गात्) प्रत्येक अंग से (सम् आभृतम्) लाकर एकत्र किये गये (शेपः) वीर्य सामर्थ्य को (गर्भस्य) गर्भ का (रेतोधाः) मूलभूत बीज का स्थापन करने वाला पुरुष (आदधत्) गर्भाशय में इस प्रकार आधान करे जैसे (सरौ पर्णम् इव) आकाश में पर्ण = सूर्य को ईश्वर ने स्थापन किया है ।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी (भूतानां) समस्त प्राणियों को (गर्भम्) अपने गर्भ में (आदधे) धारण करती है । इसी प्रकार मैं पति (ते) तुझ पत्नी के शरीर में (गर्भम्) गर्भ को (दधे) धारण कराता हूँ, पत्नी ही मानव को गर्भ में धारण करने हारी भूमि के समान है । (तस्मै) उस गर्भ की (अवसे) रक्षा करने के लिये ही मैं (त्वाम् हुवे) तुझे बुलाता हूँ या उपदेश करता हूँ ।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

ऋ० १० । १८४ । २ ॥

भा०—हे (सिनीवालि) सिनीवालि ! भूमे, जाये ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । हे (सरस्वति) सुभगे ! (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर । (उभौ) दोनों (पुष्करस्रजा) पुष्कर अर्थात् पुष्टि करने वाले और स्रज अर्थात् सर्जन करने वाले मूलकारण को धारण करने वाले (अश्विनौ) परस्पर व्याप्त मातृ-पितृ-अंश दोनों (ते गर्भम् धत्तां) तेरे भीतर गर्भ को धारण करावें ।

पुरुष के वीर्य का अंश और स्त्री के रजोंऽश दोनों यहां पुष्करस्रक् अश्विन्' हैं । योषा वै सिनीवाली । श० ६ । ५ । १ । १० ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें (देवः) प्रकाशमान (बृहस्पतिः) सूर्य (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे और (इन्द्रः च अग्निः च) इन्द्र = वायु और अग्नि भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करें और (धाता) पोषक परमात्मा भी (ते गर्भं) तेरे गर्भ को (दधातु) पालित पोषित करे ।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥

ऋ० १० । १८४ । १ ॥

भा०—(विष्णुः) शरीर में व्यापक रुधिर-शक्ति (योनिम्) गर्भ के स्थान को (कल्पयतु) गर्भधारण में समर्थ बनावे और (त्वष्टा) शरीर को विशेष रूपवान् बनाने वाली शक्ति (रूपाणि) गर्भाशय में रूप को, सांचे को या स्त्री-योनि में स्थित विशेष डिम्बों को (पिंशतु) छोटे २ कणों के रूप में उत्पन्न करे और (प्रजापतिः) प्रजा का पालक पति (आसिञ्चतु) वीर्य का योनि में आ सेचन करे और (धाता) मातृ-शरीर में विद्यमान पोषक प्राणशक्ति (ते) तेरे उस (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) धारण, पोषण, पालन करे । अर्थात् गिरने और विकृत होने से बचावे । शतपथ में उखा सम्भरण का प्रकरण इसी प्रकार की व्याख्या है ।

यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥

भा०—गर्भपोषक, गर्भविधायक ओषधि का उपदेश । हे स्त्री ! (यद्) जिसको (राजा वरुणः) राजा वरुण = अपान, व्यान, वायु और क्लोम भाग (वेद) जानता है । (यद् वा) और जिसको (देवी सरस्वती) देवी सरस्वती, मानसशक्ति वा स्वतः स्त्री, (वेद) जानती है और (यत्)

जिसको (वृत्रहा) विघ्नों का नाशक (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील इन्द्र, वीर्य, प्राण (वेद) जानता है उस (गर्भकरणं) गर्भ के विधायक, गर्भ के पोषक औषध का तू (पिब) पान कर।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः॥ ७॥

यजु० १२। ३७॥

भा०—हे अग्ने! तू (ओषधीनां गर्भः असि) ओषधियों का भी गर्भ है, उनके भीतर सार रूप से विद्यमान है और (वनस्पतीनाम् गर्भम् असि) वनस्पति = विशाल वृक्षों का भी गर्भ है, उनका भी सार है और तू (विश्वस्य भूतस्य) समस्त उत्पन्न जगत् का भी (गर्भः) गर्भ = ग्रहण करने वाला आश्रय है (सः) वह तू (इह) इस योनि में भी (गर्भं) गर्भ को (धाः) धारण पोषण कर।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम्।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि॥ ८॥

भा०—हे वीर पुरुष! (अधि-स्कन्द) अपने क्षेत्र में जा, (वीरयस्व) विशेष नियम से अंग का प्रवेश कर और (योन्याम्) योनिभाग में (गर्भम्) गर्भ को (आ धेहि) स्थापन कर (वृषा असि) तू वीर्यसेचन में समर्थ है। हे (वृष्ण्यावन्) वीर्यसेचन में समर्थ पुरुष! (प्रजायै) प्रजा के उत्पन्न करने के लिये ही (त्वा) तुझको हम स्त्रियां (नयामसि) प्राप्त करती हैं। अथवा हम अनुभवी पुरुष (त्वा नयामसि) तुझे योग्य पत्नी के पास प्राप्त कराते हैं।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम्॥ ९॥

भा०—हे (बार्हत्सामे) बार्हत्सामे! जाये! (वि जिहीष्व) तू भी विशेष रूप से प्रयत्न कर जिससे (गर्भः) वीर्यरूप गर्भ (ते) तेरी

(योनिम्) गर्भस्थान के कमलनाभि में (आ-शयाम्) अच्छी प्रकार चला जाय । (देवाः) देवगण, विद्वान् गण (सोम-पाः) वीर्य का पालन करने वाले, (ते) तुझे ऐसा (उभयाविनं) हमारा तुम्हारा दोनों का सम्मिलित (पुत्रं) पुत्र (अदुः) प्रदान करें ।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥

ऋ० १० । १८४ । परि० ॥

भा०—हे (धातः) वीर्य के आधान करने हारे पुरुष ! तू (अस्याः नार्याः) इस नारी के (गवीन्योः) गवीनी नामक दोनों नाड़ियों के बीच में (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ, उत्तम रूप से युक्त सुन्दर (पुमांसं) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र का (आ-धेहि) आधान कर जिससे (दशमे मासि) दसवें महीने में (सूतवे) उत्पन्न हो ।

त्वष्टः श्रेष्ठेन० । ॥ ११ ॥

भा०—हे (त्वष्टः) पुत्र के शरीर को सुगठित, सुरूप करने में समर्थ पुरुष ! तू इस नारी की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ रूप से युक्त सुन्दर पुमान् पुत्र का दसवें मास में प्रसव करने के लिये आधान कर ।

सवितः श्रेष्ठेन० । ० ॥ १२ ॥

भा०—हे (सवितः) पुत्रोत्पादक पिता ! तू इस अपनी स्त्री की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में दसवें मास में प्रसव होने के लिये (श्रेष्ठेन रूपेण०) श्रेष्ठ सुन्दर रूप से सम्पन्न पुमान् पुत्र का आधान कर ।

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के परिपालक पते ! तू (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस नारी की गवीनी नामक नाड़ियों के बीच में (दशमे मासि

सूतवे) दसवें महीने में प्रसव करने के लिये (पुमांसं पुत्रम्) पुमान् पुत्र का (आ-धेहि) आधान कर। गवीनी = फेलोपियनव्यूब। दो आर्त्तवों के बीच का काल १ मास है। ऐसे दसवें मास में अवश्य प्रसव होता है। यह काल प्रतिव्यक्ति न्यूनाधिक भी हो सकता है।

---

(२६) योग साधना।

ब्रह्मा ऋषिः। वास्तोष्पत्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः। १, ५ द्विपदार्च्युष्णिहौ। २, ४, ६, ७, ८, १०, ११ द्विपदा प्राजापत्या बृहत्यः। ३ त्रिपदा पिपीलिकामध्या परोष्णिक्। १—११ एकावसानाः। १२ प्रातिशक्वरी चतुष्पदा जगती। द्वादशर्चं सूक्तम्॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ १ ॥

भा०—(यज्ञे) यज्ञमय ब्रह्म में (यजूंसि) यजुष रूप (समिधः) समिधों, प्राणों को ही (स्वाहा) उत्तम रूप से आहुति करे, (अग्निः) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानी (प्र विद्वान्) उनको जानने हारा (वः) हे प्राणो! तुमको (युनक्तु) मज्ञमय परमब्रह्म में समाधि द्वारा लगावे, प्राण, मन, अन्न, श्रद्धा, मज्जा ये सब पदार्थ यजु हैं, समित् प्राण हैं।

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥

भा०—(सविता देवः) सबका प्रेरक देव, परमात्मा (महिषः) महान् (प्र-जानन्) समस्त पदार्थों को भली प्रकार जानता हुआ (अस्मिन् यज्ञे) इस श्रेष्ठतम ब्रह्म-यज्ञ में (युनक्तु) हमें समाहित करे, (स्वाहा) यही उत्तम आहुति है।

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥३॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी पुरुष (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय परम आत्मा में (उक्थ-मदानि) ब्रह्म के आनन्दों को (प्र विद्वान्) भली भांति लाभ करता हुआ (सु-युजः) उत्तम रूप से योग करने वाले योगियों को या इन्द्रियों को (युनक्तु) उसी प्रभु में लगा दे (स्वाहा) यह सबसे उत्तम आहुति है।

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥

भा०—(प्रैषाः) प्रेषाएं ही (यज्ञे) यज्ञ में (नि-विदः) 'निवित्' हैं। हे पुरुषो ! यही उत्तम आहुतियां हैं। आप लोग (शिष्टाः) अपने मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर विद्वान् होकर (युक्ताः) समाधि युक्त चित्त होकर (पत्नीभिः) पत्नियों और पालक शक्तियों सहित (इह) इस ब्रह्मयज्ञ में (वहत) प्राप्त होवो।

'प्रैषाः' = प्रकृष्ट, उत्तम मानस इच्छाएं प्रेरणाएं ही (नि-विदः) सब प्रकार के उत्कृष्ट ज्ञान कराने वाली शक्तियां हैं। उनको (यज्ञे स्वाहा) यज्ञमय प्रभु में आहुति करो, उसी में लगा दो।

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

भा०—(माता पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता अपने पुत्र का पालन पोषण करती है उस प्रकार आप लोग (युक्ताः) प्रेम से उस परम ब्रह्म में समाधिमग्न होकर (पिपृत) प्राणों का पालन करो। (यज्ञे) उस संगम-स्थान, एकमात्र केन्द्र उपास्य देव में (छन्दांसि) मन्त्रों के तुल्य प्राण गण ही (मरुतः) मरुत रूप हैं, वे भी (स्वाहा) उस यज्ञमय आत्मा में सुख से आहुति हों, उसमें लीन हों।

एयमगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ॥ ६ ॥

भा०—(इयम्) यह (अदितिः) अखण्ड चितिशक्ति, प्रकाशस्वरूप विवेक ख्याति (प्रोक्षणीभिः) प्रोक्षण–दिव्य-जलों द्वारा आनन्दधाराओं और ज्ञानों द्वारा और (बर्हिषा) बढ़ने वाले ब्रह्मज्ञान से (यज्ञं तन्वाना) यज्ञमय देव का साक्षात् कराती हुई (आ अगन्) प्रकट होती हैं। (स्वाहा) इसमें मग्न होना ही परम आहुति है। दिव्याः आपः प्रोक्षणयः ॥ तै० २।१।५।१॥ धर्ममेघ समाधि में आत्मभूमि में वर्षने वाला सोमविन्दु रस ही 'प्रोक्षणी' है।

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम रीति से योग का सम्पादन करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगमय अध्यात्म-यज्ञ में (विष्णुः) वह प्रभु परमात्मा (तपांसि) तपस्याओं को (युनक्तु) आप में सफलतापूर्वक लगावे । (स्वाहा) यही सबसे श्रेष्ठ आहुति है ।

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस योगमय यज्ञ आत्मसाक्षात्कार में (त्वष्टा) सबका उत्पादक प्रभु (बहुधा रूपा) नाना प्रकार के रूपों इन्द्रियों को (युनक्तु) युक्त करे (नु स्वाहा) यही उत्तम आहुति है ।

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

भा०—हे (सुयुजः) उत्तम योगियो ! (भगः) ऐश्वर्यवान्, समस्त विभूतियों का स्वामी, परमात्मा (अस्मै नु) इस योगी या आत्मा की (आशिषः युनक्तु) समस्त उत्तम अभिलाषाओं को पूर्ण करे और इसी कारण (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्मयज्ञ में (प्र विद्वान्) उत्तम ज्ञानी पुरुष (युनक्तु) समाधिमग्न हो । (स्वाहा) यह सबसे उत्तम आहुति है ।

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—हे (सु-युजः) सु-योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस ब्रह्ममय अध्यात्म यज्ञ में (सोमः) सबका प्रेरक अथवा आनन्द-रस का उत्पादक सोम, प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार के (पयांसि) आनन्द जलों को (युनक्तु) अन्तःकरण में प्रकट करे । 'ततो धर्ममेघः समाधिः' । यो० सू० ॥ तब धर्ममेघ समाधि का उदय होता है 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' । यो० सू० ॥ वहां सत्यपूर्ण प्रज्ञा का उदय होता है ।

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

भा०—हे (सु-युजः) उत्तम योगियो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमय

आत्मा में (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सर्वशक्तिमान्, प्रभु (बहुधा) नाना प्रकार से (वीर्याणि) बलों, शक्तियों को (युनक्तु) प्राप्त करावे। बलेषु हस्तिबलादीनि। यो० सू० ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा १२

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और उदान! तुम दोनो (अर्वाञ्चौ) साक्षात् होकर या शरीर के सब गुह्य स्थानों में प्रविष्ट होते हुए, (वषट्कारेण) वषट्कार = मुख्य प्राण के बल से (यज्ञं) यज्ञरूप आत्मा की शक्ति को (वर्धयन्तौ) बढ़ाते हुए (ब्रह्मणा) ब्रह्म, परमात्मा के बल से (यातम्) गमन करो। हे (बृहस्पते) बृहती वाणी या ब्रह्मविद्या के पालक योगिन्! तू भी (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (अर्वाङ्) साक्षात् आत्मरूप को (याहि) प्राप्त कर। (अयं यज्ञः स्वः) यही आत्मा का 'स्व' स्वरूप साक्षत् स्वः–सुखमय मोक्षधाम है। (इदं) यह साक्षात् ब्रह्म (यजमानाय) देवोपासना करने वाले आत्मा के लिये (स्वाहा) सबसे श्रेष्ठ आहुति होने का विषय है।

प्राणो वै वषट्कारः ॥ श० ४ । ६ । १ । २९ ॥ एते एव वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च ॥ कौ० ३ । ५ ॥ तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः यद् वातो वाति, यद्विद्योतते, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्जयति ॥ श० ११ । ५ । ६ । ९ ॥ त्रयो वै वषट्कारा वज्रो धामच्छद्रिक्तः। स यदेवोच्चैर्बलं वषट्करोति स वज्रः। अथ यः संततो निर्हाणच्छत् स धामच्छत् अथ येनैव वषट् पराप्नोति स रिक्तः ॥ मे० उ० ३ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः।

---

(२७) ब्रह्मोपासना ।

ब्रह्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप् । २ द्विपदा साम्नी भुरिगनुष्टुप् । ३ द्विपदा आर्ची बृहती । ४ द्विपदा साम्नी भुरिक् बृहती । ५ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप् । ६ द्विपदा विराड् नाम गायत्री । ७ द्विपदा साम्नी बृहती । २–७ एकावसानाः । ८ संस्तार पंक्तिः । ९ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती । १०–१२ परोष्णिहः । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥

यजु० २७ । ११ ॥

भा०—(अस्य) इस प्रभु परमात्मा रूप अग्नि के (समिधः) उत्तम रीति से देदीप्यमान काष्ठाएं, सूर्यादि लोक (ऊर्ध्वाः भवन्ति) ऊपर विराजमान हैं । (अग्नेः) उस ज्ञान और प्रकाशस्वरूप ईश्वर की (शुक्रा) कान्तिमान् (द्युमत्तमा) और द्युति वाली (शोचींषि) ज्योतियां (ऊर्ध्वा) सबके ऊपर विराजमान हैं । वह (सुप्रतीकः) सबसे अधिक सुरूप (ससूनुः) अपने समस्त पुत्ररूप प्रजाओं सहित (तनूनपात्) समस्त ब्रह्माण्डरूप शरीरों को न गिरने देने हारा, उनका रक्षक (असुरः) प्राणों में भी व्यापक, महाबलवान् (भूरिपाणिः) असंख्य हाथों से युक्त है, इसीलिये वह सबको संभालता है ।

अपाणिपादो जवनो गृहीतः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥ उप० ॥
विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात् ॥ अथर्व० ॥

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥

यजु० २७ । १२ ॥

भा०—(देवेषु) समस्त दिव्यगुणयुक्त प्रकाशमान पदार्थों में से (देवः) वह एकमात्र देव सबका प्रकाशक है । वह (देवः) परमदेव (मध्वा) अमृतमय आनन्द और (घृतेन) तेजः-प्रकाश से (पथः) समस्त मार्गों को (अनक्ति) प्रकाशित करता है । देखो० ऋ० १ । १४२ । ३ ॥

मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः ।
सुकृद् देवः सविता विश्ववारः ॥ ३ ॥

भा०—(नराशंसः) समस्त पुरुषों, समस्त नेताओं = विद्वानों से प्रशंसा योग्य, सर्वस्तुत्य (अग्निः) प्रकाशस्वरूप (देवः) प्रभु (सविता) सबका प्रेरक और उत्पादक (विश्व-वारः) समस्त पुरुषों को वरण करने योग्य है। वही (प्रैणानः) सबको प्रेरित या तृप्त करता हुआ (यज्ञं) यज्ञ रूप आत्मा को या समस्त भूतसर्ग को (मध्वा) ज्ञान और आनन्द, अमृत से (नक्षति) व्याप्त करता है। इसी अर्थ वाली ऋचा ऋ० ६।१४२।३॥

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥

यजु० । २७ । १४ ॥ इत्यस्य पूर्वार्धः ॥

भा०—(शवसा) ज्ञान, बल से (नमसा) और भक्ति से (ईडानः) स्तुति करता हुआ (वह्निः) यज्ञ का निर्वाहक (अयम्) यह अवर्ध्यु वा ज्ञान-यज्ञ का सम्पादक योगी (अच्छा) भली प्रकार उस (घृता चित्) प्रकाशमय प्रभु को (एति) प्राप्त होता है। समानार्थ ऋचा देखो ऋ० ६ । १४२ । ४ ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

यजुः २७ । १४ । अन्तिमश्चरणोः यजु० २७ । १५ प्रथमश्चरणः ॥

भा०—(अध्वरेषु) हिंसा-रहित यज्ञों में (प्रयक्षु) तथा अन्य प्रकृष्ट यज्ञों में (अग्निः) परमात्माग्नि ही (स्रुचः) स्रुचा द्वारा दी गई आहुतियों का स्वामी होता है, क्योंकि (सः) वह परमात्माग्नि ही (अस्य अग्नेः) इस भौतिक-यज्ञीयाग्नि की (महिमानं यक्षत्) महिमा को संगत करता है।

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चा तिष्ठन् वसुधातरश्च ॥ ६ ॥

भा०—(मन्द्रासु) आनन्द उत्पन्न करने हारी (प्रयक्षु) उत्तम रीति से की गई योगसाधनाओं में (तरी) वह प्रभु ही समस्त दुःखों से तराने हारा होता है। उसी में (वसवः) समस्त लोक और (वसुधातरः च)

ज्ञान धन को धारण करने वाले उत्तम ज्ञानयोगी भी (अतिष्ठन्) आश्रय लेते हैं। "य इत्तद्विदुस्त इमे समासते"। ऋ० ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

यजु० २७ । १६ इत्यस्याः पूर्वार्धो भागः ॥

भा०—(देवीः) दिव्यगुणसम्पन्न, ज्ञानमय (द्वारः) द्वार-रूप इन्द्रियां (अनु अस्य) इस आत्मा की शक्ति के अनुकूल व्यापार करते हैं और (विश्वे) समस्त लोक और समस्त विद्वान् भी (अस्य) इसके ही (व्रतं) उपदिष्ट कर्त्तव्यों का (विश्वहा) नाना प्रकार से (रक्षन्ति) पालन करते हैं। समानार्थ ऋचा देखो ऋ० ६ । १४२ । ६ ॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥८॥

यजु० २७ । १६ इत्यस्या उत्तरार्धः । २७ । १७ इत्यस्याश्च उत्तरार्धः ॥

भा०—(अग्नेः) उस प्रकाशमान सूर्य के समान प्रभु के (उरुव्यचसा) विशाल, लोकों में व्यापक (धाम्ना) तेज से (पत्यमाने) स्वतः ऐश्वर्यवान् होती हुई (उपाके) समीप २ (यजते) परस्पर संगत होकर (आ सु-सु-अयन्ती) सुखपूर्वक आती हुई (उषासानक्ता) उषा और रात्रि दोनों देवी (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी (इमं) इस प्रत्यक्ष (यज्ञं) यज्ञ—आत्मा की (अवताम्) रक्षा करें। समानार्थ ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । ७ ॥

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ६ ॥

यजु० २७ । १८ । १६ ॥

भा०—हे (दैवाः) दिव्यगुणों से युक्त (होतारः) ज्ञान ग्रहण करने वाले विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (अध्वरं) अविनाशी यज्ञ आत्मा को (ऊर्ध्वं) उन्नत करो। (अग्नेः) उस प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु की (जिह्वया) मनोहर वाणी से (अभि गृणत) सब प्रकार से स्तुति करो और

(नः) हमारे (स्विष्टये) सुखपूर्वक इष्ट देव-पूजा या ईश्वर-प्राप्ति के लिये (गृणत) हमें भी उपदेश करो । इडा-अन्न, सरस्वती = वाणी और (गृणाना) सबको उपदेश करने वाली (भारती) प्रकाशस्वरूप वेदवाणी, ये (तिस्रः देवीः) तीनों दिव्य शक्तियां (इदं) इस (बर्हिः) यज्ञ को (सदन्तां) सुशोभित करें । समानार्थक ऋचा देखो ऋ० १ । १४२ । १० ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु ।
देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

ऋ० १ । १४२ । १० ॥ यजु० २७ । २० ॥

भा०—(नः) हमारा (तत्) वह (तुरीपम्) अति शीघ्रता से प्राप्त करने योग्य अथवा शीघ्रता से गति करने वाला (अद्भुतं) आश्चर्यजनक (पुरुक्षु) इन्द्रियों में निवास करने वाला मन है । हे (देव) सर्वप्रकाशक (त्वष्टः) सूक्ष्मकर्तः परमात्मन् ! (अस्य) इस जीव के (रायः पोषं) ज्ञान, प्राण एवं नाना सामर्थ्यों से पुष्टि को प्राप्त होने वाले (नाभिम्) बन्धन रूप देह या मन को (वि-स्य) खोल दे । हमें मुक्ति प्रदान कर ।

वनस्पतेव सृजा रराणः ।
त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

यजु० २७ । २१ ॥ ऋ० १ । १४२ । ११ ॥

भा०—आत्मा का निरूपण । हे वनस्पते ! इन्द्रियों के परिपालक ! तू (रराणः) रमण करता हुआ, प्रसन्न रह कर (त्मना) स्वयं (अवसृज) ईश्वर की ओर गति कर और (शमिता) सबका कल्याणकारी, शान्तिदायक प्रभु (अग्निः) प्रकाशस्वरूप (देवेभ्यः) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियों के लिये (हव्य) उपादेय, भोग्य सुख या मोक्ष सुख का (स्वदयतु) आस्वादन करावे । तेन त्यक्तेन भुंजीथाः । उपनिषद् ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।
इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

यजु० ११ । २२ ॥ ऋ० १ । १४२ । १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) समस्त संसार के पदार्थों को जानने हारे ज्ञानमय ! हे (अग्ने) प्रकाशमय ! (स्वाहा) हमारी यही श्रेष्ठ प्रार्थना है कि आप (इन्द्राय) सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये (यज्ञं) यज्ञ, दान (कृणुहि) सम्पादन करें, उसके जीवनमय-यज्ञ अथवा उसके कर्मफल भोग के लिये इस संसार को बनाते हैं। (विश्वे-देवाः) समस्त देवगण, विद्वान्, इन्द्रियगण अथवा समस्त पञ्चभूत आदि (इदं हविः) इस कर्मफल भोग को या संसार में प्राप्त करने योग्य सुख को (जुषन्ताम्) प्राप्त करें। समानार्थक ऋचा देखो ऋ० १। १४२। १२॥

---

(२८) दीर्घ जीवन का उपाय और यज्ञोपवीत की व्याख्या।

अथर्वा ऋषिः। त्रिवृत् देवता। १–५, ८, ११ त्रिष्टुभः। ६ पञ्चपदा अतिशक्वरी। ७, ९, १०, १२ ककुम्मत्यनुष्टुप, परोष्णिक। चतुर्दशर्चं सूक्तम्॥

नव॑ प्रा॒णान्न॒वभिः॒ सं मि॑मीते दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ र॒ज॒ते त्रीण्य॑य॒सि त्रीणि॒ तप॒सावि॑ष्ठितानि॥ १॥

भा०—(शत-शारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (नव प्राणान्) नव प्राणों को (नवभिः) नव इन्द्रियों से (संमिमीते) मिला कर रखता है। जिनमें से (त्रीणि) तीन इन्द्रियां (तपसा) अपने तपःसामर्थ्य, वीर्य से (हरिते) हरित = सात्विक भाव में (विस्थितानि) नाना प्रकार से स्थित हैं और (त्रीणि रजते) तीन इन्द्रियां रजत = राजस भाव में विराजती हैं और (त्रीणि अयसि) तीन अयस् = तामस भाव में रहती हैं। शरीर के तीन भाग हैं, एक ग्रीवा तथा मुख से ऊपर का भाग, उसमें कान, आंख, नाक ये तीन प्राण विराजमान हैं। इससे आगे नाभि तक के भाग में तीन प्राण हैं, अन्न-ग्राहक मुख, रसग्राहक जीभ और हाथ। नाभि से चरणों तक या गुदा तक तीन प्राण हैं–लिंग, गुदा, चरण। इस प्रकार नव प्राण शरीर के तीन भागों में बंटे हैं। इन

तीन भागों के नाम हरित = सुवर्ण, रजत = चांदी और अयस् = लौह हैं, ये ही सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग हैं।

अ॒ग्निः सूर्य॑श्च॒न्द्रमा॒ भूमि॒राप॒ो द्यौर॒न्तरि॑क्षं प्र॒दिश॒ो दिश॑श्च ।
आ॒र्त॒वा ऋ॒तुभि॑ः संविदा॒ना अ॒नेन॑ मा त्रि॒वृता॑ पारयन्तु ॥ २ ॥

भा०—विराड् देह के विराड् प्राणों का वर्णन । (अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमाः) चन्द्र, (भूमिः) भूमि, (आपः) जल, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (दिशः) दिशाएं और (प्र-दिशः) उपदिशाए और (आर्तवाः) ऋतुओं के विभाग, ये सब (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (सं-विदानाः) सम्मेल खाते हुए (अनेन) इस (त्रिवृता) तीन तरह से बंटे हुए, तिहरे प्राण से (मा) मुझे (पारयन्तु) पार करें।

त्र॒यः पोषा॑स्त्रि॒वृति॑ श्रयन्ताम॒नक्तु॑ पू॒षा पय॑सा घृ॒तेन॑ ।
अन्न॑स्य भू॒मा पुरु॑षस्य भू॒मा भू॒मा प॒शू॒नां त इ॒ह श्र॑यन्ताम् ॥ ३ ॥

भा०—तीन पुष्टियां (त्रि-वृति) त्रिविध प्राण में (त्रयः पोषाः) तीन प्रकार की पुष्टियां (श्रयन्तां) बनी रहें और (पूषा) सबका पोषक परमात्मा (पयसा) वृद्धि करने वाले (घृतेन) घृत से, तेज से (अनक्तु) हमें चमकाए, पुष्ट करके प्रदीप्त करे। (अन्नस्य भूमा) अन्न की अधिकता, (पुरुषस्य भूमा) पुरुषों की अधिकता और (पशूनां भूमा) पशुओं की अधिकता, ये तीनों ही पदार्थ अधिक मात्रा में (ते) हे पुरुष ! तुझे (इह) इस लोक में (श्रयन्ताम्) प्राप्त हों, तुझमें बने रहें।

इ॒मम॑ादित्या॒ वसु॑ना॒ समु॑क्षते॒मम॑ग्ने वर्धय वावृधा॒नः ।
इ॒ममि॑न्द्र॒ सं सृ॑ज वी॒र्ये॑णा॒स्मिन् त्रि॒वृच्छ्र॑यतां पोषयि॒ष्णु ॥ ४ ॥

भा०—हे (आदित्याः) आदित्यो ! वर्ष के १२ मासो ! तुम (इमम्) इस पुरुष को (वसुना) वास के हेतु, जीवनीय पदार्थों से (सम् उक्षत) सींचो, बढ़ाओ ! हे (अग्ने) अग्ने ! (वावृधानः) तू स्वयं बढ़ता हुआ (इमम्) इस पुरुष को (वर्धय) बढ़ा। हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (इमं)

इस पुरुष को (वीर्येण) वीर्य द्वारा (सं सृज) पुष्ट कर और (अस्मिन्) इस पुरुष में (त्रि-वृत्) तीनों प्रकार का (पोपयिष्णु) पुष्टिकारक अन्न (श्रयतां) निवास करे।

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

भा०—(भूमिः) भूमि (त्वा) तुझ पुरुष को (हरितेन) सुवर्ण से (पातु) रक्षा करे और (विश्व-भृत्) सबका पालक पोषक (अग्निः) अग्नि (स-जोषाः) प्रेमपूर्वक (अयसा) अपने अयस् लोह या तेजोमय सामर्थ्य से (पिपर्तु) पालन करे और (ते) तेरा (अर्जुनम्) समस्त धन (वीरुद्भिः) लताओं से (सं-विदानं) सम्मिलित होकर (सु-मनस्यमानं) शुभ संकल्प उत्पन्न करता हुआ (दक्षं) बल को (दधातु) प्रदान करे। संक्षेप में–भूमि से सुवर्ण अग्नि द्वारा लोह और लताओं के रसों से चांदी आदि धातु को भस्म प्राप्त करके उत्तम बल प्राप्त करे।

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव
सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥

भा०—(इदं) यह (हिरण्यं) सुवर्ण (जन्मना) अपने जन्म से, स्वरूप से ही (त्रेधा जातम्) तीन प्रकार से उत्पन्न हुआ। (एकं) एक तो (अग्नेः) अग्नि का (प्रिय-तमम्) अति अधिक प्रिय पदार्थ (बभूव) है और (एकं) दूसरा (हिंसितस्य सोमस्य) पीड़ित सोम के भीतर से (परा पतत्) बाहर निकलता है और (एकम्) तीसरा (वेधसाम्) सृष्टि उत्पन्न करने हारे (अपाम्) जलों का या जीवों का (रेतः) सर्व जीवों के उत्पादक वीर्य रूप (आहुः) कहते हैं। (तत्) वह (हिरण्यम्) सुवर्ण (त्रि-वृत्) तीन प्रकार का है। वह (ते) तुझ पुरुष के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये (अस्तु) हो। १–अग्नि के सप्त सुवर्ण, २–औषधियों का

रस, ३–शरीर का वीर्य ये तीनों हिरण्य कहाते हैं। तीनों ही आयु को बढ़ावें।

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥

यजु० ३ । ६२ ॥

भा०—(जमदग्नेः) प्रज्वलित जाठर अग्नि वाले निरोग पुरुष की (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है और (कश्यपस्य) कश्य = अमृत बिन्दु या ज्ञान या वीर्य का पान या पालन करने वाले परमनिष्ठ ब्रह्मचारी की भी (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु होती है। (अमृतस्य) अमृतस्वरूप वीर्य का (त्रेधा) तीन प्रकार का (चक्षणं) साक्षात्कार होता है उनके बल पर मैं (ते) तुझ साधक के भी (त्रीणि) तीन (आयूंषि) आयुओं को (अकरम्) उत्पन्न करूं।

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥

भा०—(यद्) जब (शक्राः) शक्तिमान्, (त्रयः) तीन (सुपर्णाः) शुभ ज्ञानवान् आत्मा (त्रि-वृता) त्रिगुण प्राण के बल से (एकाक्षरम्) एक मात्र अक्षर 'ओ३म्' पद वाच्य अविनाशी परमब्रह्म को (अभिसंभूय) प्राप्त करके (आयन्) मोक्ष को प्राप्त होते हैं तब वे (अमृतेन) अमृतमय आत्मा के स्वरूप से (विश्वा दुरितानि) समस्त दुष्ट आचरणों को, पापों को (साकं) एक साथ ही (अन्तः दधानाः) भीतर ही रोक कर, नियमित करके (मृत्युम्) मौत को (प्रति-औहन्) वश कर लेते हैं।

तीन सुपर्ण तीन प्रकार के योगी, ध्यानयोगी, कर्मयोगी या वसु, रुद्र और आदित्य। अथवा इन्द्रिय, मन और आत्मा।

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥

भा०—वैदिक परिभाषा में शरीर के तीन भाग । (अयम्) यह पुरुष, आत्मा (देव-पुराः) नाना देवों की बसी इन भोग भूमियों में (प्र अगात्) उत्तम रीति से आता है । (हरितं) सुवर्ण = सात्विक भाव (त्वा) तुझ पुरुष को (दिवः पातु) द्यौः, मूर्धाभाग या ऊपर के लोकों से रक्षा करें, (अर्जुनम्) अर्जुन, रजत = राजस अंश (त्वा) तुझको (मध्यात्) बीच के भाग से अन्तरिक्ष से (पातु) रक्षा करे । (अयस्मयं) लोहमय = तामस अंश तुझको (भूम्याः पातु) भूमि से रक्षित करे ।

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥

भा०—हे आत्मन् ! पुरुष ! (इमाः) ये (तिस्रः) तीन, (देव-पुराः) देव—ज्ञानप्रकाश इन्द्रियों की नगरियां हैं । (ताः) वे ये देहरूप पुरियां (त्वा) तुझको (सर्वतः) सब प्रकार से (रक्षन्तु) रक्षा करें । हे पुरुष ! (त्वं) तू (ताः बिभ्रद्) उनका पालन पोषण और धारण करता हुआ (वर्चस्वी) तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः) काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजयशील (भव) हो ।

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥ ११ ॥

भा०—(देवानां) देवगण, इन्द्रियों महद् आदि २१ विकारों का (पुरं) पालन पोषण एवं निवास का स्थान (अमृतम्) अमृत, शुक्र है । अथवा वह अमर पद है इसका दूसरा नाम (हिरण्यम्) 'हिरण्य' या परम ज्योति या आत्मा है (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम या सबसे श्रेष्ठ है, (देवः) जो परमप्रकाश स्वरूप है, सर्व विजयी है, (अग्रे) जो सबसे पूर्व (आ-बेधे) सबको नियमों में बांधता है, (तस्मै) उसी परम प्रभु को मैं (दश प्राचीः) दशों दिशाओं में उत्कृष्ट रूप में व्यापक जान कर (नमः कृणोमि) नमस्कार करता हूँ । वह (त्रिवृत्) त्रि-मात्र ओंकार, त्रिगुण

शक्तिमय, प्रभु (अनु मन्यताम्) मेरे विनय को स्वीकार करे, उसी को (मे) मैं अपने लिये (आबधे) यज्ञोपवीत रूप में त्रिसूत्र करके बांधता हूँ।

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥

भा०—(अर्यमा) समस्त अरि = विघ्नकारियों, काम, क्रोध आदि भीतरी दुष्ट भावों को यमन करने वाला, (पूषा) सबका पोषक (बृहस्पतिः) बृहत्-महान् लोकों का या बृहती = वेदवाणी का जो स्वामी है वह (त्वा) तुझ आत्मा को (चृततु) बांध ले। (अहर्जातस्य) दिन में उत्पन्न होने वाले शुभ पदार्थ सूर्य का (यत् नाम) जो तेज है (तेन) उस भगवान् के पापनाशक, शरीरपोषक और ज्ञानवर्धक तीन गुणों से बने त्रिसूत्र से (त्वा) तुझ पुरुष, उपनीत बालक को हम आचार्यगण भी (अति चृतामसि) सब दुष्ट भावों का अतिक्रमण करके बांधते हैं।

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा।
संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृएमसि ॥ १३ ॥

अथर्व १९ । ३७ । ४ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (आर्त्तवैः) ऋतु के मास रूप भागों से जिस प्रकार प्रजापति का विशाल रूप बद्ध है उसी प्रकार इन ऋतुओं और ऋतु-भागों से (त्वा) तुझको, (आयुषे) दीर्घ जीवन और (वर्चसे) ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये, (सं-वत्सरस्य तेजसा) संवत्सर = वर्ष के प्रकाश के या सूर्य के समान सुवर्ण रूप तेज से (सं हनु) खूब मजबूत, दृढ़ (कृण्मसि) करते हैं।

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥१४॥

ऋ० १० । १२८ खिल० । अथर्व० १९ । ३३ । २ ॥

भा०—हे पुरुष ! जीव ! तू (घृताद् उत्-लुप्तं) घृत = प्रकाशमय

ज्ञान से आवृत और (मधुना सम्-अक्तम्) मधु, योगमय तप या आत्मानन्द से व्याप्त (भूमि-दृंहम्) भूमि के समान दृढ़, (पारयिष्णु) समस्त विघ्नों को पार करने में समर्थ हो और (स-पत्नान्) अपने शत्रुओं को ((भिन्दत्) छिन्न भिन्न करता हुआ और (अधरान् च) उनको नीचे (कृण्वत्) करता हुआ तू (महते) बड़े भारी (सौभगाय) श्रेष्ठ ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (मा) मुझ आचार्य या ब्रह्म का (आ रोह) आश्रय ले।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ॥ मनुः ॥

---

(२९) रोगों का नाश करके आरोग्य होने का उपाय।

चातन ऋषिः । जातवेदा मन्त्रोक्ताश्च देवताः । १२, ४, ६—११ त्रिष्टुभः । ३ त्रिपदा विराड नाम गायत्री । ५ पुरोतिजगती विराड्जगती । १२—१५ अनुष्टुप् (१२ भुरिक् । १४, चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मती) । पञ्चदशर्चं सूक्तम् ॥

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥१॥

भा०—रोगनाशक अग्नि का उपदेश । हे (जात-वेदः) समस्त पदार्थों को जानने वाले विद्वन् ! अग्ने ! तू (पुरस्तात्) सब कार्यों के पूर्व ही कार्य में संचालकरूप से (नियुक्तः) नियुक्त होकर (वह) कार्य-भार को अपने ऊपर ले और (यथा) जिस प्रकार से भी (इदं) यह कार्य (क्रियमाणं) किया जाने योग्य है उसी सब इतिकर्तव्यता को तू स्वयं (विद्धि) जान । तू ही स्वयं (भिषक्) सब रोगों, विघ्नों को दूर करने वाला है क्योंकि तू ही (भेषजस्य) रोग-विनाशक औषधों का (कर्ता असि) बनाने वाला है (त्वया) तेरी सहायता से (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौओं, अश्वों और पुरुषों को स्वस्थरूप में (सनेम) प्राप्त करें ।

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥२॥

भा०—अग्नि का दूसरा कार्य। हे (जात-वेदः) सर्व पदार्थों के ज्ञाता ! (अग्ने) प्रकाशक अग्ने ! विद्वन् ! (विश्वेभिः देवैः सह) समस्त प्रकाशक विद्वानों या विजेता, वीर, साहसी पुरुषों के साथ (सं विदानः) सम्मति करके (तत्) उस २ विजय कार्य को (तथा) उस २ सुचारु रूप से कर (यथा) जिस प्रकार से (नः यः दिदेव) जो हमें पीड़ा देता है और (यतमः) जो कोई भी (जघास) हमें खा जाता है, हमारा माल मत्ता, बल वीर्य हर लेता है (सः अस्य) उसका वह (परिधिः) अहाता मोर्चा-बन्दी, सीमा (पताति) टूट कर गिर पड़े। डाक्टर और डाक्टरों के साथ सहमति करके रोगों को दूर करे और वीर पुरुष वीरों के साथ सहमति करके शत्रु का दुर्ग तोड़ें।

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार भी हो (अस्य) इस शत्रु की भी (परिधिः) हदबन्दी परकोट (पताति) टूट कर गिर पड़े, हे (जातवेदः अग्ने) हे विद्वन् सेनापते ! (विश्वेभिः देवैः) समस्त विजयशील पुरुषों से (सं-विदानः) सहमति करके (तत्) वह कार्य (तथा कृणु) उसी प्रकार ही कर।

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

भा०—शत्रु का नाश किस प्रकार करे। हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! तू शत्रु के (अक्ष्यौ) आंखों को (नि विध्य) वेध डाल, (हृदयं नि विध्य) हृदय पर भी प्रहार कर। (जिह्वां नि तृन्धि) उसकी जिह्वा को भी काट डाल, (दतः प्र मृणीहि) दांतों को भी तोड़ डाल। (अस्य) इस शत्रु का (यतमः पिशाचः) जो भी क्रूर, मांसभक्षी जन्तु राष्ट्र के मांस या शरीर-सम्पत्ति को (जघास) खा जाता हो (अग्ने) हे अग्ने ! हे (यविष्ठ) बहुत बलवान् (तं) उसको तू (प्रति शृणीहि) भून डाल।

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (अस्य आत्मनः) इस देह का (पिशाचैः) मांसभक्षी, रोगजन्तु (यद् हृतं) जो मांस, बल आदि चुरा ले गये हैं। (यत् वि-हृतं) जो छीन ले गये हैं, (यत् परा-भृतम्) जो लूट ले गये हैं और (यतमत्) जो कुछ भी खा गये हैं। (तत् विद्वान्) उस सबको भली प्रकार जानता हुआ (तं) तू (पुनः आ भर) पुनः औषध प्रयोग से प्राप्त करा और इस प्रकार हम (शरीरे मांसम् असुम् आ ईरयामः) शरीर में मांस को प्राण और प्राण को पुनः स्थापित करें ।

आमे सुपक्वे शवले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ६ ॥

भा०—(यः पिशाचः) जो पिशाच, मांसभोजी, रोगजन्तु (आमे) कच्चे, (सुपक्के) पक्के, (शबले) कच्चे पक्के, (विपक्के) खूब पके (अशने) भोजन में (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाता है। (तद्) वह (आत्मना) स्वयं, (प्र-जया) और अपनी सन्तान सहित बिनष्ट हो और उसी जाति के (पिशाचाः) समस्त पिशाच, रोग जन्तु (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त हों और शरीर को त्याग कर चले जायं जिससे (अयम्) यह पुरुष (अगदः अस्तु) रोगरहित हो जावे ।

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्येऽ यः।
तदा० ॥ ७ ॥

भा०—(यतमः) जो कुछ भी रोगकारी पिशाच रूप जन्तु (क्षीरे) दूध में, (मन्थे) मठे में (अकृष्ट-पच्ये धान्ये) और खेती के बिना ही, स्वयं पकने वाले धान्य में और (अशने) भोजन में घुस कर (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाता है। (तद् आत्मना०) वह स्वयं नष्ट हो जाय और अन्य जन्तु भी नष्ट हो जायं और यह पुरुष नीरोग हो ।

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्।
तद्वा० ॥ ८ ॥

भा०—(यातूनाम्) यातना देने वालों में से (यतमः) जो कोई (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाले रोग जन्तु (अपां पाने) जलों के पान करने के स्थान, घाट, बावड़ी, प्याऊ आदि में और (शयने) बिस्तर में (मां शयानं) सोते हुए मुझको (ददम्भ) विनाश करने का यत्न करता है (तत् आत्मना०) वह स्वयं अपनी सन्तानों सहित नष्ट हो और यह रोगी नीरोग हो।

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्।
तद्वात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो॒ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

भा०—(यातूनाम्) यातना देने वालों में से (यतमः) जो भी (क्रव्याद्) कच्चे मांस का आहारी मच्छर, मत्कुण आदि रोगकारी जन्तु (दिवा नक्तं) दिन और रात के समय में और (शयने) या सेज पर (सयानम्) सोते हुए (मा) मुझको (ददम्भ) पीड़ा देना चाहता है (तद्) वह (आत्मना) स्वयं और उसके सहचारी (पिशाचाः) मांसभोजी रोग कीट भी (वि यातयन्ताम्) नाना प्रकार से स्वयं नष्ट हों और (अयम् अगदः अस्तु) यह पुरुष नीरोग होकर रहे ।

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः १०

भा०—हे (जातवेदः) ज्ञानी (अग्ने) तथा ज्ञान से प्रकाशित वैद्य! (क्रव्यादम्) कच्चे मांस के आहारी, (रुधिरम्) रक्त में फैलने वाले, (पिशाचं) मांस में जमे हुए और (मनः-हनं) रोगी के चित्त या मननशक्ति पर आघात पहुँचाने वाले अपस्मार, उन्माद मूर्च्छा और संन्यास अन्य मदकारी रोग को (जहि) तू विनाश कर। उस रोग को (इन्द्रः) रोग का विनाशक, (वाजी) बलवान्, शक्तिमान् होकर (वज्रेण) अपने रोग

विनाशक बल से (हन्तु) मार दे और (सोमः) सोम या ओषधि का सूक्ष्म अंश (धृष्णुः) व्यस्थित होकर, शरीर में चिरकालिक प्रभाव करके (अस्य) इन रोगकारी मूल कीटों के (शिरः) शिर = हिंसाकारी प्रभाव को (छिनत्तु) काट दे।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अथर्व ८ । ३ । १८ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! या तेजोरूप ! (सनात्) चिरकाल से, सदा से तू (यातु-धानान्) पीड़ाजनक रोगों को (मृणसि) विनाश करता है। (रक्षांसि) बाधा, विघ्नकारी जन्तु (त्वा) तुझको (पृतनासु) मनुष्यों या संग्रामों में (न जिग्युः) न जीत पावें। इसलिये (क्रव्यादः) रोगों का कच्चा मांस खा डालने वाले रगांशों को (सह-मूरान्) समूल वा विनाशक कारणों सहित (अनु-दह) जला दे और (दैव्यायाः) दिव्य गुणयुक्त (ते हत्याः) तेरे आघातकारी शक्तिरूप वज्र से (मा मुक्षत) वे छूट न जायं।

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम्।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवाप्यायतामयम् ॥ १२ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (अस्य) इस रोगी पुरुष के शरीर में से (यत्) जो धातु और बल (हृतम्) रोगों ने हर लिया है और (यत्) जो (परा-भृतम्) विनष्ट कर दिया है उसे (सम् आ हर) पुनः भली प्रकार प्राप्त करा। (अस्य) इसके (गात्राणि) शरीर के अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें और (अयम्) यह (अंशुः-इव) चन्द्र के समान (आ प्यायताम्) दिनों दिन बढ़े, मोटा ताजा हो।

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम्।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

भा०—हे (जात-वेदः) अग्ने ! (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्र के एक भाग, कला के समान (अयम्) यह कृश पुरुष भी (आ प्यायताम्) पुष्टि को प्राप्त हो । हे (अग्ने) अग्ने ! (विरप्शिनम्) नाना प्रकार की विद्याओं का उपदेश करने वाले महान् विद्वान् (मेध्यं) मेधावी, पवित्र-चारी पुरुष को (अयक्ष्मं) रोग, यक्ष्मादि कष्ट से रहित (कृणु) कर जिससे वह (जीवतु) चिरकाल तक जीवित रहे।

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

भा०—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (एताः ते सम्-इधः) ये तेरी उत्तम रीति से प्रकाश करने या चमकने वाली शक्तियां, ज्वालाएं ही (पिशाच-जम्भनीः) मांसशोषक या मांस में फैलने वाले रोगाणुओं की नाशक हैं। (ताः) उनको (त्वं) तू (जुषस्व) अपने में धारण कर और (एनाः) इनको (प्रति गृहाण) अपने भीतर रख ।

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।
जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! आप (तार्ष्ट-अघीः) तृषा रोग को दूर करने वाली इन (सम्-इधः) दीप्तिमय शक्तियों को (अर्चिषा) तेज से (प्रतिगृह्णाहि) धारण कर । जिससे वह (क्रव्याद्) मांसशोषक रोग अपने (रूपं जहातु) स्वरूप को त्याग दे (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (मांसं) मांस को (जिहीर्षति) सुखा डालना चाहता है।

(३०) आरोग्य और सुख की प्राप्ति का उपदेश।

आयुष्काम उन्मोचन ऋषिः । आयुर्देवता । १ पथ्यापंक्तिः । १-८, १०, ११, १३, १५, १६ अनुष्टुभः । ६ भुरिक् । १२ चतुष्पदा विराड् जगती । १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः । १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती । सप्तदशर्चं सूक्तम् ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄन्
असुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

भा०—हे पुरुष ! (ते आवतः आवतः) तेरे समीप से समीप और (ते परावतः) तेरे दूर से भी (आवतः) दूर देश से (ते असुं) तेरे प्राण को और आत्मा को (दृढं) खूब बलपूर्वक (बध्नामि) बांधता हूँ । तू (इह एव) यहां ही (भव) रह । (मा पूर्वान् अनुगाः) वे अपने पूर्व के विनष्ट हुए पुरुषों के पीछे मत जा । (मा अनु गाः पितॄन्) अपने उत्पादक, पालक मां बाप चाचा, फूफा आदि के पीछे भी मत जा, प्रत्युत मुझ आचार्य के पास ब्रह्मचर्य और विद्या का लाभ कर ।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

भा०—(यत्) यदि तेरा (स्वः पुरुषः) अपना कोई सम्बन्धी पुरुष या (यत्) यदि कोई (अरणः) बुरा (जनः) आदमी (अभिचेरुः) तुझ पर अपना अभिचार या बुरा आक्रमण, हानिकारक पाप कार्य हिंसा आदि करना चाहता है तो मैं आचार्य हे शिष्य ! तुझको (वाचा) वाणी द्वारा उस जाल से छूटने के लिये (उन्मोचन-प्रमोचने) उन्मोचन और प्रमोचन (उभे) दोनों उपायों का (ते) तुझे, (वदामि) उपदेश करता हूँ । उन्मोचन = जाल से ऊपर निकल आना और प्रमोचन = जाल से दूर ही रहना । अर्थात् फंस जाने पर छूटना और पहले ही न फंसना ।

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या ।
उन्मो० ॥ ३ ॥

भा०—हे शिष्य ! (यद्) जो (अचित्या) बिना जाने तूने (स्त्रियै) किसी स्त्री से या (पुंसे) पुरुष से (दुद्रोहिथ) द्रोह किया और उसको (शेपिषे) बुरा वचन कहा तो (ते उन्मोचन-प्रमोचने वाचा वदामि) मैं वेदवाणी से उस पाप से छूटने और परे रहने का उपदेश करता हूँ ।

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् ।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

भा०—(यद्) यदि (मातृ-कृतात् एनसः) माता के किये दोष से (यत् च) और यदि (पितृ-कृतात् एनसः) पिता के किये दोष से (शेषे) तू आवृत रह कर अज्ञान में पड़ा है तो भी (वाचा) वेदवाणी से उन दोषों और व्यसनों से (उन्मोचन-प्रमोचने) छूटने और दूर रहने का (वदामि) तुझे उपदेश करता हूँ ।

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः ।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

भा०—(यत्) जिस (भेषजम्) रोग निवारक उपाय का औषध को (ते माता) तेरी माता और (यत् ते पिता) जिस औषध को तेरा पिता और (जामिः भ्राता च) तेरी भगिनी और भाई भी (सर्जतः) तैयार करते हैं उस (प्रत्यक् भेषजं) साक्षात् दुःखहारी औषध को (सेवस्व) तू सेवन कर । (त्वा) तुझको मैं (जरदष्टिं कृणोमि) बुढ़ापे तक जीवन बिताने योग्य, चिरजीवी रहने का उपदेश करता हूँ । अर्थात् ऊटपटांग पदार्थ मत खा । हितकारी, आप्त-पुरुषों के बतलाये ज्ञान और बनाये पथ्यों का सेवन कर ।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

भा०—हे पुरुष ! (सर्वेण मनसा सह) अपनी समस्त मनन शक्ति, चित्त और ज्ञान के साथ (इह) इस गुरु-गृह में (एधि) रह, निवास कर (यमस्य दूतौ) यम के दूत, दुःख, उपताप के लाने वाले अशना और पिपासा, भूख और प्यास दोनों के पीछे (मा अनु गा) मत जा। (जीवपुराः) जीव के निवास योग्य पुर अर्थात् देह के अंगों पर (अधि इहि) वश कर ।

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

भा०—देवमार्ग या उत्तरायमार्ग का उपदेश । (अनुहूतः) विद्वानों से अनुशिष्ट, शिक्षित होकर (पुनः) फिर भी (विद्वान्) ज्ञानी होकर हे शिष्य ! तू (उद् अयनं) ऊपर मोक्षधाम में, उन्नति की तरफ ले जाने वाले (पथः) मार्गों को (एहि) प्राप्त हो । (आ रोहणं) ऊपर चढ़ना, (आ क्रमणम्) आगे की तरफ बढ़ना, यही (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवनयुक्त जीव की (अयनम्) वास्तविक गति है ।

मा बिभे न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

भा०—रोगभय से मुक्त होने का उपदेश । हे शिष्य ! (मा बिभेः) तू भय मत कर, (न मरिष्यसि) तू कभी मरेगा नहीं, क्योंकि (त्वां) तुझ को मैं आचार्य, वैद्य, (जरद्-अष्टिं) वृद्धावस्था तक जीवन बिताने में समर्थ (कृणोमि) करता हूँ । (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अंगों से (यक्ष्मम्) सब प्रकार के रोगजनक अंश और (अङ्गज्वरं) शरीर के भागों में विद्यमान ज्वर = संताप पीड़ा को (निः अवोचम्) बाहर निकालता हूँ ।

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥

भा०—हे शिष्य ! (ते) तेरे (अङ्ग-भेदः) शरीर में होने वाली पीड़ा

जिससे देह टूटता हो, (यः च अङ्गज्वरः) और जो अङ्गज्वर है और (हृदय-आमयः) हृदय-रोग और (यक्ष्मः) यक्ष्मा रोग है वह सब (वाचा साढ) मेरे उपदेश या वाणी के बल से पराजित होकर (श्येन इव) बाज के समान वेग से (परः-तराम्) परे (प्र अपप्तत्) भाग जाय ।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।

तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

भा०—(बोध-प्रीतिबोधौ) बोध और प्रतिबोध, ज्ञान प्राप्त करने और उसको स्मरण करने की शक्ति, बुद्धि और मन (ऋषी) सर्व कार्यों के द्रष्टा हैं, दोनों में (यः च) जो एक (अस्वप्नः) कभी भी नहीं सोता और दूसरा मन या अन्तःकरण है वह भी (जागृविः) सदा जगता रहता है। (तौ) वे दोनों (ते प्राणस्य गोप्तारौ) तुझ जीव के प्राण = जीवन की रक्षा करने वाले (दिवा नक्तं च) दिन और रात सदा (जागृताम्) जागते रहें।

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥ ११ ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्नि, आत्मा (उप-सद्यः) प्राप्त करने या ज्ञान करने—उपासना करने योग्य है। (इह) इसमें (ते) तेरा (सूर्यः) सब इन्द्रियों का प्रेरक मुख्य प्राण (उद्-एतु) उदित हो। (गम्भीरात्) गम्भीर, भयावह (कृष्णात्) काले (तमसः चित्) अन्धकार के समान घोर (मृत्योः) मृत्यु, देह और आत्मा के विच्छेद के भय से भी (परि उद्-एहि) परे, ऊंचा उठ ।

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।

उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेस्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

भा०—(नमः यमाय) उस सर्व-नियन्ता को नमस्कार है, हम उसके आगे झुकते हैं। (मृत्यवे नमः अस्तु) और देह को आत्मा से पृथक करने वाले उस कर्मफल दाता प्रभु को भी नमस्कार है। (उत)

और (ये नयन्ति) जो हमें इस लोक में सत् जीवनपथ पर ले जाते हैं (पितृभ्यः नमः) उन पालक पिता, माता, गुरु, आचार्य, प्रभु इन पञ्च पितरों को भी नमस्कार है और जो (अस्मै) इस जीव के (अरिष्टतातये) कल्याण के लिये (उत् पारणस्य) इस शरीर के त्याग के अनन्तर इसकी पालना, जीवन यात्रा के विषय में सब कुछ जानता है (तम् अग्निं) उस अग्नि अर्थात् तेजोमय परमेश्वर को भी मैं (पुरः दधे) सदा अपने आगे रखता हूँ। उसको सदा साक्षात् प्रभु मानता हूँ। 'उत्पारणज्ञ' विद्वान् का वर्णन देखो अथर्व० ८ । १ । १०-१९ । २ । ९ ॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।
शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

भा०—इन्द्रियां किस प्रकार शरीर में कार्य करती हैं। शरीर में प्रथम (प्राण: आ एतु) प्राण आता है, फिर (मनः आ एतु) मन, मनन-शक्ति आती है फिर (चक्षुः आ एतु) चक्षु दर्शनशक्ति अर्थात् उपलक्षण से आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का आगमन होता है। (अथो बलम्) और उसके पश्चात् बल, प्राणेन्द्रिय, हाथ, पांव, पेट आदि की शक्ति आती है। तब (अस्य) इस जीव का (शरीरम्) शरीर (विदां) बुद्धि को (सम्-एतु) प्राप्त होता है। (तत्) तब (पद्भ्यां) पैरों से (प्रति तिष्ठतु) यह शरीर खड़ा होने लगता है।

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (प्राणेन) प्राणशक्ति और (चक्षुषा) दर्शनशक्ति से (सं सृज) इस जीव को युक्त कर और (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (इमं) इस जीव को (सम्-ईरय) प्रेरित कर। आप प्रभो! (अमृतस्य वेत्थ) उस अमृत, जीवनशक्ति को जानते हो। आपकी दी जीवनशक्ति से युक्त होकर यह जीव (मा नु गात्) इस देह को

छोड़ कर न जावे और (मा नु भूमिगृहः भुवत्) भूमि को अपना घर बना कर, खाक में मिलकर न रहे अर्थात् मर कर मिट्टी में न मिले। प्रत्युत शरीर का दीर्घ जीवन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करे ।

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते ।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

भा०—हे जीव ! (ते प्राणः) तेरा प्राण (मा उप-दसत्) विनाश को प्राप्त न हो और (ते अपानः) तेरा अपान भी (मा अपि धायि) कभी न रुके । अर्थात् तेरे शरीर में प्राण–अपान = श्वासोच्छ्वास क्रिया वा नाभि से ऊपर व नीचे के सब क्रियाएं कभी बन्द न हो । (अधि-पतिः) सबका मालिक (सूर्य.) सूर्य, सबका प्रेरक परमात्मा (त्वा) तुझको (रश्मिभिः) अपनी व्यापक बलकारिणी किरणों से (उद्-आ-यच्छतु) ऊंचा उठाये रक्खे । तेरे शरीर और जीवनशक्ति को गिरने न दे ।

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

भा०—(इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (अन्तः) मुख के भीतर (बद्धा) बंधी हुई । (पनिः-पदा) स्तुति करने और वाग्-व्यापार करने में चतुर, गतिशील होकर (वदति) व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है । हे वाणि ! (त्वया) तेरे बल से (यक्ष्मं) यक्ष्म–रोग को और (तक्मनः) कष्टदायी ज्वर के (शतं रोपीः च) सैकड़ों पीड़ाओं को भी (निः अवोचम्) दूर करता हूँ ।

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

भा०—(अयं) यह (अपरा-जितः) किसी से न हारने वाला, सदा बलवान् (प्रिय-तमः) अत्यन्त प्रिय, रुचिकर (देवानाम्) देवगण

इन्द्रियों का (लोकः) शरीर है। हे पुरुष ! हे देहपुरी के वासी जीवात्मन् ! (यस्मै) जिसके कारण (त्वम्) तू (इह) इसमें रह कर (मृत्यवे दिष्टः) मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है, अर्थात् शरीर त्यागने के लिये ही शरीर का ग्रहण करता है। इसलिये (सः च) वह तू इस देह से असंग है। (त्वा अनु-ह्वयामसि) हम विद्वान् मुक्तजन तुझको बार २ फिर २ चेताते हैं कि (जरसः पुरा) बुढ़ापे से पहले (मा मृथाः) प्राणों को मत छोड़।

---

(३१) गुप्त हिंसा के प्रयोग करने वालों का दमन।

शुक्र ऋषिः । कृत्यादूषणं देवता । १–१० अनुष्टुभः । ११ बृहती गर्भा । १२ पथ्याबृहती । द्वादशर्चं सूक्तम् ॥

यां ते॑ च॒क्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्मि॒श्रधा॑न्ये ।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ १ ॥

भा०—(याम्) जिस आपत्तिजनक कार्य को (ते) वे तेरे शत्रु लोग (आमे पात्रे) कच्चे बर्तनों में (चक्रुः) प्रयोग करते हैं (याम्) और जिस दुष्प्रयोग को (मिश्र-धान्ये) मिलेजुले धान्य, अन्नों में करते हैं और (यां कृत्यां) जिस विपत्तिजनक करतूत को वे (आमे मांसे) कच्चे मांस या फल के गूदे में (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसी दुःखदायी प्रयोग को दण्ड के रूप में (पुनः) फिर (प्रति-हरामि) उनको ही भुगतवा दूं। कच्चे पात्र में विष का लेप लगा कर अपने दुश्मनों के घर दूध आदि बेच आना, अनाज में विषैली बूंटी के दाने मिलाकर पर-राष्ट्र में बेच देना, कच्चे मांस या फल के गूदे में रोगकारी कीटों और विष की धारा छोड़ देना, इत्यादि जनघातक लीला करने वालों को वैसा ही दण्ड होना चाहिये।

यां ते॑ च॒क्रुः कृ॑क॒वाका॑व॒जे वा॒ यां कु॒री॒रिणि॑ ।
अव्यां॑ ते कृ॒त्यां यां० ॥ २ ॥

भा०—(यां) जिस कृत्या = घातक प्रयोग को (ते) वे नीच पुरुष (कृकवाकौ) मोर आदि सुन्दर पालतू पक्षियों पर, (अजे) और बकरे-बकरियां के गिरोह पर, (कुरीरिणि) कुरीर अर्थात् सींग वाले हमारे अन्य पशुओं पर और (या कृत्यां) जिस घातक प्रयोग को वे (अव्यां) हमारी भेड़ों पर करते हैं (तां) उस घातक प्रयोग से (पुनः प्रति हरामि) फिर उनको ही दण्डित करूं।

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां ॥ ३ ॥

भा०—(यां) जिस हिंसाकार्य को वे (एकशफे) एक खुर वाले पशु पर या (गर्दभे) गधे की जाति के पशु पर (यां) जिस हिंसा को (उभयादति) दोनों जबाड़ों में दांत वाले पशुओं पर (चक्रुः) करते हैं वही हत्या का दण्ड उन्हें मैं पुनः दूं।

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्यम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां) जिस हिंसा और (वलगम्) गुप्त पाप को (अमूलायां नराच्यां वा) अमूला और नराची नामक ओषधि के आधार पर (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस करतूत को (ते) वे (क्षेत्रे) खेत में करते हैं, वही दुःखदायी दण्ड मैं पुनः उनको दूं। अमूरा और नराची दोनों विषैली ओषधि हैं। लोग खेत में हत्या और गढ्ढे आदि द्वारा धोखेबाजी से परघात किया करते हैं।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।
शालायां कृत्यां यां० ॥ ५ ॥

भा०—(ते) वे (दुः-चितः) दुष्ट चित्त वाले लोग (गार्हपत्ये) स्थिरता से घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य नामक अग्नि में या (पूर्व-अग्नौ) पूर्व की ओर स्थापित अर्थात् आहवनीयाग्नि में करते हैं। (यां कृत्यां)

जिस करतूत को (शालायां) शाला = गृह में लोग किया करते हैं, उसी करतूत को दण्ड के रूप में पुनः उन पर प्रयोग करूं। निरन्तर स्थिर गार्हपत्य में—लोग ज्वलनशील विस्फोटक पदार्थों को चोरी से डाल कर हानि पहुँचाते हैं, मकानों में लोग आग लगाते सेंध लगाते तथा अन्य दुष्कर्म करते हैं।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने।
अक्षेषु कृत्यां यां० ॥ ६ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस दुष्टाचार को (सभायां चक्रुः) सभा में करते हैं और (यां) जिस नीच कर्म को (अधि-देवने) जुआखोरी में और (अक्षेषु यां कृत्यां चक्रुः०) अक्ष = जूए के पासों में करते हैं उस सब करतूत के बदले में वही अनर्थकारी दण्ड उनको भी दूं। सभा में दलबन्दी करके परद्रोह करते हैं, जूए में परद्रव्य हरण और नाना दुरचार करते हैं।

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां० ॥ ७ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (यां) जिस घातक व्यवहार को (सेनायां) सेना में और (यां इषु-आयुधे) धनुषों और बाणों में (चक्रुः) करते हैं और (यां कृत्यां) जिस घातक व्यवहार को (दुन्दुभौ) नक्कारे में करते हैं, उसके बदले में उसी अनर्थकारी प्रयोग को मैं उनके प्रति भी करूं। सेना में परद्रोह, धनुष बाण में कूट और विषैले बाणों का प्रयोग, नक्कारों में विष आदि लगा कर बजाने से उनकी मृत्यु हो जाती है।

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ८ ॥

भा०—(ते) वे लोग (यां कृत्यां) जिस हानिकारक प्रयोग को (कूपे) कूए में (अव-दधुः) करते हैं या जिन बुरे हानिकारक पदार्थों को

(श्मशाने वा नि-चख्नुः) श्मशान में गाड़ आते हैं और (सद्मनि) घर में (यां कृत्यां) बुरी २ हत्याओं को (चक्रुः) करते हैं। (ताम्) उसको मैं उनके ऊपर ही दण्ड के रूप में (प्रति हरामि) डालता हूँ। कूए में बिष डालने, श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने या विस्फोटक पदार्थ चिता में जलाने या अन्य घोर अनर्थकारी दाहादि कार्य करने या घरों में स्त्री पुरुषों, बालक, बालिकाओं की हत्या करने के अपराध करने वाले पुरुषों को यथोचित दण्ड दिया जाय।

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥ ९ ॥

भा०—(ते) वे दुष्ट पुरुष (याम्) जिस कुकृत्य को (पुरुषास्थे) पुरुष की हड्डियों में और (यां च) जिस कुकृत्य को (सं-कसुके) नरद्रोही चिता दाहक (अग्नौ) आग में (चक्रुः) करते हैं, तथा जो (निर्दाहं) अग्नि से लोगों के घर भस्म करते हैं और (क्रव्यादं) हिंसा कर मांस खाते हैं उन घोर पापियों को भी फिर वैसा ही दण्ड प्राप्त कराऊं।

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

भा०—जो दुष्ट पुरुष (एनां) इस कुकृत्य, करतूती को (अपथेन) बुरे मार्ग से (आ जभार) राष्ट्र में लाता है (तां) उस करतूत को हम (इतः पथा) इसी मार्ग से (प्र हिण्मसि) राष्ट्र से बाहर निकाल दें और प्रायः (अधीरः) मूर्ख, बेवकूफ लोग अपने (अचित्या) अज्ञान या मूर्खता से ऐसे बुरे काम (मर्या धीरेभ्यः) बुद्धिमान् लोगों के लिये (सं जभार) ला पटकते हैं। इसलिये राजा उन दुष्ट कार्यों को कभी न चलने दे।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

अथर्व० ४ । १८ । (प्र० तृ०) ॥

भा०—और (यः) जो (चकार) किसी बुरे काम को कर ठबैता तो है और तो भी (कर्त्तुं) उसको करने में (न शशाक) समर्थ न हो तो वह अपने (पादम्) पैर और (अंगुरिम्) हाथों को भी (शश्रे) तोड़ लेता है। वह (अभगः) भाग्यहीन मूर्ख ऐसा करके भी (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के लिये तो (भद्रं चकार) भलाई ही करता है। यह बुरे काम में हाथ डाल कर अपना सत्यानाश आप कर लेता है।

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम्।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

भा०—(इन्द्रः) इन्द्र राजा, (तं कृत्याकृतं) उस हिंसाकारी (बलगिनं) नीच, कुटिलगामी (मूलिनं) विषैली जड़ों के आधारों पर दूसरों की हत्या करने वाले और (शपथेय्यं) व्यर्थ निन्दक पुरुष को (महता वधेन) बड़े भारी कठोर दण्ड से (हन्तु) मारे और (अग्निः) अग्नि, सेनापति अपने (अस्तया) फेंके जाने वाले बाण या गोली से (विध्यतु), बेंध डाले।

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति पंचमं काण्डं समाप्तम्।

अनुवाकाः पञ्चमे षडेकत्रिंशच्च सूक्तकम्।
षट्सप्ततिश्च त्रिशती ऋचां च परिगण्यते ॥

